संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० ५६

आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी के समयसार ग्रन्थ पर

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का उपदेश

समयोपदेश

(भाग-२)

(७४-१५१ गाथा)

प्रस्तुति

आर्यिका दृढ़मति ससंघ

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

समयोपदेश (भाग-२)

(आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी के समयसार ग्रन्थ पर आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का उपदेश)

प्रस्तुति : आर्यिका दृढ़मति ससंघ

संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत्

आवृत्ति : २५४३)

वेबसाइट : ११००

www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं० ४५, सेक्टर एफ, इंडस्ट्रियल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

सविनय समर्पण

तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी महाश्रमण की

मूलाम्नाय में

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के जीवन्त रूप

श्रमण संस्कृति के महान् उन्नायक

रत्नत्रय के उत्कर्षक

श्रुत–आराधक समयसार एवं

मूलाचार के मूर्तिमान आध्यात्मिक संत

भारत देश की गरिमामयी ऋषि–परम्परा के

धर्मप्राण लोकप्रिय विश्वविख्यात महाकवि

दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी

महामुनिराज की आत्मान्वेषी, तत्त्वान्वेषी

इष्टोपदेशी पावन अनुपम कृति

'समयोपदेश'

आचार्यश्री के कर–कमलों में

सादर सविनय अर्पण–समर्पण

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को शृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जो अनेक भाषाओं में अनुदित हुआ साथ ही अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी-एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते। यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वासें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, आचार्य समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदिजी, आचार्य पूज्यपाद स्वामी जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वत्वर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव के समयसार ग्रन्थ पर आचार्य गुरुदेव ने कई बार वाचना की है। आचार्यश्री ने ग्रन्थ के गूढ़ रहस्यों को सिद्धान्त और अध्यात्म की समायोजना के साथ प्रस्तुत किया है। उसी प्रस्तुति को संकलित करके समयोपदेश के भागों के रूप में सुधीजनों के करकमलों में प्रस्तुत किया जा रहा है। गुरुदेव की वाचनाओं का आलेखन, सम्पादन, परिष्करण का कार्य बहुत दुरूह है, लेकिन गुरुदेव के प्रति असीम भक्ति ने यह कार्य कराया है। परम वंदनीय आर्यिका श्री दृढ़मति माताजी ससंघ ने इस कार्य को करके जिनवाणी के भण्डार को वृद्धिंगत करने में सहयोग करके गुरुभक्ति प्रकट की है। एतदर्थ आर्यिका माँ एवं संघस्थ आर्यिका संघ के चरणों में वंदामि निवेदित करते हुए जैन विद्यापीठ कृतज्ञता ज्ञापित करता है।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

आद्यमिताक्षरिका

भारत देश के साहित्य-सदन में 'जैन साहित्य' का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। तीर्थंकरों के मुखारविन्द से निर्गत परम पवित्र सिद्धान्तों, आचरणों एवं विचारों की जन्मदातृ जिनवाणी की भौतिकता प्रधान वर्तमान इस युग में भी हम सभी के पुण्योदय से अध्यात्म की अजस्रधारा परम पूज्य अध्यात्मशिरोमणि कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित ग्रन्थराज समयसार के रूप में उपलब्ध है। परम पूज्य अध्यात्मविभूषित विद्यामूर्ति आचार्य श्री १०८ विद्यासागरजी महाराज के द्वारा गोम्मटगिरि, इन्दौर में सन् १९९९ को श्री बाहुबली भगवान् की चरण-छाँव में चातुर्मास की पुण्य बेला पर यह उपदेश हुआ था। उस पावन उपदेश के द्वारा अखिल भारतवर्षीय विद्वत् समाज, समस्त साधुवृन्द एवं त्यागी-व्रती, मोक्षमार्गी, स्वाध्यायशील श्रावकों को समयसार ग्रन्थराज को समझने की विशेष दृष्टि प्राप्त हुई। इस ग्रन्थराज की पूर्व वाचना कर सन् १९८१ में भगवान् पार्श्वनाथ की समवसरण-स्थली एवं उनकी चरण-छाँव में श्री सिद्धक्षेत्र नैनागिरि पर समस्त संघ एवं श्रावकों को एक अपूर्व अवसर प्रदान किया था।

सन् १९८७-८८ में थूवौनजी में एवं मढ़ियाजी में तथा सन् २०१० में श्री अतिशयक्षेत्र बीना बारहाजी में इस ग्रन्थराज की वाचना हुई थी। इस प्रकार श्री समयसार ग्रन्थराज की चार बार वाचनायें सम्पन्न हुई हैं।

इस ग्रन्थ पर आचार्य जयसेन स्वामी ने अत्यन्त सरस, सरल, सुबोधमय स्पष्ट तात्पर्यवृत्ति एवं पूज्य अमृतचन्द्राचार्य ने आत्मख्याति नामक टीका की रचना की है। इस नवीन प्रकाशित समयोपदेश कृति में आचार्य श्री विद्यासागरजी द्वारा आचार्य जयसेन स्वामी की तात्पर्यवृत्ति टीका पर आधारित उपदेश संकलित किए गए हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस ग्रन्थराज का जिनवाणी-सेवा एवं वीरशासन के अध्यात्मतत्त्व की महत्ता को स्थापित करने में अपना अमूल्य योगदान है।

जीवन का वास्तविक परिचय प्रदायक, शरीर और आत्मतत्त्व के भेदज्ञान से परिपूर्ण, जीवन में नवीन अध्यात्ममय ज्ञानज्योति को प्रज्ज्वलित करने वाला, मनोविज्ञान के अनुसार अन्तर्दृष्टि एवं अन्तर्मुखी व्यक्तित्व को विकसित करने वाला अध्यात्मप्रधान, जिनवाणी सेवा के नये आयाम स्थापित करने वाला, विशिष्ट महत्त्वपूर्ण, अवर्णनीय, सम्माननीय, अद्भुत तत्त्वोद्घाटक समयसार पर प्रदत्त उपदेश सहस्राधिक वर्षों तक अत्यधिक गौरवमय स्थान प्राप्त करता रहेगा।

इस ग्रन्थराज को गरिमामय स्थान में स्थापित करने वाले परम पूज्य जिनवाणी के यथार्थ उद्घोषक, पूर्वाचार्यों द्वारा लिखित न्याय, व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त एवं अध्यात्म विषयों के

महानतम ग्रन्थों के अनुचिन्तक, अध्यापक, मूलाचार में कथित आर्यिकाओं के गुरु के समस्त लक्षणों से विभूषित, सरस्वती की महानतम साधना के रूप में अंकित, सरस्वती पुत्र का सम्पूर्ण विश्व अभिनन्दन करता है। श्रमणोद्धारक, श्रमण संस्कृति के संस्कारों से संस्कारित आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का जीवन समयसार एवं मूलाचार के सिद्धान्तों का आदर्श एवं साकार रूप प्रस्तुत करता है। आचार्यश्री के आशीर्वाद से समाज को जिनेन्द्रसेवा, तीर्थसेवा, गुरुसेवा, जिनवाणीसेवा, व्रतीसेवा, मानवसेवा, पशुसेवा, शासन-प्रशासनसेवा, शिक्षासेवा इत्यादि का ऐतिहासिक सुनहरा अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थराज की हिन्दी भाषा टीका पूज्य आचार्य श्री १०८ ज्ञानसागरजी महाराज द्वारा हुई है। उनकी ज्ञानगरिमा समस्त साधु-समाज एवं विद्वत्-समाज को विदित ही है। आचार्य श्री ज्ञानसागरजी का अनुपम उपकार एवं गुरुकृपा का प्रसाद उनके सुयोग्य शिष्य आचार्य श्री विद्यासागरजी को प्राप्त है।

गुरु उपकारों से उपकृत आचार्यश्री जी ने सागर में सन् १९८० में षट्खण्डागम ग्रन्थ की वाचना के समय विद्वत्समाज एवं समस्त सागर समाज के बीच एक बार धर्मोपदेश सभा में कहा था कि- मैं सिद्ध परमेष्ठी बन जाऊँगा, तो भी अपने गुरु के उपकारों को नहीं भुला सकूँगा। गुरुमुख से निःसृत उक्त शब्द-मुक्ताओं से गुरु-भक्ति एवं समर्पण का अनुपम आदर्श प्रस्तुत हुआ है। हम सभी शिष्य एवं शिष्याओं का समुदाय भी आचार्यश्री के उपकारों से उपकृत है। हम सभी भी सिद्ध बन जायेंगे तो भी उनके उपकारों को नहीं भुला पायेंगे। गुरु-उपकार ऋण चुकाने की क्षमता हमारे पास है भी कहाँ? माँ के समान गुरुवर अपने अनुभव और ज्ञान को मिलाकर, घोल-घोलकर पिलाते जाते हैं। आत्म-हितैषियों के लिए हित का उपदेश देते हैं। उनका चिन्तन बोलता है कि-चिन्ता छोड़ो, निश्चिन्त रहो, चिन्तन की धारा बहने दो।

ऐसे परम गहन दार्शनिक चिन्तक आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज द्वारा उपदेशित ग्रन्थ का आर्यिका संघ में स्वाध्याय किया गया। स्वाध्याय प्रारम्भ करते ही उसके विषयों का, उपदेश-शैली का, मन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा, ऐसा लगा कि यह उपदेश समस्त स्वाध्यायप्रेमियों तक पहुँचना चाहिए। इसी उद्देश्य से सन् २०१२ में श्री अतिशयक्षेत्र पनागर से इसका लेखन प्रारम्भ किया था। इस ग्रन्थराज का प्रारम्भिक कार्य आर्यिका श्वेतमतिजी के द्वारा हुआ था। उनके द्वारा लिखित प्रति से अध्ययन किया। उनका अथक परिश्रम श्लाघनीय है। ब्राह्मी विद्या आश्रम की संचालिका ब्राह्मी मणिबाईजी द्वारा इसकी प्रति प्राप्त हुई। ग्रन्थ प्रकाशन की भावना स्वयं की रही, लेकिन कतिपय सुधी श्रद्धालु महानुभावों की भावना थी कि-इस ग्रन्थ का सम्पादन आर्यिका संघ के द्वारा होना चाहिए। अतः गुरु-आशीष लेने का प्रत्यक्ष अवसर तो नहीं मिल पाया। परोक्ष में ही अपनी उत्कट भावना उनके निकट प्रेषित की गयी। वे तो कुछ कहते नहीं और सच में उन्होंने कुछ कहा भी नहीं। लेकिन आचार्यश्री

की ग्रन्थ वाचना की कृतियों का स्वाध्याय करके स्वत: मैंने एक लक्ष्य निर्धारित किया कि कितना भी समय लगे, शरीर साथ दे या न दे, मैं तो परम गुरु की चिन्तनपूर्ण वाणी का ही लेखन करने में सर्वस्व जीवन अर्पण करूँगी। मुझे अपनी तरफ से कोई रचना विशेष नहीं करना है। गुरु की कृतियों के लेखन में से अपने आपको लखने की सम्यग्दृष्टि प्राप्त कर सकूँ, इस अन्तरुद्देश्य से इस लेखन कार्य को करने का साहस किया। इसे कोई सम्पादन न समझे। मैं गुरु की कृति का सम्पादन करने का दुस्साहस नहीं कर सकती। फिर भी आप सभी विद्वज्जन या साधुजन सामान्य पाठकजन इसे सम्पादन शब्द देते हैं तो...। इस कार्य में जो, जहाँ, जैसे ग्रन्थ प्रमाण देने की आवश्यकता हुई, उनको वहाँ संकलित करने का प्रयास किया है। उनमें जो त्रुटि समझ में आये, सुधी पाठकगण सुधार कर पढ़ें और अगले प्रकाशन में सुधार हेतु उनसे परिचित भी कराने का कष्ट करें।

आचार्यश्री जी के भावों को यथावत् रखने के साथ उनकी भाषा-शैली को भी पूर्णत: सुरक्षित रखा गया है। दृष्टान्तों को पृथक् स्थान दिया है। कहीं-कहीं उपदेश के विषय प्रवाह से हटकर कोई विषय आया है तो जिज्ञासा-समाधान के रूप में रखा है, क्योंकि अनेक रुचि वाले श्रोतागण अनेक जिज्ञासाओं को प्रस्तुत करते हैं तो वक्ता को उनका समाधान देना ही पड़ता है। आचार्यश्री जी के विशेष चिन्तन बिन्दुओं को इसी शीर्षक से दिया गया है। साथ ही अध्ययन कराते समय शिष्य संघ को भी विशेष सम्बोधन उनके हितार्थ दिए गये हैं। कहीं-कहीं वाक्य संरचना को व्यवस्थित करने की अनिवार्यता होने पर उन्हें सुव्यवस्थित करने का प्रयास किया है। कुछ वाक्यों को जो कि बार-बार बोलने में आए होंगे तो उन्हें कम भी किया गया है। इन सबके बीच जो भी मेरे द्वारा त्रुटिपूर्ण कार्य हुआ हो तो सर्वप्रथम मेरे परम गुरु आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज मुझे क्षमादान करें। समस्त साधुवृन्द, विद्वत्वृन्द, समस्त आर्यिकासंघ मुझे क्षमादान दें। यह प्रकाशन मेरे जीवन को एवं समस्त पाठकों के जीवन को सम्यक् ज्ञान ज्योति प्रदान करे, यही सद्भावना है।

इस समयोपदेश ग्रन्थराज का अध्ययन-अध्यापन कर साहित्यिक एवं आध्यात्मिक छटा से अपने जीवन को सुरक्षित करते हुए नवीन अध्यात्म ज्ञान ज्योति को प्राप्त कर हम कृतकृत्य हो सकें, इसी भावना से आचार्यश्री जी के पावन चरणों में नतमस्तक होते हुए शत-शत वंदन, शत-शत अभिनन्दन के साथ अपनी विनीत विनयांजलि समर्पित करती हूँ।

परम पूज्य सन्त शिरोमणि आचार्य श्री १०८ विद्यासागरजी महाराज के सन् २०१७-१८ में आने वाले स्वर्णिम दिव्य दीक्षा वर्ष महोत्सव के पावन अवसर की पूर्व भूमिका पर समर्पित है-अनूठा योगदान- समयसार का प्रकाशन ।

आर्यिका दृढ़मति

सारस्वत-प्रतिमान

प्राचीनकाल से ही भारत वसुन्धरा ने अनेक महापुरुषों एवं तीर्थंकर भगवन्तों को जन्म दिया है। जैनधर्म भारत-भूमि का एक चिर प्राचीन धर्म है। इस धर्म का अनुसरण करके तीर्थंकर केवली श्रुतकेवली के साथ-साथ अनेक आचार्यों, मुनियों एवं संतों ने मानव समाज के लिए भारत के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं तीर्थोद्धार आदि क्षेत्र में अनेक कीर्तिमान स्थापित किये हैं।

इस १९-२० वीं शताब्दी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज थे जिनकी परम्परा में आचार्य श्री वीरसागरजी, आचार्य श्री शिवसागरजी, आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज आदि तपस्वी आचार्य एवं साधुगण हुए तत्पश्चात् २०-२१ वीं शताब्दी में आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के परम प्रभावक, अति निष्णात युवामनीषी, प्रखर प्रवक्ता, तीर्थोद्धारक समस्त समाज के आराध्य सुयोग्य शिष्य महान् तपस्वी आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज हुए। इनका प्रभावक व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व ख्याति प्राप्त सरस्वती पुत्र समस्त विद्वत् मण्डल के द्वारा अभिनन्दनीय है। संयम स्वर्ण महोत्सव वर्ष के शुभारम्भ में जैन श्रमण परम्परा के उदीयमान नक्षत्र स्वरूप दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का समस्त शिष्य-मण्डल वंदन-अभिनंदन करता है। भारतीय श्रमण संस्कृति के संवर्द्धन एवं संरक्षण में आपका अमूल्य योगदान रहा है।

अमूल्य-योगदान—श्रमण-संस्कृति भारतीय संस्कृति में प्रधान एवं आदर्शमय संस्कृति रही है। भारतीय दर्शन सरणि में जैन दर्शन का विशिष्ट स्थान है। जैन दर्शन के सारस्वत, आध्यात्मिक सन्त-साधकों में जहाँ चारित्र एवं अध्यात्म साधना में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है, वहीं पर राष्ट्र, देश, समाज एवं साहित्य जगत् में भी अपना अमूल्य योगदान दिया है। आचार्य कुन्दकुन्द और समन्तभद्र सदृश श्रमण संस्कृति की सुरक्षा में अनुपम योगदान रहा है। अध्यात्म के गगन में प्राची दिशा से एक सहस्रकर दिनकर का उदय हुआ जिसे सारा जगत् दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के नाम से स्मरण करता है। चतुर्थकालीन मुनीशों के तुल्य चर्या होने के कारण समस्त जैन जगत् में जो चौथे काल के महाराज के विशेषण से विख्यात हैं। आचार्यवर्य ने आचार्य कुन्दकुन्द एवं आचार्य समन्तभद्र की ऊर्जा को मानो अपने जीवन में संचारित करके तथा उनके आदर्श व पवित्र मार्ग का अनुसरण करके जर्जरित अध्यात्म-मन्दिर का जीर्णोद्धार किया है।

जीवन-शैली—आचार्य श्री १०८ विद्यासागरजी महाराज की चर्या में आचार्य कुन्दकुन्ददेव का

मूलाचार प्रतिबिम्बित होता है। वाणी में आचार्य समन्तभद्र स्वामी जैसी निर्भीकता, निःशकता, निश्छलता निःशल्यता की छाया परिलक्षित होती है। विचारों में अनेकान्त दृष्टिगोचर होता है। वे श्रमण-संस्कृति के रक्षार्थ एक सजग प्रहरी हैं। परम वीतरागी एवं निर्मोही साधक होते हुए भी उनकी प्रत्येक चर्या में एवं उनकी छवि में अत्यन्त आकर्षण है। उनके दर्शन में दर्शकों को भगवान् महावीर का प्रतिबिम्ब दिखने लगता है।

प्रभावक साधक—श्रमण संस्कृति के महान् उन्नायक आचार्यश्री जी धर्म एवं श्रमण साधना के जीवन्त प्रतिरूप हैं। इनकी साधना आत्मोत्कर्ष की सीढ़ियों को पार करती हुई शाश्वत सत्य एवं लोकमंगल को साधने वाली है। स्वपर कल्याणी आचार्यश्री जी प्रायः चातुर्मास में तीर्थक्षेत्रों पर ही साधनारत रहते हैं। आपने अपनी चारित्र-साधना से अपने आचार्यत्व की उत्कृष्ट सिद्धि को सिद्ध किया है। आपकी तप, साधना, ज्ञान-साधना, दर्शन-आराधना, ध्यान-साधना आदि सभी प्रकार की साधनायें साध्य को साधती हैं। आपकी साधना का अनुपम प्रसाद प्राप्त करने के इच्छुक श्रमण-श्रमणियों को भी साधना पथ पर अग्रसर करने में प्रेरणाप्रद होती है। आप निर्दोष साधना करने वाले आदर्श आचार्य हैं। आपकी एवं आपके समस्त शिष्य-शिष्याओं की बाल-ब्रह्मचर्य साधना अत्यधिक विख्यात है एवं अत्यन्त प्रभावक है।

तीर्थोद्धारक आचार्य—आत्म साधना के साथ-साथ आपके आशीष से प्राचीन स्थापत्य सुरक्षित एवं संवर्धित हुआ है। प्राचीन तीर्थक्षेत्रों के जीर्णोद्धार के साथ-साथ नवीन तीर्थक्षेत्रों का निर्माण हुआ है। जिनमें सर्वोदय तीर्थक्षेत्र (अमरकण्टक), सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र (नेमावर), ज्ञानोदय तीर्थ (नारेली, राज०) पुण्योदय (हाँसी/हरियाणा), कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र (मध्यप्रदेश), अति सुन्दर नन्दीश्वर द्वीप की संरचना मढ़ियाजी (जबलपुर), चन्द्रगिरि (छत्तीसगढ़) इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

परमदयालु आचार्य—करुणाकर परमदयालु आचार्यवर्य श्री विद्यासागरजी महाराज के आशीष से पशुओं की करुण पुकार को सुनकर मांस निर्यात निषेध का अभियान चला जिसके प्रभाव से शताधिक गोशालाओं की दयोदय संस्था के रूप में स्थापना हुई। बीना बारहा अतिशय क्षेत्र में शान्तिधारा दुग्ध योजना का प्रारम्भीकरण करके अनेक गरीब किसानों को एवं गौवंश को नया जीवन-दान दिया।

समाजोद्धारक एवं प्रभावक आचार्य—आचार्यत्व की ख्याति विश्वविख्यात है। आचार्य-पद से विभूषित होने पर आपने गुरु आशीष से चतुर्विध संघ का निर्माण किया। संघ को गुरुकुल रूप प्रदान करके गुरु आशीष को फलित किया। सन् १९७८ में ब्राह्मी विद्या आश्रम का शुभारंभ किया। पश्चात् वही आश्रम सागर एवं जबलपुर मढ़ियाजी में दो शाखाओं में परिणत हुआ। आश्रम से शिक्षित बहिनों को आर्यिका दीक्षा देकर आर्यिका संघ विकसित किया। मानव सेवा हेतु चिकित्सा के उद्देश्य

से भाग्योदय तीर्थ निर्मित हुआ (सागर) वर्तमान में वहाँ अनेक प्रकार की स्वास्थ्य सेवायें उपलब्ध हैं। शिक्षाक्षेत्र में प्रतिभास्थली ज्ञानोदय विद्यापीठ संस्थापित हुआ। इस विद्यालय में प्रतिभामण्डल की शताधिक बाल ब्रह्मचारिणी प्रशिक्षित व्रती बहिनें शिक्षा के साथ-साथ छात्राओं को सुसंस्कारित भी करती हैं। मढ़ियाजी अतिशय क्षेत्र में ब्रह्मचारी वर्ग के लिए गुरुकुल का पुनर्गठन हुआ। वहीं पर प्रशासनिक संस्थान लोक सेवा हेतु स्थापित हुआ। शताधिक ब्रह्मचारी भाई एवं ब्रह्मचारिणी बहिनें गृह में साधनारत हैं। विशाल मुनिसंघ आर्यिका संघ आत्म-साधना तथा धर्म प्रभावना में संलग्न है। इस प्रकार आपने गुरु के शुभाशीष को साकार रूप प्रदान किया एवं छात्रावास प्रतिभा प्रतीक्षा, पूरी मैत्री, हथकरघा आदि समाज सुधार के साधनों को आशीष प्रदान किया।

अनोखी गुरु-सेवा—आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने अपना आचार्य पद आपको देकर आपके ही निर्देशन में लगभग १८० दिन की यम सल्लेखना धारण की थी। ६ माह तक अन्न का त्याग रहा। आचार्य गुरु ज्ञानसागरजी अत्यन्त सजग थे। अबाधरूप से सल्लेखना श्रेष्ठ परिचर्या के साथ चल रही थी। ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या १ जून, १९७३ वि० सं० २०३० को नसीराबाद (राज.) में गुरु की समाधि-साधना पूर्ण हुई। जीवन भर आत्मस्थ रहने वाले पूज्य ज्ञानसागरजी महाराज समाधिस्थ हो गए। उन दिनों आपने अपने गुरु की जो सेवा अत्यन्त निष्ठा और लगन के साथ की उसे देखकर एवं सुनकर विद्वानों ने कहा कि अपने पिता से करोड़ों-अरबों की सम्पत्ति पाने वाला बेटा भी अपने पिता की इतनी सेवा नहीं कर सकता। यह आपके समाधि-साधना को श्रेष्ठ निर्यापकत्व का परिणाम था। आपको हृदय-पटल पर गुरु महाराज का यह बोध-वाक्य हमेशा अंकित रहता है कि–''अप्रभावना से बचते रहना ही सच्ची प्रभावना है।''

''सिस्साणुग्गहकुसले धम्मायरिये सदा वंदे''

दीक्षित समुदाय/जीवन्त-कृतियाँ—मुनि १२०, आर्यिकाएँ १७२, ऐलक ५७, क्षुल्लक ६४, क्षुल्लिका ३ कुल ४१६ दीक्षाएँ दी हैं। उक्त संख्या अगस्त २०१५ तक के दीक्षित शिष्य समुदाय की है, ये सभी आचार्यश्री जी की जीवन्त चेतन कृतियाँ हैं, जो श्रमण-संस्कृति की सुरक्षा एवं संवर्धन में तत्पर हैं।

कुशल संघ संचालक—स्वयं पञ्चाचार का पालन करने और संघस्थ समस्त साधुओं से रत्नत्रय एवं पञ्चाचार का पालन करवाने में कुशल आचार्यश्री जी अत्यधिक अनुशासनप्रिय हैं। वे अनुशासित जीवन शैली को स्वयं अपनाते हैं एवं समस्त शिष्य-गण से अनुशासन पालन की अपेक्षा रखते हैं। समय-समय पर अनुशासन की शिक्षा एवं प्रेरणा देते रहते हैं। वे मिलिट्री-अनुशासन की ओर इंगित करके समस्त शिष्य एवं शिष्याओं का ध्यान उस ओर आकर्षित करते हैं। इसी अनुशासन के बल पर विशाल संघ का कुशल संचालन करते हैं। समय-समय पर शिष्यगण एवं शिष्याओं को

संकेत-आज्ञा, निर्देश आदेश देकर सभी को मुक्तिपथ पर अग्रेसित करते हैं। शिष्यों के अनुग्रह में कुशल धर्माचार्य को सदा वन्दना।

बहुभाषाविद् आचार्य—महान् पुरुषों की शिक्षा, प्रतिभा स्कूली शिक्षा तक सीमित नहीं रहती बल्कि उनकी शिक्षा का क्षेत्र तो समस्त संसार होता है। वे पूरे संसार में यथार्थ का अनुसन्धान करने वाली अनुभव की पाठशाला में वास्तविक शिक्षा प्राप्त करते हैं। मातृभाषा कन्नड़ एवं शिक्षा भाषा मराठी होने पर भी आपको हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, बंगला आदि अनेक भाषाओं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है। इसी कारण आपके शब्द नाना अर्थ के रहे हैं। काव्यगत शब्दों के अर्थ तत्त्व को नवीन प्रतिमान प्रदान करते हैं। शब्दों को व्युत्पत्ति बल से नवीन अर्थ प्रदान करना आपके साहित्य सृजन की विशेषता है। आपका साहित्य अनुप्रास एवं श्लेष मिश्रित अर्थों की विशेषताओं को लिए हुए रहता है। शब्दों के अक्षरों की विलोम प्रक्रिया से एवं शब्द-विच्छेद-विधि से अर्थगत आन्दोलन कर तथा जनमानस का अभिनन्दन स्वीकार कर लोकप्रिय मोक्षमार्गी नेता के रूप में जग विख्यात हैं।

लोकप्रिय विश्वविख्यात आचार्य—विशिष्ट जीवन सर्जक, आचारनिष्ठ साधक, जिनागम के शाश्वत दार्शनिक, आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक मानदण्डों के ज्ञाता, श्रमण-संस्कृति के उन्नायक-तीर्थोद्धारक, सम्यग्ज्ञान रश्मियों के उद्योतक, तपोनिष्ठ आदर्श-साधक, मानवीय मूल्यों को उद्घाटक, वीतराग पथ को पथिक, परिष्कृत चिन्तक, प्रयोगधर्मी बहुआयामी साधक, सर्जना को नित नये नूतन बिम्ब, उदात्त चिन्तक, श्रुत-आराधक, रत्नत्रय को उत्कर्षक, मुक्ति-साधक, भारत की गरिमामयी ऋषि परम्परा को धर्मप्राण, प्रशस्त विचारक, परम पूज्य श्री १०८ आचार्य विद्यासागरजी महाराज के श्री चरणों में शाब्दिक उपमायें भी सीमित हैं। फिर भी परम पूज्य आचार्यश्री के संयम स्वर्ण महोत्सव वर्ष के शुभारम्भ की पवित्र स्वर्णिम बेला में अनुपम उपमाओं का उपहार समर्पित है। 'अनन्त उपकारों का पुण्यहार अर्पित है।''

गुरु चरणों में अनन्तशः नमन-नमन-नमन...

प्रस्तुति

आर्यिका दृढ़मति

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका साहित्य

श्रुतधर आचार्यों की परम्परा में कुन्दकुन्दाचार्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनकी गणना ऐसे युगसंस्थापक आचार्य के रूप में की गयी है, जिनके नाम से उत्तरवर्ती परम्परा कुन्दकुन्द–आम्नाय के नाम से प्रसिद्ध हुई है। किसी भी कार्य के प्रारम्भ में मंगलरूप में इनका स्तवन किया जाता है।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं॥

जिस प्रकार भगवान् महावीर, गौतम गणधर और जैनधर्म मंगलरूप हैं, उसी प्रकार कुन्दकुन्द आचार्य भी। इन जैसा प्रतिभाशाली अध्यात्म और द्रव्यानुयोग के क्षेत्र में प्राय: दूसरे आचार्य दिखलाई नहीं पड़ते।

इनकी रचनाओं से इनके जीवन–वृत्त के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं होती। इन्होंने 'वारसअणुवेक्खा' ग्रन्थ में अपने नाम का निर्देश किया है। लिखा है–

इदि णिच्छय-ववहारं जं भणियं कुंदकुंदमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं॥

इस प्रकार कुन्दकुन्द मुनिराज ने निश्चय और व्यवहार का अवलम्बन लेकर जो कथन किया है, उसकी शुद्ध हृदय से जो भावना करता है, वह परम निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

स्पष्ट है कि 'वारसअणुवेक्खा' में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख मिलता है। कुन्दकुन्द के टीकाकार जयसेन और श्रुतसागरसूरि ने भी कुन्दकुन्द की रचनाएँ बतलायी हैं। बोधपाहुड में कुन्दकुन्द ने अपने गुरु का नाम भद्रबाहु बतलाया है। गाथाएँ निम्न प्रकार हैं–

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स॥
वारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ॥

अर्थात् कुन्दकुन्द ने अपने को श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य कहा है। इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में 'कसायपाहुड' और 'षट्खण्डागम' नामक सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना का इतिवृत्त अंकित करने के पश्चात् लिखा है कि ये दोनों सिद्धान्त ग्रन्थ कौण्डकुन्दपुर में पद्मनन्दि मुनि को प्राप्त हुए और उन्होंने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर साठ हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामक ग्रन्थ की रचना की। दर्शनसार में देवसेन ने भी आचार्य पद्मनन्दि की प्रशंसा करते हुए लिखा है–

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंत्ति॥

अर्थात् पद्मनन्दिस्वामी ने सीमन्धरस्वामी से दिव्यज्ञान प्राप्त कर अन्य मुनियों को प्रबोधित किया। यदि वे इस प्रबोधन कार्य को न करते तो श्रमण किस प्रकार सुमार्ग को प्राप्त करते ?

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के दो आचार्य टीकाकार हैं–अमृतचन्द्र और जयसेन। अमृतचन्द्र ने अपने मूलग्रन्थकर्ता के सम्बन्ध में कुछ भी निर्देश नहीं किया है; पर जयसेन ने लिखा है–''पद्मनन्दि जयवन्त हों, जिन्होंने महातत्त्वों का कथन करने वाले समयप्राभृतरूपी पर्वत को बुद्धि...उद्धार करके भव्यजीवों को अर्पित किया।''

पञ्चास्तिकाय की टीका प्रारम्भ करते हुए भी जयसेन ने कुन्दकुन्द का अपरनाम पद्मनन्दि बताया है। इनके उल्लेखानुसार कुन्दकुन्द कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे।

जयसेन ने टीका के प्रारम्भ में कुन्दकुन्द के पूर्व विदेह में जाने की कथा की ओर भी संकेत करते हुए लिखा है कि इन्होंने पूर्वविदेह में वीतराग सर्वज्ञ सीमन्धर स्वामी के दर्शन किये थे और उनके मुखकमल से निस्सृत दिव्यवाणी को सुनकर अध्यात्मतत्त्व का सार ग्रहण कर वे वापस लौट आये थे। उन्होंने अन्तस्तत्त्व और बाह्यतत्त्व की मुख्यता एवं गौणता का ज्ञान कराने के लिये शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचि वाले शिष्यों के प्रतिबोधनार्थ पञ्चास्तिकायप्राभृत शास्त्र की रचना की।

कुन्दकुन्द के जीवनवृत्त एवं व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अब तक प्राप्त सूचनाओं में ऐसी दो कथाएँ प्राप्त हैं, जिनसे उनके जीवन पर प्रकाश पड़ता है। कथाओं में कितना अंश सत्य और तथ्य है, यह तो नहीं कहा जा सकता है, पर इतना स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द अध्यात्मशास्त्र के महान् प्रणेता एवं युगसंस्थापक आचार्य थे।

प्रथम कथा ब्रह्मनेमिदत्त विरचित आराधनाकथाकोष में शास्त्रदान के फलस्वरूप आई है।

दूसरी कथा 'ज्ञानप्रबोध' नामक ग्रन्थ में आई है, जिसका प्रकाशन पं० नाथूराम जी प्रेमी ने जैन हितैषी में किया था। कथा में बताया है कि मालव देश के बारांपुर नगर में कुमुदचन्द्र नाम का राजा राज्य करते थे। उसकी रानी का नाम कुमुदचन्द्रिका था। इस राजा के राज्य में कुन्दश्रेष्ठी अपनी पत्नी कुन्दलता के साथ निवास करते थे। इनके कुन्दकुन्द नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वे शिशु शैशव से ही गंभीर, चिन्तनशील और प्रतिभाशाली थे। जब वह ग्यारह वर्ष के थे, उस समय नगर के उद्यान में एक मुनिराज आये। उनका उपदेश सुनने के लिए नगर के नरनारी एकत्र हुए। कुन्दकुन्द भी उसमें सम्मिलित हुए थे। मुनिराज का उपदेश सुनकर विरक्त हो गया और दिगम्बर दीक्षा ग्रहण कर मुनि बन गये। ३३ वर्ष की अवस्था में इन्हें आचार्य-पद मिला। इनके गुरु का नाम जिनचन्द्र बताया गया है।

एक दिन आचार्य कुन्दकुन्द आगमग्रन्थों का स्वाध्याय कर रहे थे कि उनके मन में एक शंका उत्पन्न

हुई। वे ध्यानमग्न हो गये और विदेहक्षेत्र में स्थित सीमन्धरस्वामी के प्रति एकाग्र हुए। सीमन्धरस्वामी ने 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' कहकर आशीर्वाद दिया। समवसरण में स्थित व्यक्तियों को इस आशीर्वाद को सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने जिज्ञासा प्रकट की कि आपने किसको आशीर्वाद दिया है ? उत्तर में बताया गया कि भरतक्षेत्र में स्थित कुन्दकुन्द मुनि को आशीर्वाद दिया है। वहाँ पर कुन्दकुन्द के पूर्वजन्म के चारण ऋद्धिधारी दो मित्र मुनि उपस्थित थे। वे बारांपुर गये और वहाँ से आकाशमार्ग द्वारा कुन्दकुन्द को ले आये। आकाशमार्ग में जाते समय उनकी मयूरपिच्छिका गिर गई और उन्होंने गृद्धपिच्छी से अपना काम चलाया। आचार्य कुन्दकुन्द वहाँ एक सप्ताह तक रहे और अपनी शंका का समाधान किया। लौटते समय वे अपने साथ एक तन्त्र-मन्त्र का ग्रन्थ भी लाये थे, किन्तु वह मार्ग में लवणसमुद्र में गिर गया। आचार्य कुन्दकुन्द ने भरतक्षेत्र में अपना धार्मिक उपदेश प्रारम्भ किया और इनके सहस्रों अनुयायी हो गये। तत्पश्चात् गिरिनार पर्वत पर श्वेताम्बरों के साथ उनका विवाद हो गया और वहाँ की ब्राह्मीदेवी के मुख से यह कहलवाया गया कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है। उन्होंने अपना आचार्यपद अपने शिष्य उमास्वामी को प्रदान किया और सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग किया।

'ज्ञानप्रबोध' की इस कथा का परीक्षण करने पर अवगत होता है कि 'जम्बूदीवपण्णत्ती' के कर्ता पद्मनन्दि को कुन्दकुन्द से अभिन्न समझकर उनका स्थान बारांपुर नगर बताया है। माता-पिता के नाम कुन्दलता और कुन्दश्रेष्ठि भी कल्पित प्रतीत होते हैं। विदेहगमन की कथा जो पहले से प्रचलित थी उसे भी जोड़कर प्रामाणिकता लाने का प्रयास किया गया है।

कुन्दकुन्द के जीवन-परिचय के सम्बन्ध में विद्वानों ने सर्वसम्मति से जो स्वीकार किया है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके पिता का नाम करमण्डु और माता का नाम श्रीमती था। इनका जन्म 'कौण्डकुन्दपुर' नामक स्थान में हुआ था। इस गाँव का दूसरा नाम 'कुरूमरई' भी कहा गया है। यह स्थान पेदथनाडु नामक जिले में है। कहा जाता है कि करमण्डु दम्पत्ति को बहुत दिनों तक कोई सन्तान नहीं हुई। अनन्तर एक तपस्वी ऋषि को दान देने के प्रभाव से पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम आगे चलकर ग्राम के नाम पर कुन्दकुन्द प्रसिद्ध हुआ। बाल्यावस्था से ही कुन्दकुन्द प्रतिभाशाली थे। इनकी विलक्षण स्मरणशक्ति और कुशाग्र बुद्धि के कारण ग्रन्थाध्ययन में इनका अधिक समय व्यतीत नहीं हुआ। युवावस्था में इन्होंने दीक्षा ग्रहण कर आचार्य-पद प्राप्त किया।

कुन्दकुन्द का वास्तविक नाम क्या था, यह अभी तक विवादग्रस्त है। द्वादशअनुप्रेक्षा की अन्तिम गाथा में उसके रचयिता का नाम कुन्दकुन्द दिया हुआ है। जयसेनाचार्य ने समयसार की टीका में पद्मनन्दि का जयकार किया है। इन्द्रनन्दि ने भी अपने श्रुतावतार में कौण्डकुन्दपुर के पद्मनन्दि का निर्देश किया है? श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ४० में तथा ४२, ४३, ४७ और ५० वे अभिलेख में भी उक्त कथन पुनरावृत्त हुआ है। लिखा है-

तस्यान्वये भू-विदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
श्रीकोण्डकुन्दादि-मुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गत-चारणर्द्धिः॥

स्पष्ट है कि इनका पद्मनन्दि नाम था। पर वे जन्मस्थान के नाम पर कुन्दकुन्द नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए।

कुन्दकुन्द के षट्प्राभृतों के टीकाकार श्रुतसागर ने प्रत्येक प्राभृत के अन्त में जो पुष्पिका अंकित की है, उसमें इनके पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ ये नाम दिये हैं। जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १, किरण ४ में शक सं० १३०७ का विजयनगर का एक अभिलेखांश प्रकाशित है, जिसमें लिखा है–

"आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पंचधा॥"

पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ ये पाँच नाम कुन्दकुन्द के बताये हैं। डॉ० हार्नले ने दिगम्बर पट्टावलियों के सम्बन्ध में एक निबन्ध लिखा था, जिसमें उन्होंने कुन्दकुन्द के पाँच नाम बताये थे। अतः इतना स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द के दो नामों की प्रवृत्ति तो निस्संदेह रही है; पर शेष तीन नामों के सम्बन्ध में विवाद है। शिलालेखों से तथा अन्य प्रमाणों से न तो वक्रग्रीव और न एलाचार्य या गृद्धपिच्छ नाम की ही सिद्धि होती है। वक्रग्रीव का उल्लेख ई० सन् ११२५ के ४९.३ संख्यक अभिलेख में द्रविड़ संघ और अरुंगलान्वय के आचार्यों की नामावली में आता है; किन्तु उसमें उनके सम्बन्ध में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। ११२९ ई० के श्रवणबेलगोलाभिलेख नं० ५४ में वक्रग्रीव नाम आया है; पर इस अभिलेख से यह कुन्दकुन्द का नामान्तर है, ऐसा सिद्ध नहीं होता।

श्रवणबेलगोल के अभिलेख नं० ३०५ में समन्तभद्र और पात्रकेसरी के पश्चात् वक्रग्रीव का नाम आया है और इन्हें द्रमिल संघ का अग्रेसर कहा है। इसी प्रकार अभिलेख नं० ३४७ और ३१९ में भी वक्रग्रीव का नाम अंकित है; पर इन सभी अभिलेखों से कुन्दकुन्द के साथ वक्रग्रीव का सम्बन्ध नहीं सिद्ध होता।

श्रवणबेलगोल के शिलालेखों से एलाचार्य के सम्बन्ध में भी कतिपय तथ्य प्राप्त होते हैं; पर यह कुन्दकुन्द का नामान्तर सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार गृद्धपिच्छ भी। कुन्दकुन्द का नामान्तर घटित नहीं होता है। संभवतः यह नाम उमास्वामी का रहा है। संक्षेप में कुन्दकुन्द का अपर नाम पद्मनन्दि अवश्य प्रमाणित होता है।

गुरु-परम्परा

आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु का क्या नाम था और उन्होंने किस गुरु-परम्परा को सुशोभित किया, इसके सम्बन्ध में संक्षेप में विचार करना आवश्यक है।

कुन्दकुन्द-ग्रन्थों के टीकाकार जयसेनाचार्य के मतानुसार ये कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे। नन्दिसंघ की पट्टावली के अनुसार कुन्दकुन्द के गुरु जिनचन्द्र थे। कुन्दकुन्द ने स्वयं अपने गुरु का नाम भद्रबाहु माना है।

मथुरा से प्राप्त एक अभिलेख में उच्चनागर शाखा के एक कुमारनन्दि का निर्देश प्राप्त होता है। यह अभिलेख हुविष्क वर्ष सतासी का है। इस आधार पर भी कुमारनन्दि का गुरु-शिष्यत्व कुन्दकुन्द के साथ घटित नहीं होता। यत: उच्चनागर शाखा के साथ कुन्दकुन्द का सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार नन्दिसघ की पट्टावलि में माघनन्दि, जिनचन्द्र और कुन्दकुन्द का क्रमशः उल्लेख आता है। इससे यह फलित होता है कि माघनन्दि के पश्चात् जिनचन्द्र और जिनचन्द्र के पश्चात् कुन्दकुन्द को उत्तराधिकार प्राप्त हुआ होगा। अत: हमारा अनुमान है कि कुन्दकुन्द के गुरु का नाम जिनचन्द्र होना चाहिए।

कुन्दकुन्द ने अपने बोधपाहुड में अपने को भद्रबाहु का शिष्य कहा है। पर इस सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहु के साक्षात् शिष्य थे या परम्परा से ? कुन्दकुन्द ने लिखा है–

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स॥६१॥
बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयऊ ॥६२॥

तीर्थंकर महावीर ने अर्थरूप से जो कथन किया है वह भाषासूत्रों में शब्दविकार को प्राप्त हुआ है–अनेक प्रकार के शब्दों में ग्रथित हुआ है। भद्रबाहु के मुझ शिष्य ने उन भाषासूत्रों पर से उसको उसी रूप में जाना है और बारह अंगों एवं चौदह पूर्वों के विपुल विस्तार के ज्ञाता श्रुतकेवली भद्रबाहु को 'गमकगुरु' कहकर उनका कुन्दकुन्द ने जयघोष किया है।

द्वितीय गाथा के आलोक में प्रथम गाथा का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु कुन्दकुन्द के साक्षात् गुरु नहीं थे, 'गमक गुरु' थे। श्रीजुगलकिशोर मुख्तार ने उक्त दोनों गाथाओं में प्रथम गाथा का सम्बन्ध द्वितीय भद्रबाहु के साथ और द्वितीय गाथा का सम्बन्ध श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ बतलाया है। उन्होंने लिखा है–''इकसठवीं गाथा में कुन्दकुन्द ने अपने को भद्रबाहु का शिष्य प्रकट किया है। जो संभवत: भद्रबाहु द्वितीय जान पड़ते हैं। क्योंकि भद्रबाहु श्रुतकेवली के समय में जिनकथित श्रुत में ऐसा विकार उपस्थित नहीं हुआ था, जिसे उक्त गाथा में ''**सद्दवियारो हूओ भासासुतेसु जं जिणे कहिय**'' इन शब्दों द्वारा सूचित किया गया है–वह अविच्छिन्न चला आया था। परन्तु दूसरे भद्रबाहु के समय में ऐसी स्थिति नहीं थी-कितना ही श्रुतज्ञान लुप्त हो चुका था और जो अवशिष्ट था, वह अनेक भाषासूत्रों में परिवर्तित हो गया था। इससे इकसठवीं गाथा के भद्रबाहु द्वितीय

ही जान पड़ते हैं। बासठवीं गाथा में उसी नाम से प्रसिद्ध होने वाले प्रथम भद्रबाहु का, जो कि बारह अंगों और चौदह पूर्वों के ज्ञाता श्रुतकेवली थे, अन्त्य मंगल के रूप में जयघोष किया गया और उन्हें साफ तौर पर गमकगुरु लिखा है। इस तरह अन्त की दोनों गाथाओं में दो अलग-अलग भद्रबाहुओं का उल्लेख होना अधिक युक्तियुक्त और बुद्धिगम्य जान पड़ता है। मुख्तार साहब का उक्त कथन विचारणीय है। यहाँ दो भद्रबाहुओं का कथन न कर कुन्दकुन्द ने पूर्व गाथा में प्रतिपादित भद्रबाहु के कथित गुरुत्व का गमक गुरु के रूप में उल्लेख आया है। 'गमक' शब्द का अर्थ शब्दकल्पद्रुम में 'गमयति, प्रापयति, बोधयति वा गमक', गम् + णिच् + ण्वल् बोधक मात्र या सुझाव देने वाला अथवा तत्त्व प्राप्ति के लिए प्रेरणा करने वाला बतलाया है। मातंगलीला में 'गमक-पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः', अर्थात् पाण्डित्य या वैदग्ध्य प्राप्ति को गमक कहते हैं। यहाँ पर 'गमक' शब्द 'परम्परया' या 'प्रेरणया' के रूप में प्रयुक्त है। अतएव 'गमक' शब्द परम्परा प्राप्त श्रुतकेवली के लिए ही व्यवहृत हुआ है। दो भद्रबाहुओं की कल्पना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। भद्रबाहु श्रुतकेवली कुन्दकुन्द के साक्षात् गुरु न होकर 'गमक गुरु' या प्रेरक गुरु थे। श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।

श्रवणबेलगोला के अभिलेखों से भी इस तथ्य को पुष्ट किया जा सकता है। यतः श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के साथ दक्षिण भारत गये थे और वहाँ श्रवणबेलगोला स्थान में समाधिमरण प्राप्त किया था। अतः दक्षिण में श्रुतकेवली भद्रबाहु की परस्परा का अस्तित्व सिद्ध होता है। कुन्दकुन्द मूलसंघ के आचार्य थे और दक्षिण भारत के निवासी। अतः इन्हें श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा प्राप्त हुई थी। इसी कारण कुन्दकुन्द ने उन्हें 'गमकगुरु' कहा है। पट्टावली के अनुसार इनके गुरु का नाम जिनचन्द्र और दादा गुरु का नाम माघनन्दि है।

कुन्दकुन्द के जीवन में घटित घटनाएँ—

आचार्य कुन्दकुन्द के जीवन में प्रमुख दो घटनाओं के घटित होने की कथा प्रसिद्ध है। एक है विदेह यात्रा और दूसरी है गिरनार पर्वत पर हुए दिगम्बर-श्वेताम्बर वाद-विवाद में उनकी विजय।

जहाँ तक विदेहयात्रा की बात है, उसके साधक यद्यपि अभिलेखीय या अन्य ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुए, किन्तु आचार्य देवसेन, आचार्य जयसेन और श्रुतसागरसूरि के उल्लेख बतलाते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द विदेह गये थे और वहाँ से भगवान् सीमन्धरस्वामी का उपदेश ग्रहण कर लौटे थे तथा सीमन्धरस्वामी से प्राप्त दिव्यज्ञान का श्रमणों को उपदेश दिया था। देवसेन (ई० सन् ९ वीं शती) ने दर्शनसार में लिखा है—

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणति॥४३॥

इसमें कहा गया है कि यदि पद्मनन्दिनाथ सीमन्धरस्वामी द्वारा प्राप्त दिव्य-ज्ञान से बोध न देते,

तो श्रमण-मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?

देवसेन का यह उल्लेख काफी प्राचीन है और उस पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता।

इसी तरह आचार्य जयसेन (ई० सन् १२ वीं शती) ने भी पञ्चास्तिकाय को टीका के आरम्भ में आचार्य कुन्दकुन्द के विदेहगमन को 'प्रसिद्धकथान्याय' बतलाते हुए उसकी स्पष्ट चर्चा की है।

षट्प्राभृत के संस्कृत-टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने भी टीका के अन्त में कुन्दकुन्दस्वामी के विदेहगमन का उल्लेख किया है।

ये उल्लेख अकारण नहीं हो सकते। वे अवश्य विचारणीय हैं। दिगम्बर-श्वेताम्बर वाद-विवाद में विजयप्राप्ति के भी उल्लेख मिलते हैं। शुभचन्द्राचार्य ने पाण्डवपुराण में लिखा है कि कुन्दकुन्दगणी ने ऊर्जयन्तगिरि पर अपने प्रभाव से पाषाण-निर्मित सरस्वती को वादिता-शास्त्रार्थकर्त्री बना दिया था। यथा-

कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जयन्तगिरिमस्तके।
सोऽवताद् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ॥

जिन्होंने कलिकाल में ऊर्जयन्त गिरि के मस्तक पर-गिरनार पर्वत के ऊपर पाषाणनिर्मित ब्राह्मी की मूर्ति को बुलवा दिया।

इसी तरह का उल्लेख शुभचन्द्र की गुर्वावलि के अन्त में निबद्ध उन दो पद्यों में भी है, जो निम्न प्रकार हैं-

पद्मनन्दी गुरुजातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती॥
उर्ज्जयन्तगिरौ तेन गच्छः सारस्वतोऽभवत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने॥

बलात्कारगणाग्रणी पद्मनन्दी गुरु हुए। जिन्होंने ऊर्जयन्तगिरि पर पाषाणनिर्मित सरस्वती की मूर्ति को वाचाल कर दिया था। उससे सारस्वत गच्छ हुआ। अतः उन पद्मनन्दी मुनीन्द्र को नमस्कार हो।

कवि वृन्दावन के एक उल्लेख से भी ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्दस्वामी संघ सहित गिरनार की यात्रा के लिए गये। वहाँ पर उन दिनों दिगम्बरों-श्वेताम्बरों का भी संघ ठहरा हुआ था। दोनों संघों में वाद-विवाद हुआ और इसकी मध्यस्थता अम्बिका देवी ने की। उसने प्रकट होकर कहा कि दिगम्बर निर्ग्रंथ पन्थ ही सच्चा है।

श्री नाथूरामजी प्रेमी ने "तीर्थों के झगड़ों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार" शीर्षक निबन्ध में बताया है-"जान पड़ता है, गिरनार पर्वत पर दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के बीच वह विवाद कभी न कभी अवश्य हुआ, जिसका उल्लेख धर्मसागर उपाध्याय ने किया है। यह कोई ऐतिहासिक घटना अवश्य है,

क्योंकि इसका उल्लेख दिगम्बर साहित्य में भी एक-दूसरे रूप में मिलता है।''

इस सब पर विचार करने से प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बरों का शास्त्रार्थ तो अवश्य हुआ है, पर यह शास्त्रार्थ नन्दिसंघ के आचार्य पद्मनन्दि, जिनका अपर नाम कुन्दकुन्द था, के साथ नहीं हुआ है। यह अन्य पद्मनन्दि के साथ हुआ होगा, जिनका समय विक्रम की १२वीं शताब्दी है।

समय-निर्धारण

आचार्य कुन्दकुन्द के समय पर विचार करने वालों में श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी; श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार; डॉ० के० बी० पाठक, प्रो० ए० चक्रवर्ती और डॉ० ए० एन० उपाध्ये के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ० उपाध्ये ने सभी मतों की समीक्षा कर अपने मत की संस्थापना की है। हम यहाँ संक्षेप में उक्त विद्वानों के मतों की विवेचना करेंगे।

प्रेमीजी ने इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के आधार पर बताया है कि गुणधर, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य द्वारा रचित गाथासूत्र, चूर्णिसूत्र और उच्चारणसूत्रों के रूप में 'कसायपाहुड' निबद्ध हुआ। धरसेन की परम्परा में पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की। इन दोनों ग्रन्थों को कुन्दकुन्दपुर में पद्मनन्दि मुनि ने गुरु परम्परा से प्राप्त किया और षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर १२००० श्लोक प्रमाण परिकर्म नामक ग्रन्थ की रचना की। प्रेमीजी ने इस आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि वीर निर्वाण संवत् ६८३ के पश्चात् कुन्दकुन्द हुए हैं। धरसेन, उच्चारणाचार्य आदि के समय को पचास-पचास वर्ष मान लेने पर कुन्दकुन्द का समय विक्रम की तीसरी शताब्दी का अन्तिम चरण सिद्ध होता है।

प्रेमीजी ने एक अन्य प्रमाण यह भी दिया है कि ऊर्जयन्तगिरि पर श्वेताम्बरों के साथ कुन्दकुन्द का ही शास्त्रार्थ हुआ था। उनके सुत्तपाहुड से भी यह प्रकट है। देवसेन के दर्शनसार के अनुसार विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष बीतने पर यह संघभेद हुआ। प्रेमीजी ने इसे शालिवाहन शकाब्द मानकर १३६+१३५=२७१ विक्रम सं० में संघभेद माना है। इसकाल का श्रुतावतार में उल्लिखित समय के साथ समन्वय हो जाता है। अतएव प्रेमीजी के मतानुसार कुन्दकुन्द का समय विक्रम की तृतीय शताब्दी का अन्तिम चरण है।

डॉ० पाठक को राष्ट्रकूट नरेश गोविन्दराज तृतीय के दो ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं। उनमें से एक शक सं० ७१९ का है और दूसरा शक सं० ७२४ का है। इनमें कोण्डकोन्दान्वय के तोरणाचार्य के शिष्य पुष्पनन्दि का तथा उनके शिष्य का निर्देश किया है। डॉ०पाठक का अभिमत है कि प्रभाचन्द्र शक सं० ७१९ में और उनके दादागुरु तोरणाचार्य शक सं० ६०० में हुए होंगे। कुन्दकुन्द को इनसे डेढ़ सौ वर्ष पूर्व माना जा सकता है। अतएव कुन्दकुन्द का समय शक सं० ४५० के लगभग है।

डॉ० पाठक ने अपने इस अनुमान का समर्थन एक अन्य आधार से भी किया है। उन्होंने बताया है कि चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मा शक सं० ५०० में राज्य सिंहासन पर आसीन थे। उन्होंने बादामी को जीता

और कदम्ब राज्यवंश को नष्ट कर दिया। अतः यह निश्चित हुआ कि कदम्ब राजवंश का शिवमृगेश वर्मा लगभग ५० वर्ष पूर्व अर्थात् शक सं० ४५० के आसपास विद्यमान था। बालचन्द्र ने पंचास्तिकाय की कन्नड़ी टीका और जयसेन ने संस्कृतटीका में बताया है कि कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज के सम्बोधन के लिए यह ग्रन्थ लिखा। यह शिवकुमार महाराज कदम्बवंशी शिवमृगेश वर्मा ही प्रतीत होता है। अतः कुन्दकुन्द का समय शक सं० ४५० (ई० सन् ५२८) आता है।

विचार करने पर डॉ० पाठक का उक्त मत नितान्त असमीचीन है। आज इस मत को कोई भी प्रामाणिक नहीं मानता है।

प्रो० ए० चक्रवर्ती ने डॉ० हारनले द्वारा प्रकाशित सरस्वती-गच्छ की दिगम्बर पट्टावलि के आधार पर कुन्दकुन्द के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होने का काल ई० पूर्व ८ माना है और उनका जन्म ई० पूर्व ५२ बतलाया है। चक्रवर्ती ने डॉ० पाठक के मत का विरोध किया है और पौराणिक प्रमाणों के आधार पर कुन्दकुन्द का पट्टावलि-उल्लिखित समय बतलाया है।

इन्होंने पल्लवराजवंश के शिवस्कन्द को शिवकुमार मानने पर जोर दिया है। क्योंकि स्कन्द और कुमार पर्यायवाची शब्द है। अन्य परिस्थितियों से भी उन्होंने एकरूपता सिद्ध की है। पल्लवों की राजधानी 'कांजीपुरम्' में थी। ये 'थोण्डमण्डलम्' पर शासन करते थे। यह प्रदेश विद्वानों की भूमि माना जाता था। 'कांजीपुरम्' के शासक ज्ञान के भी संरक्षक थे। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से लेकर आठवीं शताब्दी तक 'कांजीपुरम्' के चारों ओर जैनधर्म का प्रचार होता रहा है। इसके अतिरिक्त 'मयीडबोलु' दानपत्र की भाषा प्राकृत है। इस दानपत्र को शिवस्कन्दवर्मा ने प्रचारित किया है। इसकी विषयवस्तु और भाषा मथुरा के अभिलेखों से मिलती-जुलती है। अतः प्रो० चक्रवर्ती ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कुन्दकुन्द ने जिस शिवकुमार महराज के लिए प्राभृतत्रय लिखे थे, वह सम्भवतः पल्लववंश का शिवस्कन्द वर्मा है।

आचार्य श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने समन्तभद्र के समयविचार-प्रसंग में लिखा है—कुन्दकुन्दाचार्य वीर नि० सं० ६८३ से पहले नहीं हुए, किन्तु पीछे हुए हैं। परन्तु कितने पीछे, यह अस्पष्ट है। यदि अन्तिम आचारांगधारी लोहाचार्य के बाद होने वाले विनयधारी आदि चार आरातीय मुनियों का एकत्र समय २० वर्ष का और अर्हद्‌बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि तथा कुन्दकुन्द के गुरु का स्थूल समय दस-दस वर्ष का ही मान लिया जाय, जिसका मान लेना कुछ अधिक नहीं है, तो यह सहज में ही कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द उक्त समय से ८० वर्ष अथवा वीर नि० ७६३ (६८३+ २० + ६०) वर्ष बाद हुए हैं और यह समय उस समय के करीब पहुँच जाता है जो 'विद्वज्जन बोधक' से उद्‌धृत किये हुए उक्त पद में दिया है और इसलिए इसके द्वारा उसका बहुत कुछ समर्थन होता है।

मुख्तार साहब पट्टावलि पर विश्वास नहीं करते। पट्टावलि में कुन्दकुन्द का समय वि. संवत् ४९

दिया गया है। इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में वर्णित दोनों सिद्धान्तग्रन्थों की उत्पत्ति की कथा तथा गुरुपरिपाटी से दोनों सिद्धांतग्रन्थों का अध्ययन कर कुन्दकुन्द के द्वारा षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर १२००० श्लोक प्रमाण टीका लिखने की बात को साधार मानकर यही निष्कर्ष निकलता है कि कुन्दकुन्द वीर निर्वाण संवत् ६७० के लगभग हुए हैं।

मुख्तारसाहब ने शिवकुमार महाराज वाली चर्चा को उठाकर डॉ० पाठक के मत का निरसन किया है और प्रो० चक्रवर्ती के मत को भी मान्य नहीं ठहराया है। इस प्रकार मुख्तारसाहब ने कुन्दकुन्द का समय वीर निर्वाण संवत् ६०८–६९२ के मध्य माना है।

कुन्दकुन्द के समय पर विस्तार से विचार करने वाले डॉ० ए० एन० उपाध्ये हैं। उन्होंने अपनी प्रवचनसार को विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना में अपने से पूर्व प्रचलित सभी मतों की समीक्षा करते हुए स्वमत का निर्धारण किया है। डॉ० उपाध्ये ने अपने मत के निर्णय के हेतु निम्नलिखित तथ्यों पर विचार किया है–

१. भद्रबाहु का शिष्यत्व

२. श्रुतावतारानुसार षट्खण्डागम का टीकाकारित्व

३. संघभेदानन्तर प्राप्त सूचनाओं का आधारत्व

४. जयसेन एवं बालचन्द्र के उल्लेखानुसार शिवकुमार महाराज का समकालीनत्व

५. कुरलकर्तृत्व

१. डॉ० उपाध्ये का विचार है कि कुन्दकुन्द दिगम्बर–श्वेताम्बर संघभेद उत्पन्न होने के पश्चात् ही हुए हैं। यदि वे पहले हुए होते तो अचेलकत्व का समर्थन और स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं करते, यतः संघभेद की उत्पत्ति चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में हो चुकी थी। यही कारण है कि कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में श्वेताम्बर प्रवृत्तियों का निषेध किया है।

२. प्रथम तथ्य पर विचार करते हुए कुन्दकुन्द को श्रुतकेवली परम्परा का शिष्य माना है। डॉ० उपाध्ये ने बतलाया है कि दक्षिण में जो मुनिसंघ आया था, उनमें प्रधान भद्रबाहु श्रुतकेवली थे। अतः उनके संन्यास मरण के पश्चात् भी प्रधान गुरु के रूप में उनकी मान्यता प्रचलित रही। दक्षिण में जो साधुसंघ था, उसे धार्मिक ज्ञान उत्तराधिकार के रूप में भद्रबाहु से ही प्राप्त हुआ था। अतः सुदूर दक्षिण देशवासी कुन्दकुन्द ने उन्हें अपना गुरु माना, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह यथार्थ है कि कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहु के साक्षात् शिष्य नहीं हैं, यतः उनका नामोल्लेख अंगधारियों में नहीं मिलता है और न ऐसी कोई किंवदन्ती ही प्राप्त होती है, जिसके आधार पर कुन्दकुन्द को श्रुतकेवली भद्रबाहु का समकालीन माना जा सके।

३. श्रुतावतार में आया है कि कोण्डकुन्दपुर के पद्मनन्दि ने 'कषायपाहुड' और 'षट्खण्डागम' इन

दोनों ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त किया और षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर टीका लिखी, यह तथ्य असंदिग्ध नहीं है। कुन्दकुन्द की ऐसी कोई भी टीका आज नहीं मिलती और न कहीं उसके अवशेष ही मिलते हैं। अतः इन्द्रनन्दि के उक्त कथन का समर्थन अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं होता है। विबुध श्रीधर ने अपने श्रुतावतार में लिखा है कि कुन्दकीर्ति ने कुन्दकुन्दाचार्य से दोनों सिद्धान्तग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त करके 'षट्खण्डागम' के आदि के तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामक शास्त्र लिखा। डॉ० उपाध्ये का एक अन्य तर्क यह है कि कुन्दकुन्द की प्रतिभा मौलिक ग्रन्थों के सृजन की ओर ही अधिक है। टीका या टीकाकारिका लिखने की ओर नहीं। अतएव श्रुतावतार के आधार पर कुन्दकुन्द का समय वीर निर्वाण संवत् ६८३ के पश्चात् माना जाना चाहिए, यह कोई सबल प्रमाण नहीं है। सम्भव है कि कुन्दकुन्द इसके पहले हुए हों।

४. डॉ० उपाध्ये, प्रो० चक्रवर्ती के इस तथ्य को समुचित मानते हैं कि शिवकुमार महाराज पल्लवराजवंशी हैं। किन्तु पल्लवराजवंश का समय अभी तक अनिर्णीत है। अतएव डॉ० उपाध्ये, डॉ० पाठक के मत से असहमत होते हुए प्रो० चक्रवर्ती द्वारा मान्य शिवकुमार महाराज और शिवस्कन्द की एकता को स्वीकार करते हैं।

५. कुरलकाव्यकर्ता के रूप में कुन्दकुन्द की मान्यता पर विचार करते हुए डॉ० उपाध्ये ने बतलाया है कि कुरलकाव्य का जैन होना सम्भव है, उसमें ऐसे अनेक तथ्य आये हैं, जो अन्य धर्मों में प्राप्त नहीं होते। इस काव्य का समस्त वर्ण्य विषय जैन आचार और तत्त्वज्ञान से सम्बद्ध है। अतएव कुरल का कर्ता कोई जैन कवि तो अवश्य है, पर आचार्य कुन्दकुन्द हैं, इसके समर्थन में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। कुन्दकुन्द का अन्य नाम एलाचार्य बताया गया है उसकी पुष्टि भी अन्य प्रमाणों से नहीं होती। अतएव कुन्दकुन्द को ई० सन् प्रथम शताब्दी का विद्वान् स्वीकार किया जा सकता है।

आधुनिक विचारक डॉ० ज्योतिप्रसादजी ने विभिन्न मतों की समीक्षा करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष उपस्थित किया है–All this shows that he may Safely be assigned to the ealry part of the first century A. D. or, to be exact, to 8 B. C.—A. D. 44.

अर्थात् इस आधार पर कुन्दकुन्द का समय ई० सन् की प्रथम शताब्दी आता है।

कुन्दकुन्द की रचनाएँ–

दिगम्बर साहित्य के महान् प्रणेताओं में आचार्य कुन्दकुन्द का मूर्धन्य स्थान है। इनकी सभी रचनाएँ शौरसेनी प्राकृत में हैं। इन ग्रन्थों में १. प्रवचनसार, २. समयसार और ३. पंचास्तिकाय ये तीन ग्रन्थ विश्रुत हैं और तत्त्वज्ञान को अवगत करने के लिए कुञ्जी हैं। शेष रचनाओं का भी आध्यात्मिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

१. प्रवचनसार—यह ग्रन्थ अमृतचन्द्रसूरि और जयसेनाचार्य की संस्कृत टीकाओं सहित रायचन्द्र

शास्त्रमाला बम्बई द्वारा प्रकाशित है। इसमें तीन अधिकार हैं–ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र। ज्ञानाधिकार में आत्मा और ज्ञान का एकत्व एवं अन्यत्व, सर्वज्ञ की सिद्धि, इन्द्रिय और अतीन्द्रिय सुख, शुभ, अशुभ और शुद्धोपयोग तथा मोहक्षय आदि का प्ररूपण है। ज्ञेयाधिकार में द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप, सप्तभंगी, कर्म और कर्मफल का स्वरूप, मूर्त और अमूर्त द्रव्यों के गुण, कालादिक के गुण और पर्याय, प्राण, शुभ और अशुभ उपयोग, जीव का लक्षण, जीव और पुद्‌गल का सम्बन्ध, निश्चय और व्यवहार का अविरोध एवं शुद्धात्मा आदि का प्रतिपादन है। चारित्र–अधिकार में श्रामण्य के चिह्न, छेदोपस्थापक श्रमण, छेद का स्वरूप, युक्त आहार, उत्सर्ग और अपवाद मार्ग, आगमज्ञान का लक्षण और मोक्षतत्त्व आदि का कथन किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र की टीका के अनुसार इसमें २७५ गाथाएँ हैं और जयसेन की टीका के अनुसार ३१७ हैं। इन बढ़ी हुई गाथाओं का तीन वर्गों में विभाजन किया जा सकता है–

१. नमस्कारात्मक

२. व्याख्यान विस्तार विषयक

३. अपर विषय विज्ञापनात्मक

प्रथम दो विषयों की गाथाएँ इस प्रकार की तटस्थ हैं कि जिनका अभाव खटकता नहीं है। उनके रहने पर भी प्रवचनसार के विषय में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती। तृतीय विभाग की चौदह गाथाएँ विचारणीय हैं। ये गाथाएँ निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए वस्त्रपात्रादिक का तथा स्त्रियों के लिए मुक्ति का निषेध करती हैं। इन गाथाओं के विषय यद्यपि कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों के विपरीत नहीं है, पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विरुद्ध अवश्य हैं। अतः अमृतचन्द्राचार्य के द्वारा इनके छोड़े जाने के सम्बन्ध में डॉ० उपाध्ये का कथन है–''अमृतचन्द्र इतने आध्यात्मिक व्यक्ति थे कि वे साम्प्रदायिक वाद–विवाद में पड़ना नहीं चाहते थे। अतः इस बात की इच्छा रखते थे कि उनकी टीका संक्षिप्त हो एवं तीक्ष्ण साम्प्रदायिक आक्रमणों को न करती हुई कुन्दकुन्द के अति उदात्त उद्‌गारों के साथ सभी सम्प्रदायों को स्वीकृत हो।''

डॉ० उपाध्ये का उपर्युक्त मत सर्वथा समीचीन नहीं है, क्योंकि अमृतचन्द्र ने तत्त्वार्थसार के निम्न पद्य में लिखा है–

सग्रन्थोंऽपि च निर्ग्रन्थों ग्रासाहारी च केवली।
रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम्॥

इस पद्य में श्वेताम्बर मान्यता के केवली–कवलाहार और सचेलकत्व का निषेध किया गया है। अतः श्वेताम्बर मान्यता के सिद्धान्तों की समीक्षा छोड़ देने की बात युक्त नहीं है।

२. समयसार–यह सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक ग्रन्थ है। यहाँ समय शब्द के दो अर्थ विवक्षित हैं– समस्त पदार्थ और आत्मा। जिस ग्रन्थ में समस्त पदार्थों अथवा आत्मा का सार वर्णित हो, वह समयसार

है। यह भेदविज्ञान का निरूपण करता है। अनेक पदार्थों को 'स्व'-'स्व' लक्षणों से पृथक्-पृथक् नियत कर देना और उनसे उपादेय पदार्थ को लक्षित तथा अन्य समस्त पदार्थों को उपेक्षित कर देने को भेदविज्ञान कहा जाता है। यह ग्रन्थ दस अधिकारों में विभक्त है–प्रथम जीवाधिकार में 'स्व' समय, 'पर' समय, शुद्धनय, आत्मभावना और सम्यक्त्व का प्ररूपण है। जीव को कामभोग विषयक बन्धकथा ही सुलभ है किन्तु आत्मा का एकत्व दुर्लभ है। एकत्व-विभक्त आत्मा को निजानुभूति द्वारा ही जाना जाता है। जीव प्रमत्त, अप्रमत्त दोनों दशाओं से पृथक् ज्ञायकभावमात्र है। ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान, चारित्र व्यवहार से कहे जाते हैं, निश्चय से नहीं। निश्चय से ज्ञानी एक शुद्ध ज्ञायकमात्र ही है। इस अधिकार में व्यवहारनय को अभूतार्थ और निश्चय को भूतार्थ कहा है। दूसरे कर्तृकर्माधिकार में आस्रव, बन्ध आदि की पर्यायों का विवेचन किया गया है। आत्मा के मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीन परिणाम अनादि हैं। जब इन तीन प्रकार के परिणामों का कर्तृत्व होता है, तब पुद्गलद्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणमन करता है। परद्रव्य के भाव का जीव कभी भी कर्ता नहीं है।

तीसरे पुण्य-पाप अधिकार में शुभाशुभ कर्मस्वभाव वर्णित हैं। अज्ञानपूर्वक किये गये व्रत, नियम, शील और तप मोक्ष के कारण नहीं हैं। जीवादि पदार्थों का श्रद्धान, उनका अधिगम और रागादिभाव का त्याग मोक्ष का मार्ग बतलाया है। चौथे आस्रवाधिकार में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और कषाय आस्रव बतलाये गये हैं। वस्तुतः राग, द्वेष, मोहरूप परिणाम ही आस्रव हैं। ज्ञानी के आस्रव का अभाव रहता है। यतः राग-द्वेष-मोहरूप परिणाम के उत्पन्न न होने से आस्रवप्रत्ययों का अभाव कहा जाता है। पाँचवें संवर अधिकार में संवर का मूल भेदविज्ञान बताया है। इस अधिकार में संवर के क्रम का भी वर्णन है। छठवें निर्जरा अधिकार में द्रव्य, भावरूप निर्जरा का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। ज्ञानी व्यक्ति कर्मों के बीच रहने पर भी कर्मों से लिप्त नहीं होता है, पर अज्ञानी कर्मरज से लिप्त रहता है। सातवें बन्धाधिकार में बन्ध के कारण रागादि का विवेचन किया है। आठवें मोक्षाधिकार में मोक्ष का स्वरूप और नववें सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में आत्मा का विशुद्ध ज्ञान की दृष्टि से अकर्तृत्व आदि सिद्ध किया है। अन्तिम दशम अधिकार में स्याद्वाद की दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है।

इस ग्रन्थ में आचार्य अमृतचन्द्र के टीकानुसार ४१५ गाथाएँ और जयसेनाचार्य की टीका के अनुसार ४३९ गाथाएँ हैं। शुद्ध आत्मा का इतना सुन्दर और व्यवस्थित विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

३. पञ्चास्तिकाय–इस ग्रन्थ में कालद्रव्य से भिन्न जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच अस्तिकायों का निरूपण किया गया है। बहुप्रदेशी द्रव्य को आचार्य ने अस्तिकाय कहा है। द्रव्य-लक्षण, द्रव्य के भेद, सप्तभंगी, गुण, पर्याय, कालद्रव्य एवं सत्ता का प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ दो अधिकारों में विभक्त है। प्रथम अधिकार में द्रव्य, गुण और पर्यायों का कथन है और द्वितीय अधिकार में पुण्य, पाप, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष इन नव पदार्थों के साथ मोक्ष-मार्ग

का निरूपण किया है।

इस ग्रन्थ में अमृतचन्द्राचार्य की टीका के अनुसार १७३ गाथाएँ और जयसेनाचार्य के टीकानुसार १८१ गाथाएँ हैं। द्रव्य के स्वरूप को अवगत करने के लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

४. नियमसार—आध्यात्मिक दृष्टि से यह ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को नियम से मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग कहा है। अतएव सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप कथन करते हुए उसके अनुष्ठान करने एवं मिथ्यादर्शनादि के त्याग का विधान किया है। इस पर पद्मप्रभमलधारीदेव की संस्कृतटीका भी उपलब्ध है।

५. बारसाणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा)—इसमें अध्रुव, अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधिदुर्लभ इन बारह भावनाओं को ९१ गाथाओं में वर्णन है। संसार से विरक्ति प्राप्त करने के लिए यह रचना अत्यन्त उपादेय है।

६. दंसणपाहुड—इस लघुकाय ग्रन्थ में धर्म के सम्यग्दर्शन का ३६ गाथाओं में विवेचन किया गया है। सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति को निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता है।

७. चरितपाहुड—सम्यक्चारित्र का निरूपण ४४ गाथाओं में किया गया है। सम्यक्चारित्र के दो भेद किये हैं-सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण। संयमाचरण के सागार और अनगार इन दो भेदों द्वारा श्रावक और मुनि-धर्म का संक्षेप में निर्देश किया है।

८. सुत्तपाहुड—इसमें २७ गाथाओं में आगम का महत्त्व बतलाते हुए उसके अनुसार चलने की शिक्षा दी गयी है।

९. बोहपाहुड—इसमें ६२ गाथाएँ हैं। इनमें आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, आत्मज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हन्त और प्रव्रज्या इन ग्यारह बातों का बोध दिया गया है।

१०. भावपाहुड—इसमें १६३ गाथाओं में चित्त-शुद्धि की महत्ता का वर्णन किया है। बताया है कि परिणामशुद्धि के बिना संसार-परिभ्रमण नहीं रुक सकता है और न बिना भाव के कोई पुरुषार्थ ही सिद्ध होता है। इसमें कर्म की अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का विवेचन आया है।

११. मोक्खपाहुड—इस ग्रन्थ में १०६ गाथाओं में मोक्ष के स्वरूप का निरूपण किया गया है। आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा-इन तीन भेदों का स्वरूप समझाया है। मोक्ष-परमात्म-पद की प्राप्ति किस प्रकार होती है, इसका निर्देश किया है।

१२. लिंगपाहुड—इस लघुकाय ग्रन्थ में २२ गाथाएँ हैं। श्रमणलिंग को लक्ष्य कर मुनि-धर्म का निरूपण किया गया है।

१३. सीलपाहुड—इसमें ४० गाथाएँ हैं। शील ही विषयासक्ति को दूरकर मोक्षप्राप्ति में सहायक होता है। जीव-दया, इन्द्रिय-दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और तप

को शील के अन्तर्गत परिगणित किया है।

१४. रयणसार—इस ग्रंथ में रत्नत्रय का विवेचन है। १६७ पद्य हैं और किसी-किसी प्रति में १५५ पद्य भी मिलते हैं। गृहस्थ और मुनियों को रत्नत्रय का पालन किस प्रकार करना चाहिए, यह इस में वर्णित है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये इस ग्रन्थ को गाथा-विभेदविचार, पुनरावृत्ति, अपभ्रंश पद्यों की उपलब्धि एवं गण-गच्छादि के उल्लेख मिलने से कुन्दकुन्द के होने में आशंका प्रकट करते हैं। वस्तुतः शैली की भिन्नता और विषयों के सम्मिश्रण से यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द रचित प्रतीत नहीं होता। परम्परा से यह कुन्दकुन्द द्वारा प्रणीत माना जाता है।

१५. सिद्धभत्ति—यह स्तुति परक ग्रन्थ है। १२ गाथाओं में सिद्धों के गुण-भेद, सुख, स्थान, आकृति और सिद्धि-मार्ग का निरूपण किया गया है। इस पर प्रभाचन्द्राचार्य की एक संस्कृत टीका है। इस टीका के अन्त में लिखा है कि संस्कृत की सब भक्तियाँ पूज्यपादस्वामी द्वारा विरचित हैं और प्राकृत की भक्तियाँ कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा निर्मित हैं।

१६. सुदभत्ति—इस भक्तिपाठ में ११ गाथाएँ हैं। इसमें आचारांग, सूत्रकृतांग आदि द्वादश अंगों का भेद-प्रभेद सहित उल्लेख करते हुए उन्हें नमस्कार किया गया है। साथ ही १४ पूर्वों में से प्रत्येक की वस्तु संख्या और प्रत्येक वस्तु के प्राभृतों की संख्या भी दी है।

१७. चारित्तभत्ति—१० अनुष्टुप् गाथाछन्द हैं। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात नाम के चारित्रों, अहिंसादि २८ मूलगुणों, दस धर्मों, त्रिगुप्तियों, सकलशीलों, परीषहों के जय और उत्तरगुणों का उल्लेख करते हुए मुक्तिसुख देने वाले चारित्र की भावना की गयी है।

१८. जोइभत्ति—२३ गाथाओं में योगियों की अनेक अवस्थाओं, ऋद्धियों, सिद्धियों एवं गुणों के साथ उन्हें नमस्कार किया गया है।

१९. आइरियभत्ति—इसमें १० गाथाएँ हैं और इनमें आचार्यों के उत्तम गुणों का उल्लेख करते हुए उन्हें नमस्कार किया है।

२०. णिव्वाणभत्ति—इस भक्तिपाठ में २७ गाथाएँ हैं। इनमें निर्वाण का स्वरूप एवं निर्वाण प्राप्त तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है।

२१. पंचगुरुभति—इस भक्तिपाठ में सात पद्य हैं। प्रारम्भिक पाँच पद्यों में क्रमशः अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेष्ठियों का स्तवन है। छठे पद्य में स्तवन का फल अंकित है। सप्तम पद्य में इन पाँच परमेष्ठियों का अभिधान पंच नमस्कार में किया है।

२२. थोस्सामि थुदि (तित्थयर-भत्ति) —'थोस्सामि' पद से आरम्भ होने वाली अष्ट गाथात्मक स्तुति है। इसे तीर्थंकर-भक्ति भी कहा गया है। इस स्तुतिपाठ में वृषभादि वर्धमानपर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थंकरों की उनके नामोल्लेखपूर्वक वन्दना की गई है और तीर्थंकरों के लिए जिन, जिनवर, जिनेन्द्र,

केवली, अनन्तजिन, लोकमहित, धर्मतीर्थंकर, विधूतरजोमल, लोकोद्योतकर आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है। अन्त में समाधि, बोधि और सिद्धि की प्रार्थना की गयी है।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द अपूर्व प्रतिभा के धनी और शास्त्रपारंगत विद्वान् हैं। इन्होंने पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में आध्यात्मिक दृष्टि के साथ शास्त्रीयदृष्टि को भी प्रश्रय दिया है। अतएव इन दोनों ग्रन्थों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों का भी वर्णन प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन के विषयभूत जीवादि पदार्थों का विवेचन करने के लिए शास्त्रीय दृष्टि को अंगीकृत किये बिना कार्य नहीं चल सकता। अतएव द्रव्यार्थिकनय से जहाँ जीव के नित्य-अपरिणामी स्वभाव का वर्णन किया जाता है वहाँ पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से जीव के अनित्य-परिणामी स्वभाव का भी वर्णन रहता है। यों तो द्रव्य-गुण और पर्यायों का एक अखण्ड पिण्ड है, तो भी उनका अस्तित्व प्रकट करने के लिए भेद को स्वीकार किया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार और नियमसार में आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है। इसके साथ-साथ इन ग्रन्थों में शौरसेनी प्राकृत के प्राचीन स्वरूप प्राप्त होते हैं, इस दृष्टि में गुणस्थान और मार्गणाओं के भेदों का अस्तित्व स्वीकृत नहीं रहता। यह दृष्टि परनिरपेक्ष आत्मस्वभाव को और उसके प्रतिपादक निश्चयनय को ही भूतार्थ तथा व्यवहार को हेय मानती है। यहाँ एक निश्चय ही मोक्षमार्ग है, व्यवहार नहीं। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने आध्यात्मिक और शास्त्रीय दृष्टियों का विश्लेषण एवं विवेचन कर आत्मतत्त्व का निरूपण किया है। इन दोनों दृष्टियों के सम्बन्ध में सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने लिखा है–''शास्त्रीय दृष्टि वस्तु का विश्लेषण करके उस की तह तक पहुँचने की चेष्टा करती है। उसकी दृष्टि में निमित्तकारण के व्यापार का उतना ही मूल्य है, जितना उपादान कारण के व्यापार का और परसंयोग-जन्य अवस्था भी उतनी ही परमार्थ है, जितनी स्वाभाविक अवस्था। जैसे उपादानकारण के बिना कार्य नहीं होता, वैसे ही निमित्तकारण के बिना भी कार्य नहीं होता। अतः कार्य की उत्पत्ति में दोनों का समव्यापार है...शास्त्रीय दृष्टि का किसी वस्तु-विशेष के साथ कोई पक्षपात नहीं है।''

''शास्त्रीय दृष्टि के सिवाय एक दृष्टि आध्यात्मिक भी है। इसके द्वारा आत्मतत्त्व को लक्ष्य में रखकर वस्तु का विचार किया जाता है।''

अतएव संक्षेप में कुन्दकुन्द का अपूर्व पाण्डित्य, उनकी शास्त्रग्रन्थन-प्रतिभा एवं सिद्धान्तग्रन्थों के सार-भाग को आध्यात्मिक और द्रव्यानुयोग के रूप में प्रस्तुतिकरण आदि उनकी विशेषताएँ हैं।

डॉ० नेमिचन्द्र जैन, ज्योतिषाचार्य

(तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा)

अन्तर्घटना

उपलब्ध जैन–दर्शन साहित्य में प्राकृत–भाषा–निष्ठ साहित्य का बाहुल्य है। कारण यही है कि यह भाषा सरल, मधुर एवं ज्ञेय है। इसीलिए कुन्दकुन्द की लेखनी ने प्राकृत–भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना कर डाली। उन अनेक सारभूत ग्रन्थों में अध्यात्म–शान्तरस से आप्लावित ग्रन्थराज 'समयसार' है। इसमें सहज–शुद्ध तल की निरूपणा, अपनी चरम सीमा पर सोल्लास नृत्य करती हुई पाठक को, जो साधक अध्यात्म में रुचि रखता है, बुलाती हुई सी प्रतीत होती है। यथार्थ में कुन्दकुन्द ने अपनी अनुभूतियों को 'समयसार' इस ग्रन्थ के रूप में रूपांतरित ही किया है। अमूर्त हृदय मूर्त के माध्यम से देखना तो कठिन है ही किन्तु दूसरों को दिखाना कठिनतम है। इस प्रकार से दुस्साध्य कार्य को सिद्ध करने का सौभाग्य आप जैसे महान्पूत पवित्र आत्माओं को ही प्राप्त है। तभी तो हम, आपकी इस कृति को बाह्य निमित्त बनाकर, उस निजी समयसारमय सरस सत्ता का रसास्वादन करने का परम सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं। इस अपूर्व कार्य में आप (कुन्दकुन्द) ही परम निमित्त हैं।

यह कहना असत्य तो नहीं है परन्तु कटु सत्य अवश्य है कि बाह्य सभी प्रकार के ग्रन्थों को तजकर, निर्भीक–निर्ग्रन्थ हो, शेष आभ्यन्तर ग्रन्थों के विमोचनार्थ, ग्रन्थराज 'समयसार' का अवलोकन करना ही सार्थक है। निर्ग्रन्थ हुए बिना 'समयसार' का निरूपण तो संभव है किन्तु 'समयसार' का साक्षात् निरीक्षण तो आकाश–कुसुमवत् ही है।

पंचेन्द्रियों के विषम–विषयों में रच–पचने वाले विषयी–कषायी पुरुषों को 'समयसार' शिरोगम तो हो सकता है किन्तु हृदयंगम कदापि नहीं। 'समयसार' का पाचन उतना सुगम नहीं है, जितना कि वाचन या भाषण–संभाषण। वस्तुतः 'समयसार' बहिर्वस्तु नहीं है जिसे खरीदा जा सके, जिसके ऊपर अपनी सत्ता–बलवत्ता जमा सके, वह तो आंतरिक आत्मोत्थ शुद्ध परिणति सहज अन्तर्घटना है। हाँ, दिगम्बर मुनि भी ऐसा न समझें कि हमने सब परिग्रह का त्याग तो कर ही दिया है, तिल–तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखते, अतः हमने समयसार का साक्षात्कार कर ही लिया है अथवा नियम से कर ही लेंगे,

यदि ऐसा समझते हैं तो उनकी वह भ्रान्तधारणा है, क्योंकि 'समयसार' की अनुभूति के लिए मात्र दिगम्बरत्व पर्याप्त नहीं है। दिगम्बर होने के उपरान्त भी दिगम्बरत्व की विस्मृति नितान्त आवश्यक है, परिधि में अटकी हुई चैतन्यधारा को केन्द्र की ओर प्रवाहित करना होगा, जिससे चेतना में स्थिरता की उद्भूति होगी, जिसमें 'समयसार' का नियमरूपेण दर्शन होता है।

मुनि-दीक्षा के उपरान्त, परम-पावन, तरण-तारण, गुरु-चरण सान्निध्य में इस महान् ग्रन्थ का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। यह भी गुरु की 'गरिमा' कि कन्नड़ भाषा-भाषी मुझे अत्यन्त सरल एवं मधुर भाषा शैली में 'समयसार' के हृदय को श्रीगुरु महाराज ने (आचार्य श्री गुरुवर ज्ञानसागरजी महाराज ने) बार-बार दिखाया। जिसकी प्रत्येक गाथा में अमृत ही अमृत भरा है और मैं पीता ही गया! पीता ही गया!! माँ के समान गुरुवर अपने अनुभवों को मिलाकर, घोल-घोलकर पिलाते ही गये, पिलाते ही गये। फलस्वरूप एक उपलब्धि हुई, अपूर्व विभूति की, आत्मानुभूति की! अब तो समयसार ग्रन्थ भी 'ग्रन्थ' (परिग्रह के रूप में) प्रतीत हो रहा है। कुछ विशेष गाथाओं के रसास्वादन में जब डूब जाता हूँ, तब अनुभव करता हूँ कि ऊपर उठता हुआ, उठता हुआ ऊर्ध्वागममान होता हुआ, सिद्धालय को भी पार कर गया हूँ, सीमोल्लंघन कर चुका हूँ। अविद्या कहाँ ? कब सरपट चली गई, पता तक नहीं रहा। आश्चर्य तो यह है कि जिस विद्या की चिरकालीन प्रतीक्षा थी, उस विद्या-सागर के भी पार! बहुत दूर!! पहुँच चुका हूँ। विद्या-अविद्या से परे, ध्येय, ज्ञान-ज्ञेय से परे, भेदाभेद, खेदाखेद से परे, उसका साक्षी बनकर, उद्ग्रीव उपस्थित हूँ, अकम्प निश्चल शैल!! चारों ओर छाई है सत्ता, महासत्ता अब समर्पित स्वयं अपने में!

आचार्य विद्यासागर मुनि

(साभार– समयसार, आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज की हिन्दी टीका से)

विषयानुक्रमणिका

कर्तृकर्माधिकार	गाथा	पृष्ठ
अज्ञानी जीव आस्रव में लीन होने के कारण कर्मबन्ध करता रहता है	७४-७५	१
कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति के अभाव कब ?	७६	१५
आस्रवों का अशुचिपना, विपरीतता एवं दुःख की कारणता	७७	१७
आस्रवों के अभाव करने का उपाय	७८	३२
भेदज्ञान एवं आस्रव की निर्वृत्ति सम-समयवर्ती है	७९	४२
ज्ञानी आत्मा की पहिचान	८०	६०
धर्मादि परिणामों को जानने वाला ज्ञानी है	८१	६९
जीव का पौद्गलिककर्म के साथ कर्तृकर्मभाव	८२-८५	७४-१०२
जीव और पुद्गल में कर्तृकर्मभाव नहीं	८६-८८	१०२-११९
निश्चयनय से आत्मा के कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्यभाव	८९	११९
व्यवहारनय से आत्मा के कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्यभाव	९०	१२२
दो क्रियावादित्व का प्रसंग	९१	१२५
द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि है	९२	१२७
आत्मा पुद्गलकर्म के निमित्त से अपने भावों का कर्त्ता और भोक्ता होता है	९३	१३६
मिथ्यात्व भी जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार का है	९४	१३८
जीव और अजीव रूप मिथ्यात्वादिक का स्वरूप	९५	१४०
मिथ्यात्वादि चैतन्य के परिणाम हैं	९६	१४४
आत्मा मिथ्यात्वादि का कर्त्ता है	९७	१४६
पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्म रूप परिणत होता है	९८	१४९
अज्ञान ही कर्मों का कर्त्ता है	९९	१५४
ज्ञानमय जीव कर्म को नहीं करता	१००	१५७

ॐ णमो जिणाणं

समयोपदेश

कर्तृकर्माधिकारः

अब पूर्वोक्त जीवाधिकार की रंगभूमि में यद्यपि शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से कर्त्ताकर्म भाव रहित जीव और अजीव हैं, किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से वही जीव और अजीव कर्त्ता और कर्म के वेष में श्रृंगार सहित पात्र के समान प्रवेश करते हैं। इस प्रकार के दण्डकों को छोड़कर अठहत्तर गाथाओं पर्यन्त नव स्थलों से व्याख्यान करते हैं। इस प्रकार पुण्य-पापादि सात पदार्थों की पीठिका के रूप में तीसरे अधिकार में यह समुदाय पातनिका हुई। अथवा यों कहो कि **जो खलु संसारत्थो जीवो** इत्यादि तीन गाथाओं के द्वारा पुण्यपापादि रूप सप्त पदार्थ जो कि जीव और पुद्‌गल के संयोगरूप परिणाम से उत्पन्न हुए हैं, वे शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध जीव के स्वरूप नहीं हैं, इस प्रकार का व्याख्यान **पंचास्तिकायप्राभृत** ग्रन्थ में जो पहले संक्षेप से कह आये हैं, उन्हीं पुण्यपापादि सप्तपदार्थों का स्पष्ट वर्णन करने के लिए यह पीठिका का समुदाय रूप कथन किया जाता है, यह दूसरी पातनिका हुई। वहाँ सबसे पहले **जाव ण वेदि विसेसंतरं** इत्यादि गाथा से प्रारम्भ करके पाठ के क्रम से छह गाथाओं पर्यन्त व्याख्यान करते हैं। वहाँ दो गाथाएँ तो अज्ञानी जीव की मुख्यता से और चार गाथायें ज्ञानी जीव की मुख्यता से कही गईं हैं। इस प्रकार पहले स्थल में समुदाय पातनिका हुई।

उत्थानिका—वही आगे बतलाते हैं कि यह जीव क्रोधादि आस्रव भाव और शुद्धात्मा इन दोनों में जो भेद है उसको जब तक भली प्रकार नहीं जान लेता है, तब तक यह जीव अज्ञानी बहिरात्मा रहता है—

जाण व वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि।
अण्णाणी ताव दु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो ॥७४॥
कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥७५॥

(युग्मम्)

अन्वयार्थ— (जीवो) जीव **(जाव)** जब तक **(आदासवाण दोण्हंपि)** आत्मा और आस्रव इन दोनों के **(विसेसंतरं)** अन्तर और भेद को **(ण वेदि)** नहीं जानता **(ताव)** तब तक **(दु सो)** वह **(अण्णाणी)** अज्ञानी **(कोहादिसु)** क्रोधादिक आस्रवों में **(वट्टदे)** प्रवर्तता है।

(कोहादिसु) क्रोधादिकों में **(वट्टंतस्स तस्स)** वर्तते हुए उसके **(कम्मस्स)** कर्मों का **(संचओ होदि)** संचय होता है। **(एवं जीवस्स)** इस प्रकार जीव के **(बंधो)** कर्मों का बन्ध **(सव्वदरसीहिं)**

सर्वज्ञ देवों के द्वारा **(खलु भणिदो)** निश्चय से कहा गया है।

अर्थ—आत्मभाव और आस्रवभाव दोनों में परस्पर में होने वाली विशेषता को जब तक यह जीव अपने उपयोग में ठीक प्रकार नहीं जान लेता है, तब तक अज्ञानी बना रहता है और तभी तक क्रोधादि करने में प्रवृत्त होता है। अतः क्रोधादि में प्रवृत्त होने वाले के नवीन कर्मों का बंध भी होता रहता है। सर्वज्ञ भगवान् ने नूतन कर्म बन्ध होने का यही ढंग बतलाया है।

क्रोधादि आस्रव निरे, मुझसे सदा से,
मैं हूँ अभिन्न निज बोधमयी सुधा से।
ऐसा न मूढ़ जब लौं, वह जान पाता,
क्रोधाग्नि से स्वयं को तब लौं जलाता ॥७४॥
क्रोधाग्नि से यह कुधी जब लौं जलेगा,
तो कर्म का चयन भी तब लौं करेगा।
है जीव की यह रही विधि-बन्ध गाथा,
सर्वज्ञ का मत यही, यह छन्द गाता ॥७५॥

व्याख्या —समयसार ग्रन्थ में सर्वप्रथम पीठिका रूप १४ गाथायें, एक गाथा में नव-पदार्थाधिकार तथा जीवाधिकार और अजीवाधिकार क्रमशः २८ और ३० गाथायें इस प्रकार कुल ७३ गाथाओं द्वारा समाप्त हुए। अब कर्तृकर्माधिकार प्रारम्भ होता है। **यह जैनदर्शन का हृदय है, जैनदर्शन की रीढ़ है, जैनदर्शन का मूल है।** ये तीनों वे वस्तुयें हैं जिनके अभाव में जीवन समाप्त होता है। एक प्रशंसा होती है और एक स्वरूप होता है। प्रत्येक दर्शन वाला अपनी-अपनी प्रशंसा करते हैं, किन्तु स्वरूप की व्याख्या, प्रशंसा या आलोचना से नहीं होती, स्वरूप तो स्वरूप होता है। वस्तु का परिणमन और वस्तु का अस्तित्व अपने आपमें अद्वितीय होता है। कोई किसी में मिलता नहीं है। विशेष गुण की अपेक्षा एकद्रव्य दूसरे द्रव्य में मिलते नहीं हैं। तभी तो छह द्रव्य पृथक्-पृथक् हैं, अन्यथा एक हो जाते। यह बात अलग है कि सजातीय द्रव्य अनन्त की संख्या में भी हैं। कालद्रव्य असंख्यात हैं, एक कालाणु दूसरे कालाणु में प्रवेश नहीं कर सकता, यह नित्य, अवस्थित है। जीव अनन्तानन्त हैं, थे, रहेंगे। उनमें एक भी जीव समाप्त नहीं होगा और न ही नया उत्पन्न होगा। न्यूनता और अधिकता दोनों से रहित हैं। यह बताने वाला सम्यग्ज्ञान होता है। **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** जी ने **रत्नकरण्डकश्रावकाचार** में सम्यग्ज्ञान की परिभाषा देते हुए कहा है कि-

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२॥

सम्यग्ज्ञान कैसा होता है ? इसकी व्याख्या की गई है। न्यूनता और अधिकता से रहित, याथातथ्य, विपरीतता से रहित, सन्देह से रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। कर्तृकर्म अधिकार अपने

आप में महाधिकार और महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसको जो व्यक्ति समझ लेता है वह निश्चित रूप से बाहर की सांसारिक दौड़-धूप से बच जाता है। निष्प्रयोजन संघर्ष से बच जाता है। वह स्वयं ही नहीं बचता अपितु उसके पास जो आते हैं वे भी बच जाते हैं।

जैसे-कर्मसिद्धान्त के धवलादि ग्रन्थों में तीन दण्डकों का महाधिकार होता है। उसी प्रकार इस ग्रन्थ में दर्शन के विषय में कर्ताकर्माधिकार बहुत अनूठा है। यह ग्रन्थ, हमारा दूसरे द्रव्य के साथ तथा दूसरे का हमारे साथ क्या सम्बन्ध है ? इसका स्वरूप बताकर उन्हें भिन्न-भिन्न कर देने वाला है। शुद्धनिश्चयनय से जीव और अजीव कर्तृ-कर्म भाव से रहित हैं। फिर भी अशुद्धनिश्चयनय से कर्ता-कर्म विशेषण के साथ श्रृंगार सहित प्रवेश कर रहे हैं। श्रृंगार सहित भेष धारण करके पात्र प्रवेश करता है। भेष भी एक प्रकार से विशेषण के लिए ही होता है। इस अधिकार में ७८ गाथायें हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के साहित्य के बारे में लेखन तथा विचार-विमर्श हुए हैं। उनमें **प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय व समयसार** को तीन रत्न के रूप में अमौलिक रूप से स्वीकार किया गया है। इसके ऊपर सर्वप्रथम **अमृतचन्द्रसूरि** ने टीका लिखी है। टीका दो प्रकार की होती है-१. पदखण्डना, २. दण्डान्वय। **श्रीअमृतचन्द्रसूरि** ने दण्डान्वय टीकायें लिखीं हैं और **आचार्य जयसेन स्वामी** ने पदखण्डना रूप टीकायें लिखी हैं। दण्डान्वय टीका में सारांश रूप से वर्णन किया जाता है। पदखण्डना टीका में गाथा के प्रत्येक पद व क्रिया के द्वारा प्रसंगानुसार व्याख्या करके विषय की प्रस्तुति की जाती है। **समयसार** ग्रन्थ की टीका **श्रीपञ्चास्तिकाय** ग्रन्थ के बाद में लिखी गई होगी। इसलिए यहाँ ऐसा लिखा है कि पहले **पंचास्तिकाय** ग्रन्थ में संक्षेप में कह आये हैं।

आचार्य द्वारा आचार्य का स्मरण—

आचार्य जयसेन स्वामी की टीकाओं के माध्यम से यह भाव स्पष्ट हो जाता है कि ये स्वयं सूत्रकार के पाठ्य के अनुसार पाठ्यक्रम निर्धारित करते हैं, वे स्वयं कहते हैं कि यह सूत्रकार के अनुसार विषय निर्धारित है। कभी-कभी यह भी लिखते हैं कि यह टीकाकार के अनुसार विषय है। इनके समक्ष **आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी** टीकाकार के रूप में थे। **आचार्य जयसेन स्वामी** की एक विशेषता रही है कि वे टीका लिखते समय सूत्रकार **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** का तो बार-बार स्मरण करते ही हैं, लेकिन टीकाकार को भी कभी नहीं भूलते। **आचार्य जयसेन स्वामी** गाथाओं को सूत्र रूप में स्वीकार करते हैं। इसलिए गाथा पाठ्यक्रमेण ऐसा बीच-बीच में कहते हैं। अर्थात् वे **आचार्य कुन्दकुन्द देव** को सूत्रकार के रूप में स्वीकार करते हैं। उन्होंने अपनी टीका में अनेक बार उनके नाम का उल्लेख किया है। **प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समयसार** आदि की टीकाओं में कई स्थानों पर **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** को याद किया है। **आचार्य जयसेन स्वामी** प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने हर ग्रन्थ में जगह-जगह पर **कुन्दकुन्ददेव** का नामोल्लेख किया है। किन्तु **अमृतचन्द्रसूरि** ने कहीं पर भी **कुन्दकुन्द स्वामी** का नाम उल्लेख नहीं किया। स्वयं का नाम तो प्रत्येक अधिकार के अन्त में प्रशस्ति रूप में किया

है। यहाँ तक कि **लघुतत्त्वस्फोट** ग्रन्थ में २५ प्रकरण ऐसे हैं, जिनके प्रत्येक प्रकरण के अन्त में अपना नामोल्लेख किया है। **समयसारकलश** में भी जगह-जगह पर अपना नामोल्लेख किया है।

अज्ञानी जीव का परिचय—

आगे अज्ञानी जीव का परिचय दिया जा रहा है। कोई क्रोध करता रहे और कहे कि मैं क्रोध से होने वाले आस्रव और आत्मा के भेद को जानता हूँ, तो यह गलत है। यदि कोई क्रोधादि आस्रव व आत्मा में भेद जानता हो तो वह क्रोधादि में प्रवृत्ति कैसे करता ? यदि प्रवृत्ति नहीं करता है तो वह अज्ञानी क्यों कहलायेगा ? क्रोध को जानना और क्रोध करना यह एक ही बात नहीं है। क्रोधादि को करने वाला कभी ज्ञानी नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टि को यह श्रद्धान होता है कि क्रोधादि परिणाम भावास्रव है, इसकेद्वारा द्रव्यास्रव होता है। क्रोध को जानता हुआ भी जो क्रोध को करता है वह ज्ञानी नहीं हो सकता है।

श्रीअमृतचन्द्रस्वामी ने **अध्यात्म अमृतकलश** में लिखा है कि—

यः करोति स न वेत्ति, यः वेत्ति स न करोति। करोति करोत्येव, वेत्ति वेत्येव।

अर्थात् जो करता है वह जानता नहीं, जो जानता है वह करता नहीं है। जानने वाला जानता है, करने वाला करता है।

यह अध्यात्म श्रृंगार माना जाता है। अध्यात्मग्रन्थों में उक्त चर्चा का रहस्य खोलते हुए वीतराग विशेषण लगाया है। अर्थात् जो वीतरागी होता है, वह क्रोधादि का वास्तविक स्वरूप जानता है। अतः कभी क्रोधादि नहीं करता। वीतरागविशेषण अपने आपमें महत्त्वपूर्ण है। दोनों आचार्यों ने वीतराग और विराग शब्दों का प्रयोग किया है। यहाँ **समयसार** ग्रन्थ में वीतरागसम्यग्दृष्टि की प्रमुखता है। ऐसा **आचार्य जयसेन स्वामी** ने कई जगह उल्लेख किया है। **आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी** ने वीतराग के स्थान पर विराग शब्द का प्रयोग किया है। **प्रवचनसार** ग्रन्थ में भी वीतराग विशेषण दिया है। आत्मा का स्वभाव **चारित्तं खलु धम्मो** कहा है। चारित्र को धर्म कहा है। चारित्र मोह और क्षोभ से रहित होता है। रागद्वेष, मोह से रहित होने पर साम्यभाव रूप स्वभाव प्रकट होता है। **समता आत्मा का स्वभाव है वह स्वभाव ही चारित्र है और वही धर्म है।** इस प्रकार अर्थ स्पष्ट किया है।

यहाँ पर अज्ञानी का अर्थ क्रोधादि की प्रवृत्ति करने वाले को स्वीकार किया है। जिसके पास सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है मात्र उसे ज्ञानी नहीं कहा। किन्तु जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से सहित होता हुआ, क्रोधादि कषाय भावों को नहीं करता वह ज्ञानी है, ऐसा कहा है।

छहढाला में छठवीं ढाल में भी कहा है कि—

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया,
वरणादि अरु रागादि तैं, निज भाव को न्यारा किया।
निज मांहि निज के हेतु निज कर आपको आपै गह्यो,
गुण-गुणी ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय मंझार कछु भेद न रह्यो ॥८॥

अर्थात् सम्यग्ज्ञान रूपी परम पैनी छैनी से जब अन्तस् में वर्णादि और रागादि से निज आत्मतत्त्व के भाव को पृथक् रूप से जानता है तथा जिस समय यह शुद्धोपयोग की दशा होती है तब क्रोधादि भाव नहीं होते क्योंकि भेदज्ञानी के द्वारा सन्धि स्थान को जान लिया गया है।

दृष्टान्त—जो लकड़ी को काटता है वह उसके नस को, शिरा को, सन्धि स्थान को जानता है। जो सन्धिस्थान को जानता है वही लकड़ी पर कुल्हाड़ी से वार करता है। जो लोग पत्थर काटते हैं वे भी ५-६ फीट का पाषाण क्यों न हो उसे एक घन पटकने से ही दो टुकड़े कर देते हैं, क्योंकि उन्हें उस पाषाण के सन्धिस्थान का ज्ञान होता है। उसी प्रकार आत्मा और आस्रव के भेद को जानने वाले, उनके बीच सन्धिस्थान को जानते हैं। जो सन्धिस्थान को जानते हैं, ज्ञानी जन उसी पर वार करते हैं। भेदविज्ञानी भेदज्ञान रूपी छैनी के द्वारा ऐसा वार करते हैं कि प्रज्ञास्वरूप आत्मतत्त्व और आस्रव को पृथक्-पृथक् कर देते हैं। उस समय ज्ञानी रागद्वेषादि विकल्पों को नहीं करता, क्योंकि उसने आत्मा और आस्रव के सन्धिस्थान को जान लिया है। ज्ञानी अपनी प्रज्ञा रूपी छैनी को आत्मा और आस्रव के बीच घन के रूप में पटकते हैं तो कर्म और आत्मा अलग-अलग हो जाते हैं।

सम्यग्ज्ञान के बिना ध्यान नहीं होता किन्तु ध्यान के बिना सम्यग्ज्ञान तो रह सकता है। सम्यग्ज्ञान अकेला भी बहुत दिन तक रहकर ध्यान का कार्य नहीं कर सकता। आचार्य कहते हैं कि-क्रोधादि में प्रवृत्ति नहीं करना ही ज्ञानी का कार्य है। मात्र सम्यग्ज्ञान होने से ज्ञानी नहीं होता। बहुत स्थूल रूप से समझना चाहें तो अध्यात्मग्रन्थों की यही रहस्य है कि ज्ञानी जीव क्रोधादि में प्रवृत्ति नहीं करता। कर्मोदय होने पर क्रोध होता है, कर्मोदय होने पर भी जो क्रोध नहीं करता, वह ज्ञानी है। ज्ञानी जीव क्रोधादि क्यों नहीं करता ? क्योंकि वह आस्रव और आत्मा के बीच की सन्धि को जानता है। वह जानता है कि क्रोधादि करने से कर्म का संचय होता है। कर्म का बन्ध होता है, अतः इस भेदज्ञान के बल पर क्रोधादि करने में प्रवृत्त नहीं होता।

प्रकृति और पुरुष के बीच में होने वाले भेदज्ञान को जो जानता है उसे विज्ञान कहते हैं। उससे मोक्ष होता है, ऐसा सांख्यमत वाले मानते हैं। उनका भेदज्ञान रागमय है या वीतरागमय ? यदि वीतरागमय है तो हमें मंजूर है और यदि रागमय है तो वह अज्ञान है। अज्ञान वीतरागता का लक्षण नहीं हो सकता। आत्मा का संवेदन रूप ज्ञान तो सबके पास है, प्रस्तुति भले ही करे या न करे।

जिज्ञासा—ज्ञान के साथ वीतराग विशेषण क्यों लगाते हैं ?

समाधान—सम्यग्ज्ञान के साथ वीतराग विशेषण लगाने से वीतराग सम्यग्दर्शन एवं वीतराग चारित्र का भी ग्रहण हो जाता है। अन्ततोगत्वा उससे यह सिद्ध होता है कि रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। अकेले भेदज्ञान से मोक्षमार्ग नहीं बनता। रागान्वित ज्ञान अर्थात् राग सहित ज्ञान वस्तुतः सम्यग्ज्ञान नहीं होता। जिस सम्यग्ज्ञान के द्वारा वीतराग रत्नत्रय की प्राप्ति होती है, जो मुक्ति का साक्षात् कारण

होता है, केवलज्ञान का कारण होता है वही वास्तविक वीतराग सम्यग्ज्ञान होता है। इसलिए ज्ञान के साथ वीतराग विशेषण सार्थक है।

जिज्ञासा—रत्नत्रय में किसकी महत्ता अधिक होती है ?

समाधान—रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों में किसी एक का नहीं किन्तु तीनों का महत्त्व बराबर होता है। पानकवत्। **दृष्टान्त**—जैसे–ठण्डाई में शक्कर, पानी, खसखस आदि तीनों का बराबर महत्त्व है। हलवा में भी जिस प्रकार घी, शक्कर, आटा का बराबर महत्त्व है। तथा रस्सी में जिस प्रकार तीनों भागों का बराबर महत्त्व है। उसी प्रकार रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का बराबर महत्त्व होता है। जैसे ठण्डाई या हलवा में उसकी योग्य सामग्री अभेद रूप से रहती है उसी प्रकार वीतराग या निश्चयरत्नत्रय में सम्यग्दर्शनादि तीनों अभेद रूप से विद्यमान रहते हैं। क्रोधादि करने पर वीतराग सम्यक्चारित्र नहीं रह सकता। वीतराग चारित्र नहीं होने से निश्चय मोक्षमार्ग नहीं रह सकता। निश्चयमोक्षमार्ग के बिना केवलज्ञान की और मुक्ति की प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती। निश्चयमोक्षमार्ग अन्तर्मुहूर्त काल तक ही रहता है, जबकि व्यवहार मोक्षमार्ग आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि वर्ष तक भी रह सकता है। व्यवहार मोक्षमार्ग साधन रूप होता है, निश्चयमोक्षमार्ग साध्य रूप होता है। व्यवहार मोक्षमार्ग कारण रूप होता है, निश्चय मोक्षमार्ग कार्य रूप होता है।

क्रोधादि होते हैं या किये जाते हैं ?-

विशेषकथन—अब थोड़ा सा विशेष समझने का प्रयास करें। क्रोधादि में प्रवृत्ति की जाती है या होती है ? आचार्य कहते हैं कि क्रोधादि में प्रवृत्ति की भी जाती है और होती भी है। स्याद्वाद रूप कर्मसिद्धान्त है। जब तक प्रमत्त अवस्था रहती है तब तक क्रोधादि करने की क्रिया होती है। कर्मसिद्धान्त के अनुसार क्रोधादि करने रूप क्रिया छठवें गुणस्थान तक होती है तथा सातवें से नौवें गुणस्थान तक होने रूप क्रिया होती है। १० वें गुणस्थान में लोभकर्म का सूक्ष्म रूप से उदय मात्र होता है लेकिन उस सूक्ष्मलोभ परिणाम से मोहकर्म का बन्ध नहीं होता, अन्य कर्मों का बन्ध तो होता है। क्रोधादि चार कषायों में से एक के बन्ध होने पर भूमिका के अनुसार मान, माया, लोभ आदि चारों कषायों का बन्ध होता है। ८ वें गुणस्थान तक चारों कषायों का बन्ध होता है। ९ वें गुणस्थान के प्रथम भाग में पुरुषवेद तथा द्वितीय भाग में क्रोध की बन्धव्युच्छित्ति होती है, फिर क्रम से आगे–आगे के भागों में मान, माया, लोभ की बन्ध व्युच्छित्ति होती है। जिस समय बुद्धिपूर्वक क्रोधादि कषायों को रोकने का प्रयास किया जाता है उस समय क्रोधादि कषायें होना रुक जाती हैं। क्रोधादि चार कषायों में से एक ही कषाय की उदय–उदीरणा होती है। जब जीव क्रोध करता है तब उदय तो क्रोध कर्म का होता है किन्तु बन्ध चारों का ही होता है। क्रोध के उदय में मान, माया, लोभ का भी बन्ध होता है। करने रूप क्रिया और होने रूप क्रिया में अन्तर है। क्रोध कषाय करता है और तीन का बन्ध होता है,

यही करने और होने में अन्तर है। जिस प्रकार आहारसंज्ञा ६ वें गुणस्थान में प्रमाद सहित अवस्था में होती है। ७ वें गुणस्थान में आहार तो हो सकता है लेकिन आहारसंज्ञा नहीं होती। उसी प्रकार ६ वें गुणस्थान में प्रमाद सहित अवस्था में क्रोधादि किये जाते हैं, लेकिन ७ वें गुणस्थान में क्रोधादि होंगे तो पर करेंगे नहीं। ७ वें गुणस्थान में प्रमाद नहीं होता, वहाँ तो सावधानी रहती है। ७ वें गुणस्थान में शोधन चलता है, लेकिन ग्रास बिना इच्छा के मुँह में यूँ जिह्वा पर नहीं रखा जाता। ज्यों हि ग्रास मुँह में पहुँचता है वहाँ रसादि को लेकर जो हर्ष-विषाद होता है वह प्रमाद अवस्था में होता है, अप्रमाद अवस्था में नहीं। यदि वह सोचे और कहे कि आज स्वाध्याय, सामायिक, उपवास के अनुरूप अच्छा आहार हो गया तो बन्ध हो जायगा। भले रसनेन्द्रिय के विषयभोग सम्बन्धी बात नहीं है, फिर भी इष्टानिष्ट कल्पना तो हुई। इसलिए तत्सम्बन्धी बन्ध होता है। वह विषयों की ओर नहीं गया परन्तु अच्छा-बुरा भाव तो हो गया। इस समय ६ वाँ गुणस्थान होता है। रागद्वेषादि करने रूप भाव होने पर प्रमत्त अवस्था ही होती है। अप्रमत्त अवस्था में कभी भी रागद्वेषादि या इष्टानिष्ट भाव नहीं होता।

भरत चक्रवर्ती ने क्रोध के आवेश में चक्र चलाया था या नहीं ? बाहुबली की बात आती है तो द्रव्यलिंगी की बात करते हैं और भरत चक्रवर्ती की बात आती है तो घर में वीतरागी कहने लग जाते हैं। वस्तुतः भरत जी ने क्रोध के आवेश में ही युद्ध लड़ा है। अत्यन्त क्रोध या अपमान सहन नहीं हो पाया। इसलिए धर्म का उल्लंघन करके चक्र चलाया है। इस बात को कथञ्चित् भरत जी तो मान सकते हैं किन्तु उनको मानने वाले जो पक्ष हैं वे स्वीकार नहीं करते हैं। कुछ लोग बाहुबली का नाम लेते ही फूल जाते हैं, ये सारी की सारी पक्षपात की जड़ें सी लगती हैं।

क्रोधादि करने वाला कर्म का संचय करता है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि के कर्म का संचय नहीं होता यह नहीं कहा जा सकता। ६ वें गुणस्थान तक अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार क्रोधादि रूप प्रवृत्ति होती है। आगे के गुणस्थानों में क्रोध करने की प्रवृत्ति नहीं होती। वहाँ से ९ वें गुणस्थान तक अबुद्धिपूर्वक क्रोध होता है, करता नहीं। दसवें गुणस्थान में मात्र सूक्ष्म लोभ उदय में रहता है। आज बुद्धिपूर्वक क्रोध करने वाले भी कहते हैं कि मैं क्रोध करना नहीं चाहता, वह हो जाता है किन्तु क्रोधादि होते हैं जबकि क्रोधादि होने रूप क्रिया तो अप्रमत्त अवस्था में होती है, उसके नीचे सभी बुद्धिपूर्वक क्रोधादि करते हैं। क्रोधादि करने की भूमिका होते ही मुनि के ६ वाँ गुणस्थान हो जाता है।

करने और होने रूप क्रिया को सैद्धान्तिक दृष्टि से भी समझा जा सकता है। जैसे-दर्शनोपयोग से डॉयरेक्ट श्रुतज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि आगम में कहा है कि-**श्रुतं मतिपूर्वं**। **आचार्य उमास्वामी महाराज** ने **तत्त्वार्थसूत्र** में कहा है कि-श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है और मतिज्ञान दर्शनोपयोग पूर्वक होता है। बिना दर्शनोपयोग के सीधा मतिज्ञान कभी नहीं हो सकता और दर्शनोपयोग से सीधा श्रुतज्ञान भी नहीं हो सकता। यह उपयोग परिवर्तन की होने रूप क्रिया है। करने रूप क्रिया तो ध्यान की होती है क्योंकि ज्ञान को बुद्धिपूर्वक एकाग्र करना ध्यान कहलाता है। आगे-आगे के गुणस्थानों में सब कुछ सहज होता चला जाता है।

जिज्ञासा—लोभ किसको कहते हैं ?

समाधान—बाह्य प्रवृत्ति के साथ क्रोधादि होते हैं। बाहर में किसी की कोई भी वस्तु को देखकर उसके प्रति मन का आकृष्ट होना लोभ है। जैसे–कोई व्यक्ति बहुत अच्छा पेन लाकर आपके सामने रख देता है। उस समय आपने देख लिया, परन्तु लोभ नहीं किया। मान लो वह उस पेन को उठाकर दूसरे महाराज के पास रख देता है। अब आप कह तो सकते नहीं हैं, किन्तु यदि मन में यह भाव आ गया कि–देखो, मैंने मंगाया था और वहाँ उनको दे दिया। आपको राग तो हुआ। माया और लोभ कषाय राग के अन्तर्गत आती हैं। क्रोध और मान द्वेष के अन्तर्गत आती हैं। यह समझो। हम बड़े-बड़े तप नहीं कर सकते तो सम्यग्ज्ञान रूप स्वाध्याय तप तो कर सकते हैं। इसके माध्यम से हम बहुत कुछ कर सकते हैं। जो व्यक्ति भेदविज्ञान की कमजोरी रखता है वह बहुत क्या सब कुछ करते हुए भी, बहुत कम कमाई कर पाता है। आचार्य कहते हैं कि ज्ञान के माध्यम से भी बहुत कमाई हो सकती है। ज्ञान तप नहीं है, ऐसा एकान्त नहीं है। सभी तपों की सफलता का श्रेय सम्यग्ज्ञान को ही जाता है। सम्यग्ज्ञान अपने आपमें बहुत अनूठा है। इस ग्रन्थ में पंचमगुणस्थान से ऊपर उठे हुए वीतरागसम्यग्दृष्टि की मुख्यता है।

कौन ज्ञानी, कौन अज्ञानी ?—

आचार्य जयसेन स्वामी ने टीका में ज्ञानी और अज्ञानी संज्ञा देते हुए कहा है कि–**जो जिस समय परम समाधि में पहुँचता है, वह ज्ञानी है और वहाँ से ज्यों ही च्युत हुआ तो अज्ञानी है।** रत्नत्रय के बिना परम समाधि की अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में जीव क्रोधादि प्रवृत्ति के साथ ज्ञानी कैसे रह सकता है ? अतः यहाँ आचार्य कह रहे हैं कि–हमें क्रोधादि में प्रवृत्ति नहीं करना चाहिए। क्रोधादि में प्रवृत्ति करने से हमारा ज्ञान, सुरक्षित नहीं रह सकता। क्रोधादि के द्वारा कर्मों का संचय होता है। अतः आत्मा और आस्रव के बीच भेदविज्ञान तो कर लिया, श्रद्धान भी कर लिया, लेकिन क्रोधादि प्रवृत्ति को नहीं रोका तो वह वास्तव में भेदविज्ञानी नहीं कहलाता।

चरणानुयोग की विवक्षा में मरण पाँच प्रकार का वर्णित है–उनमें से एक मरण मिथ्यादृष्टि का, एक अविरत सम्यग्दृष्टि का, एक देशव्रती का, एक मुनियों का और एक केवली का होता है। पाँच मरण के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं–१. बालबालमरण, २. बालमरण, ३. बालपण्डितमरण, ४. पण्डितमरण, ५. पण्डितपण्डितमरण। बाल का अर्थ है–अज्ञान। यह नादान बालक है, इसे क्षमा कर दो, ऐसा कहते हैं। यह छोटा लड़का है, इसे क्षमा कर दो। जैसे–पड़गाहन के लिए छोटे बच्चे जिद करते हैं तो उनको समझा देते हैं कि–महाराज लौट जायेंगे। वह कहता है–मुझे भी आहार देना है। छोटे बच्चे हमारे पास आकर पूछते हैं कि–आप हम बच्चों से आहार क्यों नहीं लेते ? बच्चों को कह दिया जाता है कि अभी तुम बड़े हो जाओ, आठ वर्ष के हो जाओ, तब आहार देना। आठ वर्ष के उपरान्त लेना ही चाहिए यह नियम नहीं बनाना चाहिए। शुद्धाशुद्धि का विवेक भी तो होना चाहिए। विवेक होना

आवश्यक है। सम्यग्दर्शन अलग है और श्रावकत्व होना अलग है। ज्ञान तो हो जाता है लेकिन चारित्र परक होना चाहिए। अविरत सम्यग्दृष्टि को चारित्र के विषय में बालकत्व होता है। उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तो है किन्तु चारित्र न होने से वह असंयम सम्बन्धी आस्रव-बन्ध से बच नहीं पाता। जब वह चारित्र को अंगीकार कर लेता है, तो प्रौढ़ हो जाता है। उसके जो मरण होता है वह पण्डितमरण कहलाता है किन्तु जो चारित्र में बाल है अर्थात् देशचारित्र को धारण करता है उसके बालपण्डित मरण होता है। इसलिए हम बार-बार कहते हैं कि अब आप श्रमण बन गये हो, तो क्रोधादि मत किया करो। **क्रोधादि करने से श्रमणपद की शोभा नहीं होती। आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने अनेक स्थलों पर आत्मा को झकझोर देने वाली बात कही है कि-**हे आत्मन् ! तुम्हारे पास जो वैभव है, उसे पहचानो, क्रोधादि मत करो, दीन-हीन भी मत बनो। नहीं चाहते हुए भी तुम्हारे पास वैभव आ रहा है।** चक्रवर्ती रत्न माँगने नहीं जाता, उसे रत्नों की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को पुण्य माँगना नहीं पड़ता किन्तु स्वतः ही पुण्यास्रव होता रहता है।

क्रोधादि एवं आस्रव का प्रतिकार क्रोधादि की प्रवृत्ति से ऊपर उठने पर ही होता है। प्रारम्भ में कोई-कोई बच्चे हाईस्कूल में प्रथम श्रेणी में पास हो जाते हैं और कॉलेज में जाकर सप्लीमेन्ट्री लाते हैं या फेल हो जाते हैं। बच्चे गाँव में मैच में जीत जाते हैं, परन्तु जब वे स्टेट लेवल पर खेलने जाते हैं या नेशनल स्तर पर खेलते हैं तब पता चलता है कि खेल कैसा होता है और कितनी सफलता मिलती है ? उसी प्रकार जब तक प्रायमरी में अर्थात् गृहस्थावस्था में हैं तो वहाँ क्रोधादि की प्रवृत्ति को रोकने में अक्षम रहता है, किन्तु जब वह श्रमण बन जाता है तो उसका ग्राउण्ड स्तर बढ़ जाता है। क्रोधादि को जीतने में सक्षम हो जाता है। स्कूल में बच्चे रटते हैं, जब बड़े हो जाते हैं तो उन्हें कहा जाता है कि रटना मात्र नहीं है, कितना रटोगे ? क्या-क्या रटोगे ? अब रटो मत, पहले अच्छे ढंग से पढ़ो, बार-बार पढ़ो। मुखाग्र करने से याद तो हो जायेगा लेकिन उसका भाव समझ में नहीं आयेगा। यहाँ पर भावों की प्रमुखता है। आस्रव का पूर्णतः प्रतिकार समिति से नहीं किन्तु गुप्ति से होता है। घण्टों तक वचन एवं काय गुप्ति में रहा जा सकता है, किन्तु मनोगुप्ति अन्तर्मुहूर्त में बदलती रहती है। **बाहुबली स्वामी** की वचनगुप्ति एवं कायगुप्ति एक वर्ष तक रही किन्तु मनोगुप्ति अन्तर्मुहूर्त में बदलती रही। उसमें भी अनुप्रेक्षा रूप गुप्ति एक वर्ष तक रह सकती है। किन्तु ध्यान रूप गुप्ति एक अन्तर्मुहूर्त तक ही रहती है। गुप्ति आस्रव को रोकने का साधन है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि **क्रोधादि प्रवृत्ति क्यों करते हो ? प्रमाद में क्यों रहते हो ? प्रमाद से आस्रव नहीं रुकता। आस्रव को रोकना चाहते हो तो प्रमाद अवस्था से ऊपर उठो, अप्रमत्त बनो।** प्रमाद अवस्था में भी यदि समिति का पालन किया जाता है तो शुभप्रकृतियों का आस्रव होता है। ध्यानस्थ होने पर तत्सम्बन्धी आस्रव नहीं होता।

जो क्रोधादि में प्रवृत्ति करता है वह कर्म का संचय करता है, क्योंकि जब भी भावास्रव होता है तो भावबन्ध भी होता है। साथ ही द्रव्यास्रव तथा द्रव्यबन्ध भी होता है। तीनों लोकों में थोड़ा-सा

भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ कर्मवर्गणाएँ न फैली हों। तीनों कालों में भी एक समय ऐसा नहीं है जब किसी के क्रोधादि की प्रवृत्ति न होती हो। क्रोधादि होने के लिए प्रतीक्षा नहीं करना पड़ती, किन्तु बिना प्रतीक्षा के ही भावास्रव और भावबन्ध होता रहता है। ज्यों ही भावास्रव होता है अर्थात् रागद्वेष परिणाम होते हैं, उसी क्षण बन्ध हो जाता है। जीव के जब-जब रागद्वेष परिणाम होते हैं तब-तब उसे अज्ञानी संज्ञा दी जाती है। अज्ञानी कहने से प्रथम गुणस्थानवर्ती ही निर्धारित कर लेना यह ठीक नहीं है, ऐसा मानना बहुत बड़ी भूल है। अज्ञान और मिथ्यात्व प्रत्यय में भेद समझ में नहीं आने से आज समाज में क्षोभ का वातावरण बन रहा है, स्वाध्याय होने पर भी यह बड़ी भूल हो रही है।

यहाँ अज्ञानी का अर्थ क्रोधादि में प्रवृत्ति करने वाला विवक्षित है। लेकिन जो-जो रागद्वेषादि करता है वह मिथ्यादृष्टि ही है ऐसा कहना गलत हो जायेगा। यह समयसार का रहस्य समझ में नहीं आने का परिणाम है। यह तो ऐसी स्थिति है कि-

दृष्टान्त—जैसे, दो भाई पढ़ाई कर रहे हैं। बड़ा भाई एम० ए० पढ़ रहा है। छोटा भाई हायर सेकेण्डरी पढ़ रहा है। बड़े भाई के टीचर ने उससे कुछ पूछा, तो उसने गलत उत्तर दिया। टीचर ने डाँट दिया। वह घर आया, उसने कहा-पिताजी, आज मुझे डाँट पड़ गई। उसी समय छोटा भाई आया उसने कहा-पिताजी, आज तो हमारे सर ने मुझे शाबासी दी है। माँ-पिता ने छोटे बेटे से कहा-शाबास बेटा ! और बड़े बेटे से कहा-तुमने अच्छे से पढ़ाई नहीं की। देखो, छोटा भाई शाबासी लेकर आया है।

श्रमण को अज्ञानी कहने से मिथ्यादृष्टि कह देना, उनका प्रथम गुणस्थान ही मान लेना यह तो बिल्कुल गलत है। मिथ्यात्व और अज्ञान को एक कोटि में समझना भी ठीक नहीं है। इनकी परिभाषा भी आज समझ में नहीं आ रही है। इसलिए वे लोग कह रहे हैं कि व्यवहार में रम रहे हो। हे श्रमण! आत्मा की बात करना चाहिए। उनको भी यह कहा जायेगा कि आपको भी गृहस्थपने को छोड़कर आत्मा की बात करना चाहिए। श्रमण तो श्रमणपने के साथ ही आत्मा की बात करते हैं। यहाँ तक कि यदि वे श्रमण श्रमणपने को छोड़े बिना स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण आदि करेंगे तो मूलगुण में कमी आ जायेगी। कहने वाले कहते हैं कि श्रमण तो भक्ति कर रहे हैं, अतः अज्ञानी हैं, क्योंकि प्रतिक्रमण भक्ति आदि विषकुम्भ हैं, यह बात जानते नहीं हैं। यह ऐसा ही हो गया कि हायर सेकेण्डरी में जो फस्ट क्लास फर्स्ट आया है तो वह नाच रहा है, अत्यधिक खुश हो रहा है और बड़ा भाई जो स्नातकोत्तर में है उसके २-३ नम्बर कम हैं अतः अपने को उससे अधिक बुद्धिमान् समझ रहा है। इसी प्रकार आज धार्मिक क्षेत्र में हो रहा है कि ग्रन्थ लेकर स्वाध्याय करने बैठ गए और श्रमणों की चर्चा करने लगते हैं कि श्रमण तो ऐसा भेदविज्ञानी होना चाहिए। प्रतिक्रमण, भक्ति, स्तुति आदि करने वाले श्रमण बाह्य प्रवृत्ति में संलग्न हैं, अतः अज्ञानी हैं इत्यादि। अज्ञानी कहने से मात्र मिथ्यादृष्टि की भूमिका को मानने लगते हैं, जो कि उपयुक्त नहीं है। एकान्त से ऐसा मानने वालों को सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने दो प्रकार के श्रमण स्वीकार किये हैं-१. शुद्धोपयोगीश्रमण और २.

शुभोपयोगी श्रमण। जिस श्रमण को शुद्धोपयोग नहीं है उन्हें कहा है कि शुद्धोपयोगी श्रमण के पास जाकर बैठ जाओ। अपने आप ज्ञात हो जायेगा कि शुद्धोपयोग क्या है ? श्रमण का कर्त्तव्य क्या है ? यह भी ज्ञात हो जायेगा। शुद्धोपयोग की गवेषणा करने वाले श्रमण अपने आपको श्रमण मानकर नहीं बैठते। वे बाह्य समस्त प्रवृत्तियों से हटकर ध्यानमग्न, आत्मचिन्तन में लीन होते हैं। शुद्धात्मा को ध्येय बनाकर अप्रमत्त होकर शुद्धोपयोग में तत्पर रहते हैं। **शुद्धोपयोग की गवेषणा करना श्रमण का कर्त्तव्य है। प्रवचनसारचूलिका** का अध्ययन करने से ज्ञात हो जाता है कि श्रमण का स्वरूप क्या है ? **शुभोपयोगी श्रमण को शुद्धोपयोग की प्राप्ति का ध्येय होना चाहिए। उन्हें उसी की ओर जाना है बाकी सब काम तो होते रहते हैं।** इस प्रकार दोनों श्रमणों की जब तुलना करते हैं तो यह बात स्पष्ट है कि शुभोपयोगी श्रमण को मिथ्यादृष्टि तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रथम गुणस्थान में तो शुभोपयोग होता ही नहीं है। द्रव्यलिंगी मुनि कहने से मात्र मिथ्यादृष्टि को स्वीकार नहीं करना चाहिए। किन्तु जो मुनि अपने भावलिंग स्वरूप छठवें-सातवें आदि गुणस्थानों में स्थित नहीं हैं, भले ही वे सम्यग्दृष्टि चतुर्थ-पंचम गुणस्थान वाले हों तो भी वे भावलिंगी मुनिराज नहीं माने जायेंगे। उन्हें भी द्रव्यलिंगी ही कहा जायेगा। इस कथन का तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टि सो द्रव्यलिंगी और सम्यग्दृष्टि सो भावलिंगी, ऐसा नहीं समझना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने कहा है कि **शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी दोनों प्रकार के श्रमण संसार के तारक हैं, दोनों श्रमण हैं, चैत्य संज्ञा को प्राप्त हैं। हाँ इतना अवश्य है कि पापों से मुक्त होकर एक ने अपने आपको ध्यान में उतार लिया है और दूसरे वे हैं जो नारंगी के पेड़ के सदृश हैं, परन्तु अभी उसमें फल नहीं लगे हैं, फिर भी वे श्रमण तो हैं ही।** फल-फूल सहित नारंगी के पेड़ के सदृश शुद्धोपयोगी हैं और फल-फूल रहित नारंगी के पेड़ के समान शुभोपयोगी श्रमण हैं। आज भले ही उसमें फल-फूल नहीं लगे हैं, परन्तु जब भी शुद्धोपयोग रूपी फल लगेगा तो शुभोपयोगी रूपी पेड़ पर ही लगेगा। वह यदि अभिमान कर लेगा कि मैं नारंगी का पेड़ हूँ तो ध्यान रखना शुद्धोपयोग रूपी फल प्राप्त हो ही यह निश्चित नहीं है।

दृष्टान्त—जैसे, किसी व्यक्ति ने मुहूर्त अच्छा होने से दुकान का उद्‌घाटन तो कर लिया, खर्चा बहुत हो रहा है, दुकान की पूर्ण सामग्री भी नहीं आयी है, अभी दुकान चलना प्रारम्भ ही हुआ है। परन्तु जब एक-दो साल में पब्लिसिटी हो जाती है तो फिर देखो ! मार्केट में प्रथम नम्बर की दुकान हो जाती है। इसी प्रकार जब शुभोपयोगी मुनिराज शुद्धोपयोग की भावना में अभ्यस्त हो जाते हैं। तब उनकी शुद्धोपयोग की दुकान खूब चलती है।

आचार्य यहाँ कह रहे हैं कि—अज्ञानी क्रोधादि करता है, जिसके कारण कर्म का संचय करता है। जब तक कर्म का संचय करता है तब तक ज्ञानी नहीं हो सकता है क्योंकि क्रोधादि करता है और क्रोधादि करने वाला अज्ञानी होता है। आत्मा और आस्रव के बीच अन्तर नहीं जानने का परिणाम क्या

निकलता है ? यहाँ इसी बात को स्पष्ट किया है। आत्मा चेतनमय होता है, आस्रव अचेतनमय लेकिन भावास्रव चेतनमय माना गया है। भावास्रव चेतनमय होने के बाद भी आत्मा का स्वभाव नहीं है बल्कि विभाव है। अज्ञानी जीव भावास्रव को चेतनमय मानकर उसमें ऐसा बह जाता है कि क्रोधादि में प्रवर्तमान रहता है। जबकि ज्ञानी जीव भी भावास्रव को चेतनमय मानता है लेकिन उसे विभावरूप मानकर उससे बचता है।

संसारी प्राणी दुःख से डरते हुए भी दुःख के कारणों से बच नहीं पाता। संसारी प्राणी हित चाहता है लेकिन हित के कारणों से बचता है इसीलिए उसका हित नहीं हो पाता। आचार्य स्वयं कहते हैं कि– **हित को चाहने वाला यदि अहित से बचता रहता है और हित के साधनों को अपनाता है तो ही हित कर सकता है अन्यथा नहीं। हित चाहते रहें और हित के कारणों से बचते रहे तो कभी भी हित सम्भव नहीं है।** इस सिद्धान्त में दृढ़ होना आवश्यक है।

कषाय है तो प्रमाद भी है—

तीर्थंकरों के वर्धमान चारित्र होता है। वे दीक्षा लेने के उपरान्त क्रोधादि में प्रवृत्ति नहीं करते। यदि सामान्य साधु भी संज्वलन कषाय करते हैं चाहे क्रोध, मान करें चाहे माया लोभ कषाय। कषाय करने से प्रमाद की भूमिका अवश्य ही बनती है। संज्वलन क्रोधादि करें तो फिर भी कथंचित् क्षम्य होता है किन्तु क्रोधादि की तीव्रता होती है तो ६-७ वें गुणस्थान से नीचे आ जाते हैं फिर भी अपने परिणामों को संभालकर होश-ओ-हवास के साथ अपने आपको पहचानने लग जाते हैं एवं कषाय भाव को निन्दित समझकर स्वभाव का स्मरण करते हैं, तो वे पुनः ऊपर के गुणस्थान में स्थित हो सकते हैं। छठवें गुणस्थान में चाहे तीर्थंकर हों चाहे सामान्य साधु, उनके १५ प्रमादों में से कोई न कोई प्रमाद अवश्य रहता है। सातवें गुणस्थान में अप्रमत्त अवस्था रहती है अर्थात् १५ में से एक भी प्रमाद नहीं रहता। छठवें गुणस्थान से सातवें गुणस्थान का काल आधा होता है। सातवें गुणस्थान के योग्य अन्तर्मुहूर्त काल होने के उपरान्त छठवें गुणस्थान में आना ही पड़ता है।

जिज्ञासा—तीर्थंकरों के वर्धमान चारित्र होता है तो फिर उनके प्रमाद क्यों होता है? यदि होता है तो कौन सा प्रमाद होता है?

समाधान—यह निश्चित है कि तीर्थंकर वर्धमान चारित्र वाले होते हैं, उनके १५ प्रमादों में से कोई भी प्रमाद हो सकते हैं। लेकिन इतना अवश्य ध्यान में रखें कि उनके ऐसा कोई प्रमाद नहीं होता जो उनके मूलगुण और उत्तरगुणों में दोष उत्पन्न होने में कारण हो। यदि उनके प्रमाद नहीं मानेंगे तो फिर वे छठवें गुणस्थान में किस कारण आते होंगे ? यदि संज्वलन कषाय के तीव्र उदय से छठवें गुणस्थान में आये हैं तो उनके वह तीव्रकषाय क्यों हुई ? मन, वचन, काय किसी के द्वारा भी विकथा हो जाती है। आहार संज्ञा यदि नहीं मानेंगे तो वे आहारचर्या को क्यों उठेंगे ? जबकि वे भी चर्या करते हैं। उनके इन्द्रिय-व्यापार भी होता है। १५ प्रमाद में स्नेह भी एक प्रमाद होता है। प्रश्न उठता है कि उन्हें किससे

स्नेह होता होगा ? फिर भी चूँकि उनका छठवाँ गुणस्थान होता है तो कोई न कोई प्रमाद तो होता होगा, लेकिन इतना अवश्य है कि उनके प्रमाद की प्रवृत्ति दूसरों के देखने में नहीं आती और ऐसा कोई भी प्रमाद नहीं होता जिससे उनका वर्धमान चारित्र दूषित होता हो।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने स्वयं **सर्वार्थसिद्धि** ग्रन्थ में प्रमाद की परिभाषा देते हुए कहा है कि–**कुशलेष्वनादरः प्रमादः** अर्थात् कुशल यानि अपनी आत्मा में रहना उसमें अनादर करना प्रमाद कहलाता है। अनादर का मतलब असाता के बन्ध रूप परिणाम करना, क्रोधादि में प्रवृत्ति करना। तीर्थंकरों के भी केवल साता-साता का ही बन्ध होता रहे, ऐसा नहीं होता। छठवें गुणस्थान में **छह अशुभप्रकृतियों का यानि अस्थिर, असाता, अशुभ, अरति, शोक और अयशःकीर्ति का बन्ध होता है। इससे स्पष्ट होता है कि तीर्थंकरों के भी यह सब होता ही है अतः प्रमाद है। लेकिन उनके भीतरी प्रमाद रूप परिणाम पकड़ में नहीं आते। उनकी बाह्य प्रवृत्तियों से भी प्रमाद रूप परिणाम पकड़ में नहीं आता। जैसे–हमारी कुछ प्रवृत्तियाँ देखने में नहीं आती। उसी प्रकार उनकी कषाय रूप प्रवृत्तियाँ देखने में नहीं आती, उनकी गोपनीयता होती है।**

कौन बहिरात्मा, कौन अन्तरात्मा ?–

छहढाला में **देह जीव को एक गिनै बहिरातम तत्त्व मुधा है।** यह जो बहिरात्मा की परिभाषा है वह प्रथम गुणस्थान में घटित होती है। जबकि आध्यात्मिक दृष्टि से आगम में बहिरात्मा की परिभाषा इस प्रकार दी जाती है कि **बहिः अतति व्याप्नोति इति बहिरात्मा** अर्थात् जो बाहर की ओर प्रवृत्त होता है वह बहिरात्मा है। यह परिभाषा प्रमाद, इन्द्रिय, कषाय के कारण होती है जो प्रमत्त अवस्था तक भी घटित हो सकती है। इन दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है। दृष्टिभेद या अभिप्राय पृथक्-पृथक् होने से दोनों कथन मान्य हैं। **नियमसार** ग्रन्थ में बहिरात्मा और अन्तरात्मा को सूक्ष्मता से परिभाषित करते हुए कहा है कि–**जप्पमुक्को अंतरप्पा जप्पमत्तो बहिरप्पा।** अर्थात् जल्प यानि बोलना बहिरात्मा और जल्परहित होना अन्तरात्मा है।

जो जितना पढ़ा-लिखा होता है उसके उपयोग का उतना अधिक विस्तार होता है। इसको लौकिकता में ज्ञानी कहते हैं लेकिन अध्यात्म की दृष्टि से वह ज्ञानी नहीं है क्योंकि वह जल्पमुक्त नहीं है। प्रशिक्षित शब्द की ओर उपयोग अवश्य शीघ्र ही जाता है। थोड़ा सोचें कि ऐसा कौन सा पदार्थ है जो आपके दिमाग में आये और उसका कोई नाम न हो या संज्ञा न हो। कोई भी द्रव्य, गुण, क्रिया, क्षेत्र हो सभी की कोई न कोई संज्ञा होती ही है। अक्षरों के जोड़ने से शब्द बनते हैं और उन्हीं के द्वारा हमारे विचारों से चिन्तन की क्रिया चलती है। चिन्तन करने की क्रिया को भी अन्तर्जल्प के रूप में स्वीकार किया गया है। अध्यात्म में जल्पमात्र को बहिरात्मा कहा गया है। जो आगे के गुणस्थानों में भी घटित होता है।

इसी ग्रन्थ में कहा गया है कि द्रव्यश्रुत केवली होने पर भी स्वरूप का संवेदन नहीं कर सकता

क्योंकि द्रव्यश्रुत जब प्रयोग किया जाता है तो उपयोग बाहर की ओर चला जाता है। आत्मा के अतिरिक्त तीन लोक के किसी भी पदार्थ का ज्ञान करते समय स्वयं का संवेदन अर्थात् स्वसंवेदन नहीं हो सकता। भले ही उस समय वह कषाय नहीं कर रहा है, इन्द्रियव्यापार भी नहीं कर रहा है फिर भी दिमाग पर जोर तो डाल रहा है। जिस वस्तु के बारे में व्यक्ति सोचता है और यदि दिमाग में विषय नहीं आता तो जोर पड़ता ही है। उसी समय डिस्टर्ब करने वाला कोई नोकर्म दिख जाता है और मन नहीं लग रहा है तो उसी पर उबल पड़ता है। स्वयं का उपयोग उस ओर गया इसलिए बाधक दिखने लगा। यदि आप भीतर अपने में रहें तो डिस्टर्ब वाली बात ही नहीं होती। बहिरात्मा का उपयोग वस्तुतः बाहर इन्द्रियविषयों, क्रोधादि कषायों में लगा रहता है। **जल्पमुक्तः अन्तरात्मा तथा जल्पमात्रो बहिरात्मा** कहा है।

धवला में लिखा है कि १२ वें गुणस्थान के प्रथम पाये में भी अन्तर्जल्प चलता है और अन्तिम पाये में पहुँचता है तब अन्तर्जल्प रहित होता है। अन्तर्जल्प भी कई प्रकार का होता है। **द्रव्यसंग्रह** ग्रन्थ में एक स्थल में यथाख्यातचारित्र का वर्णन करते हुए कहा है कि द्रव्यश्रुत से वह भावश्रुत में लीन हो जाता है, इसका मतलब यह है कि द्रव्यश्रुत अक्षरात्मक होता है। **वितर्कः श्रुतम्** अर्थात् तर्क, ऊहापोह से सहित होने से द्रव्यश्रुत सवितर्क होता है। सवितर्क अवस्था दो प्रकार की होती है–१. द्रव्यश्रुतात्मक, २. भावश्रुतात्मक। भावश्रुत में कोई विकल्प नहीं होते। क्रोधादि की प्रणाली नहीं होती है। फलतः कर्मों का संचय नहीं होता।

रागद्वेष आदि सभी विकल्प रूप मोह का परिवार है। मैं क्रोधी हूँ, मानी हूँ, मायावी हूँ, लोभी हूँ, रागी हूँ, द्वेषी हूँ आदि कहा जाता है, ये आत्मा के परिणाम चिकनाहट रूप में होते हैं। फलतः **स्निग्धरूक्षत्वात् बन्धः** सूत्र के अनुसार कर्म वर्गणायें बन्ध को प्राप्त होती हैं।

दृष्टान्त—जैसे दीवार आदि में तेल लग जाता है तो उसमें धूल के कण आकर चिपक जाते हैं। उसी प्रकार आत्मा में रागद्वेष आदि परिणाम होने पर कर्मवर्गणायें बन्ध को प्राप्त हो जाती हैं।

बड़ा कठिन है, रागद्वेष, हर्ष–विषाद आदि परिणामों से बचना। इनसे बचने का प्रयास करना चाहिए। आज इतना ही किया जा सकता है। चतुर्थकाल में तीर्थंकर भी यही करते थे। चिकनाहट रूप संज्वलन कषाय होने पर भी अपने उपयोग को मुनिराज उससे बचाने का प्रयास करते हैं, तो बच सकते हैं। वर्तमान में कषायों पर पूर्ण विजय प्राप्त नहीं कर सकते। लेकिन कम से कम तीव्रता से बचने का प्रयास तो किया ही जा सकता है। यही प्रयास आगे कषायों के क्षय में कारण बनता है।

छठवें और सातवें गुणस्थान में एक समान परिणति नहीं होती। छठवें गुणस्थान में आते ही १०८ आस्रव के द्वार में से कौन सा दरवाजा खुल गया ? कितने दरवाजे खुल गये ? उसकी समीक्षा हम नहीं कर सकते किन्तु किस–किस दरवाजे खुलने की सम्भावना है, यह तो सोच सकते हैं। तीर्थंकर मुनिराज हमसे बड़े हैं इसलिए हम उनकी न करें किन्तु मन में अनेक प्रश्न तो आ सकते हैं कि वे आहार को

क्यों उठते हैं ? उनके पास पिच्छिका और कमण्डलु क्यों नहीं होते ? दूसरी बात वे आहारचर्या को चौके में जाते हैं तो क्या एक ही अंजुलि आहार लेकर बैठ जाते हैं ? उत्कृष्ट चारित्र को लिए हुए होने से हो सकता है वे उत्कृष्ट अवमौदर्य भी करते होंगे। उत्कृष्ट अवमौदर्य एक ग्रास प्रमाण ही होता है। वर्धमानचारित्र वालों के सभी तप भी सर्वोत्कृष्ट ही होते होंगे। हमारे लिए यह सब आश्चर्य की बात जैसी लगती है।

असंख्यातलोकप्रमाण अध्यवसाय स्थान होते हैं। उनमें हम विभाजन करना चाहें तो नहीं कर सकते। विभाजन करना सम्भव नहीं है। छठवें गुणस्थान में जो प्रवृत्ति या परिणति होती है उसका उनको संवेदन तो होता ही है, क्योंकि कर्मफलचेतना का संवेदन होता ही है। जैसे–गतिनामकर्म के उदय में 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा संवेदन होता है। भले ही मुख से न कहें क्योंकि प्रमाद की भूमिका में 'मैं मुनि हूँ' 'मैं मनुष्य हूँ' आदि का संवेदन संभव है। समझने के लिए जैसे–आप मुनि बन गये, आप किसी भी प्रकार का हर्ष-विषाद नहीं करते। फिर भी यदि कोई आपको नमोऽस्तु करे तो आप आशीर्वाद देते हैं। इसका मतलब है कि आपने अपने आपको मुनि माना है। बोलो–माना कि नहीं ? माना है। आहार के समय मुझे एक ग्रास और लेना है यह विचार आया तो यह लोभ कषाय के बिना नहीं होता। यूँ हाथ को अंजुली बनाकर श्रावक के सामने कर दी, यह भी लोभ ही तो है। कर्म के सिद्धान्त को गहराई से नहीं देखते हैं इसलिए वह ख्याल में नहीं आता। बाकी कर्म का फल तो दिखता है और अनुभव में आता है। चर्या के समय मन्दिर से श्रावकों के घर की ओर चले यह लोभ ही तो है। यह बात अलग है कि आहार मिले ही और पूर्ण आहार सानन्द सम्पन्न होगा ही, ऐसा भाव नहीं करते। किन्तु आहार को निकलते तो हैं। यदि कर्म का उदय न हो तो इस प्रकार का कार्य संभव ही नहीं है। आहारचर्या को प्रशस्तता के रूप में देखते हैं यह बात अलग है, लेकिन वस्तुस्थिति क्या है ? कौन से कर्म की उदीरणा है ? यह कह नहीं सकते। लेकिन कर्म के उदय और उदीरणा के बिना यह कार्य संभव नहीं है। इस प्रकार प्रमाद की भूमिका में कर्मबन्ध की प्रक्रिया होती है, ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। एक बार प्रवृत्ति करने पर कम से कम अन्तर्मुहूर्त काल तक तो बन्ध होता ही है। अन्तर्मुहूर्त काल में अनेक बार ऐसे परिणाम होते हैं, जो बन्ध के कारण होते हैं।

उत्थानिका–इस प्रकार यहाँ अज्ञानी से ज्ञानी कब होता है, यह बतलाते हुए आचार्यदेव ने बतलाया है कि जब तक यह क्रोधादि भाव किसी भी रूप में करता है तब तक अज्ञानी है। किन्तु जब क्रोधादि रूप आर्त्त-रौद्रभाव से रहित होकर निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है उस समय ज्ञानी बनता है तब उस समय उसके नूतन बन्ध नहीं होता।

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥७६॥

अन्वयार्थ– (जइया) जब **(इमेण जीवेण)** इस जीव के द्वारा **(अप्पणो)** आत्मा का **(य**

तहेव) और इसी प्रकार **(आसवाण)** आस्रवों का **(विसेसंतरं)** अंतर और भेद का **(णादं होदि)** ज्ञात होता है **(तइया तु)** तब **(से)** उसके लिए **(बंधो ण)** बंध नहीं होता।

अर्थ—जिस समय यह जीव आत्मभाव और आस्रवभावों में जो विलक्षणता है उसे अपने उपयोग में भली प्रकार उतारता है अर्थात् क्रोधादिक रूप परिणमन नहीं करता, उस समय नूतन बन्ध नहीं होता है।

रागात्म में निहित अन्तर जान पाता,
ज्ञानी वही मुनि जिनागम में कहाता।
पाता न आस्रव नहीं विधि-बन्ध नाता,
होता समाधिरत है पर को भुलाता ॥७६॥

व्याख्या—कर्त्ता-कर्म रूप प्रवृत्ति की निवृत्ति किस प्रकार होती है? इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस समय यह जीव आत्मभाव और आस्रवभावों में जो भेद है उसे ज्ञात कर लेता है और आस्रवभावों से विराम दशा को प्राप्त होता है तब वह अबन्ध दशा को प्राप्त होता है। यह अवस्था घटते-घटते दसवें गुणस्थान के अन्त तक चलती रहती है। तात्पर्य यह है कि छठवें गुणस्थान तक बुद्धिपूर्वक व अबुद्धिपूर्वक स्थिर तथा अस्थिर परिणाम होते रहते हैं। इसे आचार्यों ने व्यक्त-अव्यक्त रूप से भी रागभाव घोषित किया है। सातवें गुणस्थान से ऊपर जहाँ तक भी रागभाव होता है वह सब अव्यक्त रूप से होता है।

क्रिया के माध्यम से कर्त्ता का बोध होता है। जैसे-जब गुरु जी कक्षा में नहीं होते तो हल्ला होता है। विद्यार्थी हल्ला करते हैं। कुछ विद्यार्थी गुरु की अनुपस्थिति में भी शान्त रहते हैं। अतः जो हल्ला करते हैं वे हल्ला रूप क्रिया के स्वयं कर्ता होते हैं और जो शान्त रहते हैं वे शान्त रूप क्रिया के कर्त्ता स्वयं होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि जब कोई भी जीव जो कोई भी क्रिया करता है तब वही उस क्रिया का कर्त्ता माना जाता है, अन्य कोई नहीं।

निर्विकल्प समाधि के उपयुक्त साधन—

सोचो, विचार करो, रागद्वेष के साथ कितने क्षण व्यतीत होते जा रहे हैं? रागद्वेष से ऊपर उठने के क्षण बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। जो रागद्वेषादि से ऊपर उठ जाता है, वही निर्विकल्प समाधि में लीन हो सकता है। अच्छे-बुरे, रागद्वेष, मेरा-तेरा, अहंकार-ममकार रूप परिणाम को संकल्प-विकल्प कहते हैं। जब तक ये परिणाम होते हैं तब तक निर्विकल्प अवस्था संभव नहीं है। निर्विकल्प समाधि में लीन रहने वाले साधु के दर्शन से जीवन पवित्र और धन्यमय हो जाता है। जो रागद्वेष के माहौल के बीच में रहते हुए भी उनसे ऊपर उठी हुई साधना करते हैं उनकी साधना बहुत महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ऐसे साधुओं का बार-बार स्मरण करते हैं। ऐसे श्रमणों के रहने से इर्द-गिर्द का वातावरण भी शान्त रहता है। उस वातावरण में आने पर पापी के भी पापभाव नहीं होता। कुछ ऐसे

स्थान होते हैं कि जहाँ पर पहुँचने के बाद विकल्प आते ही नहीं। वहाँ पर ध्यान लगाना नहीं पड़ता, किन्तु लग जाता है, क्योंकि वहाँ पर पापप्रवृत्ति के साधन ही नहीं होते। पाप करने वाले व्यक्ति भी नहीं होते। ऐसे स्थान निर्विकल्पसमाधि के लिए उपयुक्त साधन रूप हो जाते हैं।

अकेले में शुद्धात्मा का ध्यान करते समय निर्विकल्पदशा में बन्ध नहीं होता। किन्तु जब विकल्प में होता है या द्वैत होता है तो वह द्वैत कर्मबन्ध में कारण बन जाता है। द्वैत ही एक ऐसा विकल्प है कि इसी पर सारा का सारा संसार खड़ा है। बार-बार यह कहा जाता है कि ये विकल्प कहाँ से उत्पन्न हुए ? ज्ञानोपयोग के साथ ही विकल्प होते हैं, दर्शनोपयोग निराकार निर्विकल्प अवस्था रूप होता है। **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** कहते हैं कि ज्ञान को दर्शनवत् बनाओ। **कुन्दकुन्दस्वामी** ने गुफाओं में बैठकर, जहाँ मनुष्यों का, परिचित व्यक्तियों का आवागमन नहीं था ऐसे स्थान पर ये गाथायें लिखीं। क्योंकि परिचित व्यक्तियों से ही विकल्प होते हैं। इसलिए उत्तमसंहनन वाले या उच्च साधक किसी से परिचय करना ही नहीं चाहते। धन्य हैं वे साधक! और यहाँ परिचय न हो तो सिरदर्द हो जाता है। सोचो? फिर निर्विकल्प समाधि हो तो कैसे ? आज दूसरों से परिचय का ध्यान रहता है, स्व से परिचय को तो भूल ही जाते हैं। ऐसे-ऐसे वैज्ञानिक भी हुए हैं जो अण्डरग्राउण्ड में साधना करते रहे। माता-पिता, भाई-बहिन, पत्नि-बच्चों आदि सभी को उतने समय के लिए भूल जाते हैं। दिन-दिनांक आदि को भी भूल जाते हैं, तब प्रयोग कर पाते हैं। इसी प्रकार निर्विकल्पसमाधि की प्राप्ति के लिए मुनियों को बाह्य जगत् को तो भूलना आवश्यक है ही, बल्कि उन्हें तो अपने नाम भी भूल जाना चाहिए। ''मैं मुनि हूँ'' यह भी भूलना आवश्यक है। लिंग को भी भूल जाओ, क्योंकि मोक्षमार्ग में मात्र लिंग कार्यकारी नहीं होता। विद्यार्थी किस कक्षा में है यह भूल जाये तो कोई बाधा नहीं, लेकिन कोर्स की किताब को नहीं भूलना चाहिए। मध्याह्न में, शाम को, प्रातः क्या पढ़ना है ? यह तो ध्यान रखना ही पड़ेगा।

उत्थानिका—आगे गाथा में भेदज्ञान का अर्थ बताया है जो महत्त्वपूर्ण है अथवा यह कहें कि ज्ञान प्राप्तकर ज्ञानी हो जाने से निर्बन्ध कैसे होता है अर्थात् बन्ध का निरोध कैसे करता है ? इसका उत्तर देते हैं–

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥७७॥

अन्वयार्थ— **(आसवाणं)** आस्रवों का **(असुचित्तं च)** अशुचिपना और **(विवरीयभावं च)** और विपरीतपना **(दुक्खस्स कारणं ति य)** ये दुःख के कारण हैं ऐसा **(णादूण)** जानकर **(जीवो)** यह जीव **(तदो णियत्तिं)** उनसे निवृत्ति **(कुणदि)** करता है।

अर्थ—जब यह जीव आस्रवों के अशुचिपने को, जड़ता रूप विपरीतपने को और दुःख के कारणपने को जान लेता है तब अपने आप उनसे दूर रहता है।

दुःखों अनात्म-मय कार्मिक आस्रवों को,
एकान्त से अशुचियों दुःखकारणों को।
अत्यन्त हेय लखके तजता विरागी,
ज्ञानी वही मुनि, अतः तज राग रागी ॥७७॥

व्याख्या—ज्ञानी जीव आस्रवों के अनात्म, अशुचिरूप, जीव से विपरीत स्वभाव को जानकर उनसे निवृत्त होता है। ज्ञानी जीव आस्रव और आत्मा के बीच भेदज्ञान के द्वारा आस्रव को अशुचि, विपरीत स्वभाव वाले तथा संसार के कारण के कारण रूप जानकर उनको छोड़ता है। परिणाम स्वरूप दुःखों के कारण रूप आस्रव से छुटकारा पा लेता है। आप लोग बार-बार पूछते हैं—महाराज, सामायिक में क्या करें ? **रत्नकरण्डकश्रावकाचार** में **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** ने एक कारिका लिखी है कि—

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥१०४॥

अर्थात् यह संसार अशरण, अशुभ, अनित्य, दुःखस्वरूप एवं अनात्मस्वरूप है तथा मोक्ष इससे विपरीत शरणभूत, शुभ, नित्य, सुखस्वरूप एवं आत्मस्वरूप है। इस प्रकार सामायिक में ध्यान करें, चिन्तन करें। ऐसा चिन्तन करो जो सामायिक ठीक हो जायेगी। ऐसा चिन्तन होना अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि संसारी जीव के दिमाग में विषयभोगों की बात जम जाती है तो भले ही जीवन की आशा न रहे फिर भी आगामी काल के लिए वैभव की जिजीविषा होने से सामायिक में चित्त अनेक विकल्पों से मुक्त हो सकता है। यह लोक (वर्तमान भव) समाप्त हो रहा है तो पर भव में क्या होगा ? यह चाह या चिन्ता बनी रहती है। यही चाह संसार परिभ्रमण कराती है।

देवगति में सभी प्रकार की सुविधायें होती हैं। आँख मींचते ही समवसरण की भावना करते हैं तो वहाँ पहुँच जाते हैं। पंचमेरु, नन्दीश्वरद्वीप की वन्दना का भाव करते ही वहाँ पहुँच जाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव वहाँ की वन्दना व दर्शन करके अत्यन्त विशुद्ध एवं प्रसन्नमना हो जाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव अपनी विक्रिया शक्ति का सदुपयोग करते हैं और जिन वन्दना एवं जिनदर्शन का लाभ प्राप्त कर लेते हैं लेकिन मिथ्यादृष्टि को कहना पड़ता है कि ये तुम्हारे कुलदेवता हैं, इनका दर्शन करो, तब दर्शन करते हैं। विषयों में लीन रहने वाले जीव तो जैसे यहाँ रहते हैं वैसे वहाँ रहते हैं। जैसा यहाँ करते हैं वैसा वहाँ करते रहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त बार ग्रैवेयक तक चला गया फिर नीचे आ गया। गेंद जैसे उछलना-गिरना होता आ रहा है। पर्यायदृष्टि से तत्त्वचिन्तन करें तो हम देखते हैं कि द्रव्य शाश्वत है, नित्य है, किन्तु उसमें से पर्यायें हमेशा निकलती रहती हैं। पर्यायों का प्रवाह आज तक रुका नहीं। पर्यायें दिखने में आती है, लेकिन द्रव्य नहीं दिखता। पर्यायों के चक्र को देखने से घबराने और आकुलता करने से कुछ नहीं होता। आकुलता करने में और घबराने में जीव को पुनः दुःख रूप सामग्री मिल जाती है। इसे ही अशरण, अशुभ और अशुचि रूप जानो। ज्ञानी जीव उक्त प्रकार चिन्तन करके

निवृत्ति पा लेता है। ज्ञानी वही है जो राग को राग रूप, आस्रव को आस्रव रूप समझकर उससे छुटकारा पा लेता है। आज तक कर्मोदय का प्रवाह चल रहा है, रुका नहीं है। इसी के कारण संसार के विचित्र दृश्य देखने में आते हैं। इनको देखकर विपाकविचय धर्मध्यान करना महत्त्वपूर्ण है। तत्त्वचिन्तन करने वाला अथवा तात्त्विक दृष्टि वाला जानता है कर्मोदय मेरा स्वभाव नहीं है। जिनवाणी कहती है कि यह कर्म का उदय मेरा स्वभाव नहीं है। ज्यों ही कर्मोदय की फिल्म समाप्त होती है तो चित्र दिखना समाप्त हो जाता है।

जिज्ञासा—कभी-कभी लोग आकर पूछते हैं कि हम लोगों का कभी-कभी प्रयास करने पर भी धर्म में ज्यादा मन क्यों नहीं लगता और कभी-कभी बिना प्रयास के ही मन लग जाता है, ऐसा क्यों होता है ?

समाधान—आचार्यप्रवर उक्त शंका का समाधान देते हुए कहते हैं कि जब कर्म का तीव्र अनुभाग के साथ उदय व उदीरणा होती है तो पुरुषार्थ करने पर भी मन नहीं लगता और जब कर्म का मन्द अनुभाग के साथ उदय होता है तो बिना पुरुषार्थ के भी मन लग जाता है। इन दोनों में कर्मों का अनुभाग कारण होता है। यह बात ज्ञानी जान लेता है तो वह हर्ष-विषाद नहीं करता।

दृष्टान्त—जैसे नदी में पानी का बहाव तीव्र वेग के साथ हो तो अच्छे से अच्छे तैरने वाले भी घबड़ा जाते हैं और डूब जाते हैं। जबकि बाढ़ का रुख देखकर जो नदी को पार करते हैं वे तैरना नहीं जानते फिर भी पार हो जाते हैं। यह निश्चित है कि जो तैरने की युक्ति जानते हैं वे बच जाते हैं। पानी के प्रवाह की तरह कर्म का प्रवाह हमेशा चलता रहता है। उस प्रवाह में ज्ञानी जीव अपना पुरुषार्थ करके प्रवाह से बच जाता है। वर्तमान में इतना प्रयास तो किया जा सकता है कि कर्मोदय में समता रखने में सजग रहें। दु:ख से बचने का यही एक मार्ग है।

आचार्य ज्ञानसागर जी गुरु महाराज ने यहाँ विशेषार्थ में बहुत अच्छा लिखा है—**जब मुनि अप्रमत्त होता है तभी ज्ञानी होता है उसके नूतन बन्ध नहीं होता।** यही बात **गोम्मटसार जीवकाण्ड** में भी कही है कि—

णट्ठासेसपमादो वयगुणसीलोल्लि मंडिओ णाणी।
अणुवसमओ अखवओ, झाणणिलीणो हु अपमत्तो ॥४६॥

अर्थात् जिस संयत के सभी प्रमाद नष्ट हो गये हैं और व्रत-गुण-शील से सहित हैं, जो शरीर और आत्मा के भेदज्ञान एवं रत्नत्रय में लीन रहते हैं अट्ठाईस मूलगुण तथा शील से युक्त हैं, मोक्ष के कारणभूत ध्यान में लीन रहते हैं, ऐसे अप्रमत्त मुनि जब तक उपशमक या क्षपक श्रेणी पर आरोहण नहीं करते हैं तब तक वे स्वस्थानअप्रमत्त या निरतिशय अप्रमत्त रहते हैं। यही बात **परमात्मप्रकाश** ग्रन्थ में भी कही है—

देह विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ।
परमसमाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ॥१४॥

अर्थात् जो जीव परम समाधि में लीन होकर देह से भिन्न आत्मा में लीन रहता है वही पण्डित अर्थात् ज्ञानी होता है।

लोक में कीचड़ को अशुचि मानते हैं, जबकि वास्तव में देखा जाये तो क्रोधादि कषाय रूप परिणाम ही कीचड़ हैं। ज्ञानी जीव इस आन्तरिक भावमय कीचड़ से रहित होते हैं। ज्ञानी जीव आकुल-व्याकुल परिणाम से रहित होते हैं।

जिज्ञासा—आकुलता क्या है और कितने प्रकार की है ?

समाधान—प्राय: लोग असाता के उदय से होने वाली आकुलता को ही आकुलता समझते हैं। जबकि साता के उदय में भी आकुलता होती है। आकुलता दो प्रकार की होती है-१. सुखरूप और २. दु:खरूप। सुखरूप आकुलता, दु:खरूप आकुलता से अधिक होती है। क्योंकि उस समय भगवान् भी याद नहीं आते। जबकि दु:खी होने पर भगवान् की याद आती है और पापों से बचने का भाव भी आता है। नरक में हर नारकी पाप के फल से बचने का भाव करता है। इसलिए वह नरक से निकलकर संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होता है जबकि देवगति से निकलकर जीव एकेन्द्रिय वनस्पतिकाय भी बन जाता है।

बारहभावना में कहा है कि-

दाम बिना निर्धन दु:खी, तृष्णावश धनवान।
कबहूँ न सुख संसार में, सब जग देखो छान ॥३॥

अर्थात् दु:ख की अपेक्षा सुख की आकुलता और अधिक खतरनाक है। धनवान इसी कोटि में आता है। क्योंकि ''इकट्ठा करो, इकट्ठा करो'' इसी में लगा रहता है। भोजन और भजन दोनों करने का समय नहीं मिलता।

दृष्टान्त—चींटी सुबह से शाम घूमती रहती है, इकट्ठा ही करती रहती है, खाती कब है ? क्या पता? मुनीम को आठ घण्टे आकुलता रहती है, लेकिन मालिक को तो चौबीसों घण्टे आकुलता, चिन्ता रहती है, कि यह धन कोई चुराकर न ले जाये। कोई नुकसान न हो जाये, इत्यादि अनेक प्रकार की आकुलता रहती है। उसे धन कमाने की, धन खर्च करने की एवं धन के संरक्षण की भी आकुलता होती है। ये आकुलताएँ अज्ञानता का प्रतीक हैं।

आकुलता व्यक्ति की मान्यता पर आधारित है। भोगसामग्री प्रीति या सुख का कारण है जिन्हें ऐसी जानकारी होती है उन्हें सुख होता है और जिन्हें यह जानकारी होती है कि ये भोग सामग्री दु:ख का कारण होती है उन्हें दु:ख होता है। ज्ञान ही सुख-दु:ख का कारण होता है। जैसा कि-

ज्ञान ही सुख का मूल है, ज्ञान ही दु:ख का कूल।
राग सहित प्रतिकूल है, राग रहित अनुकूल॥
चुन चुन इनमें उचित को मत चुन अनुचित भूल।
सब शास्त्रों का सार है, समता बिन सब धूल॥

अर्थात् सम्यग्ज्ञान सुख का कारण और मिथ्याज्ञान दुःख का कारण है। राग रहित ज्ञान, सुख का कारण और रागसहित ज्ञान दुःख का कारण होता है। आचार्य कहते हैं कि इनमें से उस ज्ञान का चयन करो जो सुख का कारण है तथा जो ज्ञान, दुःख का कारण है उसे छोड़ो। वर्तमान में जीने वाला ज्ञान आकुलता को पैदा नहीं करता। किन्तु अतीत-अनागत में जीने वाला ज्ञान आकुलता को उत्पन्न करता है। **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** कहते हैं कि अतीत-अनागत की पर्यायें अव्यक्त हैं। बोलचाल की भाषा में जिसे ''बीता हुआ कल'' और 'आने वाला कल' कहते हैं। इन दोनों कल की चिन्ता करने वाला, कल-कल करने वाला कल्की होता है क्योंकि दोनों कल आज में नहीं हैं। कल्की कभी धर्मध्यान नहीं कर सकता। आकुल-व्याकुल परिणाम वाला भी धर्मध्यान नहीं कर सकता। एक प्रकार की आकुलता यह भी है कि जैसे-आपके चौके में एक महाराज आ गये। वर्षा का समय है। यदि उनकी अंजुलि में ऊपर का पानी गिरने लग जाये तो अन्तराय हो जाता है। कोई कहता है कि हमारे चौके में सब महाराजों को अन्तराय होता है। कभी बाल आ जाता है, कभी जीव आ जाता है, कभी कंकड़ आ जाता है, तो कभी लाइट आ जाती है। ध्यान दीजिए महाराज को आहार के समय लाइट आ जाये तो अन्तराय होता है, जबकि अध्ययन और स्वाध्याय करने वालों को लाइट जाने से अन्तराय होता है अर्थात् अध्ययन में विघ्न उपस्थित हो जाता है। यह भी एक प्रकार की आकुलता है।

विपाकविचय धर्मध्यान बहुत महत्त्वपूर्ण है। हमेशा-हमेशा कर्म का विपाक होता है, उसके बारे में सोच-विचार करना चाहिए।

विपाकोऽनुभवः अर्थात् कर्म उदय में आकर अपना फल देता है, नोकर्म उसमें सहायक होता है। यह सिद्धान्त ज्ञानी को, साधु को, ज्ञात होता है और उस पर श्रद्धान होता है तो उसके फलस्वरूप उन्हें रात-दिन धर्मध्यान होता है। आप चौबीस ठाणा या चौंतीस ठाणा लगाकर धर्मध्यान करते हैं लेकिन जिन्हें उक्त सूत्र का ज्ञान होता है वे यह चिन्तन करते हैं कि-**यह कर्म का फल है, कर्म उदय में आ रहा है, ऐसा श्रद्धान बढ़ने पर ज्ञान के द्वारा सुख रूप हो या दुःख रूप संवेदन होता रहता है। कभी पूर्व की स्मृति रूप संवेदन होता है, कभी वर्तमान का साक्षात् अनुभव रूप संवेदन होता है। स्मृति और विस्मृति दोनों ज्ञान की परिणतियाँ हैं। निराकुल भाव से कर्मोदय का संवेदन कर लें, हर्ष-विषाद न करें। कर्मोदय हुआ है तो अपना फल देकर जायेगा ही अतः साम्यभाव का अनुपान करूँ।** इस प्रकार चिन्तन करने से तत्त्वज्ञान पुष्ट होता है। कर्मोदय में हर्ष-विषाद न हो, रागद्वेष न हो तो ज्ञानी का ज्ञानीपन सुरक्षित रहता है। उसमें कोई बाधा नहीं डाल सकता।

तीर्थंकर मुनि का जब तक छद्मस्थ काल रहता है तब तक उनका भी हजारों बार छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होता है। उसमें उन्हें आकुलता नहीं होती। वे स्वयं बुद्धिपूर्वक आकुलता नहीं करते, क्योंकि उन्हें ज्ञात है कि यह तो एक नियोग है।

दृष्टान्त—जैसे, घड़ी के काँटों का आरोहण-अवरोहण आधे-आधे घण्टे में होता है। मिनट का

काँटा ३० मिनट तक ऊपर चढ़ता है और उतने ही समय में नीचे आता है। नीचे आना आसान होता है। उसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त में मुनिराज के हजारों बार छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होता है। छठवें गुणस्थान में आते समय हीयमान विशुद्धि होती है और सप्तम गुणस्थान में चढ़ते समय वर्धमान विशुद्ध लेश्या होती है। श्रेणी चढ़ते समय सब कुछ वर्धमान ही वर्धमान होता है।

संक्लेश और विशुद्धिस्थानों के द्वारा होने वाले अनुभाग बन्ध से कोई बच नहीं सकता। आप सोचिए ! तीर्थंकरों के पास कितनी सामर्थ्य होती है फिर भी उन्हें भी हीयमान और वर्धमान विशुद्धि के क्रम में रहना पड़ता है। अतः उनको भी हजारों बार छठवाँ और सातवाँ गुणस्थान होता है। जैसे-थकान के कारण जम्हाई आती है, किसी को कम, किसी को ज्यादा आती है। लेकिन जम्हाई आना अनिवार्य होता है। उसी प्रकार छठवाँ और सातवाँ वर्धमान-हीयमान रूप गुणस्थान होते रहते हैं। यह अनिवार्य तत्त्व है। हीयमान अवस्था होने पर भी रत्नत्रय सुरक्षित रहता है।

दृष्टान्त—जैसे, मान लो किसी के पुत्र नहीं था लेकिन जब बहुत दिन बाद एक सन्तान की प्राप्ति हो गई तो अन्तर्मुहूर्त तक अत्यधिक खुशी होती है। उसके उपरान्त उसकी चिन्ता प्रारम्भ हो जाती है कि इसके लालन-पालन, पोषाण-शिक्षण आदि के लिए धन की आवश्यकता होगी इत्यादि। उसे पुत्रजन्म के समय जो खुशी हुई थी, जो सुख की घड़ी प्राप्त हुई थी वह पुनः कभी प्राप्त नहीं होती। प्रथम समय की खुशी अव्यक्त होती है वह दुबारा नहीं आती। वह अल्पतर और भुजगार रूप हो सकती है। उसी प्रकार जीवन में प्रथम बार जो विशुद्धि की घड़ियाँ आती हैं वे पुनः प्राप्त नहीं होतीं। ये विशुद्धि और संक्लेश रूप परिणाम कर्मोदय में अनिवार्य रूप से होते रहते हैं। जो साधक इस कर्मप्रकृति का श्रद्धान करता है तो संक्लेश-विशुद्धि के सन्धिस्थान को जानकर पुरुषार्थ करता रहता है।

हजारों बार छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होना, यह कर्मों की दशायें हैं। इनका हमारे उपयोग पर प्रभाव पड़ता है। किन्तु यह भी अवश्य देखा जाता है कि किसी की विशुद्धि अधिक, किसी के संक्लेश अधिक होता है। जैसे-एक साथ कई छात्र एक ही क्लास में प्रवेश करते हैं, एक साथ एक जैसा अध्ययन करते हैं फिर भी उनके परिणाम भिन्न-भिन्न आते हैं। कर्मसिद्धान्त की इन सब बातों को जानने वाला गाफिल करने रूप भाव होने पर सन्धिस्थान के समय पुरुषार्थ कर सकता है। हाँ, पुरुषार्थ भी एक सीमा में ही होता है। हठपूर्वक पुरुषार्थ कभी भी सफल नहीं होता। कर्म का तीव्र उदय होने पर पुरुषार्थ कार्यकारी नहीं होता। कर्म की मन्दोदय अवस्था में ज्ञानी अपना पुरुषार्थ सफलता पूर्वक कर लेता है।

दृष्टान्त—अन्धकार हो और थोड़ी सी बिजली की चमक हो जाए तो भी भटका हुआ व्यक्ति रास्ता प्राप्त कर लेता है। उस ओर मुड़ जाता है और अपने गन्तव्य तक पहुँच जाता है। उसी प्रकार कषाय कर्म के मन्दोदय में विशुद्धिस्थान मिल जाते हैं, तो संवर-निर्जरा का उपक्रम होता रहता है। विशुद्धिस्थान के रहने पर तीव्र पापकर्म का उदय भी उसके उपयोग को गाफिल नहीं कर सकता तथा

रागद्वेष भी नहीं करता। विशुद्धिस्थान के होने पर साधक अपने गन्तव्य मोक्ष की ओर आगे बढ़ता जाता है।

आस्रव तथा आत्मा के भेद को जानने वाला ज्ञानी आस्रव को छोड़ देता है। ज्ञानी जीव विचार करता है कि जो अपना नहीं है उसे क्यों अपनाना ? संसारी प्राणी अज्ञान के कारण जो अपना नहीं है उसे भी अपनाता है।

जिज्ञासा—संसारी प्राणी क्रोधादिक क्यों करता है ?

समाधान—संसारी प्राणी अज्ञानता के कारण और मोह के कारण परवस्तु को चाहता है। उसकी प्राप्ति में यदि कुछ भी व्यवधान आता है तो उस पर क्रोधादिक करता है। मोह और अज्ञान के कारण पर के ऊपर अपना अधिकार करता है अथवा उसका स्वामी और भोक्ता बनने के लिए उसके प्रति कर्तृत्व बुद्धि रखता है। ज्ञानी पर का कर्त्ता नहीं बनता। उसके समक्ष अध्यात्म का रहस्य उद्‌घाटित हो चुका है। ज्ञानी तो यहाँ तक विचार करता है कि ''रागद्वेष करना भी पर कर्तृत्व है अतः रागद्वेष, क्रोधादि से बहुत दूर रहता है। जब रागद्वेषादि नहीं करता तो अन्य रूप, रस, गन्धादि का कर्त्ता होने का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि वह समझता है कि जिन पदार्थों में रूप, रसादि नहीं हैं उनमें मैं रूप, रसादिक नहीं डाल सकता। अतः उनके कर्तृत्व भाव को स्वीकार नहीं करता। किन्तु संसारी प्राणी मोह और अज्ञान की भूमिका में रागद्वेषादि करके पर के साथ कर्तृत्व भाव को स्वीकार करता है। जबकि तीन काल में भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का उपादान कर्त्ता, भोक्ता और स्वामी नहीं हो सकता, ऐसा आचार्यों ने कहा है। पर कर्तृत्व को स्वीकारना बहुत बड़ी भूल है। हाँ, निमित्त के रूप में कर्त्ताभाव स्वीकार करना अलग बात है। इसमें कोई बाधा नहीं, किन्तु उपादान रूप में पर का कर्त्ता मानना, और भिन्न-भिन्न द्रव्यों में भिन्न-भिन्न कार्यों को उत्पन्न कराने की क्षमता दूसरे के पास है यह मानना अज्ञान है।'' ''इसी अज्ञान के कारण यह संसार खड़ा है।'' ज्ञानी जन निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को जानते हैं, अतः पर का कर्त्तापन, भोक्तापन और स्वामीपन को नहीं स्वीकारते। कोई-कोई भजन गाते हैं—

आपका क्या जायेगा, बिगड़ी बनाने के लिए।

उक्त बात को ज्ञानी जानता है लेकिन वह ज्ञानी जब कभी राग कर लेता है, बाहर आ जाता है तो उस समय वह ज्ञानी नहीं रहता। संसारी प्राणी को यह समझाना बहुत कठिन होता है फिर भी लोग आकर कहते हैं कि—हमारे बच्चों को समझा दीजिए। ज्ञानी जब प्रवृत्ति में आते हैं तो उन्हें महान् उपकारी अनाथों के नाथ, दीनानाथ, जगन्नाथ, दयालु, कृपालु, पतितोद्धारक इत्यादि बहुत सारे विशेषणों से भूषित करते हुए उनकी पूजन, अर्चना आदि होती है तो भी वे उसमें रस नहीं लेते, किन्तु धर्मोपदेश देते हैं। ख्याति, लाभ, पूजा को चाहना साधु की सबसे बड़ी कमजोरी मानी जाती है। आज इस कमजोरी में कौन-कौन नहीं आते ? सब आ जाते हैं।

तीर्थंकर प्रकृति निरन्तरबन्धी प्रकृति है। निरन्तरबन्धी के दो अर्थ होते हैं—१. जो अन्तर्मुहूर्त तक

निरन्तर बन्ध को प्राप्त हो, २. चतुर्थ गुणस्थान से आठवें गुणस्थान के छठवें भाग तक निरन्तर बन्ध होना। जब तक वह जीव क्षपक श्रेणी के साथ आठवें गुणस्थान तक नहीं चढ़ता तब तक तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं रुकता। चूँकि तीर्थंकर के वर्धमान चारित्र होता है अत: उस भव में उपशमश्रेणी नहीं चढ़ते, मात्र क्षपकश्रेणी चढ़ते हैं। इसलिए उनका यथाख्यातचारित्र नहीं छूटता। श्रेणी चढ़ने के पूर्व छठवें-सातवें गुणस्थान में रहते हुए भी वर्धमान सामायिकचारित्र होता है। आठवें आदि गुणस्थानों में उनकी निर्विकल्प समाधि मानी जाती है। वहाँ क्रोधादि में प्रवृत्ति नहीं करते, किन्तु अव्यक्त (अबुद्धिपूर्वक) राग नवमें गुणस्थान तक होता है। छठवें गुणस्थान तक व्यक्त राग होता है। दसवें गुणस्थान में राग का (लोभ का) उदय तो रहता है किन्तु उससे मोह का बन्ध नहीं होता।

जिस व्यक्ति को समीचीन भेदविज्ञान एवं कर्मसिद्धान्त पर सच्चा श्रद्धान हो जाता है वह परद्रव्य के प्रति स्वामित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व को स्वीकार ही नहीं करता। अज्ञान दशा में यह सब होता है। ज्ञानी कभी यह नहीं सोचता कि अमुक कार्य मेरे बिना हो ही नहीं सकता, किन्तु वह सोचता है कि मेरे द्वारा परद्रव्य का कुछ भी नहीं हो सकता। कोई भी कार्य होने में मैं निमित्त तो हो सकता हूँ, लेकिन कार्य तो उपादान में ही होता है। उपादान के बिना मात्र मेरा निमित्त कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता।

जिज्ञासा—बार-बार मैं एक बात सोचता हूँ कि केवली समुद्घात करने वाले केवली भगवान् के आत्मप्रदेश लोकपूरण समुद्घात के समय तीन लोक में फैल जाते हैं। आपको भी उस समय उनके आत्मप्रदेश छूते हैं। आप लोग कहते हैं कि भगवान् के चरणस्पर्श से कर्म कटते हैं, लेकिन यहाँ तो उनके आत्मप्रदेश आपको स्पर्शित होते हैं फिर भी कर्म नहीं कट रहे हैं ?

समाधान—समुद्घात के समय आपके और भगवान् के आत्मप्रदेशों में एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध रहता है फिर भी आपके कर्म नहीं कटते। क्यों ? क्योंकि उस समय आप अपने उपादान से उनके चरण नहीं छू पाते। जब आप स्वयं उनके चरणस्पर्श का भाव करके स्पर्श करते हैं तभी कर्मनिर्जरा होती है। दूसरी बात, समुद्घात के समय भगवान् अपने कर्मों की निर्जरा करने के लिए निकलते हैं, आपके कर्मों की निर्जरा के लिए नहीं। कितनी अद्भुत घटना है यह! सोचो, विचार करो। एक दिन में तीन बार ऐसा मौका मिलता है। उनके आत्मप्रदेशों का स्पर्श मात्र ऊपर-ऊपर नहीं होता, किन्तु आपकी जितनी अवगाहना है उतने प्रमाण ऊपर-नीचे अन्दर-बाहर चारों ओर से स्पर्श होता है। आठ घण्टे में एक बार स्पर्श होता है, उस समय लोक का एक भी प्रदेश शेष नहीं रहता, जहाँ उनके आत्मप्रदेश न फैलते हों। इससे यह भी स्पष्ट फलित होता है कि यदि कोई जीव नरक जा रहा है, कोई तिर्यंचगति में जा रहा है, कोई कहीं भी जा रहा है, सबको मुक्त होने वाली आत्मा स्पर्श करके जा रही है। इससे और अच्छा निमित्त क्या हो सकता है ? फिर भी हमारे कर्मनिर्जरा के भाव नहीं हो रहे हैं।

केवली भगवान् के प्रदेश जब स्पर्श करते हैं, उस समय हमें वैसी अनुभूति तो नहीं हो सकती। फिर भी आगम से यह ज्ञान है और श्रद्धान है कि उनके आत्मप्रदेश सम्पूर्ण लोक में फैलते हैं, लोक

का एक भी प्रदेश उनसे अछूता नहीं रहता। इतना अच्छा प्रबल निमित्त मिलता है फिर भी हमारी कर्मनिर्जरा क्यों नहीं होती? प्रबल निमित्त के द्वारा यदि कार्य होता है तो होना चाहिए। मात्र निमित्त पर जोर देते हो तो कर्म कटना चाहिए, यह हमारा कहना है। ऐसे बहुत सारे निमित्त हैं, जो हमें ज्ञात नहीं हो पाते, इसलिए मात्र निमित्त पर आधारित नहीं रहना किन्तु अपने आत्मवैभव रूपी उपादान के बारे में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए, जो हमारे पास चौबीसों घण्टे है।

संवेदनशील आत्मतत्त्व का रत्नत्रय के द्वारा संवेदन करना है, तो उस आत्मतत्त्व की चर्चा भी बार-बार कर लेना चाहिए। क्षायिकद्रव्य का स्पर्शन होने पर भी हमें कोई संवेदन नहीं हो रहा है, इसका तात्पर्य यह है कि किसी को भी परद्रव्य का संवेदन नहीं हो सकता। यह बड़ा अद्‌भुत विषय है। इसका चिन्तन करने से पर स्वामित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व के निषेध के प्रति दृढ़ श्रद्धान बनता है। इसीलिए सम्यग्ज्ञानी जीव रागद्वेष मोह नहीं करता।

जिज्ञासा—रागद्वेष का मूल कारण क्या है ?

समाधान—पर पदार्थ के प्रति स्वामित्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व बुद्धि के होने से पर पदार्थ से रागद्वेष होता है। स्वामित्व होने के कारण भोक्तृत्व और कर्तृत्व बुद्धि होती है। कर्तृत्वबुद्धि होने से अहंकार बढ़ता है। अहंकार होने से रागद्वेष होते हैं।

पर का मेरे निमित्त से भला हो, यह सोचना तो फिर भी ठीक है, लेकिन इसके बारे में व्यक्ति सोच ही नहीं रहा है। दूसरे के बारे में सोचने की भी एक सीमा होती है। सोचने से उसका भला हो ही जाये यह कोई नियम नहीं। उसमें भी ऐसा सोचना कि मेरे बिना इसका भला हो ही नहीं सकता, उचित नहीं है। दूसरे के बारे में सोचते भी हो तो किसी एक व्यक्ति के बारे में क्यों ? फलाने व्यक्ति के बारे में बार-बार सोचो, ऐसा क्यों ? तीन लोक के समस्त जीवों के बारे में क्यों नहीं सोचते ? कोई ऐसा भी कह देते हैं कि उनका पुण्य होने पर हम सोचते हैं, ऐसा कहना कथंचित् ठीक है लेकिन विशेष रूप से उसके प्रति राग है या नहीं ? यदि आप अन्य समयों में सामान्य से सभी जीवों के बारे में निष्पक्ष होकर सोचते हैं तो अपायविचयधर्मध्यान हो जाता है। इस चर्चा से कई लोग अनभिज्ञ रहते हैं कि अपायविचय धर्मध्यान से असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। किसी दुःखी व्यक्ति को देखकर सोचा जा सकता है कि इसका दुःख दूर कैसे हो ? इसके असाताकर्मों का नाश कैसे हो ? कब हो ? क्या चौबीसों घण्टे शुद्धोऽसि, शुद्धोऽहं बुद्धोऽहं यही करते रहोगे ?

संस्मरण—पूज्य मुनि श्री चन्द्रसागर महाराज ने आचार्यश्री से कहा कि—आचार्यश्री, आपने मेरे बारे में सोचा होगा तभी तो हमें वैराग्य हो गया ? तब आचार्य श्री ने कहा—मान लो, हाँ। लेकिन अब सोना नहीं भइया। हमने जगा दिया तो आप सोइये नहीं। आप यदि कहोगे कि जगाना आपका काम है, सोना हमारा काम है। तब फिर प्रमादी के बारे में हम कुछ नहीं सोचते। इसलिए सोना नहीं। पुनः मुनि श्री चन्द्रसागरजी ने कहा—गुरुदेव! आप हमारी लगाम पकड़े रहना। (सुनकर सभी लोग हँसने

लगे)

संसारी प्राणी क्या-क्या सोचता है, बड़ी-बड़ी बातें करता है। विपाकविचयधर्मध्यान बहुत विस्तृत है। इसमें घाटा तो है ही नहीं। ''सबका भला हो'' यह विचार चौबीसों घण्टे भी चल सकता है। ऋद्धिधारी मुनि के द्वारा इसी प्रकार के काम हो जाते हैं। ऋद्धि के प्रभाव से जीवों का भला हो जाता है। इसलिए हमेशा सात्त्विक भाव रखो। तभी तो उन्हें तीर्थंकर प्रकृति आदि का आस्रव हो जाता है। ''दूसरों का भला हो'' ऐसा सोचने से प्रशस्त कर्म बन्ध जायें तो बन्ध जायें लेकिन हम तो कर्मनिर्जरा के लिए कर रहे हैं।

''सबका भला हो, सबको दिशाबोध मिले, सबका कल्याण हो, सबको भव्य रूप में देखो।'' अभव्य के बारे में भी सोचते हैं तो यही सोचो कि-देखो, कैसा कर्म का उदय है? इनका कोई निस्तार नहीं है। ''अहिंसक राष्ट्र बनें, सभी सुख शान्ति से जियें'' ऐसी भावना करो। हमें वह कार्य करना चाहिए जिसमें आकुलता न हो, सब कुछ शान्ति से करते चलो, इसमें कोई बाधा नहीं।

स्वाध्याय का स्वरूप-

केवल ग्रन्थ खोलकर पढ़ने का नाम स्वाध्याय नहीं है, किन्तु **ज्ञानभावना में आलस का त्याग करना यह भी स्वाध्याय है।** स्वाध्याय के पाँच भेदों में एक अनुप्रेक्षा रूप स्वाध्याय है, जिसमें ज्ञानभावना और आलस का त्याग होने से हमेशा स्वाध्याय हो सकता है। जैसे-मुनि जब गुप्ति में रहते हैं या कायोत्सर्ग लगाते हैं, निषद्या रूप आसन लगाते हैं, उस समय उनका छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होता रहता है लेकिन किसी भी प्रकार से कायगुप्ति न चली जाये इसलिए एक क्षण के लिए भी हिलते-डुलते नहीं हैं। बाहुबली भगवान् एक वर्ष तक कायोत्सर्ग मुद्रा में रहे, हिले नहीं, स्थिर रहे। लेकिन भीतर चिन्तन में परिवर्तन होता रहा, शरीर नहीं हिला यह क्या है ? **नैरन्तर्यरूपेण आलस्याभावः** निरन्तर आलस का अभाव हुआ। यह स्वाध्याय नहीं तो क्या है ? यह भी बहुत बड़ा स्वाध्याय है। आलस का अभाव यह बहुत महत्त्वपूर्ण क्रिया है।

छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज आलस रहित होकर अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं। प्रमाद रहित होने के कारण वे उनके पालन करने में विचलित नहीं होते। चौके में आप लोगों को भी यह बात ध्यान रखना चाहिए कि जैसे मुनिराज आहार करते समय एक आसन से खड़े रहते हैं वैसे ही आहार देने वालों को भी अपने पैरों को नहीं हिलाना चाहिए। क्योंकि यदि आलस कर दिया, पैर हिला दिया और पैर के नीचे कोई जीव आकर दब गया तो जीवहिंसा हो जायेगी। इसलिए पैर बदलना, ऊपर-नीचे करना, बार-बार हिलाना आदि क्रिया नहीं करना चाहिए। तब महसूस होगा कि **ठिदिभोयण** कैसा होता है ? आहार देते-देते सामान उठाने जाना है तो नीचे देखकर जाना चाहिए किन्तु जितनी देर खड़े रहते हैं उतनी देर तो पैर को हिलाना या बदलना नहीं चाहिए। बहुत भागादौड़ी नहीं

करना चाहिए। देखते हुए गमन करना चाहिए। कई लोगों के पैर हमेशा चलते रहते हैं, तो कायशुद्धि कैसे रहेगी ? इस एषणासमिति में ३३ नम्बर ही मिल पाते हैं। कहीं गड़बड़ी न हो इसलिए मुनिराज आहार, स्वाध्याय, स्तुति, वंदना आदि करते हैं फिर परम सामायिक में पहुँच जाते हैं।

निर्विकल्पसमाधि रूप एक क्षण की प्राप्ति के लिए मुनि पूरे आवश्यक और बाह्य प्रवृत्ति करते हैं। छह आवश्यक रूप बाह्य प्रवृत्ति करना मात्र श्रामण्य नहीं है, किन्तु आवश्यक के अतिरिक्त समय में वे अन्तरंग में शुद्धोपयोग की भावना में, निर्विकल्प समाधि में लीन होने के लिए ध्यानस्थ हो जाते हैं। वास्तव में यह अन्तरंग श्रमणत्व है। मुनि इससे जितनी निर्जरा करना चाहें उतनी कर सकते हैं। श्रमण के पास यह योग्यता हमेशा-हमेशा बनी रहती है। मुनि सुबह, शाम, दोपहर में जब कभी भी आँख बन्द करके ध्यान में बैठ जाते हैं तो परम सामायिक होती है। इसी के लिए यह सारी यात्रा है। यह दिगम्बर भेष भी इसी परम सामायिक रूप क्षण की प्राप्ति के लिए है। हाँ, प्रत्येक मुनि के पास यह सामर्थ्य नहीं होती। जो **दिट्ठमग्गं** हो गया अर्थात् जिसने मार्ग को देख लिया और उस पर चलने का अभ्यास कर लिया उसे पुनः सरलता से मार्ग प्राप्त हो जाता है।

रत्नत्रय के साथ परम सामायिक के काल में शुद्धात्मानुभूति के क्षणों को प्राप्त करने के लिए, उत्तम तिथियों, क्षेत्रों, द्रव्यों तथा भावों के साथ सहयोगियों, सहपाठियों के योग को मिलाने का प्रयास करना चाहिए। यह वही क्षेत्र है जहाँ से अनेक तीर्थंकर मोक्ष गए हैं। यह वही तिथि है, जिस दिन भगवान् महावीर ने मोक्ष प्राप्त किया था। इस प्रकार प्रारम्भिक दशा में भावना करने के उपरान्त अभ्यस्त हो जाने के उपरान्त बार-बार निमित्त को मिलाना आवश्यक नहीं होता। जो कुछ बाह्य में निमित्त रूप में दिगम्बरत्व मिलना था वह मिल गया, अब तो परम सामायिक को प्राप्त करना है। ऐसी बार-बार प्रत्येक क्षण भावना करना चाहिए। एवं परम सामायिक की प्राप्ति में कारणभूत ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

जिज्ञासा—सामायिक चारित्र एवं परम सामायिक में क्या अन्तर है ?

समाधान—उक्त दोनों अवस्थाओं में बहुत अन्तर है। सामायिक चारित्र प्रमत्तगुणस्थान में भी होता है, लेकिन परम सामायिक अवस्था अप्रमत्तगुणस्थान में शुद्धोपयोग अवस्था के साथ होती है। प्रवृत्तिमय छठवें-सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग प्राप्त नहीं हो सकता। जो साधक बार-बार बुद्धिपूर्वक शुभोपयोग से शुद्धोपयोग की घड़ियाँ प्राप्त करते हैं, उन्हें बाह्य प्रवृत्तिमय शुभोपयोग में रस नहीं आता। बहुत जरूरी होता है तो थोड़ा बोल लेते हैं, चल लेते हैं, आहारचर्या आदि कर लेते हैं। वे प्रवचन के समय भले ही शुद्धोपयोग पर प्रवचन दें तो भी उनके शुभोपयोग ही होता है। **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने भी शुद्धोपयोग का अनुभव किया, फिर शुभोपयोग में आकर ही शुद्धोपयोग का उपदेश दिया था। इसलिए बार-बार यही सोचना चाहिए कि प्रवृत्ति को छोड़कर, आलस को छोड़कर शुभोपयोग से शुद्धोपयोग को प्राप्त करूँ। प्रवृत्ति के समय आप प्रमाद को छोड़ ही नहीं सकते, क्योंकि प्रवृत्ति

प्रमादमूलक ही होती है। स्वाध्याय के माध्यम से तो मन को एकाग्र किया जाता है। मुनिराज का मन तो लगभग स्थिर ही रहता है अतः स्थिर मन से शुद्धोपयोग की भावना करना चाहिए। णमोकारमन्त्र भी एक पद है उसके चिन्तन-मनन से भी स्वाध्याय होता है। णमोकारमन्त्र से पदस्थध्यान भी होता है। तीन घण्टे तक व्याख्यान सरल किन्तु ध्यान कठिन है। इसलिए ध्यान में जो निर्जरा होती है वह स्वाध्याय में नहीं है।

बाह्यतप में कायोत्सर्ग को अन्त में रखा है और अन्तरंग तप में ध्यान को अन्त में रखा है। बाह्यतप का उपसंहार कायोत्सर्ग में है और अन्तरंगतप का उपसंहार ध्यान में है। इसी ध्यान का नाम परम सामायिक है। क्रोधादि आस्रव भावों से रहित सामायिक चारित्र ही परम सामायिक का रूप धारण करता है। यह बहुत मौलिक चीज है। परम सामायिक को वीतरागचारित्र, निश्चयचारित्र, निश्चय-प्रतिक्रमण, निश्चयसामायिक, निश्चयमोक्षमार्ग, अभेदरत्नत्रय आदि नामों से भी कहा जाता है। यह अत्यन्त अमूल्य वस्तु है।

दृष्टान्त—एक तो गेहूँ, मक्का-बाजरा का बाजार है, दूसरा हीरा-मोती, पन्ना का बाजार है। संक्षेप से दोनों में यही अन्तर समझना चाहिए। सामायिक चारित्र शुभोपयोग की दशा में भी होता है जबकि परम सामायिक शुद्धोपयोग में ही होता है। शुभोपयोग बार-बार होता है उसकी मात्रा अधिक होती है। अनाज को तौलकर ही दिया जाता है और हीरा-पन्ना गिनकर दिये जाते हैं। हीरा-पन्ना को दूर से दिखाते हैं। बाजार में अनाज के समान कभी भी हीरे-पन्ने के ढेर लगे हुए नहीं दिखते। इससे पता चलता है कि किसकी मौलिकता कितनी है ? हीरे-जवाहरात के समान शुद्धोपयोग का महत्त्व अपने आपमें बहुत अधिक है। हीरे जवाहरात का एक भी ग्राहक आ जाता है तो व्यापारी नाचने लगता है। इसलिए **आचार्य कुन्दकुन्द महाराज** कहते हैं कि–**हे श्रमण! तू गेहूँ, बाजरे का अर्थात् शुभोपयोग का व्यापार मत कर, एक बार शुद्धोपयोग की ओर भी दृष्टि डाल ले, एक बार जाकर तो देख ले।** इस प्रकार आचार्य शुभोपयोगी श्रमण को शुद्धोपयोगी के पास भेजकर स्वयं को शुद्धोपयोगी बनने का उपदेश देते हैं।

जिज्ञासा—चतुर्थ आदि गुणस्थानों में भेदविज्ञान है या नहीं ?

समाधान—चतुर्थ आदि गुणस्थानों में भेदविज्ञान तो है लेकिन जो भेदज्ञान सम्यक् चारित्र के साथ होता है वह कार्यकारी होता है। जिसके द्वारा क्रोधादि आस्रव रुकता है वह ज्ञान कार्यकारी होता है। इसको यदि कोई अज्ञान कहता है तो उन्हें सोचना चाहिए कि जिसके द्वारा असंख्यात गुणी निर्जरा होती है उसे अज्ञान की कोटि में कैसे रखा जा सकता है ? एक बार किसी स्वाध्यायप्रेमी व्यक्ति ने एक प्रश्न किया था–

जिज्ञासा—दान देते समय कितने और कौन से कर्मों का बन्ध होता है ?

समाधान—मैं तो चक्कर में पड़ गया। फिर मुझे याद आया तो मैंने उनसे कहा कि–स्वाध्याय करते समय जितने कर्म बँधते हैं, उनसे कई गुना कम कर्मबन्ध दान देते समय होता है क्योंकि दान

श्रावक के बारह व्रतों में से अतिथिसंविभाग व्रत के अन्तर्गत आता है। बारहव्रतों में से इसे कम नहीं किया जा सकता। यदि व्रती श्रावक इसका पालन नहीं करेंगे तो उनका एक व्रत कम हो जायेगा। फलतः उस व्रत से होने वाली असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा भी कम हो जायेगी और उस प्रवृत्ति रूप व्रत क्रिया से होने वाला पुण्यास्रव भी होता है। तात्पर्य यह है कि व्रतपालन करने से मात्र पुण्यास्रव नहीं होता, किन्तु पापकर्म की निर्जरा भी होती है। व्रती जीव अपने संकल्पों को कर्त्तव्य समझकर दानादि के रूप में प्रवृत्ति करता है। व्रती को प्रतिपल असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, क्योंकि व्रतपालन के संकल्प से उसका पाँचवा गुणस्थान रहता है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि–दान दिन में एक बार दिया जाता है और स्वाध्याय यदि दिन में ३-४ बार किया जाता है तो दान से चौगुना कार्य स्वाध्यायक्रिया में होगा अर्थात् यदि दान प्रवृत्ति रूप है और उससे कर्मबन्ध होता है तो स्वाध्याय भी प्रवृत्ति रूप है अतः दानक्रिया से स्वाध्यायक्रिया में बन्ध अधिक होगा, यह सिद्ध होता है। यदि आप कहेंगे कि नहीं स्वाध्याय से तो निर्जरा होती है और दान से मात्र बन्ध होता है तो यह विचार आगमसम्मत नहीं माना जायेगा। इस विषय में इतना अवश्य ख्याल रखना चाहिए कि दान शुभक्रिया है उससे मात्र बन्ध नहीं, किन्तु निर्जरा भी होती है।

जिज्ञासा—भेदविज्ञान कितने प्रकार के होते हैं ?

समाधान—वैसे तो भेदविज्ञान एक ही प्रकार का होता है। लेकिन आगम और अध्यात्मदृष्टि से इसमें अन्तर होता है। आगमग्रन्थों और अध्यात्मग्रन्थों की अपेक्षा भेदविज्ञान पृथक्-पृथक् हैं। आगम की अपेक्षा से सामायिकचारित्र वाला भेदविज्ञान होता है और अध्यात्म की अपेक्षा परमसामायिक के साथ भेदविज्ञान होता है। जिस परमसामायिक के द्वारा आस्रव पूर्णतः रुक जाता है, केवलज्ञान की प्राप्ति होती है वह भेदविज्ञान आगमिक भेदविज्ञान माना जाता है, जो कि अभेदरत्नत्रय के साथ होता है। भेदरत्नत्रय के साथ भी भेदविज्ञान होता है परन्तु इन दोनों में अन्तर होता है। भेदविज्ञान शब्द समान होने पर भी दोनों का एक ही अर्थ और परिणाम नहीं होता। दोनों के परिणाम को जो भिन्न-भिन्न नहीं मानता वह अभी प्रासंगिकता से दूर है। अध्यात्म की अपेक्षा भेदविज्ञान में भेदाभेद रत्नत्रय आदि की अपेक्षा कथन की मुख्यता नहीं होती। पचासों वर्ष हो गए हैं अभी तक समाज में भेदविज्ञान की चर्चा तो बहुत हो रही है लेकिन सही ज्ञान नहीं हो पा रहा है। जिन्हें सही ज्ञान नहीं हो पा रहा है उनका ज्ञान भी सही नहीं माना जायेगा।

ऐसे कई स्वाध्यायप्रेमी हैं जो स्वाध्याय करते हुए भी चारित्र के प्रति संदेह करने लगते हैं। जबकि पाँचवें गुणस्थान के योग्य जो चारित्र होता है उसके द्वारा भी असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। ऐसा शास्त्र या आगम पर यथार्थश्रद्धान रखना चाहिए। कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि शास्त्र के ऊपर यथार्थ श्रद्धान रखना यह भी औपचारिक है। ऐसे लोगों के समक्ष रेवती को बुलाओ, वह अच्छी तरह समझा देगी। वह रेवती कहती है कि इस समय समवसरण आ नहीं सकता। आगम में लिखा है कि २५ वें

तीर्थंकर हो ही नहीं सकते। फिर यह समवसरण और तीर्थंकर कहाँ से आ गए ? इस प्रकार उसने शास्त्र के प्रति अटूट श्रद्धान की बात को ही तो कहा था।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि कोई कुछ भी कह दे तो भी वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा ही है। इस पर अटल विश्वास होना चाहिए। **सम्यग्दर्शन कोई मोम जैसा थोड़ी होता है जो किसी की बातों से पिघल जाये। जिस श्रद्धान युक्त चारित्र से असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, उसे औपचारिक कह दो, यह तो गलत बात है।** भेदरत्नत्रय के साथ जो सामायिक में बैठा है उसके लिए **आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी** कहते हैं कि ये जो कर रहे हैं वह तो ठीक है ही, लेकिन थोड़ा शुद्धोपयोग की ओर भी अपने को ढाल दो, उस ओर भी ध्यान दो। सामायिकचारित्र है तो परम सामायिक में ढाल दो। शुभोपयोग रूप रत्नत्रय को शुद्धोपयोग रूप रत्नत्रय में ढाल दो। समिति रूप रत्नत्रय को गुप्ति रूप में ढाल दो। यह कार्य महत्त्वपूर्ण है।

दृष्टान्त—जिसकी जठराग्नि कमजोर होती है उसके लिए अच्छे-अच्छे व्यंजन पकवान बताने से उनका अनादर होता है। उसी प्रकार जिनकी मति शुभोपयोग में संलग्न है उनको शुद्धोपयोग का इतना महत्त्व नहीं होता, जितना होना चाहिए। फिर भी उन्हें शुद्धोपयोग का महत्त्व बतलाकर उन्हें शुद्धोपयोग में संलग्न करना महत्त्वपूर्ण कार्य है। ज्ञान की परिणति शुभोपयोग से शुद्धोपयोग रूप हो सकती है किन्तु उसका स्वाद लेने के लिए उसके प्रति आदर और उसे अपनाने की भूख भी तो होना चाहिए। कुछ लोग मात्र दिगम्बर दीक्षा लेकर तृप्त हो जाते हैं। यह अन्यत्र विषयकषाय में न जायें, इसलिए तो ठीक है, किन्तु इस भूमिका के साथ थोड़ा और ऊपर उठना चाहिए। अर्थात् शुद्धोपयोग को प्राप्त करना चाहिए।

अन्तिम तप ध्यान का अभ्यास आवश्यक है—

ध्यान दीजिए, अपने को काम कम करना, फल ज्यादा लेना है और कम समय में लेना है। यह ठीक नहीं है क्या ? ठीक तो है किन्तु... महाराज, यह तो बहुत कठिन है। हम आग्रह नहीं कर रहे हैं, आप लोगों को बाध्य नहीं कर रहे हैं, परन्तु इतना अवश्य है कि धीरे-धीरे करने से यह कार्य ठीक हो जायेगा अर्थात् शुद्धोपयोग प्राप्त हो सकता है, इसकी प्रेरणा दे रहे हैं। जब शुद्धोपयोग को प्राप्त कर सकते हैं तो उसे प्राप्त करने का अभ्यास करना चाहिए। शुद्धोपयोग की यात्रा करने का बार-बार प्रयास करना चाहिए। बारह तपों में से अन्तिम तप की ओर विशेषदृष्टि रहना चाहिए। तप तो कर ही रहे हैं तो अन्तिम तप ध्यान की ओर भी ध्यान जाना ही चाहिए। **शिखर पर जाकर जब ध्यान कर रहे हो तो आत्मशिखर को भी थोड़ा ध्यान में रखो। उसे भी देख लो, अभी यही बार-बार देखते हैं कि शिखर जी की शिखर पर आ गये या नहीं, अब आत्मशिखर की ओर ध्यान दो तभी लोकशिखर पर सिद्धत्व की प्राप्ति हो सकेगी।** शरीर की अपेक्षा भले ही अवस्थित आसन हो लेकिन आत्मा की अपेक्षा उत्थित अर्थात् उत्थान की ओर ध्यान दो। शरीर और आत्मा दोनों ही दृष्टियों में अवस्थित नहीं होना चाहिए। कहने का तात्पर्य है कि अवस्थित-अवस्थित

भंग घटित नहीं होना चाहिए किन्तु अवस्थित-उत्थित चल सकता है। विविध तपों का उपसंहार ध्यान में अथवा यूँ कहें कि शुद्धोपयोग में होता है।

ज्ञानार्णवकार आचार्य शुभचन्द्रजी ने योग के आठ भेद किये हैं–यम, नियम, प्रत्याहार, प्राणायाम, आसन, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें समाधि को अन्त में रखा है, ध्यान को समाधि के उपान्त्य में रखा है। ध्यान योग की प्रक्रिया है इसलिए बारह तपों में अन्तिम तप ध्यान को रखा है। फिर **आचार्य शुभचन्द्र स्वामी** ने कहा है कि ध्यान अन्तिम योग नहीं है। क्योंकि उसमें भी पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ में व्यवहार है, क्रिया है। लेकिन जब ध्यान पुरुषार्थरहित सहज लग जाता है तब उसमें निखार आ जाता है। इसलिए उसे समाधि कहा जाता है। अध्यात्मग्रन्थों में योग के आठ अङ्गों में से समाधि की मुख्यता है। इसलिए इन ग्रन्थों में बार-बार परमसमाधि, परमसामायिक आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। परमसमाधि की दशा में भेद समाप्त हो जाता है, अभेद अवस्था प्राप्त हो जाती है। **ध्यान में पुरुषार्थ होता है, किन्तु समाधि में लीनता आ जाती है। समाधि में समता का प्रवाह रहता है।** एक दोहे में इसी के बारे में लिखा है कि–

यम दम शम सम तुम धरो, क्रमशः कम श्रम होय।
नर से नारायण बनो, अनुपम अधिगम होय॥

यम–अहिंसाव्रत का जीवनपर्यन्त के लिए संकल्प, **दम**–इन्द्रियों का दमन, **शम**–कषायों का शमन, **सम**–समताभाव इत्यादि। इन सभी के पालन करने में क्रमशः आगे-आगे श्रम कम-कम होता जाता है। इसीलिए लिखा है–**क्रमशः कम श्रम होय।** जिनकी श्रामण्य की भूमिका है, जिन्होंने यम को धारण कर लिया है, उनके लिए इन्द्रियदमन, कषायों के शमन एवं साम्यभाव रखो, ऐसा कहने की भी जरूरत नहीं होती। क्योंकि उनका (श्रामण्यों का) साम्यभाव प्राप्त करने का लक्ष्य होता है। बिना समताभाव के श्रमणों की शोभा ही नहीं होती। अतः इन्द्रियदमन, कषायशमन, समतागमन एवं ध्यानलीनता का कोई विकल्प या टेंशन नहीं होता। पढ़ने के लिए, सुनने के लिए एकाग्र होना पड़ता है। इसमें श्रम भी होता है। लेकिन सामायिक में कोई श्रम नहीं होता। वहाँ तो मात्र शान्त होने की कण्डीशन रहती है।

जिज्ञासा–कुछ लोग पूछते हैं–महाराज, सामायिक में बैठकर क्या करना पड़ता है ?

समाधान–कुछ करना नहीं होता, मात्र शान्त बैठना है। इसी के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त होता है। धीरज रखने वाला ही इस प्रक्रिया के द्वारा नर से नारायण बन जाता है। इसलिए आलस का त्याग करके बैठ जाओ। इसमें यदि कोई टेंशन न बना तो वह प्रवाह रूप से ध्यान को प्राप्त कर सकता है। वह ज्ञान आपेक्षित है, जो वीतरागविज्ञान रूप है। वह चारित्र आपेक्षित है, जो वीतरागज्ञान व सम्यग्दर्शन के साथ रहता है, जैसे–पानक।

दृष्टान्त–जिस प्रकार पानक अर्थात् ठण्डाई, किसी एक वस्तु से नहीं बनती। बल्कि बादाम, कालीमिर्च, मिश्री, पानी आदि के मिश्रण से बनती है। उसकी एक-एक बूँद में उक्त सामग्री का अंश

होता है। उसे अलग-अलग नहीं किया जा सकता और उसमें अलग-अलग सामग्री का अनुभव भी नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनों का ऐक्य रूप अभेद रत्नत्रय होता है, यही निश्चयमोक्षमार्ग है। इन तीनों का पृथक्-पृथक् अनुभव नहीं किया जा सकता।

प्रसंग में यहाँ वही सम्यग्ज्ञान आपेक्षित है जो सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से सहित है। भरत चक्रवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो थे, परन्तु उनके पास सम्यक्चारित्र नहीं था। इसलिए मात्र क्षायिक सम्यग्दर्शन की अवस्था में वे उसके द्वारा आस्रव का पूर्ण निरोध नहीं कर पाये। परन्तु जैसे ही उन्होंने रत्नत्रय को अंगीकार किया, क्रमशः आस्रव का निरोध होता गया। अभेदरत्नत्रय द्वारा, क्षपकश्रेणी पर आरोहण किया और शुक्लध्यान द्वारा कर्म नष्ट कर मुक्ति को प्राप्त हुए। आगे बता रहे हैं कि आत्मस्वभाव में स्थिति रूप वीतरागचारित्र से आस्रवों का क्षय होता है। वीतराग सम्यक्त्व और वीतराग चारित्र से सहित जो वीतराग विज्ञान होता है उसी से बन्ध का निरोध होता है। यदि भेदज्ञान रागादि से निवृत्त नहीं है तो वह सम्यग्भेदज्ञान ही नहीं कहलाता।

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यहाँ पर ज्ञान शब्द से उसी ज्ञान को ग्रहण किया है जो कि वैराग्यपूर्ण हो, सांसारिक विषयवासनादि रूप झंझटों से सर्वथा दूर हो और शुद्धात्मस्वभाव में तल्लीन रहने वाला हो अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता को ही सम्यग्ज्ञान शब्द से लिया है जो कि निर्विकल्पसमाधि की अवस्था में होता है एवं इतर आचार्यों ने जो रत्नत्रय को मोक्ष का मार्ग बताया है, इससे पृथक् नहीं है। (आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज)

उत्थानिका—अब वह ज्ञानी आत्मा किस भावना के बल से क्रोधादि आस्रव भावों से निवृत्त होता है सो बताते हैं—

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥७८॥

अन्वयार्थ—(अहमिक्को खलु) मैं निश्चय से एक हूँ **(सुद्धो)** शुद्ध हूँ **(णिम्ममओ)** ममता रहित हूँ **(णाणदंसणसमग्गो)** ज्ञान-दर्शन से पूर्ण हूँ **(तम्हि ठिदो)** ऐसे स्वभाव में स्थित **(तच्चित्तो)** उसी (चैतन्य अनुभव से) मे लीन हुआ **(एदे)** इन **(सव्वे खयं)** सभी क्रोधादिक आस्रवों का क्षय **(णेमि)** करता हूँ।

अर्थ—ज्ञानी समाधिस्थ जीव विचारता है कि मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममता रहित हूँ और ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण हूँ। अतः उसी स्वभाव में स्थित होता हुआ एवं चैतन्य के अनुभव में लीन होता हुआ मैं उन क्रोधादि सब आस्रव भावों का क्षय करता हूँ। (ऐसा सोच वह उन क्रोधादि विकार रूप आर्त्त-रौद्रभावों से अपने आप दूर होकर समाधि में लग जाता है।)

मैं एक शुद्ध नय से दृग बोध स्वामी,
हूँ शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अबद्धनामी।

नीराग भाव करता निज लीन होऊँ,
शुद्धोपयोग बल से विधि-पंक धोऊँ ॥७८॥

व्याख्या—अहं अर्थात् मैं ज्ञायक स्वभाव वाला होने से एक हूँ। कर्त्ता, कर्मादि षट्कारक के विकल्प समूह से रहित होने से शुद्ध हूँ। मोह के उदय से होने वाले क्रोधादि कषायों का स्वामी न होने से मैं निर्मम यानि ममत्व रहित हूँ। सांसारिकता में निर्मम का अर्थ क्रूर से लिया जाता है। लेकिन यहाँ ममत्व या मेरापन नहीं होने से निर्मम कहा गया है। मारवाड़ी भाषा में मेरा-तेरापन को थारी-मारी बोलते हैं। मम इति संकल्पः मूर्च्छा। मूर्च्छा ही परिग्रह है। अतः मेरा-तेरापन छूट जाये। अपने पास मेरा-तेरापन कितना है, यह मनरूपी थर्मामीटर में आ जाता है। यह मेरा-तेरापन पहले ज्ञान के द्वारा छूटेगा, तभी आचरण से छूटेगा। किसी के प्रति भी मेरा कुछ भी लगाव नहीं है, यह निर्ममपना है। प्रत्यक्ष-प्रतिभास-मय विशुद्धज्ञान, दर्शन से परिपूर्ण होने से मैं विशिष्ट दर्शन-ज्ञान गुणों से परिपूर्ण हूँ। इसलिए **तम्हि ठिदो** उपर्युक्त लक्षण युक्त शुद्धात्मस्वरूप में स्थित होता हुआ तथा **तच्चित्तो** अर्थात् उक्त स्वभाव में एकाग्रचित्त रूप तन्मय होकर **सव्वे एदे खयं णेमि** काम-क्रोधादि समस्त आस्त्रवभावों को नष्ट कर रहा हूँ।

दृष्टान्त—जिस प्रकार शोधछात्र ढेर सारी पुस्तकों के बीच रहते हुए भी अपने शोध का विषय जिस पुस्तक में मिलता है उसे एकाग्रचित्त होकर नोट करता जाता है और अपने शोधकार्य में सफलता प्राप्त करता है। उसी प्रकार साधक ज्ञान-दर्शन स्वरूप में हमेशा एकाग्रता से अपने चित्त को लगाता रहता है। उसे सर्वत्र सदा वही स्वभाव दिखता रहता है। उसका यही प्रयास रहता है कि मैं जब भी जहाँ भी देखूँ, बस ज्ञान-दर्शन स्वभाव को देखूँ। इस प्रकार के अभ्यास से वह स्वरूप में स्थित होने रूप कार्य में सफलता प्राप्त करता है। साधक की यही सर्वोच्च साधना है। इसके लिए साधक को दत्तचित्त होकर ज्ञान-दर्शन स्वभाव को जानना आवश्यक है, अन्य वस्तुओं के प्रति निर्मम होना आवश्यक है। क्योंकि निर्ममत्व भाव से ज्ञानपूर्वक जब तक आत्मा की पहचान नहीं होगी तो साधक उसे कहाँ और कैसे ढूँढ़ेगा ? इसलिए जो पुरुषार्थमूलक ज्ञान-दर्शनमय स्वभाव को जानकर उसमें स्थिर होता है वही संसार का क्षयकर सकता है। आत्मस्वभाव के अतिरिक्त अन्य काम-क्रोधादि भावों का प्रवेश ही रोकना आवश्यक है-उन भावों को तो कहना चाहिए कि नो एडमीशन, बिदाउट परमीशन अर्थात् बिना अनुमति प्रवेश निषेध है। ऐसा जब तक नहीं कहेंगे तब तक उनका आना नहीं रुक पायेगा।

मुनियों को संदेश—

सामने वाला हाँ या ना में जबाव चाहता है। जबाव नहीं देना, यह भी ठीक है। क्योंकि ना कहने पर बुरा लग सकता है और हाँ कहने पर अपना बुरा होता है। इसलिए बन्धन करने पर गड़बड़ हो सकता है। अतः यही अच्छा है कि न हाँ कहो और न ना कहो। इसीलिए आगम में अनुभयवचन रखा है। जैसे कि-देखो! क्या होता है? यह कहना बहुत अच्छा है। अथवा मौनं सर्वार्थसाधनं। मौन होकर, ध्यानस्थ

होकर निश्चय में बैठ जायेंगे तो कोई कुछ पूछेगा ही नहीं। कोई अपने पास आयेगा ही नहीं। व्यवहार में अर्थात् प्रवृत्ति में रहने पर कोई कुछ पूछे और ना कहने पर या कुछ नहीं बोलने पर किसी को बुरा लग सकता है। आप लोग मौन रहेंगे तो आपके पास कोई भी नहीं बैठेगा। अतिक्रमण करके कोई आ भी जाये तो उस तरफ देखो ही नहीं। मुस्कराओ भी नहीं। ॡँ ... कहोगे तो वह कह देगा—महाराज, चिन्तन कर रहे हैं, ध्यान कर रहे हैं अथवा सामायिक कर रहे हैं, ऐसा कहकर वापिस चला जायेगा। ऐसा नहीं करेंगे तो कब तक क्या देंगे, बताओ। यहाँ आकर भी कहते हैं कि—हमें कुछ समय चाहिए, समय दे दीजिए। मैं सोचता हूँ—भैय्या! जब घड़ी नहीं है तो क्या समय दें। बंधने से बहुत विकल्प होते हैं। अतः **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने **तच्चित्तो** शब्द का प्रयोग करके यह कहा है कि ''दत्तचित्त हो जाओ'' न राग करो न द्वेष, शान्त चित्त हो जाओ।

जिज्ञासा—ज्ञान क्या वस्तु है ?

समाधान—माइण्ड में बहुत सारी जानकारी हैं उसे आप लोग ज्ञान समझते हैं, लेकिन वस्तुतः वह ज्ञान नहीं है। संसारी प्राणी जिसे ज्ञान समझता है वह पदार्थविज्ञान है। **ज्ञान प्रकाशस्वरूप है, प्रकाशित नहीं।** प्रकाश को प्रकाश के रूप में देखना चाहिए। उसके लिए दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती।

संसारी जीव आँख चाहता है और उसके द्वारा रूपी पदार्थों को देखता है। उसकी दृष्टि में आँख ने रूपी पदार्थों को देखा तो ठीक है अन्यथा नहीं। दुनिया का प्राणी रूपी पर पदार्थों को जानने में ज्ञान का विकास समझता है, जबकि यह ज्ञान की सच्ची पहचान नहीं है। **ज्ञान को ज्ञान के रूप में देखना यदि किसी को इष्ट है तो वह है समयसार का अध्येता। समयसार को बेचने वाले को नहीं। समयसार किसी के द्वारा बेचा नहीं जा सकता। वह तो स्वसंवेद्य तत्त्व है। वह विक्रय योग्य नहीं है। पर रूप नहीं है। किन्तु वह तो ज्योतिस्वरूप है। अतः प्रकाश में नहीं किन्तु प्रकाश को देखो तो भूल ज्ञात हो सकेगी।**

प्रकाश में न
प्रकाश को देखो तो
भूल ज्ञात हो।

अर्थात् सूर्य प्रकाश में देखोगे तो सड़क आदि पर पदार्थ दिखेंगे तथा सूर्य को देखोगे तो कुछ नहीं दिखेगा। मात्र प्रकाश दिखेगा। तात्पर्य यह है कि सूर्यप्रकाश में देखोगे तो दुनिया दिखेगी तथा प्रकाश को देखोगे तो संसार समाप्त हो जायेगा। इसी प्रकार ज्ञान से परपदार्थ को न देखें, किन्तु ज्ञान को ही देखें तो संसार-सन्तति समाप्त हो जायेगी। आज लोगों की दृष्टि में **ज्ञेय का मूल्य है, ज्ञान का नहीं।** या यूँ कहें कि **स्वर्ण का मूल्य ज्यादा है, स्वर्णकार का नहीं।** हमें विचार करना चाहिए कि **ज्ञाता मूल्यवान है या ज्ञेय ? दृष्टा मूल्यवान है या दृश्य ?** यहाँ ज्ञाता-दृष्टा अपने आप में बहुत

महत्त्वपूर्ण है। चूँकि दृश्य से हमारा मूल्य समाप्त हो जाता है अतः जिससे हमारा मूल्य समाप्त होता है उसे मौलिक कैसे कहा जा सकता है ?

इस प्रकार चिन्तन करते हुए आत्मसाधक निर्मम होकर एक शुद्ध चिन्मात्र ज्योति स्वरूप षट्कारक के विकल्प से रहित सहज शुद्धतत्त्व की अनुभूति करने में अभ्यस्त हो जाता है। अध्यात्मग्रन्थों में कारकों में जो सम्बन्धकारक है वह नहीं होता क्योंकि सम्बन्ध कारक में पर पदार्थ का समावेश होता है। जबकि अध्यात्म एक शुद्ध टंकोत्कीर्ण ज्ञायक को स्वीकार करता है। फिर भी अध्यात्म में कहीं-कहीं अभेद षट्कारक विवक्षित होता है। भेदषट्कारकों में जिनका ज्ञान उलझा रहता है वह रागद्वेष से बच नहीं सकता। पर पदार्थों के साथ जो कर्त्ता-क्रिया कर्म का सम्बन्ध है उसे कैसे नियन्त्रित करें ? इस पर विचार करें।

दृष्टान्त—जैसे किसी ने कहा-तुम बहुत थक गये हो, यदि विश्राम करना चाहते हो तो आँख बन्द कर लो। यह वाक्य किसे कहा गया ? कर्त्ता को कहा गया। ''बन्द कर लो'' यह क्रिया पद है, आँख यह कर्म है। आँख बन्द करने वाला कर्त्ता है। आँख देखने का साधन है, सिरदर्द है और नींद लेना चाहते हो तो आँख बन्द करने से आराम मिलेगा। अतः देखना बन्द करो। हाथ-पैर हिलाना बन्द करो। सोचना बन्द करो। वह कहता है-फिर मैं क्या करूँ ? तीनों को बन्द कर दो। वह कहता है-फिर भी नींद नहीं आ रही है। जब तक बोलते रहोगे तब तक नींद नहीं आयेगी। कुछ-कुछ देखते रहोगे तो भी नींद नहीं आयेगी। नींद लाना है और विश्राम करना है तो समस्त इन्द्रियरूपी खिड़कियों को बन्द करना पड़ेगा। पर पदार्थों के प्रति जो कर्त्ता, कर्म, क्रिया का व्यवहार है उससे अपने उपयोग को विश्राम देना पड़ेगा।

सॉयवान लगा लो—

दो-तीन दिन पूर्व मूलाचार के स्वाध्याय के समय कहा था कि-आप किस तरह कर्मों से या सामने वाली वस्तु के प्रति रागद्वेष से अथवा पर वस्तुओं के सम्पर्क से बच सकते हैं ? आप कह सकते हैं कि-आँखें हैं तो क्या करें ? कोई व्यक्ति सामने आकर बैठ जाये तो क्या करें ? क्या उसको देखें नहीं? क्या उससे कुछ बोले नहीं ? आचार्य कहते हैं कि सॉयवान लगा लो अर्थात् दोनों पलकों के बाजू में यूँ कर लो।

दृष्टान्त—जैसे वर्षा होती है तो बाहर चौखट पर सॉयवान अर्थात् लकड़ी आदि लगा देते हैं, जिससे अन्दर वर्षा का पानी नहीं आता और लकड़ी भी सड़ती-गलती नहीं है। वैसे ही जैसे-जैसे व्यक्ति सामने आता जाये तो एंगिल बनाते जाओ, या आँखें बन्द कर लो। फिर तीन लोक का कोई भी पदार्थ हमारे भीतर प्रवेश नहीं कर सकता। जिससे आपको राग हो रहा हो या जिससे भय हो, उसको याद मत करो। भूतकाल की बात याद मत करो, भूत को याद रखोगे तो दिन में भी भूत दिखेगा और भूत को याद नहीं रखोगे तो रात में भी भूत से डर नहीं लगेगा। देखो ! बिना पैसे का आप लोगों को

सॉयवान दे दिया। उपयोग को सॉयवान लगाओ। उपयोग पर सॉयवान लगाने पर कोई भी बाह्य पदार्थ भीतर नहीं आ सकते। यदि आ भी गया तो उसका उपयोग पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। **कभी-कभी किसी चीज को आप मन से भगाना चाहते हो तो वही-वही सामने आता है। यह एक मनोविज्ञान है।** आप जिस दिन किसी से बोलना नहीं चाहते हैं, उस दिन और अधिक भीड़ आ जाती है। तब उनसे कोई अटेचमेंट न रखें, रागद्वेष न करें, जबाव ही न दें। ज्यादा परेशानी होने की संभावना हो तो सॉयवान लगा लें। उनके चले जाने पर सॉयवान को थोड़ा ऊपर उठा दो।

दृष्टान्त—जैसे-कैमरे वाले को जिसने पैसा दिये, वह उन्हीं की फोटो उतारता है। आजू-बाजू वालों की नहीं। उसी प्रकार यदि हम अपने कार्य में सॉयवान लगाकर सावधान रहेंगे तो कोई भी व्यक्ति दो-तीन बार समय माँगेगा। लेकिन जब आप सॉयवान लगाकर रहेंगे, उसकी ओर नहीं देखेंगे तो वह चला जायेगा। इस प्रकार हम अपने उपयोग को पर पदार्थों से डायवर्ट कर सकते हैं। इसका नाम है आत्मपुरुषार्थ। जिनसे हमें कोई मतलब नहीं है तो उनके प्रति रागद्वेष से कैसे बचें ? उनसे बचने का यही एकमात्र तरीका है। नहीं तो, एक मिनट भी जीवन में शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते। तीर्थंकर भी जब मुनि अवस्था में होते हैं तो सॉयवान को नहीं भूलते। वृषभनाथ भगवान् ने एक हजार वर्ष तक सॉयवान का प्रयोग किया। वे किसी से बोले नहीं, किसी की ओर देखा नहीं। किसी ने पड़गाया था या नहीं, श्रावक आये कि नहीं, कोई नमोऽस्तु कर रहा है या नहीं, सबका क्या हुआ ? कोई विकल्प नहीं किया। उनकी दृष्टि में चार हजार मुनि ही नहीं हैं अर्थात् उनको उन मुनियों का कोई विकल्प नहीं था। उन्होंने अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान का प्रयोग नहीं किया। कौन हमारे साथ है ? कौन हमारे बारे में क्या सोच रहा है ? यह नहीं सोचा। हम भी सॉयवान के द्वारा बहुत कुछ सुरक्षित रह सकते हैं। इसके माध्यम से हम कान को, आँख को और अन्य इन्द्रियों को पदार्थ को विषय बनने से एवं उनके प्रति होने वाले रागद्वेषादि परिणामों से बच सकते हैं। अतः सॉयवान को कभी भूलना नहीं चाहिए। **सॉयवान का अर्थ है—जिससे बाहर की बौछार अन्दर न आने पाये।** जैसे कार चल रही है तो वर्षा होने पर काँच धुँधला सा हो जाता है। काँच धुँधला होने पर स्पष्ट दिखाई नहीं देता। अतः दोनों तरफ सॉयवान जैसे बाइपर रहते हैं। जिससे काँच साफ हो जाता है। जो स्कूटर चलाते हैं वे भी टोपी जैसी पहन लेते हैं, जिसे हेलमेट बोलते हैं। वह भी सॉयवान है। सामने का प्रकाश आँखों पर न पड़े, इसलिए कभी उसे ऊपर और कभी नीचे कर लिया जाता है। रात में जब गाड़ियाँ चलती हैं तो सामने की लाइट न आये इसलिए आधा काँच हरा आधा काँच लाल रहता है। वह भी सॉयवान का काम कर देता है। आप यदि सॉयवान का प्रयोग नहीं करते हैं तो दण्ड देना होगा। हम यदि सॉयवान का प्रयोग करने लग जायें तो बाहर का कोई भी पदार्थ, वस्तु या कर्म हमारे उपयोग में आ नहीं सकता।

दृष्टान्त—घोड़ा जब खाता है तो सॉयवान का प्रयोग करता है। खाते समय फुडर-फुडर की आवाज आती है। उसके द्वारा अन्य वस्तुओं को निकालकर खाता है। यह स्वाभिमान है। इसे प्रत्याहार

भी कह सकते हैं।

दृष्टान्त—जैसे कोई चश्मा लगाता है, तो उसमें भी सॉयवान होता है। दूर का आधे में और पास का आधे में नम्बर रहता है। जब जिसका प्रयोग करना होता है तो ऊपर-नीचे के हिसाब से कर लेता है। नहीं है तो चश्मा के ऊपर हरे कपड़े को ऊपर उठाकर देख लेता है। फिर बन्द कर देता है। मतलब हमारे भीतर कोई भी पदार्थ बिना परमीशन के एडमीशन करना चाहे तो सॉयवान के रहते, यह सम्भव ही नहीं है। ऐसा प्रबन्ध बनाए रखो। मोक्षमार्ग में यदि सॉयवान का प्रयोग नहीं करेंगे तो नोकर्म से नहीं बच सकेंगे।

सामायिक का सच्चा स्वरूप—

व्यवहार के समय षट्कारक बनते हैं। सामायिक में तो **मा चिट्ठह मा चिंतह** अथवा **अप्पा अप्पम्मि रओ...** की स्थिति होती है। वहाँ कर्त्ता विश्रान्त हो जाता है। कर्त्ता के विश्रान्त होने पर षट्कारक भी शान्त हो जाते हैं। रागद्वेषादि विकल्प के बिना षट्कारक का प्रयोग नहीं होता। सामायिक में कुछ सोचना भी नहीं। एकदम शान्त। उस समय कोई साधन का प्रयोग भी नहीं करते हैं। साधन ज्ञान है, कर्त्ता आत्मा है, वह ज्ञाता है। ज्ञान अपने आप जान नहीं सकता। जब तक ज्ञाता आत्मा परमीशन नहीं देगा, तब तक नहीं जानेगा। वह ज्ञान शक्ति है जो अपने आप काम नहीं करती। उसे जब काम में ले लेते हैं, तब काम में आती है। यदि शक्ति स्वतन्त्र रूप से काम करने लग जाये तो सभी गुण स्वतन्त्र रूप से काम करने लग जायेंगे।

जिस समय शक्तिमान व्यक्ति शक्तियों का प्रयोग करेगा, उस समय कार्य होगा। नहीं तो नहीं होगा। किसी विचार को दिमाग में हम लाते हैं तभी आता है। कभी सोने के उपरान्त भी आ जाता है। उसे स्वप्न का समझकर याद नहीं करते। स्वप्न की घटना को क्या आप हमेशा याद रखते हैं ? यदि रखते हैं तो यह निश्चित रूप से बीमारी के लक्षण हैं। **फालतू को यदि पालतू बना लेंगे तो फिर सिरदर्द होगा ही।** कई लोग कहते हैं—ऐसे-ऐसे स्वप्न आए, कितनी बार आये, पता ही नहीं। फिर क्यों उसको महत्त्व देते हो? कभी पित्त, कभी कफ, कभी वात का प्रयोग होता है। **वात के प्रकोप के कारण स्वप्न में आकाश में उड़ता सा दिखता है। पित्त का प्रकोप हो तो अग्नि दिखती है। कफ का प्रकोप हो तो पानी में तैरता हुआ दिखता है। ये सभी स्वप्न नहीं हैं, ऐसा नहीं समझना। ये भी तो स्वप्न ही हैं।**

अधिकरण में और कोई सम्बन्ध घटित नहीं होता। जैसे—हाथ है तो यह शरीर का ही तो एक अंग है। अधिकरण से वह पृथक् नहीं रहता है। इसलिए इसमें सम्बन्धकारक का प्रयोग नहीं होता है। अधिकरण में समूचा आता है और सम्बन्ध में उसका पार्ट आ जाता है। लेकिन पार्ट समूचे अधिकरण को छोड़कर तो नहीं रहता। इसलिए पर पदार्थ से सम्बन्ध जोड़ो ही नहीं, क्योंकि सम्बन्ध जुड़ने से उसके साथ स्वामित्व जुड़ जाता है। अतः उपेक्षा संयम भी अपने यहाँ बहुत महत्त्वपूर्ण है।

रागद्वेषयोरप्रणिधानमुपेक्षा अर्थात् रागद्वेष रूप से उपयोग का नहीं जुड़ना, यह है उपेक्षा।

साधक जब स्वभाव की ओर चला जाता है तब रागद्वेष नहीं करता है। जब वस्तु को वस्तु के रूप में अथवा स्वभाव के रूप में देखता है तो उसका उपेक्षा संयम बहुत अच्छे से पल सकता है। उसमें थोड़ी सी भी प्रतिकूलता हो तो रागद्वेष होने लगता है। यदि स्वामित्व है तो उपेक्षा को धारण नहीं कर सकते हैं।

जिज्ञासा—ध्यान और उपेक्षा संयम में क्या अन्तर है ?

समाधान—ध्यान में उपेक्षा के उपरान्त एकाग्रता की ओर मुख्यता होती है। उपेक्षासंयम वह है जहाँ दृश्य और दृष्टा दोनों का मेल हो जाने पर भी रागद्वेष नहीं होता। प्रतिकार और स्वीकार नहीं करना। यहाँ मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध रहता है। यह ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध होने पर उपेक्षासंयम घण्टों तक चल सकता है। इसमें परिश्रम नहीं करना पड़ता। रागद्वेष करने में तो कथंचित् बहुत ऊर्जा विनष्ट हो जाती है, किन्तु इस कार्य में तो कुछ भी खर्च नहीं होता है। जैसे-ढलान होने पर अपने आप स्पीड बनती है। लेकिन पेट्रोल कम खर्च होता है।

दृष्टान्त—जैसे गाड़ी उतार में होती है तो ब्रेक बस लगाते हैं। उस समय गाड़ी चलने में पेट्रोल खर्च नहीं होता। ब्रेक लगाना आवश्यक होता है। वैसे ही उपेक्षा संयम में पेट्रोल खर्च नहीं होता है। ढलान होने पर अपने आप स्पीड बनती है। लेकिन पेट्रोल खर्च नहीं होता। उसी प्रकार की स्थिति उपेक्षासंयम के साथ आत्मा की होती है। हम अपने ज्ञान और दर्शन को रागद्वेष से बचाकर उपयोग का विषय बना लेते हैं। उस समय ज्ञान का प्रयोग नहीं होने से और रागद्वेष नहीं होने से ज्ञान की शक्ति रूपी पेट्रोल खर्च नहीं होता। जहाँ भी आप ज्ञान का प्रयोग करते हैं, रागद्वेष करते हैं, तो वहाँ निश्चित रूप से ज्ञान की ऊर्जा खत्म होती है। इसलिए आचार्य कहते हैं-**आपके पास यदि वीतरागता है तो मन लगाने की आवश्यकता नहीं वह तो अपने आप ही लगा हुआ है। 'मन लगाओ' ऐसा कहने से ऊर्जा का प्रयोग करना पड़ता है। तनाव बढ़ जाता है। 'जानो' ऐसा कहने पर मनोबल का प्रयोग करते हैं तो ऊर्जा समाप्त होती है।** मनोबल आदि तीनों प्राण हैं, इनको भी खर्च न करो। तीनों बल प्राणों का खर्च नहीं करना ही उपेक्षासंयम है। उपेक्षासंयम होने पर रागद्वेष अपने आप ही नहीं होते। रागद्वेष को तो करेंगे तभी होंगे। जीरो बॉट का बल्ब भले ही हो लेकिन करंट का आप प्रयोग करेंगे, बल्ब जलायेंगे तो करंट तो जलेगा ही। तात्पर्य यह है कि उपेक्षा संयम द्वारा हम बहुत कुछ लाभ ले सकते हैं, इसमें कुछ खर्च भी नहीं होता।

णाणदंसणसमग्गो संसार प्राणी स्मृति करते समय अतीत में और आकांक्षा के समय अनागत में पहुँच जाता है। इस अतीत अनागत की गोद में जाने पर ऊर्जा का खर्च ही खर्च होता है। वर्तमान खो जाता है। मुझे वही पदार्थ मिले जो पहले मिला था, यह सोचते ही उपयोग भविष्य की गोद में चला जाता है। हमारा ज्ञान अतीत-अनागत को छोड़ देता है तो फिर रुको... ऐसा कहने की

आवश्यकता ही नहीं होती, वह रुक ही जाता है। यदि नहीं भी रुकता है तो मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध बना रहता है। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के साथ प्रवाह बना रहे तो फिर ध्यान लगाने की आवश्यकता नहीं होती। मात्र सावधानी की आवश्यकता होती है। **ये मेरा नहीं है, ये मेरा नहीं है, इस प्रकार आपको चिन्तवन करना चाहिए।** यदि आपको कुछ भी नहीं आता है तो भी **समयसार** के पेज पलटते जाओ कि **समयसार** में कितनी गाथाएँ हैं ? जैसे-४३९ गाथाएँ हैं, यह संख्या याद रखो। एक, दो, तीन आदि संख्या गिनना, उसमें उपयोग की एकाग्रता होने से उतने समय रागद्वेष से बचना यह भी स्वाध्याय है। **समयसार** की अनुप्रेक्षा में और क्या आता है ? मात्र रागद्वेष से बचने का उद्देश्य होना चाहिए। याद बस रखो कि यह ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है। पंचपरमेष्ठी में किसके पास कितने मूलगुण हैं ? यदि संख्या याद है और नाम याद नहीं है तो भी इनके इतने-इतने मूलगुण होते हैं, उनको मेरा नमस्कार हो, इस प्रकार भी यदि सोचता है तो यह भी अनुप्रेक्षा का एक तरीका है। सामायिक में आखिर और होता क्या है ? इतना भी नहीं होता हो तो रागद्वेष नहीं करते हुए मात्र शान्ति से बैठ जाओ। रागद्वेष नहीं करना। बस। यह भी धर्मध्यान है। जिसका मन चंचल है और णमोकारमन्त्र याद होने से तथा रुटीन में आने से मन नहीं लग रहा है तो उन्हें पश्चातानुपूर्वी, यत्र-तत्रानुपूर्वी से बोलने को कहा जाता है और जिसका मन रुका हुआ है उसे कुछ करने की आवश्यकता नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि **यदि किसी का मन चंचल है तो उस मन रूपी मर्कट को श्रुतस्कन्ध रूपी वृक्ष पर बिठा दो जिससे उसकी उछल-कूद बन्द हो जायेगी। जिसका मन शान्त रहता है, उछल-कूद नहीं करता, वह होशियार बन्दर माना जाता है। फिर भी वह डाल पर बैठकर मन के द्वारा उछल-कूद करता है। जबकि मन की उछल-कूद भी शान्त होना चाहिए। इसी प्रकार ज्ञानी श्रुतस्कन्ध पर बैठकर अपने मन मर्कट को शान्त करते हैं।**

श्रुतस्कन्ध पर बैठने पर भी जिनका मन अपनी आत्मा में तल्लीन नहीं है वे द्रव्यश्रुतकेवली हैं। जिनको द्रव्यश्रुत का ज्ञान है वे द्रव्यश्रुतकेवली तो हैं किन्तु भावश्रुतकेवली नहीं हैं। जो शान्त बैठता है वह ज्ञानी, ऐसा मानते हैं। **समयसार** में द्रव्यश्रुतकेवली को ज्ञानी नहीं कहा है, किन्तु जो स्वसंवेदन में लीन हैं ऐसे भाव श्रुतकेवली को ज्ञानी कहा है। इस प्रकार ज्ञाता-दृष्टापन ही मेरा गुण है और कुछ नहीं। उसी में तन्मय होना है, शान्ति से बैठना है। शान्ति से कब बैठते हैं ? जब आत्मतृप्ति का अनुभव होता है तब। जब तृप्ति नहीं होती तो शान्ति का अनुभव नहीं होता है। उसी प्रकार जब उपेक्षासंयम में रहते हैं तभी तृप्ति का, शान्ति का अनुभव करते हैं। आप लोगों ने देवों के बारे में सुना होगा कि ऊपर-ऊपर के देवों में **गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीना:** अर्थात् देवों में गति, शरीर, परिग्रह, अभिमान आदि कम-कम होते हैं। जैसे कि-यहाँ भी लौकिक शिक्षा में ऊपर-ऊपर भी क्लास में जाते हैं तो कोर्स का विषय कम-कम होता जाता है तथा विषय सूक्ष्म होता जाता है। आयुर्वेद में भी इसी ढंग से होता है।

दृष्टान्त—जैसे, पहले रोगी को चूर्ण देते हैं, फाँकी के रूप में। उसका असर कम रहता है। फिर अग्नि संस्कारित करके काढ़ा देते हैं। यह अधिक असरकारी होता है। उसके उपरान्त क्वाथ देते हैं अर्थात् दो किलो का दो कप हो जाए उतना उबाल कर देते हैं। यह रोग और जल्दी ठीक कर देता है। विकार जल्दी निकाल देता है। लेकिन जैसे–**परं परं सूक्ष्मं** अर्थात् आगे-आगे के शरीर सूक्ष्म होते हैं और उनमें प्रदेश अधिक-अधिक होते हैं। उसी प्रकार चूर्ण की अपेक्षा काढ़ा मात्रा में कम होता है, लेकिन अधिक गुणकारी होता है। जड़ से विकार को निकाल देता है। विद्यार्थी का ज्ञान जैसे-जैसे विकास को प्राप्त होता है, वैसे-वैसे वह सूक्ष्म-सूक्ष्म विषय को जानता है।

जिज्ञासा—बार-बार आकर पूछते हैं कि निर्जरा के साधन क्या-क्या हैं, बतलाइये ?

समाधान—आचार्य कहते हैं कि अपहृतसंयम और उपेक्षासंयम को अपनाओ। इनमें से जो भी संयम धारण करेंगे उसी के अनुसार उनमें गुण पाये जायेंगे और उसी के अनुसार निर्जरा होगी।

औदारिक से वैक्रियिकशरीर सूक्ष्म है। लेकिन उससे भी आगे-आगे के शरीर सूक्ष्म-सूक्ष्म हैं। इनमें प्रदेशों की संख्या क्रमशः असंख्यातगुणे हैं और तैजस तथा कार्मणशरीर के प्रदेश अनन्तगुणे हैं। क्रमशः आगे-आगे के शरीर के प्रदेश सशक्त माने जाते हैं। जिनका **अनादिसम्बन्धे च** अनादि से सम्बन्ध है और इनको आज तक हटा नहीं पाये हैं। वे मुनिराज कैसे उपेक्षासंयम लेकर बैठ जाते थे जंगलों में। जिन्होंने आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में दीक्षा ले ली, जिनकी आयु पूर्वकोटि वर्ष की है। दीक्षा लेकर बैठ गये भयानक जंगलों में। आवश्यक हुआ तो शरीर को पेट्रोल दे दिया फिर पता नहीं कहाँ हैं ? कोई एड्रेस नहीं, ड्रेस नहीं। पूर्वकोटि वर्ष तक मौन रहने वाले महाराज भी होंगे। वे कभी बोर नहीं होते हैं। धन्य हैं वे मुनिराज और उनकी साधना! ये क्या है ? सही आनन्द तो इसी में है। संसार का भ्रमणचक्र तो इसी से छूटने वाला है। ऐसा श्रद्धान करने वाले वे मुनिराज जंगलों में अरति परीषह को सहन करते रहते हैं तथा जहाँ का रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श ठीक नहीं, लोगों का आवागमन भी ठीक नहीं, पंचेन्द्रिय के विषयों से विपरीत वातावरण है, उसमें भी रागद्वेष नहीं करते हैं, यह है अरतिपरीषह को जीतना। इस परीषह को वे शान्ति से सहन करते हैं।

इस प्रकार अज्ञानी के लिए दो गाथा तथा ज्ञानी के लिए चार गाथाओं में यह प्रसंग चल रहा है। कल टीका पूर्ण हो गई थी। कभी-कभी विषय को स्पष्ट करने के लिए अध्यात्म में भी टीकाकारों द्वारा टीका में न्याय, कारण-कार्यव्यवस्था, व्याप्ति इत्यादि का आधार लेकर कथन किया जाता है। इसी प्रकार यहाँ प्रासंगिक विषय को स्पष्ट करने के लिए व्याप्ति व युक्ति का आधार लिया गया है। जिसे तात्पर्यकार ने उत्थानिका में स्पष्ट किया है कि जिस समय स्वसंवेदन ज्ञान होता है उस समय रागद्वेष की निवृत्ति होती है। स्व-संवेदनज्ञान, ज्ञान के रूप में नहीं, किन्तु अनुभूति के रूप में होता है। वह श्रद्धान के रूप में नहीं, किन्तु भेदविज्ञान के रूप में होता है। जिस समय स्वसंवेदन श्रद्धान और ज्ञान हो जाता है उस समय और क्या होता है ? यहाँ यह प्रासंगिक है। शब्द की एक सीमा होती है।

'सम्यग्दर्शन' कहने पर **तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं** कह देते हैं, जबकि आत्मानुभूति रूप सम्यग्दर्शन एवं निर्विकल्प समाधि के साथ होने वाला वीतराग सम्यग्दर्शन भी कहा गया है। यहाँ यह देखना आवश्यक है कि तीनों सम्यग्दर्शन में से यहाँ कौन-सा सम्यग्दर्शन आपेक्षित है ? कई व्यक्तियों की धारणा भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, लेकिन आचार्यों की धारणायें प्रासंगिक अर्थों को लेकर ही हुआ करती हैं। स्वसंवेदन के समय रागद्वेष की निवृत्ति होती है। रागद्वेष चलते समय वीतरागसम्यग्दर्शन होता है, ऐसा नहीं होता, क्योंकि रागद्वेष के लिए जो उपयोग होता है उसके साथ स्वसंवेदन नहीं होता है। यह पहले ही कहकर आये हैं कि जो भावश्रुतकेवली होता है वह संवेदनज्ञान प्राप्त कर लेता है, लेकिन द्रव्यश्रुतकेवली स्वसंवेदनज्ञान को छोड़कर विश्व की तमाम वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

प्रकाश प्रकाशित करता है। प्रकाश पदार्थ को प्रकाशित करता है, लेकिन उसी पदार्थ को प्रकाशित करता है जिस पदार्थ की ओर प्रकाश रहता है। अन्धकार में कोई पदार्थ है यदि आप उसे टार्च के माध्यम से ढूँढना चाहते हैं तो उस ओर टार्च का मुख करना आवश्यक होता है, तभी दिखता है। लेकिन टार्च नहीं दिखेगी। यह हो गया द्रव्यश्रुतकेवलित्व। टार्च का मुख अपनी ओर कर लेना यह है भावश्रुतकेवलित्व। टॉर्च का मुख अपनी ओर करने से परपदार्थ नहीं दिखता। मतलब पर को देखने के लिए ये आँखें हैं स्व को देखने के लिए नहीं। आँखों पर जो चश्मा है वह भी पर को देखने में सहयोगी है। सारा का सारा आविष्कार पर के लिए है। अपने उपयोग को अन्तर्मुखी करने का नाम अध्यात्म है। **आत्मानं अधिवसति इति अध्यात्मं** अर्थात् आत्मा के निकट रहने का नाम अध्यात्म है। तात्पर्य यह है कि बहिर्मुखी दृष्टि का विमोचन ही अध्यात्म है। इसलिए आचार्यों ने कहा है कि- **बहिर्मुखी ज्ञान के द्वारा बाहर का ही ज्ञान, बाहर का ही प्रकाश एवं बाहर का ही परिचय मिलेगा, उसके द्वारा तृप्त होना चाहते हो तो हो जाओ। संसारी प्राणी आज तक इसी में तृप्त होता रहा है।** जैसे-जैसे बाह्य पदार्थ या सामग्री का विकास होता जाता है वैसे-वैसे रागद्वेष का भी विकास होता जाता है। संसारी प्राणी विश्व के तमाम पदार्थों का परिचय प्राप्त करना चाहता है। लेकिन उसके माध्यम से स्वसंवेदन ज्ञान नहीं हो सकता। स्वसंवेदन ज्ञान तो अन्तर्मुखी होने पर ही होता है। यदि यह नहीं होगा तो आत्मसंतोष तो होता ही है। संतोष होने पर रागद्वेष कम हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की मन के द्वारा ज्ञेय की ओर ही दृष्टि रहती है। जबकि ज्ञाता वही है जो ज्ञान की ओर मुड़ जाये।

प्रकाश में देखना सबको आता है, परन्तु प्रकाश को देखना सबको नहीं आता। सूर्य के प्रकाश में सभी वस्तुएँ दिख जाती हैं। लेकिन सूर्य को देखने पर वे सभी वस्तुएँ गौण हो जाती है। जब १२ बजे का विकसित सूर्य होता है तब देख लो, सारे पदार्थ गौण हो जायेंगे। नेत्र उस ज्योति को नहीं देख पाता, आँखें चौंध जाती हैं। १२ बजे के सूर्य को ज्यादा देर तक नहीं देख सकते। क्योंकि पूर्ण सूर्य की ज्योति को ये आँखें कहाँ झेल सकती हैं ? उसी प्रकार पूर्ण सूर्य अर्थात् केवलज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश को मति-श्रुतज्ञानी नहीं झेल सकते। स्वसंवेदन ज्ञान के लिए रागद्वेष की निवृत्ति

आवश्यक है। आज समाज में स्वाध्याय में जो विप्लव जैसा हो रहा है उसका एक मात्र कारण है कि श्रद्धान को व सम्यग्ज्ञान को स्वसंवेदन ज्ञान मान कर बैठे हैं। यहाँ तक कि वे लोग चार ज्ञान को भी केवलज्ञान के समान मानते हैं। **तत्प्रमाणे** अर्थात् पाँचों ज्ञान प्रामाणिक हैं। सम्यक् ज्ञान हैं, यह तो ठीक है, लेकिन पाँचों सदृश हैं, यह तो नहीं कह सकते हैं। सामान्य प्रमाण का विषय चलता है तो सामान्य से ही कथन करना चाहिए। सामान्य कथन में संख्या भेद नहीं होता। संख्या में भेद आया कि विशेष के कथन का प्रसंग समझना चाहिए। प्रमाण के दो भेद हैं–प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्षप्रमाण के भी दो भेद हैं–सकल और विकल। ज्ञान के सभी भेद श्रद्धा के विषय तो हो सकते हैं, लेकिन सबको समान कह देना यह बहुत बड़ी भूल है। इस भूल को भूल जाना चाहिए। आचार्यों ने समय-समय पर किस ढंग से इन गाथाओं की व्याख्या की है और हमारे सामने विषय रखा है, उसे देखो-विचार करो।

उत्थानिका–आगे दिखलाते हैं कि जिस समय स्वसंवेदनज्ञान होता है उसी समय रागादि आस्रव भावों का अभाव हो जाता है एवं इन दोनों में समकालपना है। ज्ञानी आस्रवों से निवृत्त कैसे होता है ? इसे निम्न गाथा से स्पष्ट किया जा रहा है–

जीवणिबद्धा एदे अधुवा अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफलाणि य णादूण णिवत्तदे तेहिं ॥७९॥

अन्वयार्थ– **(एदे जीवणिबद्धा)** ये (आस्रव) जीव के साथ निबद्ध हैं **(अधुवा)** अध्रुव हैं **(तहा)** और **(अणिच्चा)** अनित्य हैं **(असरणा य)** और अशरण हैं **(दुक्खा)** दुःख रूप हैं **(दुक्खफलाणि य)** जिनका फल दुःख ही है **(णादूण)** ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष **(तेहिं)** उनसे **(णिवत्तदे)** निवृत्ति करता है।

अर्थ–जीव के साथ लगे हुए ये क्रोधादि आस्रव भाव अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःखरूप हैं और जिनका फल दुःखरूप ही है, ज्ञानी जब ऐसा जान लेता है तब उसी समय उनसे दूर हो जाता है।

क्रोधादि कर्म मम आतम में बंधे हैं,
ना हैं शरण्य ध्रुव वे मुझसे जुदे हैं।
हैं दुःख, दुःख फलदायक जान ऐसा,
हैं छोड़ते मुनि इन्हें धर नग्न भेषा ॥७९॥

व्याख्या–जीव में होने वाले रागद्वेषादि परिणाम रूप जो उपयोग है वह भावबन्ध है। इनके द्वारा जो कर्म-नोकर्म बन्ध को प्राप्त हुए हैं वे सभी अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, सुख रूप नहीं हैं अर्थात् दुःख रूप हैं और जिनका फल भी दुःखरूप ही है, ऐसा जानकर ज्ञानी उनसे विराम या निवृत्ति ले लेता है। 'विरति' अपने आपमें महत्त्वपूर्ण किन्तु अपरिचित है तथा 'अविरति' यह परिचित है। प्रश्न उठता है कि कौन किसके पास जाये ? विरत, अविरत के पास जाए या अविरत, विरत के पास जाये ? आहार

के समय विरत, अविरत के पास चले जाते हैं। अन्य समय में नहीं। विरत की भूमिका में ही स्वसंवेदन घटित होता है, अविरत की दशा में नहीं। ऐसे तो स्वसंवेदन ज्ञान अविरत और विरत सभी को होता है, लेकिन अविरत के पास जो स्वसंवेदन ज्ञान होता है वह रागादि भावों से घुला-मिला होता है। इसलिए वह अज्ञान ही है। **जितना राग कम होता है उतना-उतना ज्ञान है। राग की कमी में राग के अभाव जैसा स्वसंवेदन ज्ञान नहीं होता। राग की कमी वाला भी स्वसंवेदन की ओर है, उसके निकट पहुँचने को है, लेकिन अभी हासिल नहीं हुआ। उस ओर जाना और उसको प्राप्त करना दोनों में बहुत अन्तर है।** कोई कहता है—महाराज, राग की कमी से भी निकटता तो प्राप्त हो जाती है। ठीक है। जैसे—तट पर बैठने वाला निकट तो है, लेकिन पानी पीने से जो प्यास बुझती है वैसी तट पर बैठे हुए व्यक्ति की प्यास नहीं बुझ सकती। वह तो पानी पीने पर ही बुझती है। याद रखना कषाय करने वाला व्यक्ति कभी सुखी नहीं रहता है, वह भीतर से पीड़ित रहता है। चाहे क्रोधादि चारों कषायों में से कोई भी कषाय हो। कोई भी कषाय जीव को सुखी नहीं कर सकती। **हिंसयति कष्यति इति कषाय:** जो व्यक्ति कषाय करके सुखी होना चाहता है, अथवा सुख का अनुभव करना चाहता है, उसकी यह धारणा गलत है। मान करके सुख मान लेता है, यह सब भ्रान्ति है। **परेऽप्रवीचारः** इस सूत्र में प्रवीचार क्या है ? इस विषय में कहा है कि—**वेदनाप्रतिकारः प्रवीचारः** अर्थात् वेदना का प्रतिकार ही प्रवीचार है। दुःख का जो प्रतिकार है वह सुख नहीं है, लेकिन लोकरूढ़ि के अनुसार उसे सुख मान लेते हैं। स्वदारसंतोषव्रत में आचार्यों ने कुशील-सुशील ऐसे भेद नहीं किए हैं। स्वदारसंतोष को आप स्वसन्तोष मान लें यह बात अलग है, क्योंकि अनन्त के साथ सम्बन्ध न होकर एक में ही सन्तोष को प्राप्त हुआ है। सोलहवें स्वर्ग से ऊपर प्रवीचार नहीं है। वहाँ किसी भी प्रकार के प्रतिकार की आवश्यकता नहीं होती। प्रतिकार जितना कम करना पड़े उतना उसको सुख होगा, इसलिए **परेऽप्रवीचारः** कहा है। जो जितने बार भोजन करता है वह उतना सुखी है, यह धारणा गलत है। बल्कि यह कहो कि जो जितनी बार भोजन करता है उसकी वेदना उतनी ही ज्यादा होती है।

देखो, एक व्यक्ति वह है जो धरती पर जन्म लेकर दो बार रोटी कभी प्राप्त नहीं कर पाया तथा परिश्रम करते-करते यूँ ही चला गया। फिर भी कोई कष्ट नहीं हुआ। लेकिन हम दो बार भोजन करते हैं, चार बार नाश्ता करते हैं। इसी में समय चला जाता है। इसके अलावा दूसरे कार्यों के लिए समय ही नहीं है। दिन भर चूल्हा जलता है और कहते हैं कि रामराज्य चल रहा है। जिसको जितनी भूख की वेदना होगी उसको उतना ही कष्ट होगा। उत्तमभोगभूमि में हर्र बराबर आहार, तीन दिन के अन्तराल से होता है। मध्यम भोगभूमि में बहेड़ा बराबर दो दिन के अन्तराल से होता है। जघन्य भोगभूमि में आँवला बराबर एक दिन छोड़कर एक दिन भोजन होता है। लेकिन कर्मभूमि में तो प्रतिदिन कई बार भोजन होता ही रहता है। यह दुःख रूप है, वेदना का प्रतिकार मात्र है। दुःख का फल है।

जिज्ञासा—संसारी प्राणी को किसमें आनन्द आता है ?

समाधान—संसार में कुछ लोगों को पैसा देखने से ही सुख होता है। तो बैंक में जाकर बैठ जाओ। वहाँ पैसा ही पैसा देखने को मिलेगा। किसी को पैसों में, किसी को भवन में, किसी को परिवारजन में, किसी को वस्त्राभूषण में आनन्द आ रहा है। यह मान्यता के ऊपर आधारित है। इनमें जो आनन्द की मान्यता है वह उसकी भिन्न-भिन्न प्रकार की आकुलता पर आधारित है। मानलो कोई करोड़पति है और उसके इर्द-गिर्द कोई अरबपति है तो वह सुखी होने के स्थान दु:खी हो जाता है। उसे अब नींद नहीं आती। क्योंकि वह अरबपति बनना चाहता है। तात्पर्य यह है कि यदि करोड़पतित्व में आनन्द होता तो उसे आना चाहिए था। लेकिन मान्यता में आनन्द है अत: जब तक वह अरबपति नहीं बन जायेगा तब तक उसे आनन्द नहीं आयेगा।

अपने ज्ञान के माध्यम से पर पदार्थ के साथ सम्बन्ध रख करके सुख मानने की और सुख का संवेदन करने वाले की मान्यता गलत है। अपने ज्ञान के माध्यम से अपने आप से सम्बन्ध रखना सुख है, सुख का कारण है। यह नित्य है, ध्रुव है, शरणभूत है। बाकी जितने भी सुख हैं वे अनात्मभूत हैं या यूँ कहो कि वे भूत के समान हैं। रागद्वेष से निवृत्ति लेने वाला साधक सच्चा साधक माना जाता है। यदि रागद्वेष के साथ सम्बन्ध जुड़ता चला जायेगा तो साधना बिखर जायेगी, बल्कि यूँ कहना चाहिए कि उसकी साधना समाप्त हो गई क्योंकि बहिर्वृत्ति हो गई।

प्रकाश में नहीं, किन्तु प्रकाश को देखो—

प्रकाश महत्त्वपूर्ण नहीं, प्रकाश को देखना महत्त्वपूर्ण है। प्रकाश के द्वारा काम लेना महत्त्वपूर्ण नहीं, प्रकाश को देखना जानना महत्त्वपूर्ण है। इसलिए कुछ लोग सूर्यनारायण की आरती दोपहर में नहीं किन्तु सुबह या शाम को करते हैं। **आचार्य समन्तभद्र स्वामी, वासुपूज्य भगवान्** से पूछ रहे हैं कि **दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः** अर्थात् हे भगवन् ! मेरे पास दीपक है, आप सूर्य हैं। क्या दीपक के द्वारा सूर्य की पूजा नहीं होती है ? मैं तो आपकी सुबह, शाम, मध्याह्न कभी भी पूजा कर सकता हूँ। इस सूर्य को लोग दोपहर में नहीं देख सकते। उसको देखने से आँखें तमतमा जाती हैं। कुछ नहीं दिखता है। क्षणमात्र के लिए गोल-गोल दिखता है। मध्याह्न का सूर्य आँखों पर प्रभाव डालता है। सूर्य की प्रखर किरणें सीधी आँखों पर पड़ती हैं, जो सहन नहीं होती। केवलज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश ऐसा ही है। इसमें पूर्ण शान्ति रहती है, यह सूर्य आँखों से देखने में नहीं आता। भले ही केवलज्ञान आँखों से देखने में नहीं आता किन्तु केवलज्ञानी को तो देख सकते हैं। उनकी कभी भी पूजा-अर्चना कर सकते हैं। केवलज्ञान में रागद्वेष, मेरा-तेरा, छोटा-बड़ा आदि कुछ भी नहीं होता।

आसमान इतना अधिक विस्तृत है, उसमें जब सूर्य को देखेंगे तो पूरा आसमान झगझगा उठेगा। उस समय प्रयोग नहीं कर पाते। स्वात्मज्ञान भी ऐसा ही है। आत्मा के साथ जो रागादिक भाव हैं वे औपाधिक हैं, विकार रूप हैं, कलंक हैं, विकृत अर्थात् विपरीत रूप से किये गये हैं, इसलिए विकार रूप हैं। परद्रव्य के साथ सम्बन्ध रखने से आत्मा में जो स्वभावभूत होना चाहिए, वह न होकर विपरीत

हो गए हैं। इसलिए **स्वभावादन्यथा भवनं इति विभावः** ऐसा कहा है। अर्थात् स्वभाव से जो अन्यथा हो जाता है वह विभाव है, विकार है। यह विकार औपाधिक है जो कभी भी हमारी समाधि के कारण नहीं हो सकते हैं। **आधि, व्याधि और उपाधि इन तीनों से पृथक् है समाधि।** वे आधि, व्याधि, उपाधि कभी भी जीव के स्वरूप नहीं हो सकते। स्फटिक का उदाहरण दे दिया था... याद कर लो।

दृष्टान्त—जैसे दो इंच लम्बा-चौड़ा एक पाव वजन वाला सफेद रंग का स्फटिकमणि का टुकड़ा है। अब उसके सामने एक लाल फूल रख दिया तो स्फटिक पूरा का पूरा लाल हो गया। लेकिन उसके आकार, वजन, घनत्व आदि में कोई परिवर्तन नहीं। केवल सफेद से लाल हो गया। इसका नाम विकार है, विभाव है। सफेदपने का अभाव नहीं हुआ है, किन्तु स्वभाव अन्यथा हो गया है। यह किसने किया? फूल ने किया है, तो फूल का अभाव होना चाहिए, क्योंकि उसमें फूल घुसेगा तभी तो उसे लाल करेगा। दूसरी बात उसका वजन भी बढ़ना चाहिए लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। उसमें एक भी प्रदेश घटा-बढ़ा नहीं। फूल उसमें घुसा नहीं, किन्तु फूल के बिना भी स्फटिक लाल हुआ नहीं। फूल अपने स्थान पर है, स्फटिक अपने स्थान पर है, फिर भी निमित्त-नैमित्तिक कार्य हो गया। वजन वही, साईज भी वही इधर का उधर कुछ भी नहीं हुआ, फिर गड़बड़ी क्या हुई ? उसका विपरीत परिणमन हो गया। कोई पूछता है कि स्फटिक में ललाई एक कोने में आयी है क्या? नहीं, वह ललाई सर्वत्र पूर्णतः आयी है, फिर भी वेट नहीं बढ़ा। अब या तो फूल को हटा दो या स्फटिकमणि को हटा दो। वह स्फटिक अपनी पूर्व अवस्था में आ जायेगा। सफेद हो जायेगा। इसी प्रकार बाह्य पदार्थों से रागद्वेषादि करके हम रंग जाते हैं। बाह्य पदार्थ कारण हैं, लेकिन रागद्वेष रूप परिणमन हमारा स्वयं का है। यह परिणमन ऊपर-ऊपर नहीं है। द्रव्य का पूरा का पूरा परिणमन होता है। तथा पर्याय द्रव्य के किसी एक कोने में उत्पन्न नहीं होती, किन्तु द्रव्य का समूचा परिणमन होता है। **यः परिणमति स कर्त्ता तस्य भावः परिणामः पर्यायः कथ्यते।** द्रव्य स्वयं परिणमन करता है, पर्याय कभी परिणमन नहीं करती। किन्तु द्रव्य का जो परिणमन है वही पर्याय है। पर्यायद्रव्य नहीं है और गुण भी नहीं है। किन्तु गुण और द्रव्य का परिणमन पर्याय है, जो द्रव्य और गुण को छोड़कर नहीं रहती। **आप परीक्षा देते हैं, परीक्षा कभी परीक्षा नहीं देती। आप उत्तीर्ण और अनुत्तीर्ण होते हैं। परीक्षा कभी उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण नहीं होती। तद्भावः परिणाम।** कहा है। अर्थात् द्रव्य और गुणों का भाव यानि परिणाम को पर्याय कहा जाता है।

स्फटिकमणि के समान यहाँ कहा जा रहा है कि दूसरे द्रव्यों के संयोग से एवं मोहनीयकर्म के संयोग के कारण आत्मा में रागद्वेषादि परिणाम होते हैं। पहले इसको हटाने की बात नहीं करना। किन्तु पहले इसको समझो कि ये रागद्वेष परिणाम कहाँ हो रहे हैं और क्यों हो रहे हैं ? आचार्य कहते हैं कि-जब हमारा उपयोग बाह्य पदार्थों की ओर चला जाता है तो मोहनीयकर्म के उदय से वह रागी-द्वेषी हो

जाता है। वह पदार्थ कभी हमारे भीतर घुसता नहीं है। **ज्ञेय कभी आपको नहीं पहचानते किन्तु ज्ञेय की पहचान आपको होती है, क्योंकि आप चेतन हैं, ज्ञेय अचेतन हैं।** दूसरे के द्वारा आपमें कोई पर्याय आरोपित नहीं की जा सकती है। ध्यान दीजिए, रागद्वेष रूप आपका स्वयं का परिणमन है और आरोप अन्य पर रखते हो तथा स्वयं को ज्ञानी समझते हो। पर को आरोप देना, यह भूलभुलैया है।

यहाँ आकर लोग पूछते हैं कि हम सामायिक कैसे करें ? कल कहा था कि सॉयवान लगा लो। सावधान हो जाओ। आप अपनी दृष्टि को समूह के ऊपर क्यों टिका रहे हैं ? आप सामायिक करेंगे तो वह भी सामायिक करेगा। ऐसा नहीं। किन्तु वह तो आपको अकेला बैठा हुआ देखकर आया है। जनसमूह के आने पर जब आप सॉयवान लगाओगे तभी सामायिक हो सकेगी। स्फटिक को छोड़कर यदि फूल की ओर उपयोग न जाये तो रागद्वेष संभव ही नहीं है। हम चलाकर रागद्वेष करना चाहते हैं। फलतः दूसरों पर आरोप लगा देते हैं और स्वयं को ज्ञानी समझते हैं।

जिज्ञासा—जहाँ पर सिद्ध परमेष्ठी हैं वहीं मनोवर्गणा, भाषावर्गणा, कार्मणवर्गणा आदि सभी का अस्तित्व है। अनन्त निगोदिया जीव भी उनके चारों ओर हैं। सिद्धों के आत्मप्रदेशों पर अनन्तनिगोदिया जीव बैठे हैं, वे दुःख का अनुभव कर रहे हैं, जबकि सिद्ध परमेष्ठी अनन्तसुख का अनुभव कर रहे हैं, ऐसा क्यों ?

समाधान—सुख और दुःख रूप स्वचतुष्टय स्वयं अपने आधार पर है। हम अपने उपादान को पुरुषार्थ मूलक सुरक्षित रख सकते हैं, निमित्त को नहीं। हम अपने उपादान से ही सुख का या दुःख का अनुभव कर सकते हैं। अतः अपने उपादान को जागृत रखना आवश्यक है। उसी के लिए सॉयवान की आवश्यकता होती है। यदि बाहर बहुत गर्मी, तपन या लू है और हमें बाहर जाना है तो हरा चश्मा लगा लेते हैं। इससे चारों ओर हरी दिखने लग जाती है। आप आँखें बन्द कर लोगे तो कुछ भी नहीं दिखेगा। कान बन्द कर लोगे तो सुनाई नहीं देगा। इन्द्रियों की खिड़कियों को बन्द कर लो तो फिर कोई विषय कैसे घुसेगा ? वह कहता है कि मन तो है महाराज ! मन कोई वस्तु नहीं है। वह तो क्षायोपशमिक दशा का नाम है। जिसके द्वारा आत्मा की गवेषणा होती है। उसको फालतू क्यों समझते हो ? मन को गवेषणा में लगा दो। मन के ऊपर ही सॉयवान लगाना है, आत्मा के ऊपर नहीं।

किसी भी परिस्थिति में आत्मा का एक प्रदेश भी घटता-बढ़ता नहीं है। गुण वही के वही रहते हैं। साईज भी वही है। इसलिए द्रव्य त्रैकालिक शुद्ध है। लेकिन त्रैकालिक शुद्ध है, इसका मतलब यह नहीं कि उसका परिणमन भी शुद्ध है। जब परिणमन शुद्ध नहीं है तो उस समय उसके द्रव्य, गुण भी शुद्ध नहीं हैं। सारा का सारा गड़बड़ चल रहा है। लेकिन जब आत्मा की अनुभूति में बैठ जाता है तो बाहर होली जलती रहे तो भी भीतर दीवाली चलती रहती है। दीवाली अपने घर में मनाई जा सकती है। क्योंकि बाहर तो इर्द-गिर्द कोई न कोई आपदा चलती ही रहेगी, उससे कैसे बचेंगे ? समूह में रहते हैं तो ऐसा ही चलता रहेगा। इससे बचने का एक ही तरीका है कि... सॉयवान लगाओ।

एकान्त से फूल ने स्फटिक को लाल बनाया हो, ऐसा नहीं, किन्तु पहले स्फटिकमणि के पास लाल रूप परिणमन करने की योग्यता को स्वीकार करो। उसी प्रकार रागद्वेष मोह के कारण आस्रव होता है, यह तो निमित्त कारण हैं, लेकिन हम चाहें तो करें, नहीं तो नहीं करें। यही एक आत्मपुरुषार्थ है। कर्म का उदय औदयिकभाव है। जो विद्युत्प्रवाहवत् क्षणिक है, ध्रुव नहीं है, इतना ख्याल रखना। क्या आपने हमेशा एक ही अनुपात से दुःख का अनुभव किया है ? नहीं। तभी तो बहुत दुःख है, बहुत दुःख है, ऐसा कहते हैं। मतलब इसके पहले ज्यादा दुःख नहीं था। आप होश-हवास के साथ ही बोल रहे हैं। होश-हवास के साथ ज्यादा दुःख की अनुभूति नहीं होती। महाराज ! आपकी कृपा से बच गए। अर्थात् अभी ज्यादा दुःख नहीं है, लेकिन स्मरण करने से भी दुःख होता है। दुःख कई प्रकार के होते हैं। आकुलता का नाम दुःख है। एक साता की आकुलता, एक असाता की आकुलता। आकुलता के अलावा कुछ है ही नहीं। आकुलता से तो बच नहीं सकते।

आकुलता शिवमाँहि न तातै...। जहाँ पर साता व असाता की आकुलता नहीं होती, उसका नाम स्वास्थ्य है। ये साता, असाता आदि सारे के सारे अध्रुव हैं, क्षणिक हैं, इनको औदयिकभाव के रूप में स्वीकार करो तो अपने आप सब ठीक हो जायेगा। ये क्रोधादि भाव कर्म के उदय से होते हैं, नैमित्तिक हैं, ये स्वभाव नहीं हैं। मैं इसका कर्ता नहीं हूँ। प्रत्येक समय निषेक झड़ रहे हैं। उनमें दूसरा अनुभाग, स्थिति, प्रकृति आदि बहुत सी चेंजिंग होती रहती है। लेकिन उस ओर हम लोग देख नहीं पा रहे हैं। स्वसंवेदन करने वाला इससे भी गहराई में चला जाता है।

दृष्टान्त—जैसे, समझ लो। सरोवर में बहुत लहरें चल रही हैं। उसमें एक गोताखोर व्यक्ति नीचे डुबकी लगाकर तल में पहुँच गया है। उसे रुपया तथा मणि आदि स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। लेकिन जो बाहर खड़ा है उसे चमकीला-चमकीला जैसा कुछ दिख रहा है, स्पष्ट नहीं दिख रहा है। हमारी आँखों में लहरें (पर्याय) आने से वह रुपया अर्थात् द्रव्य स्पष्ट नजर में नहीं आ रहा है। हालाँकि पूरा सरोवर स्पन्दित है, लेकिन भीतर हमारा प्रवेश नहीं हो पा रहा है। भीतर घुस नहीं पा रहे हैं। अतः हमें वह प्रकाशित नहीं हो पा रहा है। जब नीचे-नीचे चले जाते हैं अर्थात् भीतर-भीतर चले जाते हैं तो भीतर में द्रव्यदृष्टि होने से अर्थात् द्रव्य दिखने से ऊपर का स्पन्दन नजर नहीं आता है। इसलिए आचार्य भगवन्त कहते हैं कि **आप रागद्वेष की ओर मत देखो, किन्तु ज्ञान के प्रवाह की ओर देखो। ज्ञान के प्रवाह को देखने से समूचा अखण्ड संवेदन नजर आ जायेगा यही एक आत्मपुरुषार्थ माना जाता है।**

शीत और उष्ण का प्रकोप होने से दो प्रकार के ज्वर होते हैं, वे धीरे-धीरे उत्पन्न होते हैं और मिटते हैं। इसलिए अध्रुव हैं, स्थिर नहीं होते, इसलिए नश्वर माने जाते हैं। लेकिन शुद्ध जीव तो चैतन्यमय होने से अविनश्वर माना जाता है। **अध्यात्मकलश** में २० कारिकाओं के उत्तरार्ध में वही का वही लिखा मिलता है कि–**निश्चयनयेन वीतरागी व्यवहारनयेन तु रागी किन्तु खलु चिच्चिदेव।** नयों

को गौण करके सामान्य कथन में **खलु चिच्चिदेव** कहा है। **आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी** ने कर्त्ताकर्माधिकार में २० कारिकाओं द्वारा चित्स्वरूप तत्त्व का कथन करते हुए एक कारिका लिखी है–

एकस्य रक्तो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७२॥

अर्थात् जीव रागी है ऐसा एक नय का पक्ष है और वह रागी नहीं है, ऐसा दूसरे नय का पक्ष है, इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एकमात्र ज्ञानधारा, संवेदन की धारा रहती है। वह नित्य होती है। छद्मस्थ अवस्था हो या सर्वज्ञ अवस्था हो, सिद्ध अवस्था हो या संसार अवस्था हो सभी अवस्थाओं में पक्षपात रहित एकमात्र यही त्रैकालिक पारिणामिक भाव कहा है। एक स्थान पर तो कहा है कि क्षायिकभाव की ओर भी दृष्टिपात मत करो, क्योंकि वह कर्मों के क्षय से होता है। इसलिए स्वाभाविक नहीं है। अतः ज्ञानधारा जो त्रैकालिक रहती है, परम पारिणामिक भाव जो हमेशा-हमेशा रहता है इसलिए वही शुद्ध जीव का प्रतीक बन जाता है।

रागद्वेषादि भाव अध्रुव हैं, अशरणभूत हैं। देखो, किसी को कोई पीड़ा हो जाती है, तो संसारी प्राणी पर की शरण में, कषाय की शरण में जाता है। लेकिन अपने स्वभाव की शरण में, आत्मा की शरण में क्यों नहीं जाता है ? निष्कषाय रूप आत्मा का स्वभाव है उसकी शरण में नहीं जाता है, जो कि त्रैकालिक है, अपने पास ही है। **यह रागद्वेष परिणाम मेरा नहीं है या ये परिणाम मुझमें नहीं हैं, इसका यदि थोड़ा-बहुत भी पुरुषार्थ नहीं करते हैं तो कितने भी आप शास्त्र सुन लो, सुना दो, पढ़ लो लेकिन यदि प्रयोग नहीं करते हैं तो शान्ति का रास्ता प्रशस्त नहीं हो सकता है।** स्वभाव का पुरुषार्थ तो ८ वर्ष अन्तर्मुहूर्त वाला बालक भी कर लेता है। तात्पर्य यह कि स्वभाव का प्रयोग करने से ही शान्ति का रास्ता प्रशस्त हो जाता है फिर अपने आप हो जाता है।

दृष्टान्त—जैसे मान लो, कोई व्यक्ति बाबड़ी या कुएँ में पैर फिसलने से गिर गया। गिरने से वह घबड़ा गया तो अपने दोनों हाथ-पैरों को चलाने लगा। फड़फड़ाने लगा। घबराहट के कारण या धोखे से हाथ-पैर चलाने से तैरकर दीवाल को पकड़कर उसके सहारे बाहर आ गया। धीरे-धीरे अभ्यस्त हो जाता है। फिर बिना हाथ-पैर चलाए भी उसे विश्वास हो जाता है कि मैं डूब नहीं सकता। वह केवल प्राणवायु को अपने पेट में अच्छे ढंग से सुरक्षित रखकर श्वास लेता रहता है, अतः डूबता नहीं है। यदि पानी पी लेता है या हवा छोड़ देता है तो डूब जाता है। डूबने का भय था, उससे भी तैरना सीख गया। उसी प्रकार मैं शुद्ध-बुद्ध हूँ, ये रागद्वेष मेरे स्वभाव नहीं हैं, इस प्रकार शान्ति के साथ सोचने से जो आत्मा की शरण में चला जाता है तो रागद्वेषादि से बच जाता है। संसार रूपी बाबड़ी से तैरकर बाहर आ जाता है।

क्रोधादिक वैभाविक परिणाम आकुलता उत्पन्न करने वाले हैं। भय को ज्ञान के माध्यम से जानता है और क्रोध को भी ज्ञान के माध्यम से ही करता है। बिल्ली उन्हीं पंजों से अपने बच्चे को उठाती है और चूहा दिख जाए तो उसे उसी पंजे से दबोच लेती है। आज तक किसी ने अपने ऊपर क्रोध नहीं किया। आप भी अपने ज्ञान के माध्यम से पर के ऊपर क्रोधादि करना नहीं छोड़ते, करते ही रहते हैं। यह कौन सा प्रशिक्षण है? स्वयं में जो क्रोध हो रहा है, वह तो दिखता नहीं है और पर चतुष्टय जो निमित्त रूप में है उस पर क्रोध करता है।

दृष्टान्त—जैसे, मान लो, किसी ने कोई अच्छी पेंट-शर्ट आदि खरीद ली तो उसे कभी दीवाल को दिखाता है क्या ? नहीं। क्यों नहीं दिखाते ? दर्पण में देखते हैं। दर्पण में क्यों देखते हो ? मैं दूसरों को कैसा लग रहा हूँ ? यह देखने के लिए दर्पण में देखते हैं। नई पेंटशर्ट को यदि कोई पूछता नहीं है तो फिर देखो उसका कोई महत्त्व नहीं रह जाता और यदि कोई प्रशंसा कर दे कि यह पेंटशर्ट सूट तो हमने अमेरिका में भी नहीं देखा। तब तो उसका खरीदना सार्थक हो गया, अन्यथा नहीं। क्योंकि बड़े-बड़े व्यक्तियों ने पूछ लिया तो जो पैसा खर्च किया, मानो उनके पूछने से वसूल हो गया, ऐसा समझता है। मान दूसरों को लेकर के क्यों होता है ? अपने आपके ऊपर मान करोगे तो प्रमाण बन जाओगे। भगवान् कभी दूसरों को नहीं देखते, इसलिए प्रमाण हैं। हम दूसरों को देखते हैं, इसलिए हमारा मान हमेशा बना रहता है। मान शब्द से ही प्र उपसर्ग लगाने से प्रमाण बनता है। अर्थात् प्र उपसर्ग पूर्वक मान भगवान् का मान प्रमाण है। संसारी प्राणी मान कषाय सहित है और भगवान् निष्कषाय हैं।

आत्मवैभव से बढ़कर दुनिया में कोई वैभव नहीं है, यह केवली भगवान् को देखने से ज्ञात होता है। यदि बाहर वैभव होता तो वे बाहर चले जाते, लेकिन नहीं गए। वे अपने आपमें संतुष्ट हैं। अपने आपमें संतुष्ट होना या आत्मसंतुष्टि होना यह प्रामाणित करता है कि वस्तुतः बाहर में कोई पदार्थ ऐसा है ही नहीं जो आत्मसंतुष्टि प्रदान कर सके। इस दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि सिद्ध परमेष्ठी भी हमारे लिए कार्यकारी नहीं हैं, क्योंकि सुख जो मिलेगा वह मुझे मेरे भीतर ही मिलेगा। इसलिए उनसे भी महत्त्वपूर्ण मेरा अपना चतुष्टय है। यह जब सन्तोष हो जाता है, ज्ञान हो जाता है, प्रामाणिक हो जाता है तो दूसरे पदार्थों को देखकर साधक को सुख या सन्तोष नजर नहीं आता। सुख का अस्तित्व यदि है तो मात्र एक शुद्ध जीव में है। ऐसा बार-बार सोचने से हमें एकत्व की ओर जाने का मार्ग मिलता है। इस प्रकार का भेदविज्ञान हो जाता है तो उसी समय वह मिथ्यात्व, रागद्वेषादि वैभाविक भावों से पृथक् हो जाता है।

दृष्टान्त—जैसे, मेघपटल से आच्छादित सूर्य जब बाहर आ जाता है तो विश्व को प्रकाशित कर देता है। उसी प्रकार कर्मपटल से आच्छादित आत्मा रूपी आदित्य (सूर्य) बाहर आ जाता है अर्थात् जब कर्म पटल हट जाता है तो भेदविज्ञान के द्वारा शरीर और आत्मा के प्रति एकत्वबुद्धि पृथक्-पृथक् होकर आत्मा प्रकाशित हो जाता है। इसी का नाम भेदविज्ञान है। मतलब यह सिद्ध होता है कि मात्र

शास्त्र पढ़ने से भेदविज्ञान नहीं होता। शास्त्रज्ञान हो गया तो भेदविज्ञान भी हो गया, यह मानना भूल मानी जाती है। किन्तु रागद्वेष नहीं करते हुए आत्मज्ञान से संयुक्त अपने आपको भेदविज्ञानी मानना सही है। रागद्वेष करते चले जायें, दूसरों पर बरसते चले जायें अर्थात् क्रोधादि करते चले जायें और कहें कि हम श्रद्धा की अपेक्षा शुद्ध हैं। तो ऐसी श्रद्धा की अपेक्षा बहुत से व्यक्ति शुद्ध हो जायेंगे। संवेदन तो संवेदन माना जाता है। मात्र श्रद्धा से संवेदन नहीं होता।

दृष्टान्त—किसी को यह श्रद्धान कराया गया कि तुम्हारे घर में उस कोने में धन है। उसने श्रद्धान कर लिया कि हाँ, मेरे घर में धन है। तो क्या विश्वास मात्र से उसे धन की प्राप्ति हो जायेगी ? नहीं। जब तक खोदेगा नहीं तब तक धन प्राप्त नहीं हो सकता। उसे वहाँ २०-२० फीट खोदना पड़ेगा। खोदने के लिए शक्ति का प्रयोग करना पड़ेगा। जब खोदेगे तब मिलेगा। धन के मिलने पर प्रसन्नता का संवेदन होगा। उसी प्रकार आत्मतत्त्व का श्रद्धान होने के पश्चात् रागद्वेषादि भावों से हटकर आत्मोपलब्धि या आत्मसंवेदन का पुरुषार्थ करना होगा, तभी आत्मसंवेदन की उपलब्धि हो सकेगी, अन्यथा नहीं। इस प्रकार श्रद्धान और संवेदन में, विश्वास और उपलब्धि में बहुत अन्तर है। इसका दूसरा उदाहरण भी समझ लीजिए।

दृष्टान्त—जैसे, किसी ने किसी व्यक्ति से कहा—कि तुम सेठ बनना चाहते हो तो तुम्हें इसी डिपार्टमेंट में रहना पड़ेगा। वह पूछता है—मैं सेठ कब बनूँगा ? तो उसे यह कहना पड़ता है कि पहले रहो तो फिर बाद में बनोगे। वह पुनः पूछता है कि—कब तक रहेंगे ? तो उसे एक समय सीमा बताई जाती है। तब फिर वह कार्य करने लग जाता है। फलतः एक दिन सेठ भी बन जाता है। उसी प्रकार संसारी प्राणी को आत्मा की बात या स्वभाव की बात बताओ तो वह कहता है कि—आत्मा की बात कब तक करें ? लेकिन विभाव भाव अनादि से करता आ रहा है उसके बारे में नहीं पूछता कि यह और कब तक करें ? आचार्य कहते हैं कि आत्मा का श्रद्धान, आत्मा का प्रभाव अथवा स्वभाव का प्रभाव जितना अधिक बढ़ेगा, उतनी ही जल्दी अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में भी काम हो सकेगा।

जीव और अजीव, दो ही द्रव्य परिणामी हैं। जीव जो है वह अजीव (पुद्‌गल) के निमित्त से रागादि भाव करने से बन्ध को प्राप्त होता है। बन्धपूर्वक ही मोक्ष होता है। जैसे—कोई व्यक्ति बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर लेता है तो कहता है कि आज मैं हल्का हो गया। तो भार क्या था ? अज्ञान से हमने सांसारिक बन्धन को सुख समझा था, उसे भोगा था। ज्ञान होने पर उसे छोड़ दिया तो हल्का हो गया। आप लोग श्रावक हैं, तो बताओ—आप लोग गृहस्थी को बुद्धिपूर्वक स्वीकार करते हैं कि नहीं ? बुद्धिपूर्वक पाणिग्रहण करते हैं कि नहीं ? यहाँ तक कि दोनों बुद्धिपूर्वक संकल्प लेते हैं कि मन, वचन, काय से दोनों एक-दूसरे के सुख-दुःख में सहभागी अर्थात् भागीदार रहेंगे और इधर उनके माता-पिता कहते हैं कि—हम हल्के हो गये। भार उतर गया। अब यात्रा, सन्त-समागम आदि निश्चिन्तता से कर सकते हैं। किन्तु लड़का कहता है कि हम पाँच मिनट को भी बाहर जा नहीं सकते। क्योंकि बन्धन में

बंध गया। उस पर भार आ गया। उत्तरदायित्व आ गया। जबकि माता-पिता के उत्तरदायित्व का थोड़ा-सा भी भार कम हो जाता है तो अपने आपको हल्का महसूस करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यह जीव अज्ञान के द्वारा अपने को बाँध लेता है और ज्ञान होने पर बन्धन को छोड़ने की कोशिश में लग जाता है। अज्ञानी आस्रव-बन्ध करने वाला और ज्ञानी संवर-निर्जरा करने वाला होता है। ज्ञानी मुक्त होने पर पूर्णतः भार रहित हो जाता है।

एकान्त से जीव अजीवद्रव्य परिणामी ही हैं या अपरिणामी ही हैं, ऐसा नहीं है। किन्तु कथंचित् जीव परिणामी है, कथंचित् अपरिणामी है। यदि आप रागद्वेष नहीं छोड़ते हैं तो आप उस अपेक्षा से परिणामी बने हुए हैं। उसका फल भी आपको मिलेगा।

घर में शान्ति कैसे ?—

जिज्ञासा—लोग कहते हैं महाराज, घर में शान्ति नहीं है, कुछ उपाय बता दो ?

समाधान—मैं तो उनसे यही कहना चाहूँगा कि सर्वप्रथम यह बताओ कि अशान्ति क्यों है ? उसका कारण क्या है ? इसे देखो और खोजो ! क्योंकि जब तक अशान्ति है, अशान्ति के कारण हैं तो शान्ति कैसे आ सकती है ? और शान्ति के कारण हैं तो अशान्ति कैसे आ सकती है ? आप अपने माइण्ड में, मन में, अशान्ति के कारणों को भरते चले जाओगे तो शान्ति आ कैसे सकती है ? सब कुछ फेंक दो। जहाँ पर अशान्ति है उस स्थान को छोड़ दो। तो आप लोग कहते हैं कि जो-जो बसाया है, उसे कैसे छोड़ दें ? आचार्य कहते हैं कि रागद्वेषादि ही अशान्ति के कारण है। यदि आपको शान्ति प्राप्त करना है तो उन्हें छोड़ना ही पड़ेगा। रागद्वेष छोड़ने पर अपने आप शान्ति प्राप्त हो जायेगी। नहीं छोड़ोगे तो उसका फल जो अशान्ति है वह आपको मिलेगी ही, मिलेगी। रागद्वेष भी करते जाओ और शान्ति भी पा जाओ, ऐसा हो नहीं सकता।

यहाँ यह कहा जा रहा है कि शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा में जीव रागद्वेषादि से रहित है, फिर भी व्यवहारनय से जीव कर्मों के उदय में रागादि उपाधि को ग्रहण करता है। आचार्य कहते हैं कि-इस व्यवहार को छोड़ो। निश्चय अपने पास ही है, ऐसा समझकर यदि आप व्यवहार को नहीं छोड़ोगे तो निश्चय को पैदा नहीं कर सकोगे। व्यवहार को छोड़े बिना निश्चय की उत्पत्ति संभव नहीं है। व्यवहार को छोड़ो, इसका अर्थ यह है कि रागद्वेष के स्वामी, कर्त्ता, भोक्ता के रूप में जो व्यवहार है, उसे छोड़ दो। इसी का नाम निश्चय है। निश्चय में जीव अकेला है, उसके पास बाहर का कुछ भी नहीं रहता। किसी के साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं रहता है। ऐसा सुनकर संसारी प्राणी कहता है कि महाराज, फिर तो हम सोच लेते हैं, पूछ लेते हैं, क्योंकि ऐसा निश्चय हमें अच्छा नहीं लगता। हमें तो यह व्यवहार ही ठीक है। इसमें एक दूसरे की पूछताछ करना, सहानुभूति लेना-देना आदि होता है। इसमें जो सुख होता है वह निश्चय में तो है ही नहीं। इससे तो समाज की संरचना बिगड़ जाती है। अव्यवस्था हो जाती है। जबकि आचार्य कहते हैं कि निश्चय को नहीं समझने के कारण व्यवस्था बिगड़ जाती है और

व्यवहार को इतना अधिक अपना लिया जाता है कि दूसरे का भी अपने ऊपर थोप लिया जाता है तो घर में अशान्ति हो जाती है। अतः अशान्ति के कारणों को बाहर निकाल दिया जाये तो अपने आप शान्ति हो जायेगी।

दृष्टान्त—शान्ति प्राप्ति के लिए बाहुबली और भरत के बीच में युद्ध करवाने का निर्णय लिया गया था। वहाँ के प्रत्येक व्यक्ति का व्यवहार ठीक था अतः उनको कहा गया कि तुम दोनों ही निपटा लो। पहले भी ऐसा चलता था। आज तो वोटिंग होने के उपरान्त भी गड़बड़ हो जाती है। दोनों में युद्ध हो गये। सभी युद्धों में बाहुबली जी जीत गये थे। फिर भी भरत ने उन पर चक्र चला दिया। अन्त में दोनों में से एक घर से बाहर निकल गए, वैराग्य को प्राप्त हो गये तो अपने आप शान्ति हो गई। अब वे ढूँढ़ रहे हैं कि भैया बाहुबली कहाँ हैं ? यह क्या है ? देखो, व्यवहार से कर्मों के उदय में जीव के रागद्वेषादि होते हैं। कर्मों के उदय में ये रागादि मेरे नहीं हैं, यह ज्ञान नहीं रहता। लेकिन जब आत्मपुरुषार्थ जागता है और यह समझ में आ जाता है कि जब ये मेरे नहीं हैं तो मैं इनको क्यों करता हूँ ? फलतः अनावश्यक का परिहार हो जाता है। इससे तुरन्त ही सब वातावरण शान्त हो जाता है। देखो, झगड़ा सौ-सौ वर्षों तक चलते हैं। लेकिन राजीनामा एक सेकेण्ड में हो जाता है। राजीनामा कब होता है ? जब आप यह सोचते हैं कि मैं इसका स्वामी नहीं हूँ, मैं इसका कर्त्ता नहीं हूँ, भोक्ता नहीं हूँ। ये मेरे अन्दर नहीं हैं, ये केवल रिफलेक्शन हैं। केवल एक्शन है। बस, इतना समझ लिया, निश्चय हो गया। यह व्यवहार में आ जाये तब राजीनामा होता है। अन्यथा शताब्दी बीत जायें तो भी राजीनामा सम्भव नहीं है और इसके बिना शान्ति होना सम्भव नहीं है। आज तक एक व्यक्ति में कभी लड़ाई नहीं हुई है। या तो समीचीन व्यवहार रह जाये या निश्चय रह जाये। व्यवहार को सम्यक् व्यवहार के रूप में माना जाये, रागद्वेष न करें। आत्मपुरुषार्थ रागद्वेष छोड़ने के लिए ही किया जाता है। यह थोड़ासा दिमाग में आ जाये तो बहुत जल्दी ठीक हो जायेगा।

अब आगे जो एकान्त से जीव को अपरिणामी या परिणामी मानते हैं उनके लिए दूषण दिया जाता है। जैसे कि स्फटिकमणि का उदाहरण दिया था कि शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा स्फटिकमणि में वेट, आकार आदि ज्यों का त्यों रहा। यह उसका अपरिणामीपना है और जो लालिमा आयी वह विभाव है। मणि में रागादि परिणामों के कारण लालिमा आयी है। फूल की लालिमा कारण बनी। इसलिए स्फटिकमणि लालिमा युक्त हो गई, यह उसका परिणामीपना है। इसी प्रकार तीव्र मोहकर्म के उदय में जीव रागी-द्वेषी मोही होता है, यह जीव का परिणामीपना है। क्रोध कषाय कर्म स्वयं क्रोधी नहीं होता है। किसी भी ग्रन्थकार ने क्रोध को क्रोधी नहीं कहा। **धनं यस्य अस्ति इति धनी, गुणाः यस्मिन् वर्तन्ते इति गुणी** कहा है। गुण कभी गुणी नहीं होता। धन कभी धनी नहीं होता। किन्तु जिसमें ज्ञान है वही ज्ञानी है। जिसके पास धन है वही धनी है। इसी प्रकार जो क्रोध करता है वह क्रोधी है। क्रोधी कैसे हो गए ? क्रोध तो आता है, चला जाता है, लेकिन तुम तो अपने को क्रोधी मानकर बैठ गये।

हार-जीत तो होती है, लेकिन ऐसे मानी बनकर बैठना, ठीक नहीं है। मान आया चला गया। क्रोध आया चला गया। लेकिन अपने को क्रोधी, मानी, मायावी, मानकर बैठना, आत्मा का काम नहीं है। क्रोध को कभी क्रोधी नहीं कहा। जड़ को कभी प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता। क्योंकि जड़ को कभी क्रोधी, मानी आदि नहीं कहा जाता। जीव क्रोधी, मानी आदि होता है अतः उसे ही प्रायश्चित्त दिया जाता है।

दृष्टान्त—जैसे शराब की बोतल को आज तक किसी ने शराबी नहीं कहा। जबकि बोतल में शराब भरी रहती है। बोतल कभी नाचती नहीं, लेकिन शराब का नाम लेते ही व्यक्ति नाचने लगता है। वस्तुतः वस्तु उस रूप में नहीं है, लेकिन व्यक्ति उस वस्तु का उपयोग कर जाता है तो शराबी कहा जाता है। उसी प्रकार जीव क्रोधादि करता है, क्रोधादि कषाय रूपी शराब को पी जाता है तो क्रोधी, मानी आदि कहा जाता है। उसका नशा चढ़ जाता है। यह नशा कैसे उतारा जाये ? तो दो-तीन घण्टे सो जाओ तो नशा अपने आप उतर जाता है। ऐसा है क्या ? नहीं। जितने भी सिद्ध परमेष्ठी बने हैं उन्होंने रागादि के नशे को उतारा है। तभी नशारहित बने हैं, अब उन्हें कभी नशा नहीं चढ़ेगा।

संसारी प्राणी अनन्तकाल से क्रोध, मान, विषय-कषाय आदि को करता आया है। जब उसे ज्ञात होता है कि इनके द्वारा दुर्दशा हो रही है तो छोड़ देता है। जो क्रोधादि को पूर्णरूपेण छोड़ देते हैं वे सिद्धालय में पहुँच जाते हैं। किसी से कुछ कहते नहीं और चले जाते हैं। हमें भी यह ज्ञात हो गया कि हमें भी यही करना है। जबरदस्ती थोड़े ही है। इस बात का आत्मा के ऊपर प्रभाव पड़ता है, जड़ के ऊपर नहीं। इसीलिए तो इसे जड़ कहते हैं। **क्रोध के उदय में क्रोध नहीं करना यह संयम है। तथा क्रोधादि करना संयम का अभाव है।** लोभ के उदय में हम अपना पुरुषार्थ करते हैं तो संयम क्या है ? इसका अनुभव कर सकते हैं। उपशान्त अवस्था बाद में होती है, उपशमन का कार्य श्रेणी में पहले होता है। आठ से दसवें गुणस्थान तक श्रेणी होती है। ग्यारहवें गुणस्थान में उपशमन क्रिया समाप्त हो जाती है। श्रेणी में जिन प्रकृतियों का उपशमन करता है, उन्हें ग्यारहवें गुणस्थान से गिरने पर उखाड़ता चला जाता है। जिन प्रकृतियों का पहले उपशमन किया था वे बाद में उदय में आती हैं और जिनका बाद में उपशम किया था वे पहले उदय में आती हैं।

दृष्टान्त—जैसे आप किसी चीज पर पर्त्त पर पर्त्त डालते हैं, बाद में जब उन्हें हटाते हैं तो पहले वाली पर्त्त बाद में उखड़ती है और अन्तिम पर्त्त पहले उखड़ती है। इस क्रम को जब हम समझ लेते हैं तो अपने आपको सुरक्षित रखने का साधन उपलब्ध कर सकते हैं। इसमें यदि हम सावधान नहीं रहते हैं तो सारा का सारा कर्म का प्रभाव हमारे ऊपर पड़ जाता है। परिणमन आत्मा का आत्मा में हो रहा है लेकिन कर्म के उदय में हो रहा है। जो एकान्त से द्रव्य को अपरिणामी मानते हैं उन्हें मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि उपशमन किसमें होगा ? जब आत्मा को अपरिणामी मानेंगे तो उपशम रूप परिणमन कैसे हो सकेगा ?

उपशमन दो प्रकार का होता है–१. द्रव्य उपशमन, २. भाव उपशमन। भाव उपशमन के माध्यम से द्रव्यों में उपशमन होता चला जाता है। करण यानि परिणाम। परिणामों का प्रभाव पड़ता है। यदि परिणाम क्षायिक के योग्य होते हैं तो क्षय होगा तथा उपशमन के योग्य होते हैं तो कर्मों का उपशम होगा। क्षयोपशम के योग्य होने पर क्षयोपशम होगा। यदि एकान्त से जीव अपरिणामी होगा तो वह कभी भी परिणमन नहीं कर सकेगा। आत्मा रागादि परिणाम को कर लेता है तो भी वह अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है अर्थात् पुनः अपने स्वरूप की ओर आने की क्षमता/शक्ति को नहीं छोड़ता है।

दृष्टान्त–जैसे, एक भगोनी में बिल्कुल ठण्डा पानी है। पानी को गरम कर दिया। पानी को अग्नि के माध्यम से गरम करने के बाद भी उसमें पुनः ठण्डे होने की क्षमता रहती है। भगोनी नीचे उतार कर रखने पर या अग्नि अलग कर देने पर एकाध घण्टे के बाद वह पानी पूर्वस्थिति में आ जाता है। **स्वरूपं न त्यजति** का अर्थ है अपनी योग्यता का उल्लंघन नहीं कर सकता। लेकिन पानी गरम ही नहीं हुआ है, अग्नि अग्नि में है, पानी पानी में है, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष अनुभूतिपरक उदाहरण है। इसी प्रकार जीव, जीव में है। क्रोध क्रोध में है। हम क्रोधी नहीं हुए, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पूरी सभा देख रही है। आपकी आँखें लाल हो रही हैं। तो वह कहता है कि आपको चश्मे में दिख रहा होगा। अज्ञानी को ही क्रोधादि दिखते हैं। इसका मतलब अरहन्त सिद्ध परमेष्ठी की दृष्टि में सभी जीव स्वरूपनिष्ठ हो जायेंगे, लेकिन आचार्यों ने ऐसा नहीं कहा। **संसारिणो मुक्ताश्च** कहा है। अर्थात् क्रोधादि से सहित जीव संसारी है और क्रोधादि से रहित मुक्त है।

मिथ्यादृष्टि यह कर्म का नाम नहीं है, किन्तु मिथ्यात्व कर्म के उदय में जो गुणस्थान होता है उस गुणस्थान में रहने वाले जीव का नाम है। उसी प्रकार क्रोध के उदय में क्रोधी जीव कहा जाता है। क्रोध भी एक कर्म है, इस कर्म के उदय में यदि क्रोध को करते रहेंगे तो क्रोधी कहलायेंगे। इस बात को जब तक स्वीकारेंगे नहीं तब तक मोक्षमार्ग में हम कदम भी नहीं उठा सकते हैं। एकान्त से यदि आप कहेंगे कि जल गरम हुआ तो फिर पी लो, लेकिन अभी वह पीने लायक नहीं है। यदि कोई ऐसा कह दे कि अभी जल को पीने की योग्यता नहीं है तो यह प्रश्न उठता है कि वह योग्यता स्वभावनिष्ठ है या विभावनिष्ठ ? अभी पानी पीने की काललब्धि नहीं आयी है, इसलिए नहीं पी रहे हैं। यह बात आप ईमानदारी के साथ कह रहे हैं क्या ? बताओ। जब पानी ठण्डा होगा तब पीने की योग्यता आयेगी तो आपकी यह योग्यता ठण्डे पानी के ऊपर आधारित हो गई। यह तो महानिमित्ताधीन दृष्टि हो गई। निमित्त के ऊपर ही आपका जीवन खड़ा हो गया, समझे। वास्तव में तो व्यक्ति के पास उस समय पानी पीने की योग्यता है लेकिन वह गरम पानी पीना नहीं चाहता है। इसलिए पानी नहीं पी रहा है। पानी ठण्डा होने की प्रतीक्षा कर रहा है। जैसे कोई पूछता है कि स्टेशन पर क्यों रुके हैं ? तो एक घण्टे यहाँ हमारे पास रुकने की योग्यता है, ऐसा कहता है। लेकिन ऐसा नहीं कह रहा है कि हम रेल की प्रतीक्षा कर रहे हैं। यह कहना नहीं चाह रहा है, यह विरोधाभास है। मान लो समय पर गाड़ी नहीं आती

है, तो कहता है कि उसकी तो यही योग्यता थी, इसलिए बारह घण्टे लेट आयी है। ऐसा कहने से तो सारा व्यवहार चरमरा जायेगा।

निमित्त और उपादान इन दोनों के एक दूसरे के ऊपर आधारित ही परिणमन माना जाता है। ऐसा मानना भी चाहिए। ऐसा मानना व्यवहाराभास नहीं है। किन्तु सम्यक् व्यवहार है। मिथ्यात्व के उदय में जीव स्वयं मिथ्यादृष्टि हुआ है। कर्म मिथ्यादृष्टि नहीं हुआ। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो जीव विषयकषाय रूप परिणाम करता ही चला जायेगा और उससे मोक्षमार्ग ही अवरुद्ध हो जायेगा।

जिज्ञासा—निदान क्या है और कितने प्रकार का है ?

समाधान—भोगाकांक्षा होना निदान है। यह दो प्रकार का होता है–१. शुभोपयोग के साथ, २. अशुभोपयोग के साथ। निदान ध्यान पाँचवें गुणस्थान तक होता है। यह आर्त्तध्यान का एक भेद है। वैसे आर्त्तध्यान की सीमा छठवें गुणस्थान तक बतलाई है। लेकिन निदान ध्यान वहाँ नहीं होता। वहाँ निदानध्यान को छोड़कर शेष तीन आर्त्तध्यान होते हैं। ऐसा टीका में आया है। सूत्रकार ने ऐसा नहीं कहा। एक निदान शल्य है और एक निदान ध्यान है। कभी-कभी धर्मध्यान से च्युत होने वाला शुभोपयोग रूप परिणाम करता है तब वह भोगाकांक्षा परिणाम निदान रूप भी कर सकता है। अशुभोपयोग परिणाम कहने से मिथ्यात्व में ही आ जाता है, ऐसा नहीं है। मिथ्यात्व-कषाय आदि ३-४ बातों की अपेक्षा कथन है। यदि मान लो निदान शल्य आ जाती है तो प्रथम गुणस्थानवर्ती हो सकता है। निदान ध्यान भी दोष रूप कहा गया है, क्योंकि आगामी काल में मुझे ऐसा-ऐसा मिले यह भाव रहता है। शुभोपयोग रूप निदान कभी-कभी फलदायी होता है।

दृष्टान्त—जैसे, प्रायः करके जब किसी रोगी का उपचार चालू हो जाता है अथवा उसकी सेवा प्रारम्भ हो जाती है। तब वैद्य या डॉक्टर उससे पूछते हैं कि आपकी इच्छा क्या है ? क्योंकि बहुत पुराना रोग हो गया है। जब रोग की शुरुआत होती है तब रोगी भी कहता है कि मैं जल्दी-जल्दी ठीक होना चाहता हूँ। मुझे अमुक चीज या अमुक औषधि दे दो। पुराना रोग होने से कभी-कभी उसकी इच्छानुसार उपचार करने से रोग का इलाज हो जाता है। उसकी इच्छानुसार दी गई दवाई कभी-कभी फलदायी हो जाती है। यह एक मनोविज्ञान है। किन्तु कभी-कभी वही दवाई किसी को या उसी को उलट भी सकती है। तात्पर्य यह है कि व्रतधारण करने के उपरान्त भी उसकी ऐसी भोगाकांक्षा रूप प्रणाली चल सकती है। खाया नहीं जा रहा है, पीया नहीं जा रहा है, सुना नहीं जा रहा है, देखा भी नहीं जा रहा है, शरीर शिथिल हो गया है, लेकिन फिर भी मन के माध्यम से यह चाह सकता है कि मुझे वह मिले। वर्तमान में उसे विषय-कषाय स्वीकार नहीं हैं, उन्हें छू भी नहीं रहा है लेकिन चाह रहा है कि यदि प्रबन्ध करो तो ऐसा कर देना। ऐसा आचार्यों ने कहा है–निदान के प्रशस्त और अप्रशस्त की अपेक्षा भी दो भेद हैं।

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि।

बन्ध शब्द दोनों के साथ लगाना। सुखानुबन्ध और निदानबन्ध। यह बन्ध शब्द मध्य दीपक माना जाता है। जैसे दो व्यक्ति पढ़ना चाहते हैं तो बीच में एक दीपक रख लें और आजू-बाजू बैठ जायें तो दोनों को प्रकाश मिलता है। वैसे ही बन्ध शब्द बीच में हो तो आगे-पीछे दोनों शब्दों के साथ जुड़ता है, इसलिए वह मध्यदीपक कहलाता है।

निदानध्यान पाँचवें गुणस्थान तक होता है, लेकिन यह उस व्रती की साधना की कमजोरी मानी जाती है कि जो ऐसा परिणाम कर लेता है। अप्रशस्त निदान में परभवसम्बन्धी भोगों की आकांक्षा होती है। कुछ लोग हमारा धर्मध्यान अच्छा चले इसलिए कहते हैं कि-हे भगवन्! थोड़ी धन सम्पदा बढ़ जाये तो ये माँगना बन्द कर दें और मैं अच्छे से धर्मध्यान कर लूँ। शुभोपयोग की बात जहाँ तक आती है वहाँ मुनि महाराज भी आते हैं। **उमास्वामी महाराज** ने **निदानं च** यह सूत्र कहा है। आर्त्तध्यान प्रमत्तविरतगुणस्थान तक होता है, ऐसा कहा है। लेकिन शेष आर्त्तध्यान होते हैं, ऐसा नहीं कहा। अध्यात्मग्रन्थों में भी भोगाकांक्षा निदान रूप शुभोपयोग परिणाम कहा है क्योंकि वर्तमान में वह विषयों को ग्रहण नहीं कर रहा है, इच्छा नहीं कर रहा है। लेकिन आगामी भोगों की बात हो रही है ? इसलिए उसे शुभोपयोग कहा है, किन्तु वर्तमान भी विषय-कषाय रूप हो जाता है तो अशुभोपयोग की कोटि में आ जाता है। जैसे-आगमपद्धति से कृष्णलेश्या एक से चार गुणस्थान तक होती है। क्योंकि **षडपि लेश्या अविरतिदशायां** कहा है। अर्थात् ज्यों ही व्रती बन जाता है तो उसे अशुभ लेश्या नहीं होती। लेकिन रौद्रध्यान होता है। घर में रहकर धन बढ़े और आपको आनन्द न आये, ऐसा होता है क्या ? दादाजी घर में हैं, वारण्ट आने वाला है फिर भी यदि प्राफिट हो जाता है तो हम ठीक कर रहे हैं, ऐसा आनन्द तो आता है, यह रौद्रध्यान है। फिर भी पंचमगुणस्थानवर्ती हैं, इसलिए अशुभलेश्या नहीं है। वह संकल्परूप व्रत को धारण कर चुका है इसलिए अशुभलेश्या नहीं होगी। लेकिन जो परिग्रह रखा है उसके प्रति जो प्रवृत्ति है वह बता रही है कि उसके पास रौद्रध्यान है। **आचार्य ज्ञानसागर महाराज** ने इसके लिए अच्छा उदाहरण दिया है-

दृष्टान्त-दो भाई हैं। एक असंयमी है और दूसरा व्रती है। दोनों ने सलाह करके माँ से कहा कि आज हमें लड्डू खाना है। माँ ने लड्डू नहीं बनाये तो दोनों को गुस्सा आ गया। बड़ा भैया जो व्रती था, वह तो मान कर भोजन करने को तैयार हो गया और भोजन कर भी लिया। लेकिन छोटा वाला कहता है कि-हमारी माँग की पूर्ति नहीं हुई इसलिए मैं नहीं करूँगा और चला गया होटल। भूख तो लगी ही थी। अतः होटल में खाकर आ गया। तात्पर्य यह है कि अविरति जो होता है वह अपनी लेश्या बिगाड़ लेता है। वह तो होटल में खा आया। लेकिन व्रती जो था उसने घर में ही शुद्ध भोजन किया, लेकिन तकलीफ के साथ किया। छोटा भैया कहता है कि-मेरे साथ आकर खा लेते फिर महाराज जी से प्रायश्चित्त ले लेते। तो वह कहता है-नहीं, मैं अपना व्रत नहीं तोड़ूँगा। ऐसा मेरा संकल्प है। अब देखो, व्रती की सीमा होती है। उसे कषाय तो आयेगी, विषयों की माँग भी रहेगी, लेकिन उसके पीछे

वह व्रतों को छोड़ना नहीं चाहता। यह व्रतों की महिमा है।

अतः **षट्खण्डागमकार** ने कहा है कि–व्रती के पास तीन अशुभ लेश्या तो आयेगी ही नहीं। एकदेश पाप है इसलिए रौद्रध्यान तो रहेगा। लेकिन उसके साथ जो धर्मध्यान की सीमा बनाई है उसे तो बनाकर रखेगा। अपने व्रतों का पालन करेगा, वह होटल आदि में अभक्ष्य भोजन करते हुए नजर नहीं आयेगा। होटल में खाना, यह कृष्णादि तीन अशुभलेश्या वाले अविरति को चल सकता है, व्रती को नहीं। रौद्रध्यान के साथ शुभलेश्या और अशुभलेश्या को एक समान नहीं मान सकते हैं। मन, वचन, काय की क्रिया अविरति के समान व्रती की भी है, दोनों को संक्लेश भी हैं। बल्कि बड़े भैया को ज्यादा संक्लेश हो गया, ऐसा लगता है। फिर भी बड़े भैया ने संकल्प की सीमा तक रखा। जीवनपर्यन्त अविरति के साथ शुक्ललेश्या के साथ रहो तो भी गड़बड़ क्योंकि शुक्ललेश्या तो पहले से तेरहवें गुणस्थान तक होती है। ऐसा **सम्यक्त्वसारशतक** में उदाहरण दिया है।

पुण्य-पाप भाव रूप परिणाम जीव के हैं, न कि अजीव के। अन्तरात्मा ज्ञानी जीव निश्चय रत्नत्रय का अविनाभाव रखने वाला वीतराग सम्यग्दृष्टि होता है। वह निर्विकल्प समाधि रूप परिणमन कर जाता है और उस परिणाम के द्वारा शुद्धोपयोग के बल से संवर-निर्जरा और मोक्ष तत्त्व रूप भावों का कर्त्ता हो जाता है, किन्तु कभी-कभी निर्विकल्पसमाधि रूप परिणाम नहीं होने पर **विषय-कषायवञ्चनार्थं** ये शब्द बहुत अच्छे हैं अर्थात् विषयकषाय से बचने के लिए तथा शुद्धात्मभावना की साधना के लिए बहिर्बुद्धि से ख्याति, लाभ, पूजा की आकांक्षा से रहित होकर शुद्धोपयोग में लीन नहीं हो पाने से शुद्धात्मा के लक्षण रूप अरिहन्त-सिद्ध परमेष्ठी तथा उनकी आराधना में लगे हुए आचार्य उपाध्याय साधु के गुण स्मरण रूप शुभोपयोग परिणाम को करता है। उसके पास इसके बिना और क्या शरण है ? **अन्यथा शरणं नास्ति... रक्ष रक्ष जिनेश्वर, रक्ष रक्ष मुनीश्वर !** कहता है। वे रक्षा नहीं करते हैं, लेकिन उन्हें भावों से स्मरण करता है, इसी को बोलते हैं भेदरत्नत्रय की भूमिका। शुद्धोपयोग रूप निश्चयरत्नत्रय के अभाव में विषय-कषाय को छोड़कर के जो शुद्ध बन चुके हैं उनकी आराधना में लग जाता है। शुद्ध की ही दृष्टि रखता है, जो शुद्ध में स्थित हैं उनमें दृष्टि रखता है। शुभोपयोगी होते हुए भी शुद्धोपयोग की भावना से ओतप्रोत होता है। इसके अलावा और क्या रास्ता है? चाहता तो वहाँ से छलांग ले सकता है लेकिन चाहते हुए भी शक्ति नहीं होने से नहीं कर सकता है।

दृष्टान्त—जैसे दिल्ली जाने के लिए किसी के पास विमान (हवाई जहाज) का टिकट है। विमान एक घण्टे में पहुँच जाता है, लेकिन राशि ज्यादा लगती है। दूसरे के पास उतनी रकम नहीं है तो ट्रेन से जाता है। बारह घण्टे में पहुँच जाता है। इसमें समय ज्यादा लगता है और वह थक भी जाता है और उतनी भी राशि नहीं है तो बस से जाता है। राशि और भी कम है तो स्कूटर से जाता है। फिर तो बारह घण्टे क्या बहुत घण्टों में पहुँचता है। यह सो भी नहीं हो सकता, झोका भी नहीं ले सकता। उसे नींद

भी नहीं आ सकती। चार पहिये वाली कार चलाने वाले को तो निद्रा आ सकती है, लेकिन स्कूटर पर जो जा रहा है उसे नींद नहीं आ सकती। हाँ, पीछे बैठने वाले को आ सकती है। मतलब जो निश्चिन्त हो जाता है तभी नींद आती है। इसी प्रकार जो निर्विकल्प समाधि में लीन होकर तथा आत्मविशुद्धि रूपी राशि लेकर मोक्षमार्ग में चलते हैं वे शीघ्र ही अपनी मुक्ति मंजिल को प्राप्त कर लेते हैं। आगे और भी अच्छी बात को एक दृष्टान्त से पुनः कहा जा रहा है।

दृष्टान्त—देवदत्त नाम का कोई व्यक्ति है वह किसी एक स्थान पर काम करता है और उसका दूसरा भाई दूसरी जगह करता है। उसके पास से कोई व्यक्ति देवदत्त के पास आता है तो उसका सम्मान करता है, उसे भोजन परोसता है क्योंकि वह अतिथि भाई का समाचार लेकर आया है। उससे अपने भाई के बारे में बार-बार पूछता है। अपना सब कुछ काम छोड़कर उसके साथ बातचीत करता है। **अपनत्व की बात हो तो व्यक्ति सब कुछ छोड़ सकता है।** बेटा यदि पैसा माँगे तो नहीं देगा, लेकिन उस अतिथि के लिए सब कुछ कर रहा है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी क्या करता है ? आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव भी उसी व्यक्ति की भाँति शुद्धात्मा की उपलब्धि के निमित्तभूत शुद्धात्माराधना में लगे हुए जो आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी हैं, उनके गुणों का स्मरण करता है, उनकी भक्ति करता है। जब शुद्धात्मभावना से रहित होता है तो निदान आदि भी करता है। शुद्धोपयोग से नीचे आने वाला व्यक्ति दो प्रकार के कार्य करता है एक निदानसहित दूसरा निदानरहित। शुद्धोपयोग की भावना के साथ निदानसहित शुभोपयोग नहीं है यह बात यहाँ कही जा रही है। शुद्धात्मा की भावना के साथ दानादि कार्य भी करता है, क्योंकि ये शुद्धोपयोगी मुनिराज जिस कार्य में लगे हुए हैं, मुझे भी वही प्राप्त करना है, इसी भावना से वह सम्यग्दृष्टि दानादि करता है। उनके गुणस्मरण रूप प्रवृत्ति सामायिक आदि में करता है। दानादि प्रवृत्ति को करते समय उसका उद्देश्य क्या है ?

शास्त्राभ्यासो जिनपति नुतिः संगतिः सर्वदार्यैः,
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे,
सम्पद्यन्तां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः॥

अर्थात् शास्त्रों का अभ्यास, जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति, सदा आर्यजनों की संगति, सच्चरित्रवानों के गुणगण का कथन, दोष के कथन में मौन, सभी के प्रति प्रिय एवं हितमय वचन तथा आत्मतत्त्व में भावना इत्यादि मुझे तब तक प्राप्त हों जब तक कि मोक्ष की प्राप्ति न हो जाये। ऐसी भावना भाता है, यह प्रशस्त निदान माना जाता है। यह प्रतिदिन हम समाधिभक्ति में पढ़ते हैं। यह क्या है ? माँग तो है, माँग की ओर दृष्टि भी है परन्तु सांसारिक माँग नहीं है।

तप दो प्रकार के होते हैं, एक साकांक्ष तप और दूसरा निष्कांक्ष तप। मान लो कोई कहता है कि कल मेरा उपवास है अर्थात् परसों ग्रहण करने की इच्छा तो है इसी को साकांक्ष तप कहा है तथा जो

जीवन पर्यन्त को भोजन का त्याग कर रहा है, भले ही वह चार घण्टे का मेहमान है, फिर भी साहस की बात तो है। चारों प्रकार के आहार का त्याग करना इसमें बहुत बड़ा साहस चाहिए। इसमें भविष्य सम्बन्धी इच्छा तो है लेकिन वर्तमान में कोई इच्छा नहीं है। फिर भी इच्छा तो है कि जहाँ कहीं भी जाऊँगा यह प्रशस्त सामग्री मिलेगी तभी तो कार्य होगा। आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त का नहीं होगा, तब तक मोक्षमार्ग के साधन मिलें, तप के लिए अच्छा शरीर मिले, दानादि के लिए धनादि भी चाहिए। ये सारी की सारी योजनायें उसके दिमाग में रहती हैं तो उसे दोनों हाथ में लड्डू वाली बात है। तो यह सब साकांक्षतप है।

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने इस गाथा में यह स्पष्ट बतलाया है, कि क्रोधादि विकारी भावों का न होना कहो अथवा भेदविज्ञान कहो यह दोनों एक हैं और इन दोनों का काल समान है। ऐसा नहीं हो सकता कि भेदविज्ञान तो हो जाये और क्रोधादि विकारीभाव फिर भी बने रहें। इस प्रकार जिसकी आत्मा में क्रोधादि विकारी भाव नहीं हैं वही ज्ञानी है। (आचार्य ज्ञानसागर जी)

इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी जीव के स्वरूप का व्याख्यान कर लेने पर जो पुण्य –पापादि सात पदार्थ हैं वे जीव और पुद्‌गल के संयोग रूप परिणाम से उत्पन्न हुए हैं, ऐसा ज्ञान हो जाने से उपर्युक्त पीठिका का व्याख्यान अपने आप हो जाता है और इसमें कोई विरोध भी नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी जीव की मुख्यता से चार गाथायें पूर्ण हुईं। इस प्रकार पुण्य–पापादि सात पदार्थों के अधिकार में छह गाथाओं से प्रथम अधिकार पूर्ण हुआ।

इसके आगे ग्यारह गाथाओं तक क्रम से उसी ज्ञानी जीव का विशेष व्याख्यान करते हैं। वहाँ ग्यारह गाथाओं में भी **कम्मस्स य परिणामं** इत्यादि प्रथम गाथा में यह बतलाया है कि जिस प्रकार कलश का उपादान रूप से कर्त्ता मिट्टी का लौंदा है, उस प्रकार निश्चय रूप से जीव, कर्म और नोकर्मों का कर्त्ता नहीं है, ऐसा समझकर जो पुरुष अपने स्वसंवेदन (समाधिरूप) ज्ञान से जो अपने शुद्धात्मा को जानता है वही ज्ञानी होता है। इसके आगे प्रधानता से एक गाथा में यह बतलाया है कि यह जीव व्यवहार से पुण्यपापादि परिणामों का कर्त्ता है निश्चय से नहीं। इसके आगे कर्मपने को अर्थात् अपने आपके परिणमन स्वरूपता को और सुख–दु:खादि रूप कर्म के फल को जानता हुआ भी यह आत्मा उदय में आए हुए परद्रव्य को नहीं करता है। इस प्रकार का कथन करते हुए **ण वि परिणमदि** इत्यादि तीन गाथा सूत्र हैं। इसके आगे **ण वि परिणमदि** इत्यादि रूप से एक गाथा सूत्र है जिसमें बतलाया है कि पुद्‌गल भी वर्णादि रूप अपने परिणाम का ही कर्त्ता है, किन्तु ज्ञानादि रूप जीव के परिणाम का कर्त्ता नहीं है। आगे **जीवपरिणाम** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं, उनमें बतलाया है कि यद्यपि जीव और पुद्‌गल में परस्पर निमित्त कर्त्तापना तो है किन्तु परस्पर में उपादान कर्त्तापन तो किसी भी दशा में नहीं है। उसके आगे **णिच्छयणयस्स** कहा है, जिसमें यह बतलाया है कि निश्चय से इस जीव का कर्त्ताकर्मभाव और भोक्ता–भोग्यभाव भी अपने परिणामों के साथ ही है। इसके आगे **ववहारस्स दु**

इत्यादि एक सूत्र है जिसमें कहा गया है कि व्यवहारनय से जीव पुद्गल कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता भी है। इस प्रकार ज्ञानी जीव की विशेष व्याख्यान की मुख्यता से ग्यारह गाथाओं में दूसरा स्थल पूर्ण होता है, उसकी यह समुदाय पातनिका हुई।

एक दूसरे के गठबन्धन के उपरान्त यह तो हमेशा-हमेशा ध्यान रखा ही जाता है, यह व्यवहार माना जाता है। जैसे-कोई पार्टी कल प्रतिज्ञा लेने वाली है लेकिन ध्यान रखना वह गठबन्धन वाली पार्टी है। उसमें बीस-पच्चीस प्रकार के व्यक्ति हैं, फिर भी व्यवहार में कहने में एक पार्टी कहते हैं। उसी प्रकार ज्ञानी जीव जानता रहता है कि कर्मों के योग से किस ढंग से यह कार्य हो रहा है ? एकदम से कुछ नहीं कह सकता। फल किसके माध्यम से मिल रहा है ? गठबन्धन के माध्यम से ही फल मिलेगा। बताओ दायित्व किसका ? वह कहता है-मैं तो ज्ञानी हूँ। दूसरा कहता है-मैं तो जड़ पुद्गल हूँ। फिर राग किसका ? तो भगवान् जाने यह माया। इसीलिए तीसरे मत ने कह दिया-यह भ्रम है कि किसी का नहीं है। कहाँ तक घटित है ? तो वहीं तक घटित करना नहीं तो लोकसभा भंग। व्यवहार से ही तो कार्य चल रहा है। यदि उसे सर्वथा गौण या निषिद्ध करोगे तो क्या होगा ? सारे के सारे जीवों को सिद्धत्व का अनुभव होना चाहिए, लेकिन क्यों नहीं हो रहा है ?

दृष्टान्त—जैसे कोई व्यक्ति चलने में सक्षम नहीं होने से अपने हाथ में एक लकड़ी लेकर चल रहा है तो यह लकड़ी क्या है ? सपोर्ट है, पैरों को लकड़ी से सपोर्ट मिल रहा है। कहते हैं-पैर भले ही लचक जायें, पर लकड़ी लचकदार नहीं होना चाहिए। यदि लकड़ी लचकदार होगी तो गिर ही जायेगा। लकड़ी लचकदार नहीं होगी तो गिरने से बच सकता है। उसी प्रकार व्यवहार को संभालो, लेकिन व्यवहार को व्यवहार के रूप में ही स्वीकारो।

उत्थानिका—अब यहाँ सबसे पहले यह बताते हैं कि यह आत्मा ज्ञानी है यह बात कैसे जानी जाती है ? अर्थात् आत्मा ज्ञानी होता हुआ कैसी परिणति वाला होता है ? इसको बताते हैं-

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेदि एदमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥८०॥

अन्वयार्थ— (जो) जो **(एदमादा)** जीव इस **(कम्मस्स य परिणामं)** कर्म के परिणाम को **(य तहेव)** और उसी प्रकार **(णोकम्मस्स परिणामं)** नोकर्म के परिणाम को **(ण करेदि)** नहीं करता है, परन्तु **(जाणदि)** जानता हैं **(सो णाणी हवदि)** वह ज्ञानी हैं।

अर्थ—यह आत्मा उपादान रूप से कर्म के परिणाम का और नोकर्म के परिणाम का करने वाला नहीं है। इस प्रकार जो जानता है अर्थात् समाधिस्थ होकर अनुभव करता है वही ज्ञानी होता है।

नोकर्म रूप जड़ पुद्गल काय का भी,
मोहादि कर्म रतिराग विभाव का भी।
कर्त्ता न आतम रहा, इस भाँति ज्ञानी,
हैं जानते हृदय से सुन सन्त वाणी ॥८०॥

व्याख्या—जब आत्मा कर्म और नोकर्म सम्बन्धी परिणाम को नहीं करता है, उस समय ज्ञानी होता है। वह उनको करता नहीं है मात्र जानता है, इसलिए ज्ञानी है। भिन्न-भिन्न दो पदार्थों के सम्मेलन कौन किस पदार्थ का करता है, यह जानकारी जिसे रहती है वह उस समय रागद्वेष नहीं करता हुआ, ज्ञानी होकर शान्त बैठा रहता है। यदि रागद्वेष करता है तो उसने कर्म का परिणाम कर लिया ऐसा जानना चाहिए। कर्म और नोकर्म दो बातें हैं। जब मुनिराज नोकर्म अर्थात् शारीरिक चेष्टा करते हैं उस समय अन्तर्मुहूर्त के लिए अप्रमत्त अवस्था से नीचे प्रमत्त अवस्था में आ जाते हैं। इन्द्रिय व्यापार प्रारम्भ होते ही वे सातवें से छठवें गुणस्थान में आ जाते हैं। अपनी भूमिका के अनुसार संज्वलन सम्बन्धी कषाय करने पर भी मुनिराज सातवें से छठवें गुणस्थान में आए बिना नहीं रह सकते। पन्द्रह प्रकार के प्रमाद में चार कषायें भी हैं। कषाय के समय मुनिराज यदि अपने आपको सँभाल लेते हैं तो सातवें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं। यदि वे नोकर्म की बात, इन्द्रियों का व्यापार या विकथा आदि कर लेते हैं तो बहिर्मुखी हो जाते हैं। जिस समय बहिर्मुखी इन्द्रिय व्यापार रूप उपयोग की वृत्ति नहीं होती है और रागद्वेषादि परिणाम भी नहीं करते हैं तो ज्ञानी कहलाते हैं। आप बहिर्मुखी हैं, यह स्वीकार नहीं करते हैं तो भी इन्द्रियव्यापार से सिद्ध हो ही जाता है। **समयसारादि** में ज्ञानी उसे घोषित किया है जो नोकर्मगत काय का व्यापार तथा भावकर्मगत व्यापार तथा कर्म का व्यापार नहीं करता है। इन्द्रियव्यापार रूप नोकर्म का भी कार्य नहीं करता है। वह जानता है कि ''मैं भाव कर सकता हूँ'', लेकिन कर्मगत व्यापार मेरा काम नहीं है।

दृष्टान्त—मान लो आप बोलना चाहें और मुख नहीं खुले तो वेदना होगी। लेकिन मैं बोलने के भाव कर सकता हूँ, बोलना मेरा काम नहीं है, ऐसा जिसको विश्वास होता है और जो बहुत अनुभूत है, वह बोलने की आकुलता से रहित होता है। यदि बोला नहीं जा रहा है तो उसे वेदना या टेंशन आदि नहीं होता है। जिसकी यह धारणा बन जाती है कि यदि मैं बोल नहीं पाऊँगा तो क्या होगा ? यदि स्वप्न में भी नहीं बोल पाता है तो घबड़ाकर उठ जाता है। तात्पर्य यह है कि शरीरगत जो भी कार्य हैं ये मेरे नहीं हैं, यह धारणा जिसकी जीवनपर्यन्त बनी रहती है, तो ही ठीक रहता है। क्योंकि यह निश्चित है कि अन्त समय में बोला नहीं जायेगा। संकेत करने की क्षमता भी नहीं रहेगी, तो क्या करेंगे ? करवट बदलने की भी क्षमता नहीं रहेगी। उस समय बोला भी नहीं जाता आ... उ... करता है। जो दो के बीच में सम्बन्ध रखने वाली भाषा थी वह चली जाती है। भाव तो हैं लेकिन एक-दूसरे के काम नहीं आ पा रहे हैं, आयेंगे भी नहीं कभी। वह कहता है—उठा दो... तो सामने वाले समझ नहीं पाते हैं। वे उसका करवट बदलवा देते हैं। बिठा दो, तो बिठाने पर भी गिर जाता है। देखो, ज्ञान को समझना बाद में होता है। पहले नोकर्मगत क्रिया को हम समझ लें। जब गला चोक हो जाता है तो उस समय ऊपर का ऊपर और नीचे का नीचे रह जाता है। कहता है—गुटका (निगला) नहीं जा रहा है, क्या करें ? उस समय यह समझें कि यह नोकर्म की क्रिया है। इससे मेरा कोई लेन-देन नहीं। यह हमेशा धारणा बनाते रहेंगे तो

संभव है कि टेंशन नहीं बढ़ेगा और टेंशन नहीं बढ़ेगा तो आधा दर्द कम हो जायेगा। जिह्वा हिलेगी तो गुटकने की इच्छा होगी, लेकिन गुटक नहीं पायेगा तो वेदना हो सकती है। इसलिए आचार्यों ने क्षुधा, पिपासा आदि बाईस परीषह सहन करने को कहा है। लोग कहते हैं–अभी क्या जल्दी है बाद में कर लेंगे। आचार्य कहते हैं कि–क्या करोगे, जब देखते, उठते–बैठते, बोलते नहीं बनेगा ? इसीलिए अभी से साधना प्रारम्भ कर दो।

प्रतिकूलता के साथ जीवन जीने का अभ्यास करो–

ज्ञानी नोकर्मगत कार्य को समझ रहा है तथा रागद्वेषगत और शरीरगत कार्य को भी समझ रहा है, इसलिए जितना आवश्यक होता है उतना कार्य वह कर लेता है, तो अन्त में संयत बना रह सकता है। बार–बार करवट ले तो भी चुभन के अलावा अन्त समय में कुछ नहीं होता है। अभी आप मुलायम–मुलायम शय्या पर सोयेंगे तो अन्त समय में परेशानी होगी। सुकुमाल से भी गये बीते हो जाओगे। आपके पास पाँच इन्द्रिय और मन सम्बन्धी सभी चीजें हैं, लेकिन इन्द्रियशैथिल्य के कारण प्रतिकूल ही नजर आती हैं। अतः प्रतिकूलता के साथ जीवन जीने का अभ्यास करो और उसके साथ–साथ समझो कि शरीर तो शरीर है। कठोर भी स्पर्श ही तो है। नरम और कठोर दोनों ही पुद्‌गल की परिणति हैं। पहले जो सिद्धान्त पढ़ा है उसे डायवर्शन दे दो, बस...। यह बहुत सरल भी है और कठिन भी है। जो शरीर का आदि हो जाता है वह उस समय मात खा जाता है और जो शरीर को चलाता रहता है, उसका उपयोग करता रहता है वह अन्त समय में भी शरीर को चलाता रहेगा। इस शरीर से काम लिया करो। आराम करना इस शरीर का धर्म है ही नहीं। यदि आराम करोगे तो कठिनाईयाँ बहुत आयेंगी। कायोत्सर्ग का वर्णन करते समय कहा है कि जो कायोत्सर्ग करता है उसमें सहन करने की क्षमता आ जाती है। बहुत से लोग मोटे–ताजे रहते हैं, लेकिन एक कायोत्सर्ग में उन्हें घड़ी दिखने लगती है। अभी तो आधा घण्टा हुआ है, ये दो घण्टे कैसे निकालेंगे, इत्यादि रूप विचार आने लग जाते हैं। आठ बजे आहार कर लिया तो चौबीस घण्टे कैसे निकलते हैं ? उस समय वही घड़ी विलम्ब से चलती नजर आती है। दस तो समय पर ही बजेंगे, तब तक आपको आत्मचिन्तन करना है, भजन करना है, तो इस शरीर के ऊपर डिपेण्ड नहीं किन्तु धारणा के ऊपर डिपेण्ड होना है। सहन करने की क्षमता जिसके पास है वह इस ढंग से कर लेता है।

जो ज्ञानी जीव हैं वे ज्ञान का अभ्यास निरन्तर आलस्य के अभाव के साथ अर्थात् उत्साह के साथ करते रहते हैं। रेस में कुछ लोग क्या करते हैं ? बहुत तेजी से दौड़ते हैं और एक ही राउण्ड के उपरान्त गायब... पता ही नहीं कहाँ चले जाते हैं। लेकिन जो शुरु से अन्त तक एक ही रफतार से दौड़ते हैं वे आगे बढ़ जाते हैं। अज्ञानी जीव भी इसी तरह वहीं के वहीं विलीन हो जाते हैं। लेकिन ज्ञानी का अभ्यास निरन्तर चलता रहता है, चाहे गर्मी हो, चाहे सर्दी हो। सुबह हो या शाम हो, निरन्तर तत्त्व का अभ्यास करने से उसका फल प्राप्त हो जाता है। **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने **अष्टपाहुड** ग्रन्थ में कहा

है कि **सुखेन यत् ज्ञानं प्राप्यते दु:खे सति विलीयते।** अर्थात् सुख के साथ अर्जित ज्ञान दु:ख या कष्ट आने पर विलीन यानि नष्ट हो जाता है। कुछ भी नहीं बचता। फिर तो उसे दस-बीस व्यक्ति भी समझा दें तो भी नहीं समझता। उस समय तो समझ में आ गया था अब तो.. गया। जैसा आया था वैसा ही चला गया।

दृष्टान्त—जैसे हमेशा-हमेशा छाया में जो पौधा तैय्यार हुआ है वह टी॰ वी॰ के मरीज के समान कभी भी विलीयते अर्थात् पौधा पनपता तो बहुत जल्दी है, लेकिन समाप्त भी जल्दी हो जाता है। गेहूँ के जवारे भी वैसे ही हैं। उन्हें धूप में रख दो तो पानी-पानी हो जाते हैं। सावन-भाद्रपद और दशहरा आदि में जवारे का उपयोग होता है। लेकिन सूर्य प्रकाश में जो पौधा खड़ा होता है वह कितनी भी आँधी-तूफाँ आ जाये, गर्मी पड़ जाये तो भी हरा-हरा रहता है, क्योंकि उसने सूर्य प्रकाश को आत्मसात् कर लिया है। जबकि छाया में रखा हुआ पौधा पीला पड़ जाता है। क्योंकि वह पानी तो पीता गया, परन्तु उसे सूर्य प्रकाश नहीं मिला। इसलिए जल्दी सूख जाता है। अत: कभी भी छाया में बीज नहीं बोया जाता। यदि बोते हैं तो फसल नहीं आती है। उसके लिए हवा, धूप, पानी, तपन आदि चाहिए और प्रशस्तता भी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जो पौधा हवा, धूप, पानी, तपन आदि को सह लेता है वह मजबूत होता है। उसी प्रकार प्रतिकूलताओं को सहन करके जो ज्ञान एवं साधना की जाती है वह मजबूत होती है अर्थात् प्रतिकूलताओं के आने पर साधक विचलित नहीं होता।

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ण करेदि एदमादा।

अर्थात् कर्म-नोकर्म का कर्त्ता आत्मा नहीं होता। इसे निम्न दृष्टान्त से समझ सकते हैं।

दृष्टान्त—जैसे, मिट्टी का कलश भले ही कुम्भकार अपने आर्ट के माध्यम से बनाता है, लेकिन उसके हाथ कभी भी कुम्भ के रूप में परिणत नहीं हो सकते। कुम्भकार कभी कुम्भ के रूप में परिणत नहीं होता। वह तो केवल निमित्त होता है। कुम्भकार अपने योग और उपयोग के माध्यम से घड़े का रूप देता है, लेकिन घड़े का रूप जो लेता है वह तो मिट्टी ही है। यह बात अलग है कि मिट्टी में उसने पानी मिलाया है, उसे रोंदा है, चिकना किया है, लौंदा बनाया है लेकिन जो घड़े के रूप में ढल रहा है वह मिट्टी का लौंदा है। अत: घट का उपादान कारण लौंदा है। वह घट का उपादान कर्त्ता है और कुम्भ का बन जाना यह उसका कर्म है। कुम्भकार तो निमित्त कर्त्ता है। कुम्भ रूप बनने की क्रिया लौंदे में होती चली जा रही है, कुम्भकार अब अलग भी हो जाये तो कुम्भ का आकार ज्यों का त्यों बना रहता है। इस दृष्टान्त से कुम्भ का उपादान कर्त्ता एवं निमित्त कर्त्ता स्पष्ट समझ में आ जाता है।

आगे नोकर्म अर्थात् शरीर के बारे में भी कुछ समझें। हम यह बताना चाह रहे हैं कि जो व्यक्ति रईस है, दो-तीन बार भोजन करते हैं और उम्र पचास-साठ वर्ष की हो गई है, उनको अपना मुखड़ा दर्पण में देख लेना चाहिए और विचार करना चाहिए कि शरीर की भोजन-पानी, औषधि आदि से सभी प्रकार की सेवा हो रही है फिर भी शरीर में झुर्रियाँ क्यों आ गईं? दो-तीन बार भोजन करने से तो शरीर

पुष्ट होना चाहिए, इसमें झुर्रियाँ क्यों आ गईं ? यह तो शरीर का स्वभाव है। जो पहले कुमार अवस्था में चेहरा था, वह मृत्यु के समय नहीं रहेगा।

दृष्टान्त—जैसे, आम का मौसम है तो आम में हमेशा ताजगी नहीं रहती। आम जब आता है तो खट्टा-मीठा रहता है, जाता है तो उसमें सड़न-गलन हो जाती है। आम का मौसम समाप्त होने पर भी आम तो आते हैं, लेकिन पीले-पीले से आते हैं, उनमें भी झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। सड़न-गलन की क्रिया आरम्भ हो जाती है। उसी प्रकार आपका शरीर है। आपके द्वारा भोजन करने से वृद्धावस्था में शरीर हृष्ट-पुष्ट हो रहा है, ऐसा नहीं समझना। बचपन में गधे का बच्चा भी घोड़ा जैसा लगता है। लेकिन जब उम्र ढलान पर होती है तो सबको ढलना पड़ेगा। तेजपुंज सूर्य भी १२ बजे के बाद अस्ताचल की ओर चला जाता है। उसी प्रकार त्रेसठ शलाका पुरुषों में तीर्थंकर को छोड़कर अन्य सभी के बुढ़ापा आता है। जैसे-देवों में हमेशा जवानी रहती है, उसी प्रकार तीर्थंकर भी हमेशा कुमारावस्था के समान रहते हैं। शेष सभी के बुढ़ापा आता है।

संघातन एवं परिशातन क्रिया—

मारवाड़ी में एक भजन है—**अन्त समय में पोढ़्या (गाल) ढल जासी।** अतः बार-बार उपादान की ओर दृष्टि रखो। चक्रवर्ती आदि का शरीर हृष्ट-पुष्ट रहता है, लेकिन आयु समाप्त होते ही सब यहाँ से चले जाते हैं। कोई हँसते-हँसते जाता है तो कोई रोते-रोते चला जाता है। लेम्प में तेल नहीं है तो बुझेगा ही सही। **गोम्मटसार** इत्यादिक में आया है कि प्रतिसमय शरीर में संघातन और परिशातन क्रिया होती है। जैसे-श्वास लेते और छोड़ते हैं उसी प्रकार नई नोकर्म वर्गणाओं को ग्रहण किया जाता है और पहले जो ग्रहण की थीं, उन वर्गणाओं को छोड़ा जाता है। इनमें नवीन वर्गणाओं को ग्रहण करने का नाम संघातन क्रिया है तथा पूर्व में ग्रहण की हुई वर्गणाओं को छोड़ने का नाम परिशातन क्रिया है। कभी-कभी जीव वर्गणाओं को छोड़ता ज्यादा है और ग्रहण कम करता है। इसका अर्थ है कि उसकी परिशातन क्रिया पॉवरफुल है और कभी-कभी नई वर्गणाओं को ग्रहण ज्यादा करता है किन्तु छोड़ता कम है, इसका अर्थ है कि उसकी संघातन क्रिया पॉवरफुल है। जैसे-संघातनक्रिया मजबूत हो तो माना कि १००० वर्गणाएँ ग्रहण करता है और १०० वर्गणाएँ छोड़ता है। इससे शरीर पुष्ट बना रहता है और जब १०० वर्गणाओं को ग्रहण करता है तथा पूर्व की १००० वर्गणाओं को छोड़ता है तो शरीर शिथिल हो जाता है। केवलज्ञान होने के उपरान्त आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त से लेकर पूर्वकोटि वर्ष तक उनका शरीर बिना भोजन किए भी पुष्ट बना रहता है अथवा ज्यों का त्यों सुरक्षित बना रहता है। उनके नख-केश नहीं बढ़ेंगे। भोजन के बिना भी शरीर का पूर्वकोटि वर्ष तक कार्य चलता रहता है। साता रूप नोकर्म वर्गणायें आती रहती हैं, जिसके द्वारा शरीर में मजबूती बनी रहती है।

दृष्टान्त—जैसे कुछ लोगों के मकानों में एकाध बार की बारिश में ही कमरों की दीवालों से रेत आदि झड़ने लगती है और किसी-किसी के मकान इतने मजबूत रहते हैं कि कई वर्षों में एकाध बार

चूना आदि लगा देते हैं तो भी वे चमकते रहते हैं, क्योंकि उसमें इस प्रकार की संघातन क्रिया हो चुकी है।

संघात नामकर्म भी है। उसका कार्य है निश्छिद्र बनाये रखना। शरीर नामकर्म के द्वारा वर्गणायें आती हैं। बन्धन नामकर्म के द्वारा वे बंध जायेंगी और संघात नामकर्म के कारण शरीर में निश्छिद्रता रूप से संरचना होती है। जिससे शरीर ऐसा बनता चला जाता है कि बरसों तक यह विघटित नहीं होता। उपादान के द्वारा ऐसा कार्य रात-दिन चलता रहता है। मात्र कवलाहार के द्वारा आपका शरीर नहीं चल रहा है, यह ध्यान रखना। इसमें हवा मिल रही है, पानी मिल रहा है, आर्द्रकण जो वायुमण्डल में हैं, उनसे सिंचन हो रहा है। कवलाहार के माध्यम से तो शरीर में रस, रुधिर, मज्जा आदि रूप कार्य चलता रहता है। यह छद्मस्थ अवस्था की बात है। केवलज्ञान होने पर क्षायिकभाव होने के उपरान्त तो कवल की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। लेकिन क्षयोपशम अवस्था में तो रस से रसान्तर, रूप से रूपान्तर आदि परिवर्तन चलता रहता है। शरीर में चौबीसों घण्टे उपादान रूप से प्रक्रिया चलती रहती है। आपके शरीर में जो प्रक्रिया चल रही है वह व्यवस्था मात्र आप लोगों के द्वारा नहीं किन्तु अपने उपादान से होती रहती है। ऐसे संघातन क्रिया वाले शरीर भी होते हैं कि शरीर से जीव के निकल जाने के बाद भी असंख्यात पुद्‌गल परावर्तन काल तक कायस्थिति बनी रहती है। अर्थात् एक मुर्दा असंख्यात पुद्‌गलपरावर्तन काल तक रह सकता है क्योंकि उसकी संघातन क्रिया इतनी पॉवरफुल होती है। अर्थात् इतने समय तक बिखरती नहीं। ऐसी निश्छिद्र रूप संघातन क्रिया करता है। कई लोग कुछ नहीं खाते फिर भी शरीर हृष्ट-पुष्ट रहता है, ऐसा क्यों होता है ? तो कहा है कि-उनकी संघातन क्रिया पावरफुल होने से होता है। ऋद्धिधारी आदि बड़े-बड़े तपस्वी मुनिराज जो आहार में कुछ नहीं लेते, अर्थात् नीरस आहार लेते हैं तो भी उनका शरीर दीप्त अर्थात् लाइटेड तेजस्वी हो जाता है। तो क्या करते हैं वे ? कुछ नहीं। तप की महिमा है, कि बड़ी-बड़ी ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उपादान के अनुसार यह कार्य होता रहता है, यह दृष्टि में रखते हुए जो निमित्त को ज्यादा बल नहीं देते वे ज्ञानी कहलाते हैं। जो रागद्वेष नहीं करते, शारीरिक, मानसिक व्यापार नहीं करते हैं, वे ज्ञानी कहलाते हैं। जैसे, किसी को हमने देखा तो क्यों देखा ? प्रमाद के कारण। पुनः देखा तो क्यों ? राग से या द्वेष से। देखा तो उसमें प्रमाद का पुट और अधिक हो जाता है। कुछ बोला तो हमने क्यों बोला ? क्योंकि मन उचट रहा था। ज्ञानी लोग अपने आप से बार-बार पूछते रहते हैं कि-देखा तो क्यों देखा ? राग से देखा तो प्रमाद आ गया, गुस्सा कर लें तो द्वेष आ गया। थारी-मारी करने लग जायें तो मोह आ गया। ये क्रियायें उपादान के बिना अपने आप नहीं किन्तु बुद्धिपूर्वक हो रहीं हैं। इन्टेंशन के बिना नहीं होतीं और फिर यदि इनको मन, वचन, काय तीनों से करने लग जाते हैं तो पुनः लौटना बहुत कठिन हो जाता है। यदि मात्र मन में ही कोई विचार आया तो लौटना सरल है, परन्तु वचन में और काय में आ गया तो बहुत कठिन हो जाता है। लेकिन ज्ञानी प्रत्येक क्षण जागृत रहता है। अपने भावों का हमेशा परीक्षण करता रहता है।

समरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, मन, वचन, काय, कृत, कारित और अनुमोदना तथा क्रोधादि चार कषायों का परस्पर गुणा करने से एक सौ आठ भंग होते हैं। इन एक सौ आठ पापास्रव द्वार से सभी जीव दु:खी हैं। इसलिए जो ज्ञानी होते हैं वे जब कोई भी कार्य करते हैं तो रागद्वेष से रहित होकर करते हैं। हम केवल पापकार्य करते रहते हैं और जब परिणाम सामने आता है तो कहते हैं कि यह कहाँ से हुआ ? इसका ऐसा फल मुझे क्यों मिला ? मैंने तो ऐसा कोई पाप किया ही नहीं था। लेकिन ध्यान रखना, अतीत में अपने ही भीतर जो परिणाम हुआ था वह सामने आया है। द्रव्य, क्षेत्र, कालादि को लेकर ऐसे-ऐसे परिणाम हो जाते हैं। वे फालतू नहीं जाते हैं, किन्तु फल देकर जाते हैं। वह अपना ही अतीत का परिणाम बता देता है कि हमारा इतिहास कैसा है ? आपने पूर्व में जैसा कर्म बाँधा था वही द्रव्य, क्षेत्र आदि को निमित्त लेकर उदीरणा के साथ ऐसे-ऐसे परिणाम को सामने लाता है। ज्ञानी इन सब रहस्यों को जानता रहता है तथा वर्तमान में ज्ञान होने के फलस्वरूप बहुत मजबूरी के कारण देखता रहता है। अपनी समीक्षा करता रहता है कि कब गलती हुई ? कहाँ पर हुई ? अभी भी हो रही है क्या? इस ढंग से अपने आपका प्रत्येक क्षण निरीक्षण करता रहता है। कर्म और नोकर्म के परिणामों को जो नहीं करता वही ज्ञानी होता है। आप भी जिस समय कुछ कर नहीं रहे हो, किन्तु मात्र जान रहे हो तो ज्ञानी बन सकते हो।

पूर्वकृत कर्म **पुढवीपिंडसमाणा** अर्थात् पृथ्वी के ढेले के समान जो सत्ता में बैठे हुए हैं, उन कर्मों को भी ज्ञानी जीव जानता रहता है। जिसके फलस्वरूप वह वर्तमान में संवर-निर्जरा करता रहता है। जिस समय क्रोधादि कषाय को करता है उस समय ज्ञानी नहीं हो सकता। क्योंकि अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान जो सर्वघाती हैं, इनके उदय में वह मात्र ज्ञायक नहीं रह सकता। जिस व्यक्ति के पास परिग्रह संज्ञा है उसके पास हमेशा भयसंज्ञा बनी रहती है। वह चाबी को बार-बार देखता है, धन के संरक्षण का तथा चाबी गुम न जाने का भाव बना रहने से वह धर्मध्यान को प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि परिग्रह का संरक्षण ही रौद्रध्यान का प्रतीक है। अपने स्वभाव को जानेगा तभी रौद्रध्यान से बच सकता है।

दृष्टान्त—मान लो, आपके पास बहुत बड़ी रकम है। आप उसे सुरक्षित रखना चाहते हैं। लेकिन असाता की उदीरणा हो रही है तो सुरक्षित नहीं रख सकते। आपकी सारी सम्पत्ति समाप्त हो जायेगी। उसी प्रकार तन का संरक्षण भी नहीं कर सकते, वह तो समय पर या असमय में बिखरेगा ही। आपके भावों के अनुसार उसका परिणमन, प्रतिफल या संरक्षण नहीं हो सकता।

रौद्रध्यान और संयम एक साथ नहीं रहते। क्योंकि रौद्रध्यान के साथ संयम की भूमिका ही नहीं बनती। संयमी का आरम्भ-परिग्रह के साथ सम्बन्ध नहीं रहता है। भोजन की क्रिया सातवें गुणस्थान के साथ हो सकती है, लेकिन भोजन की इच्छा छठवें गुणस्थान में ही होती है, क्योंकि आहारसंज्ञा छठवें गुणस्थान तक होती है। कर्म का उदयमात्र होने पर जीव अज्ञानी नहीं होता, किन्तु बाह्य पदार्थों के साथ

सम्बन्ध जुड़ने पर अज्ञानी और रौद्रध्यानी भी तभी होता है। परिग्रह होने पर ही संरक्षणानन्दी होता है। तभी अज्ञानी भी कहलाता है। ज्ञानी की यही तो विशेषता होती है कि भोजन करते हुए भी असंख्यातगुणी निर्जरा कर लेते हैं और गृहस्थ सामायिक करते हुए भी निर्जरा नहीं कर पाता, क्योंकि उसने इस प्रकार का संकल्प नहीं लिया है।

धवला-जयधवला दोनों ग्रन्थों में आया है कि एक व्यक्ति भजन कर रहा है और दूसरा भोजन कर रहा है, दोनों निर्जरा कर रहे हैं क्योंकि दोनों संकल्पी हैं। लेकिन भोजन करने वाले की अपेक्षा भजन करने वाले की असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। मुनिराजों को तो चौबीसों घण्टे असंख्यातगुणी निर्जरा होती रहती है, क्योंकि उनका संयम का संकल्प है, उनका क्षेत्र ही परिवर्तित हो गया। उनका विषयों का क्षेत्र तो रहा ही नहीं। अब कोई भी बाधक तत्त्व रहा ही नहीं। विशुद्धि और संक्लेश के कारण असंख्यात स्थान बन जाते हैं। संक्लेश की भूमिका के अनुसार छठवें से नीचे का गुणस्थान भी हो सकता है। वहाँ रौद्रध्यान भी हो सकता है। रौद्रध्यान व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूप होता है। आप लोगों को भी यहाँ स्वाध्याय सुनते हुए रौद्रध्यान हो सकता है, होता ही रहता है, भले ही कहो या न कहो। जैसे, किसी का वियोग हो गया या किसी को अलाभ हो गया तो यदि आप सोचेंगे कि उठूँगा तो महाराज क्या कहेंगे? लेकिन मन से उठ ही गये, मात्र शरीर से बैठे हैं। एकदम प्रसन्नता नहीं है, मन पर जोर पड़ रहा है। इसलिए बनती कोशिश संकल्प लेकर विशुद्धिपूर्वक आप व्रतों में दृढ़ता बढ़ायेंगे तो संयमासंयम लब्धिस्थान भी बहुत उन्नत हो सकते हैं, ऐसा प्रयास करना चाहिए।

ज्ञानी के हमेशा दृढ़ता रहती है, इसलिए वह ज्ञानी पास हो जाता है। वह **मुहुर्मुहुः स्पर्शन् सन्** अर्थात् बार-बार आत्मतत्त्व का स्पर्शन करता रहता है, ऐसा **अमृतकलश** में आता है। बाह्य में हम कुछ नहीं कर सकते, यह सब पुद्‌गल का खेल है। यह सब कर्म का खेल है। ऐसा विपाकविचय धर्मध्यान करते हुए बार-बार स्पर्शन कर सकता है और क्या कर सकता है ? तो करने की भी एक भूमिका या सीमा होती है। इसके बाद में तो कुछ किया ही नहीं जाता।

दृष्टान्त—किसी ने पूछा-क्या कर रहे हो ? वह कहता है-खिचड़ी बना रहे हैं। जबकि अभी तो दाल-चावल बीन रहा है क्योंकि प्रक्रिया उसी की है। सिगड़ी सिलगाते देखकर पूछा तो भी वही बात कहता है। जब तक खिचड़ी पकाने के पूर्व की प्रक्रिया चलेगी तब तक यही कहेगा कि खिचड़ी बना रहे हैं। स्वयं बैठा है तो भी कह रहा है कि बना रहे हैं। मतलब जब तक खिचड़ी बन रही है, तब तक प्रक्रिया चलेगी। खिचड़ी बनने के उपरान्त प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। यदि अपने आप बन जाती तो ऐसे ही रख देते तो बन जाती, लेकिन ऐसा नहीं होता। दूसरी बात बनाने की प्रक्रिया भी कुछ हद तक होती है, फिर बनने की प्रक्रिया होती है। तो खिचड़ी बनती कब है ? जब आपका पुरुषार्थ पूर्ण हो जाता है, अपनी तरफ से जल्दी नहीं कर सकते। आधा घण्टे का समय तो लगेगा ही। अब आप जल्दी नहीं कर सकते, किन्तु थोड़ी देर के लिए आप ज्ञाता-द्रष्टापन का अनुभव करो। उसे देखो और

जानो। आप सिगड़ी जल्दी जला सकते हो, दाल-चावल का जल्दी शोधन कर सकते हो, उन्हें जल्दी धो सकते हो, लेकिन सिगड़ी पर रखने के उपरान्त जल्दी करने की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। अब खिचड़ी बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है, वह समय पर ही बनेगी। इसको बोलते हैं कालकृत कार्य। जल्दी बनाने के लिए यदि अग्नि तेज कर दोगे तो वह जल जायेगी। खिचड़ी तो बन जायेगी, लेकिन सही नहीं बनेगी। इसका अर्थ यह है कि यदि हम अपनी सीमा का उल्लंघन करते हैं तो वह कार्य विकृत होगा। हम अपने पुरुषार्थ की सीमा के बाद यदि कुछ करते हैं तो वह कार्य ठीक नहीं होगा। उसके लिए तो जितना समय चाहिए उतना तो देना ही होगा। पहले सामग्री इकट्ठी करने में तो जल्दी की जा सकती है। बाद में तो बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई अब कुछ नहीं कर सकते। बनने के पहले करने रूप प्रक्रिया हो चुकी। पकने के उपरान्त भी उसे तुरन्त काम में नहीं लेते। जब पूर्ण होने की प्रक्रिया होती है तो उसे चूल से ऊल पर रख देते हैं तो उसमें पकने के उपरान्त जो पानी है वह शान्त हो जाता है। इसमें भी आप जल्दी नहीं कर सकते। यदि बच्चे खिचड़ी खाने की जल्दी करते हैं तो माँ कहती है-बेटा ! १० मिनट रुक जा। तात्पर्य यह है कि कार्य समय पर ही होता है। उसे समय से पहले हम कर नहीं सकते, वह तो समय पर ही होता है। इस कर्म की प्रक्रिया को ज्ञानी लोग पूर्णतः समझते हैं इसलिए उतावली नहीं करते। वे ज्ञानी करने की प्रक्रिया को अदा नहीं करते बल्कि होने की प्रक्रिया को देखते रहते हैं। वे ही गम्भीर माने जाते हैं। करने योग्य कार्य करो, फिर शान्ति से बैठ जाओ। प्रतीक्षा करिये। दूसरा दृष्टान्त देते हैं।

दृष्टान्त—जैसे मशीन में गन्ना डाल दिया। उस समय उसमें शक्कर बनने की पूर्ण प्रक्रिया होने के उपरान्त शक्कर बनकर आ जाती है। बीच में आप हाथ नहीं डाल सकते। बीच में हाथ डालेंगे तो भी आपको उसमें और कुछ सामान मिलेगा, शक्कर नहीं मिलेगी। वह तो पूरी प्रक्रिया से गुजरेगी तभी शक्कर बनकर आयेगी। इसी प्रकार मोक्षमार्ग की प्रक्रिया है।

पुरुषार्थ करने की एक सीमा होती है और होने की सीमा भी होती है। रहने की भी एक सीमा है। ज्ञानी इस प्रक्रिया को समझता है, अतः उतावली नहीं करता। उतावली करने से कुछ होता नहीं है, यह उसके ध्यान में है। बच्चे उतावली करते हैं, दादाजी भी पहले करते थे, अब उन्हें अनुभव हो गया, इसलिए नहीं करते।

विशेषार्थ—यद्यपि उपर्युक्त गाथा में जानाति क्रिया पद आया है, जिसका अर्थ केवल जानना मात्र होता है, किन्तु आचार्यश्री ने उसे समाधि में स्थित रहने वाले के लिए प्रयुक्त किया है। जैसा कि टीकाकार स्पष्ट कर बतला रहे हैं, क्योंकि आर्त्त-रौद्रध्यान से रहित शुद्धज्ञान छद्मस्थ को उसी समय होता है। अन्य समय में तो इष्ट-अनिष्ट कल्पनापूर्वक बाह्य वातावरण में लगकर वह रागद्वेष करता ही रहता है। इसी प्रकार जानाति या वेत्ति क्रियायें जहाँ आयें वहाँ सब ही स्थान पर आचार्य महाराज का यही अभिप्राय समझना चाहिए। (आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, समयसार)

उत्थानिका—आगे व्यवहार से यह आत्मा पुण्य-पापादि परिणामों का कर्त्ता है, ऐसा कहते हैं—

कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण।
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥८१॥

अन्वयार्थ— (धम्मादी परिणामे) व्यवहार नय से पुण्य-पापादि परिणामों का **(आदा)** आत्मा को **(कत्ता)** कर्ता **(भणिदो)** कहा है **(य सो केण उवाएण)** किसी उपाय से अर्थात् निश्चयनय से आत्मा इन परिणामों का **(कत्ता ण)** कर्ता नहीं है **(जो जाणदि)** जो ऐसा जानता है **(सो णाणी हवदि)** वह ज्ञानी होता है।

अर्थ—किसी एक नय (व्यवहारनय) से आत्मा पुण्य-पापादि परिणामों का कर्त्ता है और किसी एक नय (निश्चयनय) से आत्मा इन परिणामों का कर्त्ता नहीं है, इस प्रकार जो जानता है वह ज्ञानी होता है।

आत्मा अशुद्ध नय से परभाव कर्त्ता,
होता विशुद्ध नय से निजभाव कर्त्ता।
धर्मानुराग तक को 'पर मान' ज्ञानी,
विश्रान्त हो स्वयं में बनते न मानी ॥८१॥

व्याख्या—नय विभाग से आत्मा कर्त्ता भी है और अकर्त्ता भी है। पुण्य-पापादि कर्म जनित उपाधि भावों का व्यवहारनय से कर्त्ता है और निश्चयनय से अकर्त्ता है। इस प्रकार ख्याति, पूजा, लाभादि समस्त रागादि विकल्पमय औपाधिक परिणामों से रहित समाधि में स्थित होकर जो जानता है वह ज्ञानी होता है।

अब देखो, ज्ञानी हमेशा-हमेशा तो अप्रमत्त दशा में रहता नहीं है। तो प्रवृत्ति के समय धर्म-कर्म करते हैं। छह आवश्यकादि पुण्य रूप कार्य करते हैं और आहार आदि कार्य भी करते हैं। सागार और अनगार की प्रशस्तचर्या होती है। अनगार की प्रशस्त चर्या छह आवश्यक करना, उपदेश करना आदि रूप होती है तथा सागार की प्रशस्त चर्या दान, पूजा, शील आदि रूप होती है। मुनि जब निर्विकल्पसमाधि से बाहर आ जाते हैं तभी उनकी यह प्रवृत्ति रूप प्रशस्तचर्या होती है। जब भीतर रहते हैं तो वीतरागता रूप प्रौढ़ चर्या होती है। समाधि में स्थित रहने पर समयसार रूप चर्या होती है। व्यवहारनय की अपेक्षा समिति के समय उक्त क्रियाओं का कर्त्ता होता है किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा गुप्ति के समय ज्ञानी अकर्त्ता होता है, क्योंकि उस समय आत्मतत्त्व को विषय बनाता है। **करोति करोत्येव वेत्ति वेत्ति एव यः करोति सः न वेत्ति, यः वेत्ति सः न करोति।** जितना करता है उतना उस रूप में अपने को कर्त्ता मानेगा तभी तो ज्ञानी माना जायेगा। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों एक साथ नहीं होते। जब प्रवृत्ति के समय समिति रूप चर्या होती है, तब निवृत्ति रूप गुप्ति नहीं होती। शुभोपयोग और शुद्धोपयोग दोनों एक साथ नहीं होते। शुद्धोपयोग के समय निर्विकल्प समाधि में रहते हैं तब

गुप्तिरूप होने से ज्ञानी होते हैं। उस समय छह आवश्यकादि रूप प्रवृत्ति की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु शुभोपयोग के समय समिति रूप होने से छह आवश्यकादि रूप प्रवृत्ति होती है। जिस प्रकार आहारक समुद्घात करते समय **मूलसरीरमछंडिय** कहा है। उस समय औदारिक शरीर में स्थित होते हुए भी आत्मप्रदेश बाहर निकल जाते हैं, तब औदारिक वर्गणाओं को ग्रहण क्यों नहीं करता ? औदारिककाय होते हुए भी औदारिकवर्गणाओं को ग्रहण नहीं करता है, किन्तु आहारकवर्गणाओं को ही ग्रहण करता है। उसी प्रकार यह बात है कि जिस समय ज्ञानी आत्मा में स्थित रहता है तब छह आवश्यकादि कार्य नहीं करता। प्रवृत्ति या विकल्पात्मक स्थिति में ही उन्हें करता है। जब आत्मा में रहता है तब समस्त विकल्प अपने आप शान्त हो जाते हैं।

साधित उपयोग में ज्ञान और ध्यान का क्रम—

जब तक शरीर में आत्मा है, तब तक हिम्मत है, श्वासोच्छ्वास है एवं अन्य क्रियायें देखने में आती हैं। लेकिन जब आत्मा नहीं रहता तो न हिम्मत होती है, न श्वासोच्छ्वास की क्रिया देखने में आती है। नाड़ी पकड़ में नहीं आती। समाधि के समय अन्तिम-अन्तिम स्थिति में नाड़ी इतनी डेप्थ में चली जाती है कि तर्जनी या अनामिका से पकड़ में नहीं आती। पैरों में भी नाड़ी होती है, उसके स्पन्दन से वैद्य लोग समझ लेते हैं कि अभी नाड़ी चल रही है। शरीर में उष्मा के माध्यम से भी जान लेते हैं। विश्व के जितने भी कार्य हैं ज्ञानी जीव बैठा-बैठा जानता रहता है। यह भी जानता रहता है कि प्रवृत्ति के समय मेरे कार्य कितने अंश या अनुपात में हो रहे हैं। मन में अभी कितनी उछल-कूद है, वह स्वयं जानता है। कोई सामने वाला जाप कर रहा है, होंठों को नहीं हिला रहा है, मानसिक जाप चल रहा है, वह पकड़ में नहीं आता। लेकिन कोई मुख से णमोकारमन्त्र बोल रहा है, तो वाचनिक जाप पकड़ में आ जाती है। कुछ मन्त्रपाठ करने वाले भी होते हैं। इस प्रकार वर्गीकरण किया जाता है। ज्ञानी मानसिक प्रवृत्ति को भी रोक लेता है। ध्यान लगाकर चित्त में मात्र चित्तवृत्ति को देखता है, यह ध्यान है, जाप नहीं। ज्ञानी, जितनी आवश्यक है उतनी प्रवृत्ति करके फिर निवृत्ति में आ जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानी जीव अपना कार्य करते रहते हैं। ज्ञानी जीव हमेशा-हमेशा निवृत्ति में रहें उतनी शक्ति नहीं, हमेशा ध्यान में नहीं रह सकते, किन्तु ज्ञान-ध्यान, प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों चलती रहती हैं। ज्ञान के माध्यम से तत्त्व ज्ञान करके ध्यान में बैठ जाते हैं, फिर ज्ञान करके पुनः ध्यान में चले जाते हैं। इस प्रकार यह ज्ञान और ध्यान का क्रम चलता रहता है।

दृष्टान्त—जैसे, मान लो आपके पास कार या स्कूटर है। सौ किलोमीटर की यात्रा करना है। आप कार में बैठ गये, चालू कर दी, फिर एक बार गेयर में डाल दी। रास्ता क्लीयर दिखता है तो गाड़ी को टॉप में करके यात्रा प्रारम्भ कर दी जाती है। यह कब तक चलता है ? कोई मुहूर्त होता है क्या ? नहीं। वह ड्राइवर जानता है कि गाड़ी को टॉप में कब तक रखा जा सकता है। बस जब उसे थोड़ा सा भी लगता है कि अब टॉप में नहीं चल सकती है तो बदल देता है। अर्थात् गाड़ी को अनकंट्रोल अनियन्त्रित

नहीं होने देता। इस प्रकार वह हजारों किलोमीटर की यात्रा करता है। लेकिन सुरक्षित होकर करता है और यात्रा करके सुरक्षित वापस आ जाता है। ऐसा ही है ज्ञानी का काम। अपनी गाड़ी को कभी गेयर में कभी टॉप में डाल देता है। टॉप में डालता है तो शुद्धोपयोग में आ जाता है ज्यादा देर वहाँ नहीं रुक पाता तो पुनः गेयर में यानि शुभोपयोग में आ जाता है। गेयर में आने से पेट्रोल ज्यादा खर्च होता है। केवल आय या मात्र आमदनी की बात नहीं होती। वस्तु का स्वभाव ही है उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य। मात्र निश्चय-निश्चय नहीं होता। उसके साथ व्यवहार भी होगा। अर्थात् जब निश्चय में नहीं ठहर पायेंगे तो व्यवहार का आश्रय लेना आवश्यक होता है। केवल शुद्धोपयोग-शुद्धोपयोग या ध्यान-ध्यान नहीं हो सकता।

आचार्य कहते हैं कि शान्ति से बैठ जाओ, तो शान्ति से तो बैठा नहीं जा रहा है और ध्यान में बैठने की बात करते हैं। मन में भावना हो सकती है, परन्तु हमेशा ध्यान में बैठा नहीं जा सकता है। दीर्घसंहनन वाले भी अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा ध्यान में नहीं बैठ सकते हैं, तो आपका क्या कहना ? छद्मस्थ अवस्था में ध्यान के अनेक भेदोपभेद हो जाते हैं। जैसे-आप लोग बोल रहे हैं, तो आपका श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया की ओर ध्यान नहीं है, फिर भी ध्यान से बोल रहे हैं। कोई न कोई काम होता ही रहता है, कभी बुद्धिपूर्वक तो कभी अबुद्धिपूर्वक क्योंकि ध्यान से रहित तो कोई भी गुणस्थान नहीं होता। चाहे वह आर्त्तध्यान हो या धर्मध्यान हो। तीर्थंकर वगैरह भी छद्मस्थ अवस्था में पाप-पुण्य नहीं करते, ऐसा नहीं है। वे भी छठवें गुणस्थान में आते हैं। उनके भी आहारसंज्ञा होती है। वे भी आहार करते हैं, तो उस समय पापबन्ध तो होगा। आहारसंज्ञा होगी तो निश्चित असाता का बन्ध होगा।

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ॥१४०॥

(पंचास्तिकाय)

पंचास्तिकाय ग्रन्थ में चार संज्ञा, तीन अशुभ लेश्या आदि को पापप्रदाता कहा है। जब सातवें गुणस्थान में जायेंगे तो साता का ही बन्ध होता है। सातवें से तेरहवें गुणस्थान तक मात्र साता का ही बन्ध होता है, असाता का नहीं। किन्तु छठवें गुणस्थान में साता-असाता दोनों का बन्ध हो सकता है। आहारादि चार संज्ञा, कृष्णनील, कापोत रूप अशुभत्रय लेश्या, स्पर्शन आदि इन्द्रियों की दासता, आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान और अपने ज्ञान को दुष्कार्यों में लगाना, मोह के आधीन होना, ये सभी पापबन्ध के कारण हैं। ज्ञानी जीव हमेशा इनसे बचने का प्रयास करता है। अपने ज्ञान का सदुपयोग करता है। हर समय सावधान रहता है। भेदविज्ञान को सुरक्षित रखता है।

समझाने का प्रयास करो तो समझ में आए–

शरीर और आत्मा के सम्बन्ध को देखकर ऐसा बोध होता है कि यह अद्भुत रसायन जैसी चीज है। आचार्यों ने इसके लिए अनेक उदाहरण दिए हैं, उनमें से एक उदाहरण है।

दृष्टान्त—जैसे हल्दी और चूना मिलाने पर लाल रंग बन जाता है। मिलने के उपरान्त दोनों अलग-अलग नहीं दिखेंगे। सामने-सामने ही दोनों को मिलाकर लाल रंग बना है। इसलिए विश्वास करो, ऐसा कहना नहीं पड़ता है। जिस बात पर हमारी आस्था और विश्वास दृढ़ नहीं होता वहाँ पर उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। फलतः हमारे दिमाग में वह बात समझ में आ जाती है। आपके सामने हल्दी और चूना अलग-अलग रखे हैं, फिर दोनों का मिश्रण कर दिया तो लाल रंग उत्पन्न हो जाता है। इसे आप मानेंगे कि नहीं ? इसमें भी कोई प्रमाण देने की आवश्यकता होती है क्या ? इस समय बार-बार कहना नहीं पड़ेगा कि विश्वास करो, विश्वास करो। जिनवाणी बार-बार कह रही है कि यह शरीर सो आत्मा नहीं है, लेकिन शरीर के बनने में आत्मा का हाथ तो अवश्य रहता है। एकान्त से शरीर का या आत्मा का ही हाथ है, ऐसा नहीं है। यह शरीर भी पुद्गल है और जो कुछ भी दिख रहा है वह सब भी पुद्गल है। लेकिन दोनों में अन्तर है। एक में जीवात्मा विद्यमान है और एक में नहीं। तो इसे आप जड़ मान लेते हैं। किन्तु शरीर को जड़ नहीं समझ पा रहे हैं। चातुर्मास पूरा हो गया, इसे समझने का प्रयास करो। समझ में आ जाए तो विश्वास करो। जब समझ में आ जाए और विश्वास भी हो जाये तो उसके साथ मत चलो, उसका साथ मत दो। संसारी प्राणी उसी का ही साथ देता है। यह समझ में नहीं आता, यह बड़ी उलझन है। यह उलझन है, यह समझ में आ रहा है तभी तो समझाने का प्रयास किया जा रहा है। जिस व्यक्ति को यह समझ में आ जाता है तो उस तरफ कदम बढ़ा देता है। फिर यदि उससे कोई पूछता है कि विश्वास है या नहीं ? तो वह कहता है कि—मेरे पास यह बताने का समय नहीं है, तुम स्वयं देख लो कि मुझे विश्वास है या नहीं। हम तो इधर ही जा रहे हैं। यह बात अलग है कि जो व्यक्ति समझाते हैं वे यदि उस बात पर अमल नहीं करते हैं या उस मार्ग पर नहीं चलते हैं तो प्रश्नचिह्न खड़ा हो जाता है। कोई कहता है कि समझने के उपरान्त भी आपका चलने का साहस नहीं हो रहा है तो हम नहीं समझ रहे हैं कि यही ठीक है। समझ में आने के उपरान्त साहस की आवश्यकता होती है। इसलिए हमारे पास साहस नहीं होने के कारण हम यह कह देंगे कि बिना समझदारी के ही हम ठीक हैं, यह तो उन्हीं का काम है।

विश्वास कई प्रकार के होते हैं। बालक जब घर से बाहर जाता है तो वापिस अपने ही घर आता है, क्योंकि उसे विश्वास है कि दूसरे घर में भोजन नहीं मिलेगा। भोजन करने के उपरान्त कोई काम बताया, तो सीधा शाम के भोजन के समय ही आता है। पिता जी को मानते हैं, लेकिन उनकी बात को नहीं मानते, यह बच्चों का कार्य है।

आचार्यों ने कहा है कि एक उपचार से धर्मध्यान होता है और एक पारमार्थिक धर्मध्यान होता है। इस ग्रन्थ में चक्रवर्ती को नहीं, किन्तु वीतराग सम्यग्दृष्टि को याद किया है। वह एक अकेला होता है तो भी पूरी सभा को समझा सकता है। यदि वह नहीं रहेगा, तो फिर वीतराग धर्म का समापन हो जायेगा। अन्त में एक-एक मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रहेंगे। इनके नामोल्लेख **तिलोय-**

पण्णत्ति आदि ग्रन्थों में दिये गये हैं। भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में जब तक मुनि बनने की योग्यता वाले नहीं आये तब तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी। इन्द्रभूति आते हैं तो गौतम स्वामी मुनि बन जाते हैं। इसलिए यहाँ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, उसी का निरूपण किया जा रहा है कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं।

आत्मा की खोज—

आज वैज्ञानिकों ने शरीर के एक-एक पार्ट को खोलकर कोशिकाओं की गिनती भी कर ली, फिर भी आत्मा का दर्शन नहीं हुआ। माइक्रोस्कोप में भी आत्मा का दर्शन नहीं हुआ। अनेक व्यक्तियों ने सोचा कि कम से कम मन तो मिल जाये। योगकुण्डली आदि के द्वारा मन को खोजने की कोशिश की लेकिन उन्हें मन नहीं मिला। तन ही मिला। अरबों रुपये खर्च किए कुछ नहीं मिला। लेकिन आचार्यों ने इसकी खोज कर ली है—

काष्ठमध्ये यथावह्निः, शक्तिरूपेण तिष्ठति।
अयमात्मा शरीरेषु, यो जानाति स पण्डितः ॥२४॥

(परमानन्दस्तोत्र)

अर्थात् जिस प्रकार काष्ठ के मध्य में शक्ति रूप से अग्नि रहती है, उसी प्रकार शरीर के मध्य में यह आत्मा रहता है। इसे जो जानता है वह पण्डित है। देह में आत्मा है उसका वेट कितना है ? यह खोज करने के लिए वैज्ञानिकों ने मरणासन्न व्यक्ति को एक अच्छे डिब्बे या पेटी में पैक कर दिया। हवा आदि जाने का भी उसमें स्थान नहीं था। जब उसका मरण हो गया तो पुनः वेट किया, तो कुछ कम निकला होगा। सुना है कि २१ मिलीग्राम कम निकला तो सम्भव है कि श्वासोच्छ्वास का उतना वेट रहा होगा। लेकिन आत्मा का वेट नहीं होता है। यह खोज तो है लेकिन फिर भी प्रयोगशाला में हम कभी भी देह से पृथक् आत्मा का दर्शन नहीं कर सकते हैं। हाँ, जब आत्मा शरीर में रहता है तब वह व्यक्ति बोलता है, खाता-पीता है, श्वासोच्छ्वास लेता है। इसका मतलब यह है कि शरीर में कोई न कोई तत्त्व अवश्य विद्यमान है। यह तत्त्व शरीर से भिन्न है, जिसके कारण मरण होने पर भी यह सारा का सारा ढाँचा वैसा का वैसा रहता है। वे चले गये। सामने-सामने ही मरते व जन्म लेते देखते हैं और सारे के सारे दृश्य देखते हैं तो ज्ञात होता है कि शरीर से पृथक् जीव तत्त्व है, यह श्रद्धान होता है। अन्यथा शरीर को जला कैसे सकते हैं ? शव को कोई जला देता है, कोई गाढ़ देता है। जीवित अवस्था में तो कोई गाढ़ नहीं सकता। जला भी नहीं सकता और जीवित अवस्था में हिम्मत भी कौन कर सकता है किसी को जलाने की ? अपना ही सगा-दगा देता है अर्थात् अपने वाला ही आग लगाता है, यह भी एक रीति है, धर्म है। जिसका पालन-पोषण किया है, "वह मैं नहीं हूँ" यह आस्था का केन्द्र था फिर भी उसके प्रति जो झुकाव या रुझान है, वह मोह का प्रतीक है। आप मानें या न मानें यह तो स्पष्ट है। इसे तो मानना ही पड़ेगा।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि कर्मों को जानते हुए इस जीव का पुद्‌गल के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है–

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं॥८२॥

अन्वयार्थ– (णाणी) ज्ञानी **(अणेयविहं)** अनेक प्रकार **(पुग्गलकम्मं)** पुद्‌गल (कर्म के पर्याय रूप) कर्मों को **(जाणंतो वि)** जानता हुआ भी **(हु)** निश्चय से **(परदव्वपज्जाए)** पर द्रव्य की पर्यायों में **(णवि परिणमदि)** न परिणमन करता **(ण गिण्हदि)** न ग्रहण करता और **(उप्पज्जदि ण)** न उनमें उत्पन्न होता है।

अर्थ—ज्ञानी जीव अनेक प्रकार पुद्‌गल द्रव्य के पर्यायरूप कर्मों को जानता हुआ भी तन्मयता के साथ परद्रव्य की पर्यायों में उन स्वरूप न तो परिणमता है, न ही ग्रहण करता है और न उन रूप उत्पन्न ही होता है।

जो भी अनेक विध हैं विधि आतमा में,
ज्ञानी उन्हें निरखते रत हो क्षमा में।
वे साधु किन्तु न कभी पर रूप पाते,
स्वीकारते न पर को पर में न जाते ॥८२॥

व्याख्या—जिस प्रकार मिट्टी और कलश में परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध है वैसा जीव का पुद्‌गल कर्म के साथ नहीं है। इसका यह अर्थ है कि पुद्‌गल कर्म को जानने वाले जीव का पुद्‌गल के साथ निश्चय से कर्त्ता-कर्म भाव नहीं है। यह शरीर जो दिख रहा है वह नोकर्म के रूप में है, यह नामकर्म के उदय से बना है। यदि शरीरनामकर्म का उदय समाप्त हो जाता है, तो धड़ाम से नीचे गिर जाता है। जैसे कि फुटबाल में जब तक हवा रहती है तब तक तो लात मारते ही दूर तक चली जाती है, किन्तु हवा निकलने के बाद नहीं। उसी प्रकार शरीर नामकर्म का उदय हवा की तरह काम करता है। एक शरीरनामकर्म का उदय समाप्त होते ही दूसरे शरीरनामकर्म का उदय आ जाता है। जिससे दूसरे शरीर की संरचना प्रारम्भ हो जाती है। जब वैक्रियिकशरीरनामकर्म की उदीरणा हो जाती है तो यह औदारिकशरीर समाप्त हो जाता है। फिर दूसरा प्रारम्भ हो गया। दूसरे के उपरान्त तीसरा शरीर बनना प्रारम्भ हो जाता है। कर्मसिद्धान्त को पढ़ने से हमें साहस मिलता है। भीतर शरीर नामकर्म का उदय और आयुकर्म का उदय चल रहा है। इसलिए यह शरीर चल रहा है। मात्र हमारे भोजन रूपी पेट्रोलियम के माध्यम से नहीं चल रहा है। शरीरनामकर्म के उदय में योग्य नोकर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता रहता है। इसी का नाम योग है। **गोम्मटसार जीवकाण्ड** में कहा है कि–

पोग्गलविवाइदेहोदएण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥२१६॥

अर्थात् पुद्‌गलविपाकी अंगोपांग नामकर्म और शरीरनामकर्म के उदय से मन, वचन, काय से परिणत वर्गणाओं के अवलम्बन से जीव की जो शक्ति कर्मों को ग्रहण करने में कारण होती है वह योग है।

कर्म और नोकर्म को आदान करने की शक्ति का नाम योग है। अर्थात् जिस शक्ति के द्वारा जीव के भीतर कर्म-नोकर्म वर्गणाओं की ग्रहण करने की क्षमता आती है उसी का नाम योग है। योग समाप्त हुआ नहीं कि शरीर समाप्त। ज्ञानी कर्मसिद्धान्त एवं अध्यात्म दोनों को जानता है, इसलिए कभी भी परद्रव्य रूप परिणमन नहीं कर सकता। परद्रव्य को ग्रहण नहीं कर सकता और पर द्रव्यों को उत्पन्न भी नहीं कर सकता। अथवा परद्रव्य में वह उत्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार अनेक प्रकार के पुद्‌गल द्रव्यों को वह जानता रहता है। जैसे-आप पारे को अंगुली से घी जैसा नहीं निकाल सकते। उसको एक अंश में भी पकड़ नहीं सकते। उसे स्पर्श भले ही कर लो, लेकिन पकड़ में नही आ सकता। **ण वि परिणमदि** उस रूप आपका परिणमन नहीं हो सकता, भले कितनी भी कोशिश करो। जैसे १० किलो दूध और एक छटाँक घी है। किसी वर्तन में एक छटाँक घी डाल दो और ऊपर से १० किलो दूध भी डाल दो तो भी घी नीचे दब जायेगा क्या? नहीं। एक सेकेण्ड नहीं लगेगा और एक छटाँक घी ऊपर आ जायेगा। यह है **ण वि परिणमदि**। इसलिए वह घी कभी नीचे रहने वाला नहीं है, क्योंकि वह दूध रूप परिणमन नहीं करता। घी अकेला हो तो नीचे रह सकता है, लेकिन यदि उसमें दूध डाल दिया जायेगा तो नियम से ऊपर आयेगा। यह अचूक सिद्धान्त है।

तुम्बुरुतृणकाष्ठं च, तैलजलमुपागतम्।
स्वभावादूर्ध्वमायाति, रेफस्य तादृशी गतिः॥

(कातन्त्ररूपमाला)

अर्थात् जैसे, तुम्बी, तृण, लकड़ी आदि जो हैं उन्हें पानी में डाल दो तो ऊपर आ जाते हैं, तैल भी ऊपर आ जाता है। वही स्थिति दूध में घी की होती है।

आत्मविशुद्धि एक अद्‌भुत रसायन-

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के रूप में परिणमन नहीं कर सकता। घुल-मिल नहीं सकता। फिर भी ग्रहण लग जाता है, ऐसा क्यों ? एक दूसरे के सामने आ जाते हैं तो ग्रहण लग जाता है। विभाव परिणमन के द्वारा आत्मा और पुद्‌गल द्रव्य का एकमेक रूप होने का एक ऐसा अद्‌भुत रसायन उत्पन्न हो जाता है। जिसे हम दुनिया के किसी भी यन्त्र आदि की शक्ति से पृथक् नहीं कर सकते। कार्मण और तैजसशरीर को कितने भी टेम्प्रेचर में डाल दो तो भी वे पक नहीं सकते। किन्तु आत्मा के परिणामों में विशुद्धि का ऐसा अद्‌भुत रसायन है कि अन्तर्मुहूर्त में ही कर्म बिखर जाते हैं, गल जाते हैं। यह आत्मा की बड़ी अचूक शक्ति है। पर्व के दिनों में कहा था कि-शरीर में छोटी व बड़ी आँतों के माध्यम से पूरे भोजन का पाचन होता है। आँतें बहुत मुलायम होती हैं। बाहर आपको सर्दी लगती है लेकिन भीतर

जो जठराग्नि है वह भोजन को पचा देती है। लेकिन कर्मों को नहीं पचा पाती। उन्हें पचाने के लिए तो आत्मा के परिणामों में ऐसी अद्भुत शक्ति होती है जो कर्मों की पूरी शृंखला को एक अन्तर्मुहूर्त में समाप्त कर देती है। परिणामों की शक्ति को देखो, कैसी विचित्रता है ?

दृष्टान्त—उड़नतस्तरी का एक लेख पढ़ा था। वह लगभग १५००० वर्ष पूर्व की सभ्यता को दर्शा रहा था। उस समय वैज्ञानिकों द्वारा जो तत्त्व बना था उसके ऊपर लकीर भी नहीं खींच पाये अर्थात् उसके आगे आज के वैज्ञानिकों ने कुछ विशेष कार्य नहीं किया। उस समय ऐसा अद्भुत रसायन तैयार किया गया था जो अत्यधिक प्रौढ़ रसायन था। वहाँ तक पहुँचने में आज के वैज्ञानिकों को बहुत समय लग सकता है। विकसित राष्ट्र को भी ऐसा रसायन बनाने में वर्षों लग सकते हैं। ऐसा उनका कहना था। उसी प्रकार आत्मा के परिणामों द्वारा कैसा रसायन तैयार हो जाता है कि दर्शनमोहनीय का बन्ध हो जाता है फिर तो अनन्त सिद्ध परमेष्ठी, अरहन्त परमेष्ठी आदि भी कुछ नहीं कर सकते, किन्तु आत्मा स्वयं चाहे तो थोड़ी सी अपनी दृष्टि पंचपरमेष्ठी की ओर कर ले और स्वयं के स्वरूप की ओर कर ले, थोड़ा सा प्रशमभाव आ जाये तो सत्तरकोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति को भी क्षणमात्र में अन्तःकोड़ाकोड़ी के भीतर लाकर रख देता है। अर्थात् उनकी शक्ति और स्थिति को कमजोर बना देता है। एक बार देखो तो आत्मा की इस अद्भुत शक्ति को। कैसी और कितनी है ? अतुलनीय व अनुपम शक्ति है इसके पास। शरीर की सौबत करने से इसका क्या-क्या हो गया है ? कुछ समझ में नहीं आ रहा है, समझाने पर भी समझने का प्रयास नहीं किया जा रहा है। अद्वितीय शक्ति है इसके पास। लेकिन वह कहाँ पर खो गई ? भूलभुलैया है क्या ?

सत्तर कोड़ाकोड़ी की स्थिति को अन्तर्मुहूर्त में अन्तःकोड़ाकोड़ी में ला सकता है, लेकिन अभी पसीना-पसीना हो रहा है। कहता है—क्या करें महाराज ? शरीर काम नहीं देता है तो आपकी आत्मा काम करती है क्या... बताओ ? ये सब फालतू बातें हैं। मोह के पालने से ऐसा ही होता है। महाराज प्रत्यक्ष दिखता—ये तो होता ही है। लेकिन जब स्वाभिमान को धक्का लगता है तो कहाँ से शक्ति आ जाती है। उस समय ऐसे-ऐसे दृश्य देखने में आ जाते हैं कि जो अनहोनी जैसे कार्य कर देते हैं। स्वाभिमान को धक्का लगने से हमारी दृष्टि स्वानुभव की ओर भी जा सकती है। आप कहते हैं—महाराज! एक बार आप धक्का लगा दो, यह आपके द्वारा ही हो सकता है। मैं क्या करता हूँ—"मैं तो निमित्त मात्र हूँ" आप स्वयं सोचेंगे तो आपका उपादान जागृत हो जायेगा। नहीं तो नहीं हो सकता। स्वाभिमान के कारण ही तो बाहुबली जंगल चले गये और अभिमान के कारण चक्रवर्ती घर में रह गए तथा जो प्रतिकूलता थी उसे निकाल दिया। **णाणी जाणंतो वि हु, पुग्गलकम्मं अणेहविहं** बार-बार यह जानते हैं। इसीलिए आचार्यों ने कहा है कि **बाहर की किताब बन्द करके रखो और शरीर की किताब को खोलकर देखो। जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्। यह खुली किताब है। इसे सुबह से शाम तक कभी भी पढ़ सकते हैं, इसे पढ़ने के लिए लाइट की भी आवश्यकता**

नहीं होती। आप इसे लेटे-लेटे भी पढ़ सकते हैं। कागज की किताबों की तो आप लोगों को बहुत चिन्ता होती है लेकिन आत्मा की चिन्ता नहीं होती, शरीर की चिन्ता फिर भी करते ही हो। आत्मा की किताब कभी पानी में भींगती नहीं, गैय्या इसे खाती नहीं, नीचे भी रख दो तो इसका कभी अपमान नहीं होता और ऊपर रखने से कभी मान नहीं होता। कहीं भी कैसे भी रखो, कभी भी इसको पढ़ सकते हैं। आप ही इसके स्वामी हैं, यह ध्यान रखना। आपकी इस किताब को आप ही पढ़ सकते हैं, कोई दूसरा नहीं पढ़ सकता। दूसरे की किताब को आप नहीं पढ़ सकते। यदि दूसरे के शरीर की किताब को भी कोई पढ़ सकता होता तो सारे के सारे डॉक्टर वैरागी हो जाते। सभी हमारे पास आ जाते हैं, लेकिन ऐसा आज तक नहीं हुआ। दूसरे के शरीर से नाक का मल टपकने लगता है तो घृणा करता है। लेकिन अपने शरीर की किताब को पढ़ लेता है तो फिर कहता है–**नव मल द्वार बहै घिनकारी** हमने देख लिया। कोई इसकी नकल नहीं कर सकता है। अपनी-अपनी किताब पढ़कर वैराग्य हो जाता है तो मोक्षमार्ग में आगे बढ़ जाता है। ''अपने शरीर की अशुचिभावना भाओ, इसके पन्ने खोलो'' अपने शरीर की अशुचि को देखो तो वैराग्य होता है। किन्तु दूसरे की अशुचि को देखो तो घृणा होती है। नाक सिकुड़ जाती है, नाम लेने से ही सिकुड़ जाती है। यहाँ तक कि बच्चे की नाक की नाकी निकलते समय भी आपकी नाक देखने लायक रहती है। बच्चे की नाक का मल निकालते तो हैं लेकिन उस समय चेहरे के एक्शन देख लो। मोह के कारण आपको घृणा तो नहीं होती है, क्योंकि मेरा बेटा है। ऐसा भाव जुड़ा है। अशुचिभावना भाने वाला इससे वैराग्य का पाठ अवश्य सीख लेता है। ज्ञानी जीव जंगल में रहते हुए भी खुली किताब का रात्रि में भी स्वाध्याय करते रहते हैं। रात्रि होने पर दिखता नहीं। कुछ न कुछ स्पर्श तो होता रहता है। इससे शरीर का स्वाध्याय हो जाता है और मान लो, वह भी नहीं है तो श्वासोच्छ्वास से शून्य तो नहीं रहता। श्वासोच्छ्वास कैसा चल रहा है, यह ज्ञान स्पर्शन इन्द्रिय के माध्यम से होता रहता है। जब नाक से श्वास जाती है और भीतर से बाहर आती है। उससे पता चलता रहता है। सिद्धान्त पर विश्वास करने से उसका प्रयोग करने से चैतन्यता की अनुभूति होती रहती है। इस प्रकार गाथा में बहुत गहरी बात कही जा रही है।

यहाँ इस गाथा की टीका में ही एक विशिष्ट विषय मिलता है, जो अन्यत्र नहीं है। **पुग्गलकम्मं अणेयविहं** की टीका करते हुए **आचार्य जयसेन स्वामी** ने लिखा है कि–**कर्मवर्गणायोग्यपुद्‌गल-द्रव्येणोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं पुद्‌गलकर्मानेकविधं मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं** अर्थात् उपादानकारणभूत कर्मवर्गणा योग्य पुद्‌गल द्रव्य द्वारा किया हुआ है। ऐसे मूल और उत्तरप्रकृति के भेद से अनेक प्रकार होने वाले पुद्‌गल कर्म को विशिष्ट भेदविज्ञान के द्वारा जानता हुआ जीव निश्चय से न तो परद्रव्य पर्याय स्वरूप पूर्वोक्त कर्म के रूप परिणमन करता है और न उस रूप उत्पन्न होता है। यहाँ ध्यान योग्य यह है कि **कर्मवर्गणा के योग्य पुद्‌गल को जीव ग्रहण करता है। जबकि बन्ध की परिभाषा में तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है कि कर्मण: योग्यान् अर्थात् कर्म के योग्य पुद्‌गलों को**

ग्रहण करता है। इस परिभाषा में वर्गणा शब्द नहीं है। इस प्रसंग में एक प्रश्न उठता है कि–**बन्ध के पूर्व जो कर्म के योग्य था वह क्या था ? पुद्‌गल था। वह पहले वर्गणा के रूप में था या डॉयरेक्ट कर्म के रूप में बनने योग्य था** ?

वर्गणाओं की संख्या में तो आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गण, तैजसवर्गणा और कार्मणवर्गणा इत्यादि अनेक भेद हैं। तीन प्रकार के शरीर और उनके मिश्र तथा एक कार्मणकाय इस प्रकार सप्तविध कायवर्गणा का कथन भी आता है। इन सात प्रकार की वर्गणाओं में से तीन शरीर और उनके मिश्र में से किसी एक प्रकार के शरीररूप होने योग्य कायवर्गणा को जीव अन्तर्मुहूर्त के लिए ग्रहण करता है या कर सकता है। यह भी एक भिन्न विषय है। सिद्धान्तग्रन्थों की अपेक्षा **तत्त्वार्थसूत्र** की टीकाओं में यह भेदभिन्नता पायी जाती है। इन सात प्रकार की वर्गणाओं का वर्णन सिद्धान्तग्रन्थ **धवला, जयधवला, गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड** आदि में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। केवल **तत्त्वार्थसूत्र** की टीका में ही यह मिलता है। तात्पर्य यह है कि कर्मवर्गणा योग्य पुद्‌गलों को ग्रहण करना तथा कर्म के योग्य पुद्‌गलों को ग्रहण करना इन दोनों बातों का अर्थ अलग-अलग निकलता है। प्रवाह में तो यही है कि कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता है। उन्हें कर्म रूप में परिणत कर लेता है और यहाँ पर कर्मवर्गणा के योग्य पुद्‌गल को ग्रहण करता है। पश्चात् कर्म रूप परिणत करता है, ऐसा आया है। योगों के साथ या भावों के साथ सम्बन्ध जुड़ने से कर्मरूप होता है। जैसे–सातावेदनीय, ज्ञानावरणीय यह कर्म माना जायेगा, वर्गणा नहीं। वह कर्मवर्गणा मानी जायेगी, जो कर्म के रूप में परिणत हो चुकी है। जिसके साथ हमारा बन्ध है। साता, असाता आदि मूल व उत्तर प्रकृतियों के रूप में बन्ध होता है, यह कर्म कहलाता है। कर्म कैसे बन्धते हैं ? तो कर्म वर्गणा से कर्म बन्धते हैं, लेकिन यहाँ ''कर्मवर्गणा के योग्य'' पुद्‌गलों को ग्रहण करता है, ऐसा कहा है, ''कर्म के योग्य'' पुद्‌गलों को ग्रहण करता है, ऐसा नहीं कहा।

निज शुद्धात्मतत्त्व और रागादि रूप जो भावास्रव है इन दोनों में भेद है। ऐसा जिसको ज्ञान है उसे भेदविज्ञानी कहा है। मतलब परद्रव्य को अपना विषय बना लेता है लेकिन इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि यह पुद्‌गल द्रव्य रूप, रस, गन्धादि से परिपूर्ण है और मैं ठीक इससे विपरीत स्वभाव वाला हूँ, इस प्रकार ज्ञानी जानता है और भी विचार करता है कि–उपादान रूप से निश्चय से, मैं इसे ग्रहण नहीं कर सकता। इस रूप परिणमन नहीं कर सकता और न इस रूप उत्पन्न हो सकता हूँ, और ये मेरे रूप नहीं हो सकते आदि रूप भेदविज्ञान करता है। पूर्व में बताया गया था कि–मिट्टी और कलश का जैसा तादात्म्य सम्बन्ध है वैसा आत्मा के साथ कर्मवर्गणाओं के तादात्म्य सम्बन्ध का अभाव है। क्योंकि जैसे–मिट्टी कलश रूप में और खप्पर रूप में परिणत हो जाती है उसी प्रकार यह आत्मा शरीर के रूप में अर्थात् परद्रव्य की पर्याय रूप में परिणत नहीं होती है, न ही तादात्म्य रूप में पुद्‌गल को ग्रहण करता है, न ही रूप, रस, गन्धात्मक रूप में परिणत होता है। अनन्तकाल से जीव पुद्‌गल के

साथ में रह रहा है फिर भी दोनों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। उसका उसमें कोई तालमेल नहीं। आप लोग भीतर कीचड़, कंकर, पत्थर, सीमेंट, कंकरीट आदि मिला करके ईंट आदि से दीवाल बना करके खड़ी कर देते हैं और उसके ऊपर रंग रोगन आदि करके ऐसा चमका देते हैं कि मुख को देखने के लिए दर्पण की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है, लेकिन ऊपर की परत और भीतर की कीचड़ की परत दोनों बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं। भले ही एकमेक जैसा हो गया है, ऐसा लगता है। लेकिन ऐसा है नहीं। जो व्यक्ति इस रसायन पद्धति को जानता है, भेदविज्ञान को जानता है, वह कहता है कि-यह ऊपर से रंग-रोगन जैसा लग रहा है, भीतर देखोगे तो रोओगे। भीतर तो कुछ नहीं है, न रंग है न रोगन है। रोगन का अर्थ क्या है ? रोग न अर्थात् भीतर रोग नहीं है। लेकिन नीरोग है क्या ? नहीं। आत्मा में रागद्वेष और योग के कारण कर्म प्रविष्ट हो जाते हैं। आत्मा के प्रदेशों में कर्म के प्रदेशों का अन्योन्यप्रवेशात्मक बन्ध होता है। दोनों के प्रदेश एकमेक हो जाते हैं, एक-दूसरे में प्रविष्ट होते चले जाते हैं। उसका नाम बन्ध है। यह टूट नहीं सकता, बिखर नहीं सकता। जब तक उनका अनुभाग उदय के द्वारा समाप्त नहीं होता तब तक वह कर्मप्रकृति छूट नहीं सकती, तभी तक की उसकी उम्र (स्थिति) मानी जाती है।

ग्रन्थों में जीवस्पर्श, कर्मस्पर्श का वर्णन है। कर्मस्पर्श क्या है ? जीव के प्रदेशों में जो वर्गणाएँ पड़ी हैं, वह कर्मस्पर्श है। तथा आत्मप्रदेशों के साथ जो कर्म बन्धा हुआ है, जो कि सत्ता में है वह कर्मबन्धस्पर्श है।

दृष्टान्त—जैसे आपके शरीर में घाव है और उसके ऊपर धूल आकर चिपक गई। इन दोनों में कितना अन्तर है ? घाव तो शरीर के साथ तादात्म्य को लिए हुए है और धूल ऊपर-ऊपर चिपकी है। धूल तो फूँक मार दो तो उड़ जाती है, लेकिन घाव को फूँकने से उड़ जाता है क्या ? नहीं, कुछ नहीं होता। हाँ, बहुत दिनों में चीर-फाड़ करके ठीक कर देंगे तो ठीक हो जायेगा। चीरा-फाड़ी करते समय आँखों में पानी क्यों आता है ? तादात्म्य होने से। दो महीने तक घाव वैसा का वैसा पीड़ादायक रहता है, लेकिन धूल तो तुरन्त उड़ जाती है।

जीव का जीव के साथ जीवस्पर्श भी कहा है। जैसे-कोई सम्यग्दृष्टि है या सिद्ध परमेष्ठी हैं। वहाँ कर्म-नोकर्म भावकर्म तीनों नहीं हैं, किन्तु उनके स्थान पर ही अनन्तानन्त निगोद जीवराशि विद्यमान है। उन्हें हटा नहीं सकते, वे हट नहीं सकते। उन्होंने अपने कर्मों को तो हटा दिया, लेकिन सूक्ष्म जीवों के साथ जीवस्पर्श है। क्योंकि सूक्ष्मनिगोदिया जीव का अकेला रहना सम्भव नहीं है। अनन्तनिगोद जीव एक साथ लोथड़ा जैसे रहते हैं। उनके साथ कर्मबन्ध, नोकर्मबन्ध आदि सब कुछ है और सिद्धों के साथ यह कुछ नहीं है। ऐसा जीवस्पर्श होने से सिद्धों को कुछ विकार रूप परिणमन आदि कुछ नहीं होता। दूसरी बात एक कर्म का दूसरे कर्म के साथ भी कर्मस्पर्श नहीं होता। यह भी ध्यान रखना। यदि मान लो कर्मस्पर्श होने लग जाए तो जैसे-जिस समय तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हुआ, उसी समय दूसरी प्रकृतियों का भी बन्ध हुआ तो सभी एकमेक हो जायेंगी। जबकि सब सेपरेट-

सेपरेट प्रकृतियाँ हैं। भिन्न-भिन्न स्थिति, अनुभाग को लिए हुए ही भिन्न-भिन्न प्रकृतियों की व्यवस्था है। अतः सारा ब्रह्माण्ड कर्मवर्गणाओं से ठसाठस भरा है, इतने मात्र से कुछ नहीं होता। रागद्वेष मत करो तो कोई भी वर्गणा नहीं चिपक सकती। जबरदस्ती कर्मवर्गणा चिपकती नहीं है, किन्तु **सकषायत्वात् जीवः कर्मणः योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते** अर्थात् जीव जब कषाय सहित होता है तो कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, ऐसा सिद्धान्त है। यहाँ कर्मणः में हेतु अर्थ में पंचमी विभक्ति है। जब कर्म फल देकर चला जायेगा तो विस्रसोपचय बनेगा। वर्गणाओं की भी स्थिति होती है। वह भी उसी के ऊपर डिपेण्ड रहती है।

पुद्गल कर्म को जानने वाले जीव का उसके साथ कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए ज्ञानी जीव को साहस रहता है, वह वस्तुस्वरूप को जानता है। जो रसायनशास्त्र को जानते हैं, वे सोने को तपाते हैं, तपाने के उपरान्त उसमें किट्ट-कालिमा निकल जाती है, तो उससे डरते नहीं हैं। स्वर्ण को तपाते हैं तो भस्म बन जाती है। इसलिए जब तक आत्मा के साथ पौद्गलिक रसायन है तब तक कुछ नहीं होगा, आत्मा में जो विकार है वह तो तपाने से अलग होता चला जायेगा। ज्ञानी समझता है कि कर्मोदय में तपाने से कर्म तपेंगे, आत्मा नहीं। इसके द्वारा कर्म की निर्जरा होगी, मेरी निर्जरा नहीं होगी। यह पर्याय भले ही बदल सकती है, लेकिन इससे मेरा अभाव नहीं होगा, क्योंकि यह पर्याय सो मेरी नहीं है। चौरासी लाख योनियाँ और चार गतियाँ हैं, इसमें कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम से परिवर्तन सम्भव है, किन्तु मेरे स्वभाव के अन्दर कुछ परिवर्तन नहीं। हाँ, कर्म के उदय से मेरे भीतर जो वैभाविक परिणतियाँ हैं, उनका भी तपन के कारण क्षरण सम्भव है। क्षरण करना अनिवार्य भी है। इस प्रकार ज्ञानी जीव सहनशीलता लाते रहते हैं और कर्मों की निर्जरा करते रहते हैं।

गजकुमार के सिर पर सिगड़ी जल रही हैं, फिर भी वे सोचते हैं कि जब शरीर ही अपना नहीं है, तो सिगड़ी अपनी कहाँ से आयी ? ऐसा विचार करते-करते शुक्लध्यान में लीन हो जाते हैं। यह सब क्या है ? यह एकमात्र सम्यग्ज्ञान की दृढ़ता है। विश्वास की दृढ़ता है। उस आस्था को टटोलो तो मालूम पड़ेगा कि उसमें किस क्वालिटी की पोटेंसी है। **भेदविज्ञान के माध्यम से आस्था दृढ़ होती चली जाती है। फलतः साधक तपस्या को स्वीकार करता जाता है, अतः उसकी तपस्या बढ़ती जाती है।** इसकी भी विधा है-फिर आपको कुछ नहीं होने वाला है।

दृष्टान्त—कड़ाव में आपने पूड़ी डाल दी। वह कच्ची है, तेल उबल रहा है। पानी के कारण वह नीचे चली जाती है। गरम तेल की तपन से पानी जल जाता है। जब पूरा पानी जल जाता है तब वह तेल के ऊपर तैरने लगती है। पक जाने पर वह पूड़ी ऊपर आ जाती है। अब उसे ज्यादा देर तक तैराओगे तो जल जायेगी। अतः होशियार रहना आवश्यक है। आप उसका रंग देखते रहते हैं कि पूड़ी लाल न हो जाये। अन्त में पूड़ी को कड़ाव में से निकाल लेते हैं। इसी प्रकार ज्ञानी जीव तप के द्वारा कर्मों के सारे के सारे सत्त्व को जला देते हैं। द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा इसी ढंग से कर्म निकलते हैं। जब पानी

का अंश जल जाता है या सूख जाता है तो उसे जली हुई पूड़ी नहीं किन्तु तली हुई पूड़ी कहते हैं। यह पानी के अंश को निकालने की प्रक्रिया है। शुक्लध्यान के द्वारा ऐसी-ऐसी आँच दी जाती है कि सारे के सारे कर्म निकल जाते हैं। जब तक जलांश नहीं जलता तब तक उसे पक्की रसोई नहीं कहते। दो प्रकार की रसोई होती है-१. कच्ची रसोई और २. पक्की रसोई। कच्ची का मतलब कच्चा है क्या ? नहीं। हम तो यह समझते हैं कि जो तली हुई वह पक्की रसोई है और जिसमें पानी रहता है वह पकी हुई तो है लेकिन जलांश होने से कच्ची रसोई है। सब्जी, दाल, भात आदि पकी हुई होने पर भी कच्ची रसोई कहलाती है। शुक्लध्यान के द्वारा पक्की रसोई बनती है, फलतः वह तेरहवें गुणस्थान में चला जाता है। सब लोग देखते रह जाते हैं कि हमे भी यह सौभाग्य मिल जाये... तो लगाओ ध्यान,... बहुत कठिन है।

सद्भावना—हम सोचते हैं कि आत्मा में कैसे-कैसे परिणाम होते हैं ? अनन्तकाल से परिणामों का क्रम चला आ रहा है। इतना समय निकल गया, विकारी परिणामों का क्रम आज तक समाप्त नहीं हुआ। कोई ज्ञानी जीव ऐसा अद्भुत पुरुषार्थ करता है कि इस अनन्तकालीन संतति को एक अन्तर्मुहूर्त में ही समाप्त कर देता है। कोई भी करेगा तो अन्तर्मुहूर्त में ही काम होने वाला है। फिर भी कितने अन्तर्मुहूर्त निकलते जा रहे हैं। ध्यान रखना, कम से कम एक भव और रहे, ऐसा पुरुषार्थ करना है। जो मुनि बने हैं उनको भी और जो नहीं बने हैं उन्हें भी, एक भव और हो। बस, यह संसार की, भव की संतति समाप्त हो जाये। यही सद्भावना रखो। कम से कम एक बार और मुनि बनना अनिवार्य है। इसमें किसी भी प्रकार श्रद्धा में कमी नहीं करना। इस गति में नहीं बन सके तो किसी भी गति में नहीं बन सकते। मुनि बनोगे तो मनुष्यगति में ही। अत्यन्त दुर्लभता है, घबराओ नहीं। जब अनन्त जीव चले गये तो एक और सही लेकिन बार-बार यहाँ आना न पड़े, इस प्रकार की भावना भाओ। निश्चित ही काम सफल होगा।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अपने संकल्प-विकल्प जाल रूप परिणाम को जानते हुए इस जीव का उन परिणामों के निमित्त से उदय में आये हुए कर्मों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भले ही हो किन्तु तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है। ऐसा ज्ञानी जानता है। यह अगली गाथा में बताया जा रहा है। कर्म के उदय में उपयोग के ऊपर कर्म का प्रभाव पड़ने से संकल्प-विकल्प होते हैं।

दृष्टान्त—जैसे, हवा का झोंका लगने पर सरोवर में लहरें आती हैं। हवा का झोंका लगने पर रोंगटे खड़े होते हैं। यह निमित्त-नैमित्तिक कार्य है। हवा का झोंका आये और रोंगटे खड़े न हों, ऐसा हो नहीं सकता। दुःख का संवेदन न हो, यह संभव ही नहीं हो सकता, क्योंकि कर्मों का जो फल है वह कर्मफल चेतना है, वह कभी छूट नहीं सकती। कर्मफलचेतना संवेदनात्मक होती है। कर्म के उदय में संवेदन होने के उपरान्त भी जो हर्ष-विषाद नहीं करता है, यह सम्यक् आत्मपुरुषार्थ है। ज्ञानी जीव संकल्प-विकल्पों से दूर रहता है। इसी बात को आगे स्पष्ट कर रहे हैं—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं॥८३॥

अन्वयार्थ– **(णाणी)** ज्ञानी **(सगपरिणामं)** अपने परिणामों को **(अणेयविहं)** अनेक प्रकार से **(जाणंतो वि)** जानता हुआ भी **(हु)** निश्चय से **(परदव्वपज्जाए)** परद्रव्य पर्याय में **(ण वि परिणमदि)** न परिणमन करता **(ण गिण्हदि)** न ग्रहण करता और **(ण उप्पज्जदि)** न उनमें उत्पन्न होता है।

अर्थ–ज्ञानी जीव अपने अनेक प्रकार के होने वाले परिणामों को जानता हुआ भी निश्चय से परद्रव्य की अवस्था रूप न परिणमन करता है, न उसको ग्रहण करता है, न उस रूप उत्पन्न ही होता है, इसलिए निश्चय से उसके साथ कर्त्ता-कर्म भाव नहीं है।

निष्पाप आप अपने अपने गुणों को,
ज्ञानी सदैव लखते तज दुर्गुणों को।
आधार ले न पर का, पर में न जाते,
वे साधु किन्तु न कभी पर रूप पाते ॥८३॥

व्याख्या–केवल चतुर्थ चरण में ही थोड़ा-सा अन्तर आया है, शेष गाथा पूर्ववत् है। क्षयोपशम भाव के कारण होने वाले संकल्प-विकल्प रूप परिणाम, जिसको आत्मा ने स्वयं उपादान रूप होकर किया है, उनको विशेष भेदविज्ञान के बल से स्पष्ट जानता हुआ, ज्ञानी जीव उदय में आए हुए पुद्‌गल कर्म की पर्याय रूप में शुद्धनिश्चयनय से न तो परिणमन ही करता है, न ही तन्मयता के साथ उसे ग्रहण ही करता है और न उस रूप से उत्पन्न ही होता है, क्योंकि मिट्टी और कलश में परस्पर जिस प्रकार उपादान-उपादेयभाव है, उसी प्रकार पुद्‌गल कर्म के साथ आत्मा का उपादान-उपादेय भाव नहीं है। इसलिए जीव का कर्म के साथ निश्चय से कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है।

अपना परिणाम क्या है ? उसमें दूसरा निमित्त क्या है ? ज्ञानी जीव यह सब कुछ जानता है। अपने परिणाम और अपने स्वभाव के बारे में जानता है कि जो कोई भी भाव उत्पन्न हो रहा है वह मेरे में परद्रव्य के रूप में उत्पन्न नहीं हो रहा है, बल्कि परद्रव्य के निमित्त से अपने भीतर जो उत्पन्न हो रहा है उसे मैं जान रहा हूँ, देख रहा हूँ। कई लोग संकल्प-विकल्प से परेशान हो जाते हैं, उन लोगों से हमारा कहना है कि **संकल्प-विकल्प से परेशान न होइये, क्योंकि वह परेशानी तो जीवन में कभी छूट नहीं सकती। ज्ञान एक ऐसा गुण है उसमें वह सब कुछ रिफलेक्टिड हो जाता है, वह छूटेगा कैसे ?** स्मरण हो जाये लेकिन स्मरण करो नहीं। उसका वह स्वभाव है।

दृष्टान्त–जैसे, दर्पण का स्वभाव है दिखाना। दर्पण के सामने कोई वस्तु रखने पर वह रिफलेक्टिड हो जाती है। क्या वह दर्पण में घुस जाती है ? दर्पण में जो पदार्थ दिख रहा है वह दर्पण में घुसता नहीं किन्तु रिफलेक्टिड हो जाता है। यह रिफलेक्शन तब तक रहता है जब तक पदार्थ दर्पण

के सामने रहता है। वह हट जाता है और दूसरा पदार्थ आ जाता है तो वह पुनः रिफलेक्टिड हो जाता है। इस प्रकार पदार्थों की मालायें एक के बाद एक रिफलेक्टिड होती चली जाती हैं। पदार्थ दर्पण को फोड़ नहीं सकते। आँखें बन्द करने के उपरान्त भी दर्पण में तो वे झकलते रहते हैं। बाहर से आप आँखें बन्द कर सकते हैं, लेकिन ज्ञान के दर्पण में जो ज्ञेयाकार झलक रहा है, उसका क्या करोगे ? घबराते क्यों हो ? आने दो, उससे कुछ होने वाला तो नहीं है। दर्पण में पदार्थ के प्रतिबिम्ब की भाँति ज्ञान में ज्ञेयाकार रूप से पदार्थ झलकते हैं, किन्तु ज्ञान में ज्ञेय प्रविष्ट नहीं होते।

ज्ञेय को ज्ञेय रूप में रहने दो–

कर्मनिर्जरा करना चाहते हो तो ज्ञेय को ज्ञेय रूप से रहने दो, उसे हटाने की क्या बात ? सही बताया जाये तो आगे जाकर **मा चिंतह...** कहने का अर्थ भी यही है कि आप चिन्तन भी मत करो। उपयोग को शान्त बनाये रखो। आप डरते क्यों हो ? आपको सहन नहीं होता है तो उधर देख लो... आपको कुछ न कुछ तो दिखेगा। **मन एक ऐसा दर्पण है उसमें आप बुद्धिपूर्वक कोई पदार्थ नहीं देखोगे तो कोई न कोई दूसरा पदार्थ तो दिखेगा ही। लेकिन जिसको आप देखना चाहते हो उसके द्वारा कर्म निर्जरा में कमी होगी। जो आता है तो आने दो। हम बुला नहीं रहे हैं। आ रहा है तो आने दो, रुकेगा नहीं, टिकेगा नहीं, यह ध्यान रखना।** किसी भी पदार्थ को आपने देखा और आँख बन्द कर ली तो वह पदार्थ दिखता रहता है। पुनः कोई अन्य पदार्थ आ जाये तो यह बात अलग है। किन्तु वह टिकेगा नहीं और आप उसे हटाने का प्रयास नहीं करेंगे तो वह अपने आप चला जायेगा। हम उसे हटाने का जितना प्रयास करेंगे, उतना हम फेल हो जाते हैं। रिफलेक्शन का यही एकमात्र गुण है कि पदार्थ आया चला गया, दूसरा आया चला गया। यदि डायवर्सन देना चाहो तो देओ। इसका मतलब आप डर गये। **जं किंचिवि चिंततो...** जैसे भोजन में यथालब्ध होता है उसी प्रकार ध्यान में भी होता है। अर्थात् जिस किसी का भी ध्यान करो, किन्तु एक शर्त है, **णिरीहवित्ति** अर्थात् निरीहवृत्ति होनी चाहिए। यह कंडीशन है, तभी असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, अन्यथा नहीं। यदि डायवर्सन दे दिया तो कमजोरी मानी जायेगी। प्रारम्भिक दशा में यह सम्भव है, ऐसा होता ही है। इसलिए प्रारम्भिक दशा में तो मना नहीं किया, लेकिन जब निरीहवृत्ति हो, एकत्व को प्राप्त कर लिया हो, उस दशा में यह डायवर्सन उचित नहीं है। डायवर्सन देकर दस मिनट खराब क्यों करते हो ? वह आया, तो आने दो, जीतो उसको। जीतने का अर्थ–उससे लड़ना-भिड़ना, पहलवानी करना है क्या ? नहीं। ज्ञानी कौन सी कसरत करता है ? निरीहवृत्ति है तो उसके पास पूरा बल है, सामर्थ्य है। यदि निरीहवृत्ति नहीं है तो चाहे आँखें बन्द कर लो, कान बन्द कर लो, इन्द्रियों की सभी खिड़कियाँ बन्द कर लो, तो भी मन की खिड़की तो और अच्छे ढंग से खुल जाती है। फिर रूप, रस, गन्ध आदि सारा एक साथ आ जाता है। तात्पर्य यह है कि **संकल्प-विकल्प हमारी कमजोरी है, यह भी हमारे ही कर्म का फल है।** रिफलेक्शन तो आयेगा। कर्म तो एक प्रकार से कैमरे के समान हैं। जैसे ही बटन दबाया तो भीतर फोटो

आयेगा। ज्ञान का कार्य है जानना। आत्मा का कार्य है जानना और ज्ञेय का कार्य है जनाना, क्योंकि आत्मा में जानने का ज्ञानगुण है तो ज्ञेय में जनाने का प्रमेयत्व गुण है। ज्ञेय का कार्य है रिफ्लेक्टिड कराना। जितना आपमें गैसिंग पॉवर है उतने ही अनुभाग के साथ दिखता है। कुछ ऐसे कैमरे होते हैं जिसमें बहुत क्लीयर फोटो आती है। उसी प्रकार जितने इन्ट्रेस्ट अर्थात् रुचि के साथ आप जानते हैं, उतना ही स्पष्ट रिफ्लेक्शन हो जाता है। मेरा ज्ञान दर्पण है। दर्पण में पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। पदार्थ कभी दर्पण रूप परिणमन नहीं करता और दर्पण कभी पदार्थ रूप परिणमन नहीं करता। जैसे यदि दर्पण में अग्नि दिख रही है, अग्नि ज्ञेयाकार रूप है, अग्नि का बिम्ब दिखता है, अग्नि दर्पण में घुसती नहीं है। यदि अग्नि दर्पण में प्रविष्ट हो जायेगी तो दर्पण टूटना चाहिए। तेज अग्नि दर्पण में रिफ्लेक्टिड हो रही है, यदि तद्रूप हो जाये तो दर्पण जलना चाहिए। रिफ्लेक्शन में तद्रूप परिणमन का अभाव होता है। अगर ऐसा हो जाये तो सबसे ज्यादा दुःखी केवलज्ञानी हो जायेंगे, क्योंकि उनके ज्ञान में दुनिया के जितने दुःखी जीव हैं, सब झलक रहे हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञेय, ज्ञान में ज्ञेयाकार रूप से झलकते हैं, ज्ञान ज्ञेय रूप नहीं होता। दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित होते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि मेरे ज्ञान में मेरी इच्छा के विपरीत कोई चीज न आए, इसलिए सबसे अच्छा है कि सो जाओ। लेकिन आचार्यों ने इसे सबसे बुरा कहा है, क्योंकि निद्रा प्रमाद में आता है। इसका नाम निर्विकल्पता नहीं है। बल्कि विकल्प से डरने के लिए यह एक प्रयोग है। निद्रा एक प्रमाद है अतः प्रमाद में जो बन्ध होता है वह इसमें नहीं होगा क्या ? निद्रा लेना या सो जाना कोई पुरुषार्थ नहीं है। सही पुरुषार्थ तो यह है कि ज्ञान ज्ञेय से प्रभावित न हो, यही ज्ञान की अप्रमत्तदशा है और यही असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा के लिए कारण है। यह आत्मपुरुषार्थ माना जाता है। सो जाना, यह तो पलायन है। काम तो गलत करें और पलायन अर्थात् भागना चाहें यह उचित नहीं है। यह बात अलग है कि अज्ञान दशा में जो कार्य किये हैं उन्हें हे भगवन्! मैं ज्ञानदशा में कैसे भोगूँ ? लेकिन ज्ञानदशा में ही समतापूर्वक भोगे जा सकते हैं।

प्राथमिकदशा में यह कहा जाता है कि–हे भगवन् ! मैंने ही बीज बोये हैं, तो कर्मफल तो लगेंगे ही। लेकिन मैं विषाक्त फल खाना नहीं चाहता। मुझे विषाक्त फल न खाना पड़े यह कैसे संभव है ? सम्भव तो तब है जब समता परिणामों से असंख्यातगुणी निर्जरा और उदयाभावी क्षय के माध्यम से उसे टालने का प्रयास करो। यही ज्ञानी का आत्मपुरुषार्थ है, चूँकि ज्ञानी आत्मपुरुषार्थ में सतत सावधान रहता है, इसलिए कभी घबराता नहीं और घबराने से वह कर्म छूटता भी तो नहीं है। जब ऐसे छूटना ही नहीं है तो मैदान में आओ न! लड़ना है तो कर्मों से अच्छे ढंग से लड़ो न, क्या होता है देखने दो।

दृष्टान्त–जैसे, कुश्ती लड़ते हैं तो सर्वप्रथम कुश्ती लड़ने वाले दोनों आपस में हाथ मिलाते हैं, फिर मैदान की माटी लेकर एक-दूसरे के हाथ में लगाते हैं। फिर कुश्ती चालू कर देते हैं। पहले

तालीम दी जाती है, तब मैदान में आते हैं। ऐसे प्रतिदिन अखाड़े में तो कुश्ती चलती रहती है, लेकिन जब मैदान में आ जाते हैं तो एक साथ जमीन को बिना हाथ लगाये तीन-चार गुलाटे ले लेते हैं। कुश्ती में अपनी-अपनी चुस्ती दिखाते हैं। यह भी एक रंगमंच है। उसमें ऐसी प्रस्तुति होती रहती है। वहाँ उनका खून तो दमकता ही रहता है। इसी प्रकार मोक्षमार्ग में आने के उपरान्त हाँ, भैया! आ जाइये, लगाइये दाँव। कर्म तो कभी दाँव लगाता नहीं, इसलिए विजय तो अपनी ही है। हम द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को परिवर्तन कर देंगे तो वह क्या दाँव लगायेगा? अपनी दाँव तो ज्ञानपरक है। वह स्तिबुक-संक्रमण के माध्यम से ऐसा गुलाटा लेता है कि देखते ही रह जाते हैं। ऐसे हजारों वर्ष तक, पूर्वकोटि वर्ष तक कर्मों से डरे बिना हाथ दिखाते हुए चले जाते हैं। किसी प्रकार की चिन्ता नहीं, क्योंकि चिन्ता अज्ञान की परिणति है। ज्ञान होने पर क्या चिन्ता ? फिर तो रंग चढ़ जाता है। जैसा रंग मिलता है वैसा चढ़ जाता है। अतः सोच समझकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देखकर कार्य करना चाहिए।

कमजोर व्यक्ति से कभी सलाह नहीं लेना चाहिए।

यह लिखना हो तो लिख लो। इसीलिए आज सब गड़बड़ी दिख रही है। वह कहता है—हमसे पूछ लिया, अच्छा किया। नहीं तो गड्ढे में गिर जाते। उनके विचार, उनकी सोच, परिणाम उसी ढंग के रहते हैं। इसलिए उनसे सलाह नहीं लेना चाहिए। भिन्न-भिन्न द्रव्य का भिन्न-भिन्न परिणमन होते हुए भी हमारा दृष्टिकोण भिन्नता को पकड़ नहीं पाता। अतः वैसी दृष्टि नहीं बन पाती। आखिर कर्मफलचेतना है, जो कि अनुभव में आ रही है। वह भी स्वभाव नहीं है, कर्म का रिफलेक्शन मात्र है।

दृष्टान्त—आप बाहर बैठे हो। गर्मी का समय हो। तेज धूप हो तो वदन गर्म हो जाता है। वदन गर्म होने का मतलब क्या बुखार आ गया ? नहीं। यह तो बाहर के गर्म वातावरण का प्रभाव है, अतः बाहर से आया है। बुखार के लक्षण अलग होते हैं और बाहरी गर्मी के लक्षण अलग होते हैं। इसका ज्ञान नहीं होने के कारण उसे बुखार मान लेता है। यदि वह स्वयं समझता है तो दोनों में भेद करता है। यदि बुखार होता है तो समझता है कि यह कर्म का फल मुझ पर टूट रहा है। कर्मफल का अर्थ केवल रिफलेक्शन है। कर्मफल को अपना स्वभाव मानना अज्ञान है और ज्ञान तथा कर्मफल के बीच अन्तर समझना ज्ञान है। दोनों के लक्षणों के आधार पर दोनों में अन्तर समझना आवश्यक है। अन्यथा दुःख ही दुःख है।

ज्ञेय का ज्ञान में आना कर्मफलचेतना नहीं है। इस संसार में सुखी जीव अनन्तवें भाग हैं और दुःखी अनन्तगुणे हैं। उनका अतीत का दुःख भी अनन्त है। केवलज्ञानी अनन्तजीव को भी जानते हैं और उनके अनन्त दुःख को भी जानते हैं। जानने मात्र से कोई दुःखी नहीं होता। यदि जानने मात्र से दुःखी होते तो केवली को सबसे ज्यादा दुःखी होना चाहिए। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा होता तो एक भी व्यक्ति कभी मुक्त हो ही नहीं सकता। वास्तविकता तो यह है कि एक सिद्धपरमेष्ठी को दुनिया

के प्राणियों के दुःख को देखकर दुःख नहीं होता है। इसी प्रकार ज्ञानी भी इसे यह कर्म का फल है, फल देकर कर्म चला जाता है ऐसा जानकर दूसरे के कहने में दुःख नहीं मानते हैं। यदि मानलो, कोई पागल आपको जानता नहीं है और आपको गाली दे रहा है तो आपको गुस्सा आता है क्या ? नहीं, क्योंकि आप जानते हैं कि वह पागल है। इसलिए दुःख नहीं हुआ और यदि कोई समझदार गाली दे तो आप नाराज होंगे कि नहीं ? यह तो पूछने की बात ही नहीं है। नाराज तो होंगे ही। उसी प्रकार ज्ञानी आपके पास से समझदारी के साथ चले जाते हैं, विकल्प नहीं करते। जैसे–आपको पागल कुछ कह दे तो दुःख नहीं होता है। उसी प्रकार ज्ञानी को अज्ञानी के कुछ कहने पर दुःख नहीं होता है। कुछ समय के लिए तो विकल्प हो सकता है, लेकिन ज्ञानी थोड़ी ही देर में ज्ञान के माध्यम से समाधान कर नैमित्तिक समझकर टाल देता है। टालना ही चाहिए, ज्ञानी तो टालते ही हैं। ज्ञान से समाधान करना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार सोचे बिना विकल्पों को टाला नहीं जा सकता। ज्ञानी पहले से ही समाधान करने की पूर्वभूमिका बनाकर बैठते हैं।

अवसर देखो, लाभ उठाओ–

दृष्टान्त–जैसे, श्रावणमास आने के पहले ही किसान बीज बोकर रख लेता है फिर समय पर पानी गिरने पर बीज अंकुरित, पल्लवित हो जाते हैं। अर्थात् समय पर अच्छी फसल आती है। उचित समय पर उचित श्रम से उचित फसल प्राप्त होने से किसान प्रसन्न होता है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी पहले से विचार करके रखते हैं कि यह व्यक्ति ऐसा है। इसके द्वारा कर्मफल मिलने वाला है। नोकर्म के माध्यम से ही कर्म फलते हैं, इत्यादि पूर्वभूमिका बना लेते हैं तो कर्मोदय का फल अच्छे से सहन हो जाता है। आप सबको भी इसी प्रकार पूर्वभूमिका बनाने का अभ्यास करना चाहिए। ठण्ड लग रही है तो आसन बदल दो। मानसिकता बनाओ कि ऐसा होना है। जैसे कि–अष्टमी का उपवास करना चाहते हैं तो पूर्वभूमिका या धारणा बनाते ही हैं, तो उपवास अच्छे से हो जाता है। **ज्ञानी रुख देखकर ही कार्य करते रहते हैं।**

दृष्टान्त–जैसे खलिहान में सिट्टे वगैरह डालकर दाँय करते हैं फिर हवा चलती है तो भूसे को उड़ाने के लिए किसान तैयार रहता है। उस समय कोई भोजन करने को कहे तो कहता है–भोजन तो बाद में करेंगे, पहले तो हवा आ गई है, इसलिए भूसे को उड़ाने का काम करना है। क्योंकि हवा का भरोसा नहीं। अतः जिस समय हवा चलती है उस समय भूसा उड़ा लेता है। फिर शान्ति से बैठ जाता है। उसी प्रकार ज्ञानी कर्मों के तूफान आते हैं तो उसे देखकर ज्ञान तपादि से कर्मों की धूल को उड़ा देते हैं और फिर शान्ति से बैठ जाते हैं। मोक्षमार्ग में आकर इधर-उधर की बात करने वाले को हवा का रुख नहीं दिखता है और गप्पें करने में, खाने-पीने में समय निकाल देता है। फलतः कर्म रूपी भूसे को नहीं उड़ा पाता है। अतः **अवसर देखो, लाभ उठाओ।** क्योंकि कर्मों की हवा कभी भी आ सकती है। मोक्षमार्ग में ज्ञानी अशुभ कर्मों की धूल अवसर देखकर उड़ा देते हैं। उस समय विशेष रूप

से शुभकर्म बंधते हैं।

क्षायोपशमिक भावों के साथ संकल्प-विकल्प होते हैं। इसके अभाव में ज्ञान एकाग्र/तटस्थ हो जाता है। अपने ही क्षायोपशमिक ज्ञान के माध्यम से संकल्प-विकल्प करता है और कहता है कि वह आया था और विकल्प करा दिया। यदि यह नहीं मानेंगे तो केवली भगवान् को तथा शुक्लध्यान में जो स्थित हैं उनको और मोक्षमार्ग में जो दृढ़ हैं, उन्हें भी विकल्प होना चाहिए। लेकिन हम अपने उपादान को कमजोर कर लेते हैं, तो उथल-पुथल हो जाती है। अपने परिणाम के निमित्तभूत जो उदय में आया पुद्गल कर्म है वह कभी भी उपादान रूप से परिणमन नहीं करता है, इस बात को ज्ञानी अपने स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा स्व-पर को जानता है, इसलिए ज्ञानी निमित्त के फसाव में नहीं आता है। जैसे- मिट्टी उपादान रूप से कलश रूप परिणमन कर जाती है। उस प्रकार शुद्ध निश्चयनय का आलम्बन लेने के कारण ज्ञानी पर रूप परिणमन नहीं करता है। इस प्रकार के रास्ते पर चलने से ही मोक्षमार्ग पर पूर्ण चला जा सकता है, इसके अतिरिक्त सुविधाजनक कोई रास्ता नहीं है और न ही आगे कोई ऐसा सुविधाजनक मार्ग आने वाला है। जिस पर चलकर मोक्षमार्ग को पार कर सकें।

दृष्टान्त—जैसे विद्यार्थी स्कूल जायेगा, पढ़ाई करेगा, तो परीक्षा भी होगी। इतना अवश्य है कि वार्षिक परीक्षा ३६५ दिन के बाद आती है। परीक्षा का समय आने पर यदि विद्यार्थी कहे कि मैं परीक्षा में नहीं बैठूँगा। तो उसकी स्कूल जाने की क्या सार्थकता? परीक्षा से डरना हो तो स्कूल जाना छोड़ दो। शिक्षण लेना छोड़ दो। बिना परीक्षा के स्कूल चाहते हो तो अपने आप उपाधि लेनी पड़ेगी। हम ज्ञानी हैं यह कहलाना चाहते हो तो ऐसा कर लो आप ही अध्ययन कर लो, आप ही पेपर निकाल लो, आप ही जाँच लो, आप स्वयं परिणाम निकाल लो और स्वयं अपने हाथ से प्रमाण पत्र ले लो तथा अपने ही हाथ से अपनी पीठ थपथपालो। ध्यान रखना, परीक्षा में प्रश्न कोर्स के रहेंगे और उत्तर आपके होंगे। मेहनत आपको ही करना पड़ेगी। चाहे उत्सर्पिणी हो या अवसर्पिणी। आप भरतक्षेत्र में हों या विदेह में या अन्यत्र कहीं भी हों, मोक्षमार्ग तो सर्वत्र ऐसा ही रहेगा। परीक्षा तो देना ही पड़ेगी। उसमें भी १०० में से १०० नम्बर प्राप्त करना पड़ेंगे। कई लोग सोचते हैं कि विदेश खेलने चले जायेंगे तो क्रिकेट अच्छे से खेलकर आयेंगे। लेकिन वहाँ पर भी कानून तो वही है। वहाँ पर जाने के उपरान्त ग्राउण्ड को देखकर गड़बड़ा जाओगे, तो क्या होगा ?

विदेहक्षेत्र के गुणस्थान अलग हों और भरतक्षेत्र के गुणस्थान अलग हों, ऐसा तो नहीं है। आनन्द तो अपने परिणामों से ही आयेगा। जो कार्य यहाँ कर रहे हो वही कार्य वहाँ विदेह में भी करना होगा। भेदविज्ञान के द्वारा उपादान-उपादेय तथा निमित्त-नैमित्तिक भाव को समझने का प्रयास करना चाहिए। जहाँ तादात्म्य नहीं है वहाँ संसारी प्राणी तादात्म्य मानते हैं, महसूस करते हैं तो गड़बड़ में आ जाते हैं।

दृष्टान्त—जैसे, बाल कटवाने के लिए नाई के यहाँ जाते हैं। लेकिन इस विश्वास पर जाते हैं

कि यह चमड़ी पर घाव नहीं करेगा। केवल औजार से बाल काटेगा। बाल काट रहा है, ऐसा विश्वास है आपको। अत: उस्तरा फेरने पर भी डर नहीं लगता। इसी प्रकार यह जो निमित्त है वह मेरे उपादान में जबरदस्ती घुसकर नहीं आ सकता। यह मेरा जबरदस्ती कुछ बिगाड़ नहीं सकता। यह परद्रव्य मात्र निमित्त रूप है, ऐसा गाढ़ श्रद्धान रहता है। कितना भी प्रलय आ जाये कोई मेरा बाल बाँका नहीं कर सकता। कभी पहाड़ भी गिर जाये तो मैं चूर-चूर नहीं हो सकता। कभी हवा लगने मात्र से बीमार हो जाता है, ऐसा गाढ़ श्रद्धान रहता है। इस दृढ़ श्रद्धान के बल पर आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त का बालक भी कल्याण कर सकता है। वह भी भवसमुद्र से तिर सकता है और वृद्ध भी है तो अप-डाउन करते रहते हैं। जवान सोचता है बुढ़ापे में कर लेंगे। परन्तु बुढ़ापा आने पर कुछ नहीं कर पाता। दिल को मजबूत करके बैठना पड़ता है। **निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम्** अर्थात् श्री वृषभनाथ भगवान् ने निर्दय होकर ही मोह को भस्मसात् किया था। यहाँ तो पीछे मुड़कर देखना ही नहीं होता। **छोड़ूँ कि नहीं छोड़ूँ, ऐसा सोचने वाला कभी नहीं छोड़ पाता है।** अपने मोहकर्म को निर्दय होकर ही जीतना पड़ता है। कर्मों पर दया नहीं करना है। मोह के कारण बहुत कठिनाईयाँ आ जाती हैं। जिसने मोह को जीत लिया उसके सामने चीता भी आ जाये तो कुछ नहीं होता। क्योंकि उन्हें ज्ञात है कि जो होगा शरीर का होगा। जबकि यह शरीर मेरा नहीं है। **हम न किसी के, कोई न हमारा।** मोही कहता है–अब क्या होगा ? हम अकेले पड़ गये, हमें कौन बचायेगा ? तो एकत्व की भावना भाओ, कि हम अकेले हैं, थे और रहेंगे। मुक्ति में भी अकेले ही जायेंगे। ज्ञानी का यह गाढ़ श्रद्धान छूटता नहीं है। इसलिए वह भव से पार होता चला जाता है। पंचमकाल के अन्त में चार प्राणी रहेंगे, कोई भी साथ जाने को तैयार नहीं होता, सब एक तरफ हो जाते हैं। सब अपना स्वार्थ पुष्ट करने में लगे रहते हैं। यह वस्तु तत्त्व है कि पंचम काल के अन्त में ऐसा ही होगा। तभी तो मुनिराज भयानक जंगलों में भी रह जाते हैं। यह भयानक जंगल देखने वालों की अपेक्षा है, मुनिराज की अपेक्षा नहीं। वे तो वस्तु स्वभाव के बारे में चिन्तन करते हैं।

विशेष चिन्तन—नदी बह रही है, बहने दो। जो तैरना नहीं जानते वे डरते हैं। क्यों डरते हैं ? पानी ही तो है, जो होना होगा वही होगा। आप लोग कहते हैं न, **वही होगा जो मंजूरे खुदा होगा** ऐसा मत कहो, किन्तु यह कहो कि **जो होना वही होगा, मंजिले खुदा होगा।** खुदा ने कहा है कि मंजिल में ही खुदा होगा। अभी तो हम मार्ग में हैं, चलेंगे, आगे बढ़ेंगे, तभी तो मंजिले खुदा होगा।

अपने क्षायोपशमिक परिणाम के निमित्त से उदयागत परिणाम को जानते हुए भी उसके साथ मेरा कर्तृत्वभाव नहीं है, मुनिराज ऐसा विचार करते हैं। इसमें एक बात और है कि संज्वलनकषाय के उदय के साथ जो सुख-दु:ख का संवेदन होता है वह अशुद्ध निश्चयनय का विषय है, यह सोचकर वे ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध रखते हैं। वे विचार करते हैं कि मेरा उसके साथ सम्बन्ध होते हुए भी तात्कालिक ही है। ऊपर-ऊपर ही है, अन्दर आत्मा में नहीं है।

दृष्टान्त—जैसे, आपको सर्दी लग रही है तो यह सर्दी चमड़ी के ऊपर-ऊपर है। भीतर तो इतना शीत है ही नहीं। बाहर शीत तभी लगती है जब भीतर ज्यादा गर्मी हो। बाहर-भीतर का साम्य नहीं होने के कारण ऐसा होता है। गर्मी के दिनों में बाहर बहुत तपन होती है परन्तु भीतर इतनी तपन नहीं होती है। तभी तो शान्ति से बैठे रहते हैं, अन्यथा बाहर-भीतर से उबल जायेंगे। इस स्थिति में मुनिराज चिन्तन करते हैं कि-मेरा स्वभाव तो चैतन्यमय है। यह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श मुझमें घुस नहीं सकते। इन्हें जानना तो ठीक है, परन्तु रूपादि जीव के स्वरूप नहीं हैं। ज्ञानी के पास यही एकमात्र थर्मामीटर होता है। उसी के द्वारा वे अपना जीवन व्यतीत करते हैं। यदि कोई सुनना चाहता है तो वे इस प्रसंग को रख देते हैं और सुनना नहीं चाहते तो उसे वे अपना विषय नहीं समझाते। बैठे-बैठे भी मुनिराज की चर्या को देखकर भी प्रेरणा ले सकते हैं। हमने आपसे प्रेरणा ली यह कहने की क्या आवश्यकता ? कुछ लोग आकर सुनाने की कह देते हैं तो ठीक, नहीं कहते तो भी ठीक, क्योंकि हमने किसी को सुनाने के लिए थोड़ी किया है। हमने तो अपने लिए किया है, उसने अपना लाभ ले लिया तो ले लिया।

दृष्टान्त—सूर्य ने पूर्व से पश्चिम तक की यात्रा की। इसका जिन्हें लाभ लेना था ले लिया। लेकिन जो सो रहे हैं उन्हें सूर्य यह नहीं कहता कि-मैं आ गया हूँ, तुम उठो। जिनको नींद में आनन्द आ रहा है। उनको सूर्यनारायण क्या कर सकते हैं ? उसी प्रकार जिस व्यक्ति को मोह में स्वाद आ रहा है, वह कहता है कि इसका स्वाद हम ही जानते हैं। आचार्यों ने कहा है कि-**जबरदस्ती किसी को उपदेश देना भी एक प्रकार से अदत्तादानं स्तेयं (चोरी) में आ जाता है। क्योंकि वह सुनना नहीं चाहता और हम सुना दें। वह अपनी आस्था को छोड़ना नहीं चाहता और हम छुड़वा दें तो उसे भीतर ही भीतर दुःख हो सकता है। दुःख का निमित्त बनने से अहिंसा में भी बट्टा लग सकता है।** परोपरोधाकरण होने से चोरी भी हो जायेगी। उपदेश लेने वाला नहीं चाहता तो हम क्यों उपदेश दें? तीर्थंकर भगवान् छद्मस्थ अवस्था में किसी भी प्रकार से किसी को उपदेश नहीं देते, किन्तु **अवाग्विसर्गं वपुषा मोक्षमार्गं निरूपयन्ति।** मुनि मुद्रा के माध्यम से उपदेश नहीं मिलता है क्या ? बोलने से ही उपदेश मिलता है क्या ? तिर्यंचों के लिए कौन उपदेश देता है ? दर्शन करने मात्र से भी तो काम होता रहता है। अतः अच्छे ढंग से उनके दर्शन कर लेना चाहिए। हम निमित्त के ऊपर डिपेण्ड होकर, उसी को थोपकर कहना चाहते हैं, इसीलिए ऐसा होता है। लेकिन चूहा, मेंढक, गाय, सर्प आदि भी क्या आप लोगों जैसे सुनते हैं ? वहाँ देखो, स्वयम्भूरमण समुद्र में जो बड़े-बड़े राघवमच्छ आदि हैं उन्हें कौन उपदेश दे रहा है ? वहाँ उपदेश देने कौन जाते हैं ? वहाँ इसकी कोई आवश्यकता नहीं। तन्दुलमच्छ को भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। संयमासंयम को भी प्राप्त कर लेता है। फलतः वे सोलहवें स्वर्ग तक पहुँच जाते हैं।

एक बहुत गहरी बात है कि यहाँ तो कोई श्रुतकेवली होकर के भी पीतलेश्या के साथ पहले-दूसरे स्वर्ग में जा सकते हैं और वह तन्दुलमच्छ शुक्ललेश्या के साथ सोलहवें स्वर्ग में भी जा सकता

है। उसके क्या, कैसे परिणाम होते होंगे ? जबकि वहाँ उसे कोई उपदेश नहीं मिलता और ये श्रुतकेवली तो स्वयं उपदेश दाता हैं। जीवनभर उपदेश देते हैं। फिर भी विशेषता देखो, परिणाम देखो, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध देखो। इसका कितना गहरा प्रभाव है। उसको शुक्ललेश्या हो गई और इन्हें पीतलेश्या ही रह गई। किसी की भीतरी दशा क्या है उसे हम नहीं जान सकते। इतना अवश्य कह सकते हैं कि भीतरी उपादान में कुछ न कुछ गड़बड़ी है। यहाँ आ-आकर कहते हैं-उपदेश दे दो महाराज ! उपदेश देने से ही कल्याण होता है, ऐसा नहीं है। यह लेने-देने का काम ही एक विकल्प है। बिना दिये भी लिया जाता है। बिना दिये उपदेश लेना यह बहुत सशक्त होता है। ऐसे कई उदाहरण पुराणों में मिलते हैं। यह तो एक दृष्टान्त है, तो एक ही दृष्टान्त था क्या ? दृष्टान्त शब्द का अर्थ भी समझ में नहीं आ रहा है। दृष्टान्त तो एकदेश होता है। वक्ता जो कहता है वह एकदेश रूप में कहता है। लेकिन वक्ता को समझाने के लिए कौन दृष्टान्त देगा ? इसलिए उपदेश देने वाले ऐसे ही पूछते हैं। श्रुतकेवली जो उपदेशक थे वे नीचे रह गए और तन्दुलमच्छ जिसे किसी ने उपदेश नहीं दिया तो भी ऊपर के स्वर्ग में क्यों गया? **आचार्य वीरसेनस्वामी** कहते हैं-**परिणामपच्चयेण** अर्थात् परिणाम प्रत्यय है। भगवान् ही जानते हैं कि कितने प्रकार के परिणाम प्रत्यय होते हैं।

निसर्गज एवं अधिगमज सम्यग्दर्शन-

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने अनाड़ी को अनाड़ी भाषा में उपदेश देने को कहा है। बिल्कुल ठीक कहा है। वस्तुतः समझाने की कोई आवश्यकता नहीं, यह तो सहजता से हो जाता है। इसका महत्त्व कम नहीं कर रहे किन्तु यह ही सब कुछ नहीं है। कई प्रकार की सहजता हो सकती है। निसर्गज और अधिगमज के भेद-प्रभेद से असंख्यातलोक प्रमाण अध्यवसायस्थान होते हैं। अधिगम के बिना जो अपने आप कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से होता है वह निसर्गज है। निसर्गज सम्यग्दर्शन के लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। अधिगमज के लिए उपदेश माध्यम होता है, उसके बिना भी हो सकता है। कहीं न कहीं से आप निमित्त जोड़ना चाहें तो ऐसा घटित नहीं होता है। सम्यग्दर्शन किसको उत्पन्न होता है ? किस निमित्त से होता है ? तो यह क्षेत्रादि की अपेक्षा बताया है। धर्मश्रवण यह मुख्य रूप से कर्मभूमिज आर्यखण्ड के मनुष्य की अपेक्षा से है, ऐसा व्यवस्थित जैसा लगता है। निसर्गज में वर्तमान की अपेक्षा भले ही उपदेश की विवक्षा न हो, लेकिन पूर्व में मिला था, इसलिए ऐसा कहा जाता है कि यह बिना उपदेश के हुआ। यह बन तो जाता है। परन्तु जो सडनली (सहसा) निसर्गज सम्यग्दर्शन होता है वह कैसे ? सबको अधिगमज सम्यग्दर्शन ही होता है ऐसा तो नियम नहीं रखा है। उनका यह कहना है कि किसी को जो वेदना हो रही है वह पूर्व भव को याद करने से कि उस समय हमें समझाया था पर हमने कुछ नहीं किया, इस प्रकार याद आने से भी सम्यग्दर्शन हो जाता है। लेकिन ऐसा स्पष्टीकरण रूप कथन नहीं मिलता है और यह नियामक भी नहीं लगता है। कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि इस रहस्य को जो समझ लेता है तो निश्चित रूप से पाप-पुण्य में भी हर्ष-

विषाद किये बिना अपना पुरुषार्थ कर सकता है। हाँ, इतना अवश्य है कि जिसकी अन्तर्दृष्टि नहीं रहती, कर्म व कर्मफल पर दृष्टि नहीं रहती है तो यह पुरुषार्थ नहीं बन पाता है। सडनली अर्थात् अचानक कोई निर्णय नहीं लेना चाहिए। पूर्वभूमिका से जागृत रहें तभी पुरुषार्थ हो सकता है, लेकिन यह बुद्धिपूर्वक/विवेकपूर्वक ही किया जाना चाहिए।

अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों को जानते हुए भी उन रूप परिणमन नहीं करता, उनको ग्रहण नहीं करता और उन परद्रव्यों के रूप में उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रकार ज्ञानी की विशेषता को दो गाथाओं द्वारा बतलाया। एक में तो पुद्गल कर्मों को स्वीकारा और दूसरे में परिणामों को स्वीकारा। अब पुद्गल कर्म के फलों के विषय में कथन आता है। ज्ञानी जीव पुद्गल कर्म के फल को जानता है, अतः कर्मफल के निमित्त से द्रव्यकर्म के उदय में फल मिलता है। फिर नवीन कर्म बंधता है। उसके साथ अपना कर्तृ-कर्मभाव नहीं है, उसे स्वीकार करता है। अर्थात् वह कर्म का कर्त्ता भी नहीं होता और उसे अपना कर्म भी नहीं बनाता। **छहढाला** में आया है–**चिद्भाव कर्म चिदेश कर्त्ता चेतना किरिया तहाँ...।**

इस प्रकार बार-बार कहने का तात्पर्य क्या है ? तो आचार्य कहते हैं कि–निश्चय से परद्रव्य के साथ करण, अधिकरण, कर्त्ता, कर्म आदि की हमारे साथ कोई व्यवस्था नहीं है, यह बताने के लिए बार-बार कथन किया जाता है। अतः इस बात को हमें बार-बार धारणा में उतार लेना चाहिए कि–मैं क्या कर सकता हूँ ? मैं तो कर्म और कर्म के फल को मात्र जानता हूँ, उस रूप परिणमन नहीं करता। आप दूसरे द्रव्य में प्रविष्ट नहीं हो सकते और दूसरा द्रव्य आप में प्रविष्ट नहीं हो सकता। फिर अन्य किसी द्रव्य को आप कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? रूप, रूप में है, रस रस में है, गन्ध गन्ध में रहेगा, उसके आप भोक्ता कैसे हो सकते हैं ? आप चैतन्य के साथ तादात्म्य तो रख सकते हैं, किन्तु उसमें किसी अन्य पदार्थ को नहीं रख सकते। जिस प्रकार आप रूप, रस, गन्धादि वाले पदार्थ को ग्रहण नहीं कर सकते। उसी प्रकार चैतन्य स्वरूप सिद्ध परमेष्ठी को भी ग्रहण नहीं कर सकते। उस रूप परिणमन भी नहीं कर सकते और उस रूप उत्पन्न भी नहीं हो सकते। इस प्रकार जब गाढ़ श्रद्धान हो जाता है तो ज्ञानी जीव रागद्वेष नहीं करते हुए मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहता है। हमारा कर्म ही हमें फल दे सकता है।

किसी का किसी के ऊपर जो सहयोग आदि का भाव था, वह अब नहीं है। अर्थात् उसका वियोग हो गया तो ज्ञानी कहता है कि–वह एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गया है और जहाँ मैं रह रहा हूँ वह भी तो मेरा नहीं है। फिर उसका तो पर चतुष्टय है। वह मुझसे बिल्कुल पृथक् है। मात्र क्षेत्रपरिवर्तन हुआ है। ऐसा बार-बार सोचने वाला व्यक्ति उनको ज्ञेय तो बना सकता है पर उनके कर्मफल के रूप से ग्रहण, उत्पन्न या परिणमन नहीं कर सकता है।

दुःख का कारण संयोगभाव–

पुराणग्रन्थों में ऐसी कथायें आती हैं कि रागद्वेष के मूलकारण क्या हैं ? यह स्पष्ट हो जाता है।

यहाँ से वहाँ चले गये, पुरुष पर्याय प्राप्त कर ली, फिर वहाँ से इधर आ गये। पुनः स्त्री हो गये, ऐसी कई कथाएँ मिलती हैं। यह जीव रागद्वेष मोह अज्ञान के कारण कोई अन्य जीव से निदान या राग कर लेता है तो ऐसा हो जाता है। कहते हैं–हे प्रभो ! आप समझो, हमारा तो भव–भव का रिश्ता है, आप भूलो मत। सुनने में आता है कि–नेमिनाथ व राजुल का नव भवों का साथ था। इसी प्रकार अन्य कथायें भी हैं। कैसा कर्म का अनुभाग है और कैसा राग या वैर का परिणाम है जो भवों–भवों तक साथ चलता है। अज्ञान के कारण ऐसा होता है। अज्ञान के कारण तो इस संसार में बड़ा वैचित्र्य दिखाई देता है। **इष्टोपदेश** में एक कारिका आती है–

दुःखसंदोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम्।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्काय कर्मभिः॥

अर्थात् जीव संयोग से दुःख समूह का भागी बनता है, इसलिए ज्ञानी जीव विचार करता है कि मैं मन, वचन, काय के द्वारा इन सभी का त्याग करता हूँ। दुःख का पहाड़ क्यों टूटता है ? संयोग के कारण ही ऐसा होता है। यह निश्चित कर दिया। यह अध्यात्म का निचोड़ है। अतः दुःख से बचना चाहते हो तो संयोग से बचो। संयोग महान् दुःख का कारण है। मिलन हुआ, बिछुड़न हुआ, राग होने से पुनः मिलन–बिछुड़न होता है। लेकिन मिलन होने पर ऐसा लगता है कि अभी–अभी मिले हैं। रागद्वेष से कषायों के इतिहास चलते रहते हैं। यह जीव आपा–पर का ज्ञान न होने से इस प्रकार रागद्वेष करता चला जाता है। इसके लिए आचार्यों ने कहा है–

वस्तु स्वरूप विचार खुशी से सब दुःख संकट सहा करें।

वस्तु स्वरूप क्या है ? पर तो पर है, स्व तो स्व है। पर अपना नहीं हो सकता। अपना पर नहीं हो सकता। इस प्रकार जानने से दुःख संदोह से बचा जा सकता है। संसारी प्राणी दुःख से बचना चाहता है, लेकिन उनके कारणों से बचना नहीं चाहता है और सुख को तो चाहता है पर सुख के कारणों को नहीं अपनाता है। एक भी समय ऐसा नहीं जाता जब कर्म का फल न मिलता हो। चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, कर्मबन्ध भी प्रत्येक समय होता है। अज्ञानी कर्मफल के साथ अपनत्व का सम्बन्ध जोड़ लेता है तो बीज रूप संस्कार रह जाता है। यह बीज–वृक्ष की तरह कर्मबन्ध व कर्मोदय की परम्परा चलती रहती है। कदली का वृक्ष एक ही बार फल देता है। लेकिन सन्तान रूप छोड़ जाता है। इसीलिए किसान पुराना पेड़ जो हरा भरा है उसे काट देता है, क्योंकि उससे फल प्राप्त हो चुके। उस जगह दूसरा वृक्ष उग जाता है। अज्ञानी जीव कदलीवृक्ष की भाँति ज्यों ही कर्मफल भोगता है त्यों ही कर्म रूप बन्ध हो जाता है। बड़ा वैचित्र्य है। एक वृक्ष तो एक वृक्ष को पैदा कर जाता है, लेकिन यह रागभाव कितने कर्म वृक्षों को पैदा कर जाता है, कोई पता नहीं। कर्म के तीव्र अनुभाग के उदय के साथ तीव्र अनुभाग का भी बन्ध कर लेता है। द्विस्थानीय के उदय में द्वि, त्रि, चतुःस्थानीय बन्ध तथा त्रिस्थानीय उदय के साथ त्रि व चतुःस्थानीय दोनों बन्ध हो सकते हैं। किन्तु चतुःस्थानीय के उदय में चतुःस्थानीय ही बन्ध

होता है।

कर्म के द्विस्थानीय उदय में सम्यग्दर्शन की, तत्त्वज्ञान की, तत्त्वचर्चा आदि की भूमिका बन सकती है। त्रिस्थानीय उदय हो तो सम्यग्दर्शन का पतयारा ही नहीं रहता है। द्विस्थानीय कर्म के उदय में तो सम्यक्त्व व संयम बच सकता है। लेकिन त्रिस्थानीय का उदय आ जाये तो धड़ाम से नीचे आ जायेगा। संज्वलन, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व अनन्तानुबन्धी कषाय में भी चतु:स्थानीय बन्ध पड़ते हैं। किसी भी कषाय की जब चतु:स्थानीय उदय-उदीरणा हो जाती है तो नियम से मिथ्यात्व की उदीरणा हो जाती है। जिससे जीव तुरन्त प्रथम गुणस्थान में आ जाता है। उपशमश्रेणी चढ़ने के उपरान्त यदि संज्वलन चौकड़ी में से किसी एक का भी उदय आ जाए तो नीचे ही आता है। क्योंकि सप्तम गुणस्थान में आने पर छठवें गुणस्थान में आना अनिवार्य होता है। श्रेणी उतरते समय वहीं के वहीं पुनः चढ़ जाए, ऐसा नहीं होता। छठवें गुणस्थान तक तो आना ही पड़ेगा। फिर हजारों बार छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होने के उपरान्त पुनः श्रेणी चढ़ सकता है।

दृष्टान्त—जैसे-किसी ने आई० एस० या पी० एस० सी० में प्रवेश ले लिया तथा प्री व मेन एग्जाम में पास हो गया। लेकिन इन्टरव्यू में नहीं निकला तो फिर से इन्टरव्यू दे दे, ऐसा नहीं होता, किन्तु उसे पुनः प्री व मेन एग्जाम निकालना पड़ेगा। तब इन्टरव्यू दे पायेगा। उसे उसमें एक साल फिर से लग जायेगा। उसी प्रकार ग्यारहवें गुणस्थान से उतरते-उतरते छठवें गुणस्थान तक आना ही पड़ेगा और छठवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय की क्रोधादि चार में से एक कषाय का चतु:स्थानीय उदय-उदीरणा हो गई तो पहले गुणस्थान में आ जायेगा। पुनः श्रेणी चढ़ने के लिए उसे फिर से श्रेणी के योग्य करण परिणाम स्थान आदि करना पड़ेंगे, तब चढ़ पायेगा।

कषाय की तीव्रता के कारण वह नीचे आया है। मिथ्यात्व के कारण नहीं। अप्रत्याख्यान आदि कषाय की तीव्र उदीरणा हो गई तो उसके साथ अनन्तानुबन्धी व मिथ्यात्व की भी व्याप्ति रहेगी। तब मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाता है। अतः कर्मफल चखते हुए उसमें तीव्रता नहीं लाना, यह अपने आप में सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। घटिया में बढ़िया का और बढ़िया में भी घटिया का अनुभव किया जा सकता है। यह सब अपने ही परिणामों के ऊपर डिपेण्ड है, बड़ा वैचित्र्य है। **तत्त्वार्थसूत्र** में **आचार्य उमास्वामी महाराज** ने कहा है कि **शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य।** अर्थात् शुभयोग पुण्य का और अशुभ योग पाप का कारण है। कर्मों के उदय में यदि पाँच पाप कर रहा है तो अशुभयोग होगा और कर्म के क्षयोपशम, क्षय, उपशम आदि में पाँच पापों के त्याग रूप परिणाम रहेगा तो शुभयोग होगा। ऐसा आचार्य महाराज का कहना है। योगमात्र कर्म पर निर्धारित है, यदि ऐसा मानेंगे तो फिर कभी अशुभयोग और अशुभकर्म से नहीं बच सकेंगे। क्योंकि **सादेदरं वा** कहा है। अर्थात् साता-असाता में से किसी भी कर्म का उदय तो रहता ही है। अतः असाता के उदय में भी शुभयोग हो सकता है और शुभ सातावेदनीय के उदय में भी अशुभयोग हो सकता है। तात्पर्य यह है कि शुभ कर्म के उदय में

शुभयोग ही हो और अशुभ कर्म के उदय में अशुभयोग ही हो, ऐसा एकान्त नहीं है।

उत्थानिका—आगे पुद्‌गल कर्मफल को जानते हुए ज्ञानी जीव का उदयागत द्रव्यकर्म के साथ निश्चय से कर्त्ता-कर्म भाव नहीं है, ऐसा वर्णन करते हैं—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ॥८४॥

अन्वयार्थ— (णाणी) ज्ञानी **(अणंतं)** अनन्त **(पुग्गलकम्मफलं)** पुद्‌गल कर्म के फलों को **(हु)** निश्चय से **(परदव्वपज्जाए)** परद्रव्य के पर्याय में **(ण वि परिणमदि)** न ही परिणमन करता है **(ण गिण्हदि)** न ग्रहण करता है **(ण उप्पज्जदि)** उसमें उपजता भी नहीं है।

अर्थ—ज्ञानी जीव पुद्‌गल कर्मों के अनन्त सुख-दुःख फलों को जानता हुआ भी निश्चय से परद्रव्य की पर्याय रूप में न तो परिणमन ही करता है, न उसे ग्रहण करता है और न उस रूप में उत्पन्न ही होता है।

ज्ञानी नितान्त सुख के दुःख के दलों को,
हैं जानते जड़मयी विधि के फलों को।
वे साधु किन्तु न कभी पर रूप पाते,
स्वीकारते न पर को, पर में न जाते ॥८४॥

व्याख्या—पौद्‌गलिक कर्मों का फल जो कि सुख-दुःख रूप शक्ति की अपेक्षा से अनन्त प्रकार का होता है, उसको भेदविज्ञानी जीव जानता हुआ भी वर्तमान सुख-दुःखरूप शक्ति की अपेक्षा निमित्त-उपादान रूप में उदय में आया हुआ पुद्‌गल कर्म जो परद्रव्य पर्याय स्वरूप है उसके रूप में। जैसे-मिट्टी कलश रूप परिणमन करती है, वैसे शुद्धनय की अपेक्षा न तो परिणमन ही करता है, न तन्मयता के साथ उसे ग्रहण करता है और न उसकी पर्यायरूप से उत्पन्न ही होता है। क्योंकि मृत्तिका और कलश में तो परस्पर तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध है। वैसा ज्ञानी जीव का द्रव्यकर्म के साथ नहीं है। फिर प्रश्न उठता है कि ज्ञानी जीव क्या करता है, तो आचार्य कहते हैं कि वह विभावपरिणामों से रहित एक चिदानन्द स्वभाव से परिपूर्ण आत्मतत्त्व का निर्विकल्पसमाधि में स्थित होकर ध्यान करता है।

ज्ञानी जीव पुद्‌गल के फल स्वरूप अनन्त दुःख रूप परिणमन नहीं करता, न ही ग्रहण करता है और न ही उस परद्रव्य रूप उत्पन्न होता है। यहाँ यह नहीं कह रहे हैं कि वह कर्मफल को ही नहीं भोगता। कर्मफल का भोक्ता तो होता है, क्योंकि अनुपचरित असद्‌भूत व्यवहारनय से कर्मफल को भोगते हुए भी अशुद्धनिश्चयनय से जीव रागद्वेषादि का कर्त्ता-भोक्ता होता है। किन्तु शुद्धनिश्चयनय की भूमिका में ज्ञानानन्द का भोक्ता होता है। उसी का अनुभव करता है। अनन्तचतुष्टय जब प्राप्त हो जाता है तो उसमें अनन्त भोग और उपभोग का व्याख्यान करते हुए कहा है कि उपभोगान्तराय के अत्यन्तक्षय से पुष्पवृष्टि, गन्धोदकवृष्टि आदि उन्हें प्राप्त होते हैं तथा वीर्यान्तराय कर्म के अत्यन्तक्षय

से अनन्त वीर्य प्राप्त होता है। इस प्रकार भोगोपभोग की सामग्री बाहर से प्राप्त होती जाती है। यह सारा का सारा निश्चयनय से घटित नहीं होता। किन्तु अनुपचरित और उपचरितनय की अपेक्षा से घटित होता है। आपको सोचना चाहिए कि यह सब कितना औपचारिक है ? आप जो भी भोगोपभोग का अनुभव करते हैं वह उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से करते हैं। उसके साथ हमारी चेतना तन्मय नहीं होती। फिर भी उसमें रस मान लेता है, यह तो नोकर्म है।

जैसे कोई भी पदार्थ को आपने छू लिया तो वह शरीर से छुआ। उसका कठोर या मुलायम रूप अनुभव हुआ। यह उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय का विषय है। लेकिन उसमें सुख या दुःख मान लेते हैं। यह मान्यता पर डिपेण्ड है। संसारी प्राणी का सुख कितना लचकदार और औपचारिक है। संसारी प्राणी की इस प्रकार की प्रवृत्ति को देखकर ज्ञानी उसको अज्ञान रूप जानता है और दुबारा देखता है तो उसे यह सब जड़ का नाटक दिखता है। ऐसा अनुभव करता है। प्रति समय इसी रूप में स्वीकारते रहते हैं। सही भोगोपभोग की सामग्री तो यहाँ किसे, कहाँ मिलती है ? जिस समय चाहते हैं उस समय पदार्थ उपलब्ध नहीं होता और जब पदार्थ सामने आता है या रहता है तब तक चाह ही मिट जाती है। ऐसा चिन्तन करके ज्ञानी जीव रात-दिन तत्त्वदर्शन, तत्त्वज्ञान के द्वारा सांसारिक संयोग-वियोग में रागद्वेष नहीं करते हुए तटस्थ रहकर उसका मात्र ज्ञाता-दृष्टा बना रहता है, यह ज्ञानी की एक विशिष्ट परिणति होती है।

चेतना के प्रकार -

आगम में तीन प्रकार की चेतना का उल्लेख मिलता है-१. कर्मचेतना, २. कर्मफलचेतना और ३. ज्ञानचेतना। नोकर्म चेतना का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। न ही कालचेतना का उल्लेख है। इसलिए काल के भरोसे पर रहने वाले चेतना का अनुभव नहीं कर सकते। काल का चिन्तन तो किया जा सकता है लेकिन काल की चेतना रूप अनुभूति नहीं हो सकती। क्योंकि आगम में तीन चेतना के अलावा चौथी चेतना का कथन ही नहीं है। तो पाँचवी कहाँ से हो सकती है ? कालद्रव्य तो शुद्धद्रव्य है, उसका अन्य किसी द्रव्य के साथ कभी कोई सम्बन्ध नहीं होता। जीव का पुद्गल के साथ सम्बन्ध होता है, उसके साथ सम्बन्ध होने पर कर्म व कर्मफलचेतना प्राप्त होती है। कर्मफलचेतना में असाता के उदय में दुःखानुभूति और साता के उदय में सुखानुभूति होती है, यह भी असद्भूतव्यवहारनय का विषय बनता है। क्योंकि कर्मोदय में हर्ष-विषाद कर लेते हैं जो कि जीव का स्वभाव नहीं है। यदि हर्ष-विषाद नहीं करते, मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध रखते हैं तो कथंचित् उसे ज्ञानचेतना फिर भी कह सकते हैं, वास्तव में तो प्राणातिक्रान्त सिद्ध जीवों में ज्ञानचेतना होती है।

हम परद्रव्य के कर्त्ता, भोक्ता व स्वामी नहीं हो सकते। नोकर्म की अनुभूति नहीं होती। जैसे- आपने जिह्वा पर कोई पदार्थ रखा तो नोकर्म का नोकर्म के साथ स्पर्श हुआ। यदि उस समय आपकी ज्ञानेन्द्रियाँ एप्सेन्ट (अनुपस्थित) हैं, आपका मन कहीं और चिन्तन में या वियोग में लगा हुआ है तो

उसका ज्ञान नहीं हो पाता। जिह्वा नोकर्म है जो कि द्रव्येन्द्रिय के रूप में है। इन्द्रियाँ तीन प्रकार की हैं– १. द्रव्येन्द्रिय, २. कर्मेन्द्रिय और ३. भावेन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय)। ज्ञानेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय के माध्यम से कर्मेन्द्रिय का ज्ञान होता है। सुबह से शाम तक रसोई बनाओ और उस समय अन्य दूसरे काम में लग गये तो पूरी रसोई गई। जैसे–माँ ने रसोई बनाई और बच्चा आ गया, रोने लगा तो माँ कहती है–बेटा, रो–रोकर भोजन नहीं करना चाहिए। भोजन के समय बच्चा रोने लग जाता है तो माता–पिता सोचते हैं कि देखो, इसका कर्म फूटा है। इतनी मेहनत से इसके सामने रसोई आयी और ये रो रहा है। फिर माँ कहती है, चला जा यहाँ से, पहले रो ले। मानता नहीं, फिर वही बात... बस। यदि यह ज्ञान है कि नोकर्म का नोकर्म के साथ स्पर्श हुआ है तो विकल्प होने का कोई सवाल ही नहीं उठता और दुःख के साथ कर रहा है तो अमृत भी जहर बन जायेगा। तथा हमारे लिए यह जीवनप्रदाता है इस श्रद्धान के साथ करेगा तो जहर भी अमृत बन जाता है। क्योंकि उसका भाव जहर की ओर नहीं किन्तु पवित्रविचारों की ओर है।

नोकर्म चेतना और कालचेतना तो कहीं से कहीं तक भी घटित ही नहीं होती। जैसा जिस समय जो होना है वही होगा यदि ऐसा मानते हैं तो सब काल पर डिपेण्ड हो जायेगा। फिर भी ऐसा कहने वालों के पीछे दुनिया भाग रही है। स्पर्शादि जो नामकर्म हैं, उनकी उदीरणा नोकर्म के अनुसार हो सकती है।

दृष्टान्त–जैसे, किसी को दवाई दे दी। वह दवाई रामबाण औषधि है, किन्तु यदि निकाचित कर्म का उदय है तो दवाई रावणबाण हो जाती है। जैसे–द्वारिका पूरी जल गई, वहाँ का पानी भी पेट्रोल का काम करने लगा था। पानी का सिंचन करो या न करो। ऐसा क्यों ? असाताकर्म के उदय में पानी भी पेट्रोल का काम करने लगता है। भीतर से उष्णकर्म की उदीरणा हो तो बाहर से कितना भी शीत का प्रयोग करो तो वह भी उष्णकर्म रूप में परिणत हो जायेगा। बर्फ के ऊपर भी बिठा देंगे, तो उसका शीतल रूप अनुभव या प्रभाव नहीं पड़ेगा। उसे उष्णता की ही अनुभूति होगी, क्योंकि उष्णकर्म की उदीरणा चल रही है। विपाक का अर्थ कर्मफल है। हम उसे अनुभव करते हैं। बाहरी नोकर्म के कारण भीतरी कर्म भी अपना प्रभाव दिखाता है। पित्त का प्रकोप है तो उसके साथ शीत का होना सम्भव ही नहीं है, फिर तो दवाई भी कुछ काम नहीं करती है, तो दवाई छोड़ दें क्या ? नहीं, भीतर का कर्म जब धीरे–धीरे हल्का हो जायेगा तब फिर दवाई का प्रभाव पड़ सकता है। दवाई एक सीमा तक ही काम करती है। द्वारिका जल गई तो पानी ने क्या किया ? कुछ नहीं किया, ऐसा है क्या ? नहीं, ऐसा नहीं। अग्नि नहीं बुझी इसलिए अग्नि को बुझाने की क्षमता पानी में नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते। इसके बारे में अब शोध की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आगमप्रमाण है। पर ऐसा नहीं, निकाचितकर्म के साथ अग्नि जल रही है। त्रि या चतुःस्थानीय कर्मोदय होता है तो पानी भी पेट्रोल का काम करता है। इसलिए घूम–फिरकर उन नोकर्मों से उपेक्षित होकर के ही बैठना चाहिए।

मुनिराजों के लिए कर्म ही साथ देते हैं, नोकर्म साथ नहीं देते। क्योंकि नोकर्म का उत्पादन या माँग नहीं कर सकते। उसका निषेध नहीं कर रहे हैं। लेकिन नोकर्म पर ही जो डिपेण्ड हो रहे हैं उसका निषेध किया जा रहा है। भीतर की उदीरणा ही काम करेगी। एक कार्य के लिए एक ही कर्म काम करता है, ऐसा सिद्धान्त भी नहीं है। जैसे–केवलज्ञान के द्वारा भगवान् अनन्त को जानते हैं, लेकिन यह जानने की क्षमता वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से प्राप्त होती है। इसलिए ज्ञानावरणकर्म के क्षय के साथ वीर्यान्तराय कर्म का क्षय भी आवश्यक होता है। वर्तमान में लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर लाभ तो हो जाता है, लेकिन यदि भोगोपभोगान्तराय कर्म का क्षयोपशम नहीं है तो भोग नहीं सकते। इसीलिए तो कहते हैं कि अमुक व्यक्ति अरबपति तो है, परन्तु उस सम्पत्ति का भोग नहीं कर पा रहा है। यह सही है कि दाने–दाने पर लिखा है, खाने वाले का नाम। यह भी सही है, जो कुछ भी सिद्धान्त है वह भीतर है, बाहर नहीं है। महाराज, इधर उदीरणा हो गई तो उधर कार्य हो जाता है। एक–एक सैकण्ड में कर्मफल का अनुभव करने योग्य है। **कम्मफलमणंतं जाणंतो** निमित्त के माध्यम से हम जानते हैं कि उसके माध्यम से कार्य हुआ, लेकिन कार्य तो उपादान या अन्तरंगकारण से होता है। कर्म जो है वह भीतरी निमित्त है। जैसा–जैसा कर्म का उदय चलेगा, वैसा–वैसा ही बाहर सारा का सारा दृश्य बनता चला जायेगा। ऐसा क्यों ? ऐसा ही नियम है। कर्म का ही फल मिलता है, नोकर्म का नहीं। ऋद्धिधारी मुनिराजों को देखो, उनके हाथ में जो रूखा–सूखा नीरस आहार दिया जाता है वह भी उनकी तपस्या के बल से अमृत बन जाता है। उन्हें आहार में रस नहीं रहता...रसना शब्द स्वयं कह रहा है कि रस ना। अरी रसना...रस ना। ऊपर–ऊपर के स्वर्गों में नोकर्म अर्थात् गति, शरीर, परिग्रह आदि की हीनता होती है। पदार्थ कम हैं, परन्तु सुख ज्यादा–ज्यादा होता है। बहुत सेवन करने से बहुत ज्यादा सुख मिलता है, यह धारणा गलत है। कर्म यदि ठीक हैं तो सब ठीक है और यदि कर्म ठीक नहीं हैं तो सब कुछ ठीक होते हुए भी माथादर्द करता है। यह नोकर्म पर डिपेण्ड नहीं, किन्तु माथादर्द कर रहा है यह कर्म पर डिपेण्ड है। माथा में दर्द होना यह दुःख है किन्तु उसमें हर्ष–विषाद न करें। क्योंकि अशुद्धनिश्चयनय की विवक्षा में रागद्वेष हुआ करते हैं। ज्ञान नहीं होने पर रागद्वेष होते हैं। ज्ञानी रागद्वेष रूप परिणमन नहीं करता। क्योंकि भीतरी कर्म का उदय यह अन्तरंग कारण तो है किन्तु ज्ञानी का सम्यक् पुरुषार्थ रागद्वेष पर नियन्त्रण रखता है।

कम्मफलमणंतं अर्थात् शक्ति की अपेक्षा कर्मफल को अनन्तरूप कहा है। प्रकृतियाँ एवं कर्म की स्थितियाँ अनन्त नहीं हुआ करतीं, किन्तु प्रशस्त–अप्रशस्त दोनों रूप जो कर्म हैं उनके अनुभाग अनन्त रूप होते हैं। जब प्रशस्त कर्मों का त्रि या चतुःस्थानीय अनुभागबन्ध करने लग जाता है तब सम्यग्दर्शन की भूमिका होती है तथा अप्रशस्त प्रकृतियों का उदय तथा बन्ध द्विस्थानीय होता है। इसके बिना सम्यग्दर्शन की भूमिका बनती ही नहीं है। तत्त्वचिन्तन एवं धर्मध्यान के अभिमुख होने के लिए कर्म प्रकृतियों के अनुभाग की उक्त व्यवस्था अनिवार्य होती है। इसका वातावरण भीतर से प्राप्त होता

है, बाहर से नहीं। कर्मोदय के माध्यम से जो सुख व दुःख रूप फलानुभूति हो रही है उससे हम बच नहीं सकते तथा उसमें हर्ष-विषाद कर लेते हैं तो उसके द्वारा आगामी कर्मबन्ध और कर लेते हैं।

अध्यात्मनिष्ठ वातावरण को भी संक्लेश आदि करने से क्षुब्ध बना लेते हैं। संक्लेश होने से अप्रशस्त प्रकृतियों में अनुभाग ज्यादा पड़ने लगता है। कषाय का अन्तर्मुहूर्त, पन्द्रह दिन, छह महिना तथा अनन्तानुबन्धी कषाय का अनन्तकाल तक भी वासना काल चल सकता है। ज्ञानी जीव हमेशा सावधान रहता है। अतः वह कषाय रूप परिणमन नहीं कर सकता। क्योंकि वह जानता है कि पुद्‍गल कर्म का आत्मा के साथ मिट्टी का कलश के समान तादात्म्य सम्बन्ध नहीं रहता। अतः कर्मोदय में होने वाले रागद्वेष आदि परिणाामों का भी वह कर्त्ता नहीं होता। वह तो शुद्ध, चिदानन्द आत्मतत्त्व में लीन रहता है।

देखो, सबसे बड़ा अध्यात्म तो यही है कि प्रत्येक समय कर्म का उदय चल रहा है, लेकिन उसमें ज्ञानी हर्ष-विषाद नहीं करता है। ज्ञानी जानता है कि कर्मोदय के साथ मेरा तादात्म्य नहीं है। ऐसा जानने वाला ही स्वाध्यायनिष्ठ, अध्यात्मनिष्ठ, कर्मसिद्धान्तनिष्ठ तथा ध्याननिष्ठ है। इसमें कर्मसिद्धान्त, जीवसिद्धान्त, मूलाचार आदि सब घटित हो रहा है। विपाकविचयधर्मध्यान भी हो रहा है। कर्मों को हमने जाना नहीं, देखा नहीं, परखा नहीं, किन्तु जो कर्मफल मिल रहा है, वह मेरे ही कर्म के उदय का फल है, मेरा ही किया हुआ कर्म का फल है, ऐसा भगवान् ने बताया है। इस पर गाढ़ श्रद्धान होना आवश्यक है। इस प्रकार जानने में द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग भी आ गया। ढाईद्वीप के भीतर ही ऐसा अनुभव हो सकता है, बाहर नहीं। ऐसा जो श्रद्धान है वह करणानुयोग सम्बन्धी श्रद्धान घटित हो गया। यह सारे के सारे अनुभव प्रयोग होने पर होते हैं। यह सही स्वाध्याय है। जिस प्रकार व्यवहारप्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और स्वाध्याय कहा गया है। उसी प्रकार निश्चयप्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और स्वाध्याय भी होता है। व्यवहारस्वाध्याय प्रतिक्रमण आदि के द्वारा असंख्यातगुणी निर्जरा बताई है। इसे भी महत्त्वपूर्ण बताया है। जब इनके द्वारा असंख्यातगुणी निर्जरा मानते हैं तो व्यवहारचारित्र से भी असंख्यातगुणी निर्जरा होती है इसको क्यों नहीं मानते ? रागद्वेष नहीं करने से कर्म की असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, ऐसा श्रद्धान कर लेना चाहिए।

जिज्ञासा—क्या ज्ञानी के निदानशल्य और निदानबन्ध नहीं होता ?

समाधान—देखो, यहाँ यह रहस्य खुल गया। अभी तक दृष्टि नहीं गई थी कि ज्ञानी के निदानशल्य और निदानबन्ध दोनों ही नहीं होते। निदानशल्य गाढ़ता रूप होती है। निदानबन्ध पाँचवें गुणस्थान तक ही होता है। ज्ञानी तो भेदविज्ञानी होता है वह भोगों की न आकांक्षा करता है, न निदान करता है। अर्थात् उसके न निदानशल्य होती है और न निदान नामक आर्त्तध्यान होता है। वह तो निर्विकल्पसमाधि में बैठकर शुद्धात्मतत्त्व का ध्यान, उसी का अनुभव करता है, यह यहाँ भावार्थ है।

इस प्रकार उपसंहार रूप में पुनः यह कहा जा रहा है कि जीव का कर्म के साथ तादात्म्य सम्बन्ध

नहीं है, कर्म कभी भी जीव के परिणामों को जान नहीं सकता, कारण स्पष्ट है है कि उसमें जानने की क्षमता ही नहीं है। फिर भी आगम में कहा है कि **तस्सत्ती भावकम्मं तु** अर्थात् कर्म रागद्वेष को जानता नहीं है, लेकिन उसमें रागद्वेष पैदा करने की क्षमता विद्यमान है। इसी आधार पर **आलापपद्धति** में कर्म को कथंचित् चेतन और जीव को जड़ से प्रभावित होने के कारण अचेतन कहा है। विजातीय सम्बन्ध होने से चेतन जड़ हो गया और जड़ चेतन हो गया, यह हम **आलापपद्धति** के अनुसार बोल रहे हैं। अध्यात्म में यह सारे के सारे व्यवहार हैं।

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यहाँ पर तीन गाथाओं में यही बतलाया है कि ज्ञानी जीव जानने के स्वभाव वाला है। वह अपने परिणामों को ही जानता है और कर्म व कर्म के फल को भी जानता है किन्तु अपने परिणामों को तो तन्मय होकर जानता है, परन्तु कर्म व कर्म के फल को अपने से पृथक् रूप जानता है। अत: इनके रूप में किसी भी दशा में परिणमन नहीं करता, विकारी नहीं बनता, क्योंकि वह तो वीतरागस्वरूप निर्विकल्प समाधि में तल्लीन होकर रहता है, इसीलिए वह ज्ञानी नाम पाता है।

इस प्रकार ''निश्चयनय से आत्मा द्रव्यकर्मादि स्वरूप परद्रव्य के रूप में कभी नहीं परिणमता'' इस प्रकार का व्याख्यान करने वाली तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे जड़ स्वभाव होने से जो पुद्गल द्रव्य जीव के परिणाम को और अपने परिणाम को तथा अपने परिणाम के फल को भी नहीं जानता, उस पुद्गल का भी निश्चयनय से जीव के साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है, ऐसा बतलाते हैं-

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये।
पुग्गलदव्वं वि तहा परिणमदि सएहिं भावेहिं॥८५॥

अन्वयार्थ— (तहा) उसी प्रकार **(पुग्गलदव्वं पि)** पुद्गलद्रव्य भी **(परदव्वपज्जाये)** परद्रव्य के पर्याय में **(ण वि परिणमदि)** परिणमन भी नहीं करता **(ण गिण्हदि)** न ग्रहण करता है (उसका कुछ भी) **(ण उप्पज्जदि)** न उस रूप उत्पन्न होता है क्योंकि **(सएहिं भावेहिं)** अपने भावों से ही **(परिणमदि)** परिणमन करता हैं।

अर्थ—उसी प्रकार पुद्गल भी परद्रव्य की पर्याय रूप में न तो परिणमन ही करता है, न कभी उसको ग्रहण ही करता है और न उस रूप में कभी उत्पन्न ही होता है, किन्तु अपने आपके परिणामों से ही परिणमन करता है।

विज्ञान हीन जड़ पुद्गल भी सदा से,
होता सुशोभित नितान्त निजी दशा से।
पै छोड़ के न जड़ता पर रूप पाता,
स्वीकारता न पर को, पर में न जाता ॥८५॥

व्याख्या—जैसे निश्चयनय से जीव अपने अनन्तसुखादि रूप को छोड़कर पुद्‌गल रूप परिणमन नहीं करता, न तन्मयता से ग्रहण करता है, न उस रूप उत्पन्न होता है, उसी प्रकार पुद्‌गल द्रव्य भी स्वयं तादात्म्य रूप से जीव स्वरूप से न परिणमन करता है, न तन्मयता के साथ ग्रहण करता है और न उस रूप उत्पन्न होता है, किन्तु वह तो सदा अपने वर्णादि रूप गुण-धर्मों के द्वारा ही परिणमन करता है। तात्पर्य यह है जीवद्रव्य पुद्‌गल रूप नहीं होता और पुद्‌गल जीव रूप नहीं होता। देखो, **विग्रहगतौ कर्मयोगः** अर्थात् जिस समय जीव मरणोपरान्त गति से गत्यन्तर जा रहा है, वहाँ उसका कार्मणयोग कहा है। कर्म का जीव के साथ तादात्म्य नहीं होते हुए भी यदि नरकगति कर्म का उदय हुआ तो जीव को नरक जाना पड़ा। जिस समय जैसे कर्म का उदय होगा वैसा होगा। ऐसा आचार्यों ने कहा है ? इससे ऐसा लगता है कि—कर्म कितना बलवान है? जीव को दूसरी गति में नीति या काल के द्वारा नहीं, किन्तु कर्म के द्वारा ले जाया जाता है। आयु को यदि काल कह दें तो चल जायेगा। आयु यदि काल है तो वह पौद्‌गलिक है। फिर भी वह उसी जीव को ले जाता है, अन्य को नहीं। तथा वहीं ले जाता है, अन्यत्र नहीं। निगोद में अनन्तानन्त जीवों का समूह रहता है, उसमें एक जीव मनुष्यगति की ओर कैसे निकलता है ? कर्मयोग से अर्थात् जिसने जैसा आयुकर्म का बन्ध किया वैसा उसको फल मिलता है। क्योंकि निगोदिया जीव मनुष्यायु का भी बन्ध कर सकता है। फिर भी प्रत्येक कर्म के लिए ऐसा नियोग नहीं है, क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से असाताकर्म भी साताकर्म रूप संक्रमित होकर सातारूप फल दे सकता है। बन्ध एकान्त से नियति नहीं है। प्रत्येक कार्य जो घटित हो रहा है वह काल या नियति रूप में नहीं है। हाँ, कर्मफल को नियति कह दो तो कोई बाधा नहीं है, क्योंकि उदय होने पर कर्मफल प्राप्त होता है, उसे परिवर्तित नहीं किया जा सकता। आयुकर्म का जैसा उदय होगा जीव को वहाँ ही जाना पड़ेगा।

दृष्टान्त—जैसे, एक घर से चार व्यक्ति यात्रा के लिए निकले। एक दिल्ली चला गया। दूसरा बॉम्बे चला गया। तीसरा अहमदाबाद चला गया और चौथा शिखरजी चला गया। अपने-अपने गन्तव्य पर चले गये। उसी प्रकार एक गति से चार जीव निकले। अपने-अपने परिणामों के आधार पर जिसने जैसी आयु का बन्ध किया, उसके अनुसार चार गतियों में चले गये। एक तो देवायु का उदय होने से देवों में चला गया। दूसरा तिर्यंचायु का उदय होने से तिर्यंचगति में चला गया। तीसरा मनुष्यायु का उदय होने से मनुष्यगति में विदेहक्षेत्र में चला गया और चौथा नरकायु का उदय होने से नरक गया। आयुकर्म तो नियति रूप जैसा होता है, उसका आपस में संक्रमण नहीं होता। यह नियति आयुकर्म की है, ऐसा कह सकते हैं। लेकिन सभी कर्मों के सामने किसी की कुछ भी नहीं चलती है, यह नियति है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। हालाँकि जैसा कर्म का उदय होगा वैसा ही फल मिलेगा, इसका नाम नियति है। अतः आकुलता मत करो। जैसा कर्मबंधा है वैसा भोगना पड़ेगा। **इस समय मनुष्य जीवन**

मिला है, इस अवसर में संयम के साथ पुरुषार्थ कर लो। भविष्य सुधरेगा। मात्र काल पर डिपेण्ड रहोगे तो गड़बड़ हो जायेगा। आप नहीं चाहेंगे तो भी टिकट आपने ही कटाया है। इसलिए वहाँ जाना ही पड़ेगा।

कथंचित् कर्म कितना सचेतन है ? सोचो, समय पर, उसी जीव को एक, दो, तीन मोड़े लेकर पहुँचा देता है। कहाँ-कहाँ सम्बन्ध जुड़ा है, पता नहीं। कहाँ का टिकट आने वाला है, कहाँ की बुकिंग की है, यह देख लो। आज सोलह स्वर्गों से ऊपर की बुकिंग नहीं हो सकती। आप सर्वार्थसिद्धि की बुकिंग नहीं कर सकते, यह ध्यान रखना और सातवें नरक की बुकिंग भी नहीं हो सकती।

रहस्य समझो, कार्य-कारण सम्बन्ध का—

जीवद्रव्य पर का कर्त्ता नहीं हो सकता। तो कर्म और करण भी नहीं हो सकता। पर की क्रिया भी अपने भीतर नहीं हो सकती। इस प्रकार कोई भी द्रव्य किसी भी परद्रव्य के साथ उपादानरूप से तादात्म्य सम्बन्ध नहीं रखता। यह फिर से इसलिए कहना पड़ा कि—कुछ लोगों को बार-बार उपदेश देने पर भी ऐसा लगता है, कि हम पर के कर्त्ता बन सकते हैं। हमारा लेन-देन हो सकता है, इत्यादि। अतः इस प्रकार की धारणा को छुड़ाने के लिए और वस्तुस्थिति बताने के लिए बार-बार वही बात कही जा रही है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तो यह है कि कोई भी द्रव्य उपादान कर्त्ता स्वयं का स्वयं है, पर का नहीं। इस सम्पूर्ण लोक की रचना तथा संचालन अनाहत रूप से चल रहा है, इसमें एक रहस्यमय निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसे—कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध है। यह रहस्य समझ में आ जाये तो दुनिया की जो-जो समस्यायें हैं वे सारी की सारी समाप्त हो सकती हैं। दुनिया में कर्त्ता-कर्म और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को नहीं समझने के कारण संघर्ष है। कोई या तो केवल निमित्त पर डिपेण्ड रहते हैं या केवल उपादान पर डिपेण्ड रहते हैं, इसी कारण से मात खा जाते हैं।

वस्तुतः वस्तु स्वभाव क्या है ? हमारी कार्य की परिधि कहाँ तक है ? यह गूढ़ रहस्य समझ में आ जाने के उपरान्त संसारी प्राणी को "यह छोड़ो, वह छोड़ो" कहने की आवश्यकता ही नहीं है।

दृष्टान्त—जैसे रोगी को आरोग्य इष्ट है। तो उसे जो हानिकारक पदार्थ हैं उन्हें एक बार बताने के उपरान्त 'उसे छोड़ो' यह बार-बार कहने की आवश्यकता नहीं होती है तथा इतनी ही बार खाओ, यह भी कहने की जरूरत नहीं होती। वह स्वयं सावधान रहता है। चूँकि उसे आरोग्य इष्ट है अतः वह स्वयं हर पल जागृत रहता है। विवेक से कार्य करता है। क्या लेना, क्या नहीं लेना, इसका स्वयं ध्यान रखता है। हाँ, बच्चों की बात अलग है। आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त होने के बाद बच्चा नहीं रहता। उसमें तो जगत्पूज्य बनने की सामर्थ्य है। उसी प्रकार ज्ञानी को निर्विकल्प होना इष्ट है, मुक्ति इष्ट है, अतः उसी के अनुरूप विवेकपूर्वक सावधानी के साथ विकल्पों से दूर रहता है।

यद्यपि जीव और पुद्‌गल का आपस में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। निमित्त क्या है ? यदि यह समझ में आ जायेगा तो फिर कोई समस्या ही नहीं रहेगी। मान लो किसी ने कहा—महाराज, जब

कोई पर का कर्त्ता नहीं होता तो क्यों मानता है ? आपने यह प्रश्न किया है और मैं उत्तर दूँगा तो आपकी समझ में आयेगा कि नहीं ? आयेगा। इसी का नाम ही तो निमित्तकर्त्ता है। यदि उपदेश के माध्यम से कोई बात समझ में आ रही है तो उतना निमित्तकर्त्ता स्वीकार कर लेना चाहिए। यह बात अलग है कि कोई भी मूर्ति को, जड़ को तो नहीं समझा सकते। जड़ के सामने तो प्रश्न ही नहीं रख सकते। यदि किसी के समझाने से भीतर कुछ समझ रूप भाव आते हैं तो उतना निमित्त स्वीकार कर लेना, यह बिल्कुल ठीक है। हाँ, हमारा उपयोग उस ओर स्थिर रहे तभी यह काम होता है क्योंकि उपादान के बिना मात्र निमित्त से कार्य नहीं होता। आचार्य महाराज कहते हैं कि जीव और पुद्गल दोनों ही द्रव्य परिणमनशील हैं, अतः परस्पर संयोगात्मक परिणमन को ही प्राप्त होते हैं, फिर भी अपनेपन को नहीं छोड़ते। मतलब जीव रागादिमान होकर भी चेतन वाला ही रहता है तो पुद्गल भी कर्मरूप से परिणमन करके भी जड़स्वरूप ही रहता है।

इस प्रकार पुद्गल द्रव्य भी जीव के साथ उस रूप होकर परिणमन नहीं करता है, इत्यादि व्याख्यान की मुख्यता से गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे जीव और पुद्गल के परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी निश्चयनय से इनका आपस में कर्त्ता-कर्म भाव नहीं है, ऐसा कहते हैं—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥८६॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि॥ ८७॥
एदेण कारणेण दु, कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८८॥

(त्रिकलम्)

अन्वयार्थ—(पुग्गला) पुद्गल **(जीवपरिणामहेदुं)** जीव के राग-द्वेष परिणाम के निमित्त से **(कम्मत्तं)** कर्मत्व रूप **(परिणमंति)** परिणमन करते हैं **(तहेव)** उसी प्रकार **(जीवो वि)** जीव भी **(पुग्गलकम्मणिमित्तं)** पुद्गल कर्म के निमित्त से **(परिणमदि)** परिणमन करता हैं।

(जीवो) जीव **(कम्मगुणे)** कर्मों के रूपादिक गुणों को **(ण वि कुव्वदि)** करता भी नहीं **(तहेव)** उसी प्रकार **(कम्मं जीवगुणे)** कर्म जीव के चेतनादि गुणों को नहीं करता **(दु दोण्हंपि)** किंतु इन दोनों के **(अण्णोण्णणिमित्तेण)** परस्पर निमित्त मात्र से **(परिणामं)** विकारी परिणाम **(जाण)** जानो।

(एदेण कारणेण दु) इसी कारण से **(सएण भावेण)** अपने भावों का **(आदा)** आत्मा

(कत्ता) कर्ता है **(दु)** परन्तु **(पुग्गलकम्मकदाणं)** पुद्‌गलकर्म से किये गये **(सव्वभावाणं)** सब भावों का **(ण कत्ता)** कर्ता नहीं है।

अर्थ—यद्यपि जीव के रागद्वेष परिणामों का निमित्त पाकर पुद्‌गल द्रव्य कर्मत्व रूप परिणमन करता है। वैसे ही पौद्‌गलिक कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणमन करता है। तथापि जीव कर्म के गुण रूपादिक को स्वीकार नहीं करता, उसी भाँति कर्म भी जीव के चेतनादि गुणों को स्वीकार नहीं करता, किन्तु मात्र इन दोनों का परस्पर एक दूसरे के निमित्त से उपर्युक्त विकारी परिणमन होता है। इस कारण से वास्तव में आत्मा अपने भावों से ही अपने भावों का कर्त्ता होता है। किन्तु पुद्‌गल कर्मों के द्वारा किये गए सर्व भावों का कर्त्ता नहीं है।

है जीव में विकृत रागमयी दशायें,
तो कर्म रूप ढलतीं विधि वर्गणायें।
मोहादि का उदय पाकर जीव होता,
रागादिमान फलतः निज होश खोता ॥८६॥
कर्त्ता न जीव यह हो विधि के गुणों का,
कर्त्ता कभी न विधि चेतन के गुणों का।
तो भी परस्पर निमित्त नहीं बनेंगे,
तो रागभाव विधिभाव न जन्म लेंगे ॥८७॥
भाई अतः समझ लो मन में सुचारा,
कर्त्ता निजात्म निज का निज भाव द्वारा।
रूपादिमान जड़ पुद्‌गल कर्म सारे,
आत्मा उन्हें न करता जिन यों पुकारें ॥८८॥

कर्म सिद्धान्त का विशेष चिन्तन—

व्याख्या—जैसे जीव के परिणाम को निमित्त बना करके पुद्‌गल द्रव्य कर्मत्व रूप परिणमित हो जाता है, वैसे ही पौद्‌गलिक कर्मोदय का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणत हो जाता है। इसी का नाम तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। आप लोगों को ज्ञात होगा कि **तत्त्वार्थसूत्र** के पंचम अध्याय में बन्ध दो प्रकार का बताया है—१. वैस्रसिक और २. प्रायोगिक। बादलों का बनना आदि वैस्रसिक बन्ध है। प्रायोगिकबन्ध दो प्रकार का है—१. अजीवकृत—गोंद से पृष्ठ चिपकानादि। २. जीवाजीव-कृत—इसमें कर्म का ही हाथ है, जीव का नहीं, यह नहीं कह सकते। कर्म और नोकर्म का जीव के साथ जीवाजीवकृत प्रायोगिक बन्ध है। आपके पास योग है या मोह है या दोनों हैं ? यदि दोनों हैं तो कर्मवर्गणायें और उस-उस के योग्य नोकर्म वर्गणायें गृहीत होंगी। यदि केवल योग है तो उस योग्य कर्म-नोकर्म वर्गणायें आयेंगी। जहाँ मात्र योग है वहाँ योग के माध्यम से कितने प्रकार की वर्गणायें

आती हैं ? केवल सातावेदनीयकर्म रूप वर्गणायें आती हैं। उसका ही बन्ध होता है। आठ कर्मों का बन्ध सातवें गुणस्थान तक, आयु के अतिरिक्त सात कर्मों का बन्ध नवमें गुणस्थान तक, आयु और मोहनीय कर्म के बिना छह कर्मों का बन्ध दसवें गुणस्थान तक तथा सातावेदनीय का बन्ध तेरहवें गुणस्थान तक होता है।

आपके जैसे परिणाम हुए तो कर्मवर्गणाएँ वैसे ही कर्म रूप परिणत होगी। यह जितना सत्य है, उतना ही सत्य यह भी है कि जैसा कर्म उदय में आयेगा वैसे जीव के परिणाम होंगे। कई विद्वानों की यह धारणा है कि तेरहवें गुणस्थान में भावास्रव नहीं है, लेकिन ऐसा नहीं है, क्योंकि तेरहवें गुणस्थान में योग भावास्रव रूप है इसलिए तो वहाँ तक बन्ध योग्य गुणस्थान माने जाते हैं। यह बात अलग है कि वहाँ आबाधा काल के बिना एक समयवर्ती बन्ध होता है। वह द्वितीय समय में ही फल देकर निर्जरित हो जाता है। दसवें गुणस्थान तक आबाधाकाल सहित बन्ध होता है। लेकिन आगे के गुणस्थानों में बन्ध ही नहीं होता, ऐसा नहीं कह सकते। उपचार से मानें, यह भी ठीक नहीं है। आचार्यों का कहना है कि–वहाँ हम उपचार से क्यों कहें, क्योंकि द्रव्यास्रव हुआ है तो भावास्रव तो होगा ही। भावास्रव हुए बिना साता रूप परिणमन हो ही नहीं सकता। आत्मा में कर्मोदय के कारण ही भाव होते हैं। तेरहवें गुणस्थान में भी शरीरनामकर्म के उदय में ही योगप्रत्यय होता है। अतः बन्ध भी निश्चित रूप से योग के द्वारा होगा। वहाँ औदारिकशरीर का सत्त्व है, उदय भी है, लेकिन बन्ध नहीं है। चौदहवें गुणस्थान में शरीरनामकर्म का सत्त्व मात्र होता है, बन्ध और उदय नहीं होता। शरीरनामकर्म के उदय में काययोग होता है। केवली भगवान् जब समुद्घात करते हैं तब अनाहारक अवस्था और कार्मणकाययोग भी होता है। उसके माध्यम से वहाँ भी कर्मास्रव होता है। समुद्घात में आठ समय लगते हैं, उनमें से दो प्रतर और एक लोकपूरण ऐसे तीन समयों में नोकर्मवर्गणाओं से बच जाते हैं, लेकिन कर्मवर्गणाओं से नहीं बच सकते। यद्यपि कर्मवर्गणायें स्वयं कर्म रूप परिणत होती हैं, लेकिन जीव का परिणाम निमित्त रूप से आवश्यक होता है।

मेरे परिणाम आपके लिए बन्ध करा दे या तुम्हारे परिणाम मेरे लिए कर्मबन्ध करा दे, ऐसा नहीं होता। आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन ही भावास्रव है। जो स्वामी है वही कर्त्ता-भोक्ता है, इसको नकार नहीं सकते। इसी प्रकार चौदहवें गुणस्थान में कर्मवर्गणाओं को प्रवेश नहीं मिलता। आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त से पूर्वकोटि काल होने पर भी भावबन्ध अर्थात् योग विद्यमान होने से प्रतीक्षा करने पर भी चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश नहीं होता। पहले इतना कार्य करके आओ फिर चौहदवें गुणस्थान में रुकना नहीं होता, रुकावट नहीं होती। जैसी उदयावली की व्यवस्था है वैसी ही चौदहवें गुणस्थान की व्यवस्था है। कर्म काटते हुए आगे बढ़ो। चौदहवें गुणस्थान में किसी कर्म की उदीरणा नहीं होती है, फिर भी वहाँ पर ध्यान होता है। सभी प्रक्रियायें होती हैं। चौदहवें गुणस्थान में पचासी प्रकृतियों का नाश, उदयावली से उदय में लाकर करता है। आधी से भी ज्यादा प्रकृतियों का क्षय चौदहवें गुणस्थान में होता है।

संक्रमण की व्यवस्था सत्ता में होती है। स्तिबुकसंक्रमण अपने आपमें अन्य संक्रमणों से अलग है, यह सब संक्रमणों का बाप जैसा है। तेरह प्रकृतियों के अलावा शेष सभी परमुख से जाती हैं। इन पचासी प्रकृतियों में नामकर्म का परिवार सबसे ज्यादा है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं–१. उदयागतकर्म, २. सत्तागत कर्म। मोहनीय का २८ प्रकृतियों का परिवार है। इनके बारे में कहा गया है–**सिया उदीरया सिया अनुदीरया** अर्थात् इनकी उदीरणा होती भी है और कभी नहीं भी होती। अर्थात् इनका उदय तो हो लेकिन उदीरणा न हो, कभी उदय तो हो लेकिन उदीरणा भी हो। यह महत्त्वपूर्ण कर्मसिद्धान्त है। मिथ्यात्वगुणस्थान में मिथ्यात्व की उदीरणा एक भी समय नहीं रुकती। एक समय भी शेष रहने पर भी उदीरणा होती है। मिथ्यात्व का क्षय चतुर्थ गुणस्थान में ही होता है, ऐसा एकान्त नहीं, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम इन चार गुणस्थानों में से किसी में भी मिथ्यात्व का क्षय हो सकता है। अनन्तानुबन्धी आदि चार की हमेशा उदीरणा हो यह कोई नियम नहीं, किन्तु जब बंधता है, तब एक के उदय में चौकड़ी का बन्ध होता है। कर्मों का वैचित्र्य ऐसा है कि बादरसाम्परायगुणस्थान तक भी मोह का बन्ध होता है। रात्रि में आप गाढ़निद्रा में भी सो जाओ तो भी कर्मबन्ध की प्रक्रिया जारी रहती है। ऐसे-ऐसे कर्मफल हैं जिन्हें आपको स्वीकारना ही होगा। जैसे–सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की उदीरणा तीसरे गुणस्थान में होती है, इसे जात्यन्तर सर्वघाती रूप में स्वीकार किया है, लेकिन इसके द्वारा एक भी प्रकृति का बन्ध नहीं होता, यह स्वयं भी बन्ध योग्य प्रकृति नहीं है। दसवें गुणस्थान में मोह का बन्ध तो नहीं होता, लेकिन ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय, १ उच्चगोत्र और एक सातावेदनीय इन सोलह प्रकृतियों का नियामक रूप से बन्ध होता है। दसवें गुणस्थान में सूक्ष्मलोभ के उदय में लोभ का बन्ध तो नहीं होता, लेकिन उसमें सोलह प्रकृतियों को बाँधने की सामर्थ्य है। सोचने की बात है कि दसवें गुणस्थान में इतनी विशुद्धि होने पर भी संज्वलन लोभ के उदय में भी सोलह प्रकृतियों का बन्ध हुए बिना नहीं रहता। इसलिए हमारा यह कहना है कि कर्म के उदय में कुछ भाव ऐसे होते हैं जिनके द्वारा बन्ध हो यह आवश्यक नहीं किन्तु जघन्यदशा को प्राप्त संज्वलन लोभ के द्वारा बन्ध होगा यह नियम है। चतुर्थ गुणस्थान की अपेक्षा तृतीय गुणस्थान में कम प्रकृतियों का बन्ध होता है। लेकिन जिस गुणस्थान में कम प्रकृतियों का बन्ध हो रहा हो तो विशुद्धि ज्यादा हो और ज्यादा प्रकृतियों का बन्ध हो रहा हो और विशुद्धि कम हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। इससे स्पष्ट है कि तृतीय गुणस्थान में कम और चतुर्थ गुणस्थान में उसकी अपेक्षा ज्यादा प्रकृतियाँ बंध रही हैं, तो तृतीय में ज्यादा और चतुर्थ गुणस्थान में विशुद्धि कम हो, ऐसा नहीं समझना चाहिए। तीसरे गुणस्थान में मरण नहीं है, तो चौथे से तीसरे गुणस्थान को अच्छा मान लिया जाये, पूज्य मान लिया जाये, ऐसा नहीं है। यह तो परिणामों का वैचित्र्य है। जीव के परिणामों को लेकर कर्मवर्गणाएँ कर्म रूप परिणमित हो जाती हैं और उसके उदय में जीव के भाव होते हैं। विचार कीजिए कि कहाँ तो क्षपक श्रेणी का आरोहण किया है, कहाँ तो इतना उत्कृष्ट कार्य हो रहा है, एक अन्तर्मुहूर्त

उपरान्त मोह का क्षय होना है। फिर भी सोलह प्रकृतियों का प्रतिसमय बन्ध होता रहता है। यह ध्रुवबन्ध है। वे प्रकृतियाँ कहती हैं–मेरा राज्य है, परिधि है, यह मेरा कर्त्तव्य है, यह मेरा कार्यक्षेत्र है, जब तक कार्यक्षेत्र है, चाहे दिन हो या रात के १२ बजे हों, क्षपकश्रेणी में हो तो भी सोलह प्रकृतियों में से जो प्रशस्त प्रकृतियाँ हैं, उनमें उत्कृष्ट अनुभागबन्ध एवं शेष प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबन्ध होगा, यह मेरा कर्त्तव्य है।

संज्वलन की सूक्ष्मलोभ प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति में सन्निकर्ष, अल्पबहुत्व, बन्धप्रत्यय आदि की अपेक्षा चर्चा करें तो दोनों में जमीन आसमान का अन्तर है। मिश्र प्रकृति सर्वघाती है। सूक्ष्मलोभ देशघाति है। सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के द्वारा बन्ध नहीं होता। जबकि सूक्ष्मलोभ के द्वारा बन्ध होता है। एक तृतीयगुणस्थान में उदय योग्य है, तो दूसरी दसवें गुणस्थान में उदय योग्य है। सूक्ष्मलोभ का सबसे हीन अनुभाग हो गया है, जो स्वयं का तो बन्ध नहीं कर पा रही, परन्तु सोलह प्रकृतियों के बन्ध की पूरी व्यवस्था करती है।

तीर और कमान हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। शब्दभेदी, मनोभेदी भी चल सकता है। उसमें क्या बाधा है ? यह अधिकार है कर्मप्रकृति का। अनन्तकाल से यह रुका नहीं है और दसवें गुणस्थान के अन्त तक भी रुक नहीं सकता। ये निमित्त-नैमित्तिक कैसे होते हैं, इसको आप समझो। क्षपकश्रेणी पर आरुढ़ होने पर भी दसवें गुणस्थान में उक्त सोलह प्रकृतियों का क्षय नहीं किया जा सकता। अन्तिम एक आवली में उदीरणा तो रुक जायेगी लेकिन उस समय संज्वलन सूक्ष्मलोभ स्वमुख से उदय में आता है। अन्तिम एक आवली के अतिरिक्त दसवें गुणस्थान के शेष समय में इसकी उदीरणा होती है। एक अन्तर्मुहूर्त में असंख्यात आवलियाँ होती हैं, ऐसा हमारे यहाँ **आचार्य वीरसेन स्वामी** बतलाते हैं। प्रत्येक आवली में असंख्यात समय होते हैं। दसवें गुणस्थान में सूक्ष्मलोभ की उदय-उदीरणा के समय भी बन्ध नहीं रुकता। इसलिए **ओदइया बंधयरा** यह घटित हो जाता है। क्योंकि जहाँ-जहाँ बन्ध होता है, वह औदयिक भाव के द्वारा होता है। लेकिन सारे के सारे औदयिक भाव बन्ध के कारण हैं, ऐसा अर्थ नहीं लेना चाहिए। केवलज्ञानावरण का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्त तक है। यह औदयिकभाव है, लेकिन यह बन्ध का कारण नहीं है। नामकर्म की सभी प्रकृतियों के उदय में बन्ध नहीं होता। सभी अघातिया कर्मों का उदय बन्ध का कारण नहीं होता। उसी प्रकार मोहनीय कर्म में भी यह सिद्धान्त स्वतः घटित हो रहा है कि सम्यग्मिथ्यात्व के उदय में उसके द्वारा किसी भी प्रकृति का बन्ध नहीं होता और स्वयं का भी बन्ध नहीं होता। उसी प्रकार सम्यक् प्रकृति के उदय में उसके द्वारा उसका स्वयं का तथा अन्य किसी प्रकृति का बन्ध नहीं होता। सम्यक्प्रकृति देशघाति प्रकृति है, इसमें सर्वघाति स्पर्धकों का समावेश भी नहीं है। नवमें गुणस्थान में संज्वलन क्रोधादि के चले जाने के उपरान्त लोभ का एक स्थानीय ही उदय होता है। एक स्थानीय में भी बहुत कुछ कम होने के उपरान्त पूर्व व अपूर्व दो प्रकार के स्पर्धक होते हैं। आगे-आगे अपूर्वस्पर्धक बनते जाते हैं। फिर भी वह सोलह

प्रकृतियों का बन्ध किए बिना नहीं रह सकता। इस बारे में थोड़ा सोचना चाहिए। मात्र पन्ने-पन्ने पलटने से स्वाध्याय होता तो आज तक बहुत पन्ने पलट लिए। अब आप थोड़ा रुक-रुक कर चिन्तन के साथ स्वाध्याय करिये, जिससे स्वाद आयेगा। कर्मसिद्धान्त का भी बार-बार ईहा, ऊहापोह, मीमांसा आदि के साथ, जो मतिज्ञान की पर्यायें हैं, स्वाध्याय होना चाहिए। मात्र ईहा-ईहा नहीं, किन्तु ऊहापोह और मीमांसा भी करना चाहिए। आप लोग या तो निरीह होकर बैठ जायेंगे या ईहा-ईहा ही करेंगे, ऐसा ठीक नहीं है। अपना-अपना चिन्तन बढ़ाइये और आनन्द लीजिए।

तात्पर्य यह है कि सम्यक्प्रकृति और संज्वलन लोभ ये दो प्रकृतियाँ देशघाती हैं। इनके द्वारा बन्ध नहीं होता। लेकिन सम्यक्प्रकृति द्विस्थानीय है। एकस्थानीय उदय होने का सौभाग्य एक संज्वलन लोभ को ही जाता है। इसके अलावा किसी भी प्रकृति को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। विशेष बात यह है कि सम्यक्प्रकृति जो कि द्विस्थानीय उदय में है, इसके द्वारा बन्ध नहीं होता और दसवें गुणस्थान में एकस्थानीय उदय है तो भी उसके द्वारा बन्ध होता है। दोनों ही प्रकृतियाँ औदयिकभाव रूप हैं। फिर भी दोनों में बहुत अन्तर है। इसलिए एकान्त से औदयिकभाव बन्ध के ही कारण हैं, यह सिद्ध नहीं होता है।

अब आगे की गाथा में कहते हैं कि-**न ही जीव कर्मों के भावों को करता है और न ही कर्म जीव के भावों को करता है। फिर भी एक-दूसरे के निमित्त से दोनों के परिणाम होते रहते हैं, यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।** हमारे परिणाम के द्वारा कर्मवर्गणाओं में कर्म रूप परिणमन करने की शक्ति आ जाती है। कर्म के उदय में अपने परिणामों से नूतन कर्म बन्ध होता चला जाता है। इस रहस्य को हम समझते हैं फिर भी हम इसे हाथ से हटा नहीं सकते।

भव्य प्राणियों ! कर्म को बाहर निकालने का प्रयास करो—

दृष्टान्त—जैसे, पैर में यदि काँटा गड़ जाता है तो उसमें दिखता नहीं है। पैर साफ करने पर दर्द तो महसूस होता है, लेकिन काँटा कहाँ पर है, यह दिखता नहीं है। थोड़ा-सा हाथ से स्पर्श करने पर काँटा कहाँ है ? यह पता चलता है, जहाँ काँटा लगा होता है वहाँ दर्द महसूस होता ही है। उससे भी पता चल जाता है। पश्चात् जहाँ काँटा लगा है वहाँ पिन से खुरदने पर काँटा हिलता है, लेकिन हाथ से पकड़ में नहीं आता। सोचो, यह जो अभी-अभी एकाध घण्टे पहले पैर में काँटा लगा हुआ था, वही हाथ में नहीं आ रहा है तो अनन्तकाल के गड़े हुए कर्म रूपी काँटे हैं वे कैसे यूँ-यूँ करने से निकल जायेंगे। यदि काँटा बहुत भीतर गड़ जाये तो वह काँटा (लेफ्ट) बाएँ में जाकर ऐसा बैठ जाता है कि सहजता से निकलता ही नहीं है। वह काँटा कहता है-मेरा दर्शन ही दुर्लभ है। जब तक पुलटिस नहीं लगायेंगे तब तक वह स्थान नरम नहीं पड़ता है। जब आठ-बारह घण्टे तक लगातार उसमें पुलटिस से गर्मी पहुँच जाती है तो वह स्थान मुलायम होने से थोड़ा सा दबाने पर यूँ ऊपर आ जाता है। पश्चात् उसका दर्शन हो जाता है। इसी प्रकार जब तक द्वितीय शुक्लध्यान रूपी पुलटिस नहीं बाँधेंगे तब तक

भीतरी कर्म का काँटा बाहर नहीं आयेगा। ध्यान रखना, यदि भीतर काँटा टूट जाता है तो चाई का रूप ले लेता है। काँटा तो गायब हो जाता है और वह स्थान कठोर हो जाता है। चलने में भी परेशानी होती है। इसी प्रकार कर्म रूपी काँटे बहुत दिनों के हैं, वे आपको चलने नहीं देते हैं। उन्हें बाहर निकालने के लिए भी यही उपाय है कि ध्यान रूपी पुलटिस लगाओ या लंगड़ाकर चलो अथवा ऑपरेशन कराओ। कभी-कभी पंजे में चांई हो जाये तो चल ही नहीं सकते। ऐसी भी स्थिति हो जाती है। आचार्य सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि-संसारी प्राणी पैर के काँटे की तो चिन्ता करके येन-केन प्रकारेण बाहर निकालने का भरसक प्रयास करता ही है, लेकिन कर्म रूपी काँटों को निकालने की कोई चिन्ता ही नहीं करता। जो इन कर्म रूपी काँटों को निकाल लेते हैं उनको बाहर के काँटों को लगने का तत्सम्बन्धी दुःखदर्द होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः भव्यप्राणियो, कर्म को बाहर निकालने का प्रयास करो।

निष्कर्षतः यह कहा जा रहा है कि **अण्णोण्णणिमित्तेण दु** जीव और कर्म दोनों का परस्पर एक-दूसरे के निमित्त से परिणमन होता है। आत्मा के परिणाम के अनुसार कर्म ऐसे लेफ्ट में स्थिति-अनुभाग को लेकर बंध जाते हैं कि बिना पुलटिस के निकलते ही नहीं हैं। प्रशस्तप्रकृति उदय में आती है तो सुख की नींद में सोते हैं और अप्रशस्तप्रकृतियों के उदय में दुःखी हो जाते हैं। दुःख की स्थिति में नींद नहीं आती। रात में सब सो जाते हैं, लेकिन वह अकेला वेदना के कारण रातभर घड़ी देखता रहता है, ऐसा लगता है कि जैसे घड़ी चल ही नहीं रही। उसी प्रकार सागरोपम काल की आयु भी सुख की नींद की तरह यूँ फट से पार हो जाती है और दुःख की एक रात भी एक वर्ष की तरह लम्बी लगती है, रात निकलती ही नहीं। जब कोई दर्द वाले स्थान पर हाथ लगाता है तो कहता है कि, रहने दो, मैं अकेला अपने हाथ से कर लूँगा। पीड़ा के समय जिस व्यक्ति को भगवान् के नाम लेने का संस्कार होता है वह दर्द की आदि में भी भगवान् की शरण और भगवान् का नाम लेता है और अन्त में भी उसको भगवान् का नाम याद आ जाता है, भगवान् की शरण भी मिल सकती है। भगवान् तो चले गये वे तो आ नहीं सकते, फिर भी श्रद्धा-आस्था से तो भगवान् मिलते ही हैं॥

कर्मबन्ध रूपी इन्द्रधनुष की निर्माण—

अब आगे की गाथा में कहते हैं कि-आत्मा अपने भावों का कर्त्ता है, पुद्गल कर्म का कर्त्ता नहीं है। यह गाढ़ श्रद्धान है। इसको समझने से बेड़ा पार हो सकता है। इन्द्रधनुष के उदाहरण से यह ज्ञात हो जाता है, कि आप क्या-क्या हैं ?

दृष्टान्त—इन्द्रधनुष का निर्माण सूर्य से विपरीत दिशा में ही होता है, यह इसका सिद्धान्त है। पश्चिम में सूर्य है तो पूर्व में इन्द्रधनुष निर्मित होगा और यदि पूर्व में सूर्य है तो पश्चिम में इन्द्रधनुष बनेगा। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। थोड़ा बहुत फर्क हो सकता है। सूर्योदय के साथ वर्षा हो तो विपरीत दिशा में इन्द्रधनुष का निर्माण होता है। केवल सूर्यप्रकाश हो या केवल वर्षा हो तो इन्द्रधनुष निर्मित नहीं होता। दोनों के होने पर भी पानी में इन्द्रधनुष नहीं बनता, किन्तु दोनों के निमित्त से आकाश

में व्याप्त वर्गणायें इन्द्रधनुष का निर्माण करती हैं। समझने के लिए सूर्य के प्रकाश की भाँति कर्म का उदय है और हमारे परिणामों में योग और मोह परिणामों की वर्षा होती है तो आत्मप्रदेश रूपी आकाश में कर्मबन्ध रूपी इन्द्रधनुष बनता है। मोह और योग से दसवें गुणस्थान तक कर्मबन्ध होता है। उसके उपरान्त मोह के अभाव में कर्मोदय के प्रकाश में योग रूपी वर्षा होने पर भावास्रव या भावबन्ध के साथ साताकर्म का द्रव्यास्रव या द्रव्यबन्ध रूपी इन्द्रधनुष निर्मित होता है। तेरहवें गुणस्थान तक कोई न कोई योग तो निरन्तर बना ही रहता है। खुले आकाश में यदि बादल नहीं हैं, योग्य वर्षा नहीं है, तो आप लोगों ने कभी इन्द्रधनुष बनते देखा है क्या ? नहीं। खुले आकाश में जैसे इन्द्रधनुष नहीं बनता उसी प्रकार चौदहवें गुणस्थान में योगरहित आत्मप्रदेशों में बादल छट जाने से कर्मबन्ध रूपी इन्द्रधनुष का निर्माण नहीं होता। बादल की घटाओं के समान शरीरनामकर्म का उदय होने से तेरहवें गुणस्थानवर्ती महाराज भी योग सम्बन्धी आस्रव रूपी इन्द्रधनुष के निर्माण को रोक नहीं पा रहे हैं। क्योंकि वहाँ उस योग्य निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। दशलक्षणपर्व के समय आपने सुना होगा कि गुप्ति दो प्रकार की होती है-१. पापास्रव को रोकने रूप तथा २. पुण्यास्रव को रोकने रूप। अभी जो गुप्ति है वह पुरुषार्थ मूलक है। तेरहवें गुणस्थान में जो सहज गुप्ति है वह भी पुण्यास्रव का कारण है। अन्त में ध्यानात्मक गुप्ति के द्वारा पूर्ण संवर हो जाता है।

यतः संसारकारणात् आत्मानं गोपयति इति गुप्तिः अर्थात् जो संसार के कारणों से आत्मा को बचा लेती है वह गुप्ति है। **तत्त्वार्थसूत्र** के नवम अध्याय में **स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षा-परीषहजयचारित्रैः** अर्थात् गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र के द्वारा आस्रव का निरोध होता है। आचार्य कहते हैं-**पहले अशुभकर्म के आस्रव को रोको, पश्चात् शुभकर्म का आस्रव तो रुक ही जायेगा।** दसवें गुणस्थान तक कषाय और योग से अशुभ और शुभ दोनों प्रकार का कर्मास्रव होता है तथा ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक योग के द्वारा मात्र सातावेदनीय कर्म का शुभास्रव होता है। ज्यों ही योग का निरोध होता है तब चौदहवें गुणस्थान में जाते ही सातारूप शुभास्रव भी रुक जाता है। उसके रोकने के लिए विशेष पुरुषार्थ आवश्यक नहीं होता। उक्त इन्द्रधनुष के उदाहरण को याद रखेंगे तो विषय स्पष्ट समझ में आयेगा।

इस प्रकार जीव और पुद्गल के परस्पर में निमित्त-कारणपना है इस व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाएँ हैं।

मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान की उत्पत्ति-

यथा कुम्भकार निमित्तेन अर्थात् जिस प्रकार कुम्भकार के निमित्त से मिट्टी घड़े के रूप में परिणमन करती है। किस प्रकार से ? कुम्भकार की उपस्थिति से, उसके बोलने से या उसके द्वारा बनाने की प्रक्रिया से ? आगे की गाथाओं में कहेंगे कि कुम्भकार का योग और उपयोग कारण होता है। योग अर्थात् कुम्भाकार रूप हाथों का करना और 'उपयोग' अर्थात् मुझे कुम्भ बनाना है, यह सोचना। पहले

विचार रूप में उपयोग में कुम्भ का आकार आता है, बाद में योग के द्वारा कुम्भ बनता है। आप लोगों ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में पढ़ा होगा कि–श्रुत से भी श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है। जैसे–हे देवदत्त! 'घटमानय' अर्थात् घड़ा ले आओ। कानों में 'घट' शब्द ध्वनि रूप में पहुँचा उसे श्रोत्रेन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से सुना, शब्द अर्थ का संकेत देता है। कान के पास अर्थग्रहण करने की क्षमता नहीं होती, किन्तु शब्द सुनने की क्षमता है। यदि घट के बारे में पहले से प्रशिक्षण हो तो शब्द को मनोयोग पूर्वक सुनने से तुरन्त अर्थ की ओर उपयोग चला जाता है। 'घट' शब्द श्रवण करने के उपरान्त घट का अर्थ लोटा नहीं किन्तु घड़ा है, यह ज्ञान होता है। घट शब्द से घड़ा अर्थ एवं उसके आकार की ओर ध्यान गया, यह मतिज्ञान नहीं किन्तु श्रुतज्ञान का काम हो गया। क्योंकि अर्थ से अर्थान्तर का ज्ञान हो गया। कान से घट शब्द सुनना यह मतिज्ञान का विषय है। कान से घट शब्द सुनना यह श्रुत हो गया फिर घट का ज्ञान हो गया यह श्रुतज्ञान हो गया। व्युत्पत्ति से श्रुत का अर्थ सुना हुआ होता है। मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है। डॉयरेक्ट अर्थात् बिना मतिज्ञान के श्रुतज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु बाद में श्रुत से श्रुतज्ञान तो होता है। प्रथम बार मतिज्ञान पूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है।

मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।

अर्थात् मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध ये सभी मतिज्ञान के ही एकार्थवाची नाम हैं। घट कितने का है ? किसका है ? कितना मूल्य है ? किसने बनाया ? कहाँ से आया ? इत्यादि यह सभी अर्थ से अर्थान्तर का ज्ञान श्रुत से श्रुतज्ञान की कोटि में आता है। मान लो, आपने एक गाथा याद की थी वह स्मरण में आ गई तो यह स्मृति रूप मतिज्ञान हो गया। आप जो पढ़ते हैं, अक्षर-शब्द ये सभी मतिज्ञान का विषय है, किन्तु शब्दों के द्वारा चिन्तन करना, शब्दों से अर्थ की ओर, भावों की ओर जाना यह श्रुतज्ञान का विषय है। वैसे तो शब्दों से अर्थ की ओर जो गति होती है वह हाथों हाथ हो जाती है। लेकिन जब व्याघात होता है तो चिन्तन करने में, शब्द से अर्थ की ओर जाने में, सोचने में माथा तप जाता है, गड़बड़ियाँ आ जाती हैं। जैसे–कभी-कभी अर्थ की ओर उपयोग न होने से भक्तामर से स्वयम्भू में पहुँच जाते हैं। कभी सामायिकपाठ से स्वयम्भू में पहुँच जाते हैं। ऐसा क्यों होता है ? स्मृति तो है लेकिन अर्थ की ओर दृष्टि नहीं है तथा उपयोग एकाग्र नहीं है तो ऐसा होता है।

जीवन में श्रुतज्ञान का उपयोग कम किन्तु मतिज्ञान का उपयोग ज्यादा होता है। मतिज्ञान के द्वारा पहले शब्द विषय बनता है, पश्चात् श्रुतज्ञान के द्वारा आकार, अर्थ आदि का ज्ञान होता है। बच्चों को शब्द के साथ अर्थ का ज्ञान कराया जाता है, तब वस्तु का परिचय होता है।

दृष्टान्त–बुन्देलखण्ड में 'उरघटा' (ओंरिया) बनता है। 'उ र घ टा' यह शब्द कर्णेन्द्रिय सम्बन्धी मतिज्ञान का विषय बनता है। उरघटा यह भोजन का एक आइटम है, आँवले और बेसन से बनता है। यह मति से श्रुतज्ञान तथा श्रुत से श्रुतज्ञान होता चला जाता है। प्राथमिक अवस्था में शब्द

का अर्थ समझाया जाता है। पश्चात् ज्ञान की गति स्वयं होती चली जाती है। ककड़ी का क, खरगोश का ख तथा गिनती सिखाने के लिए भी एक-एक गोली हाथ में दे-देकर सिखाई जाती है। स्मृति के बाद जो ऐसा ज्ञान होता है कि यह किसने सिखाया था ? किस पुस्तक से सिखाया था ? इत्यादि अर्थान्तर का ज्ञान श्रुतज्ञान के द्वारा होता है। इसे द्वितीय दृष्टान्त से भी समझा जा सकता है।

दृष्टान्त—जैसे, रात्रि में जब सोए थे, तब बाहर कहीं गीला नहीं था। वर्षा नहीं हुई थी। लेकिन प्रातःकाल उठकर देखा, बारिश की आवाज सुनी नहीं, किन्तु बाहर चारों तरफ गीला-गीला हो गया। गीला देखने से रात को बारिश हुई है ऐसा ज्ञान हुआ। भीतर कमरे से ही बारिश की आवाज से बारिश का ज्ञान हुआ यह सब मति से श्रुतज्ञान में आयेगा। वर्षा का ज्ञान गीलेपन से हुआ या आवाज से हुआ यह अर्थान्तर का ज्ञान श्रुतज्ञान से होता है। आपने कहीं घड़ा रखा था, बाद में वहाँ नहीं दिखा तो किसने उठाया ? यह श्रुतज्ञान हो गया। श्रुतज्ञान परोक्ष माना गया है। गीलापन यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष (मतिज्ञान) है, लेकिन उससे 'वर्षा हुई' यह जो ज्ञान हुआ वह परोक्ष कहलाता है।

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—१. स्वानुभव प्रत्यक्ष, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष जो केवली भगवान् को होता है। २. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के द्वारा ऐसा लगता है, कि हमें कुछ मिल रहा है। प्रत्यक्ष दिखता है अतः मन टिका रहता है अन्यथा घबड़ा जाता है। जैसे-ध्यान में बैठने पर मन उचट जाता है, कुछ दिखता नहीं तो अकेले में घबड़ाहट होती है लेकिन सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के द्वारा पढ़ने-लिखने-देखने आदि क्रियाओं में घण्टों मन लग जाता है। लेकिन ध्यान रखना इस प्रकार के सांव्यवहारिक ज्ञान के द्वारा कभी भी केवलज्ञान नहीं होता। क्योंकि यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन के माध्यम से होता है। कारणरूप स्वानुभव प्रत्यक्ष केवलज्ञान का कारण होता है।

आगम में लिखा है कि आस्था प्रधान है, उस पर भरोसा रखो, उस पर विश्वास करो। केवलज्ञान हमें दिखता नहीं, जो दिखता नहीं उस पर भरोसा रखना बहुत कठिन होता है। क्योंकि विश्वास बहुत जल्दी फेल हो जाता है। कुछ हाथ नहीं लगता तो आस्था बहुत जल्दी डगमगा जाती है। वह सोचता है जो हाथ में था वह छुड़वा दिया और नया कुछ प्राप्त हुआ नहीं, अतः विश्वास टूट जाता है।

कुम्भ का निर्माण कुम्भकार के योग और उपयोग के माध्यम से होता है। फिर भी यदि मिट्टी का लौंदा नहीं है तो कुम्भकार का योग भी कार्यकारी नहीं होता। मन के लड्डू कई लोग खाते हैं लेकिन पेट नहीं भरता। अतः योग-उपयोग के साथ मिट्टी का लौंदा अनिवार्य है और उपयोग भी जहाँ लौंदा है, वहीं होना चाहिए। कुम्भ बनाने की जैसी प्रक्रिया है उसी ढंग से करना आवश्यक है, तभी घट बनता है। आप लोगों को भी कभी घड़ा बनाते हुए देखना चाहिए। कुम्भकार जब घड़ा बनाते हैं तब उसको देखा करो क्योंकि देखने से और स्वयं प्रयोग करने से अर्थ बहुत जल्दी सामने आता है। बिना प्रशिक्षण के घण्टों भी बोलते जाओ, कोई कार्यकारी नहीं। कहीं-कहीं पर कोई अर्थ निकालने में घण्टों में समर्थ

नहीं होता, लेकिन वही चित्र के माध्यम से एक क्षण में अर्थ निकाल लेता है। तिर्यंच भी बिम्ब को देखने मात्र से सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है और कोई मनुष्य ऐसा है जो वह अरहन्त के स्वरूप के बारे में पचास पेज पढ़ लेता है, सुन लेता है, पंचलब्धियों के बारे में घण्टों वर्णन सुनता जाए तो भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं कर पाता है।

आभिनिबोधिक अर्थात् अभिमुख होना चाहिए। तब वह कार्यकारी होता है। अभिमुख अर्थात् कुम्भ बनाने के लिए कुम्भकार का स्पर्श जिस तरह का होना चाहिए, भीतर का, बाहर का जैसा आकार देना आवश्यक है वे सभी क्रियायें योग के द्वारा वैसी ही होनी चाहिए तब घट बनता है। सूखने पर अग्नि में जितना तपाना अनिवार्य है उतना ही तपाया जाता है तब घट में जल धारण करने रूप क्रिया होती है। इन सब क्रियाओं में मात्र योग की प्रवृत्ति मुख्य नहीं है किन्तु उपयोग भी मुख्य होता है।

जिस उपयोग में इन्द्रिय और मन की प्रवृत्ति नहीं होती वह शुद्धोपयोग की दशा होती है और वह ध्यानात्मक होती है। इस दशा में इन्द्रिय और मन के द्वारा कोई भी पुरुषार्थ नहीं होता।

दृष्टान्त—जैसे—जब किसी को नींद आने का समय होता है, जोर से नींद आ रही होती है, तभी कमरे की खिड़कियाँ, दरवाजे बन्द करने का विकल्प होता है। लाइट बन्द करना, चद्दर ओढ़ना, तकिया लगाना, पंखा चलाना आदि कार्य होते हैं। नींद आने के उपरान्त कुछ नहीं। उसी प्रकार जब ध्यान की प्राथमिक अवस्था होती है तभी तक इन्द्रिय और मन की प्रवृत्ति को संयमित करने का उपाय किया जाता है। ध्यान लग जाने के उपरान्त, स्वानुभव प्रत्यक्ष होने के उपरान्त कोई भी प्रवृत्ति नहीं होती। न मानसिक, न शारीरिक, न वाचनिक। इन्द्रिय व मन का व्यापार रुक जाता है। प्राथमिक अवस्था में चिन्तन के समय स्मृति, तर्क, प्रत्यभिज्ञान, अनुमान आदि सभी का मन के द्वारा अवलम्बन होता है, ये सभी प्रवृत्यात्मक होते हैं। जैसे—घट बनने में मिट्टी करण तथा कुम्भकार, चक्र आदि उपकरण होते हैं। करण हमेशा कार्य रूप परिणत होता है और उपकरण कार्य में सहयोगी होता है। यदि लौंदा नहीं है तो कुम्भकार का कोई उपयोग नहीं और कुम्भकार नहीं है तो लौंदा का कोई उपयोग नहीं।

जिज्ञासा—आस्रव और बन्ध दोनों एक साथ होते हैं या आस्रव पहले, बन्ध बाद में होता है?

समाधान—पहले बताया था कि कर्मवर्गणा और कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गल इन दोनों में अन्तर है। एक मान्यता है कि कर्मवर्गणायें कर्म रूप परिणत होती हैं तथा दूसरी मान्यता है कि कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गल को ग्रहण करता है। जब उनका कर्म रूप परिणमन होता है तभी आस्रव व बन्ध एक साथ प्रारम्भ हो जाते हैं। यदि आस्रव को पहले और बन्ध को बाद में अर्थात् तदनन्तर समय में मानेंगे तो दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में जो आस्रव हुआ, वह क्षपणश्रेणी की अपेक्षा बारहवें गुणस्थान में या उपशमश्रेणी की अपेक्षा ग्यारहवें गुणस्थान में बन्ध को प्राप्त होगा। जबकि दसवें गुणस्थान में बन्धयोग्य सोलह प्रकृतियों की बन्धव्युच्छित्ति उसी गुणस्थान के अन्त समय में हो जाती है। फिर आगे के गुणस्थानों में उनका बन्ध कैसे होगा ? उसी प्रकार द्वितीय गुणस्थान के अन्त में जो आस्रव होगा

तो उन प्रकृतियों का बन्ध प्रथम गुणस्थानवर्ती के माना जायेगा। दूसरी बात कोई ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचा, वहाँ प्रथम समय में साता का आस्रव हुआ और दूसरे समय में मरण हो गया तो फिर बन्ध कब होगा ? वैसे ही वहाँ ईर्यापथ आस्रव होता है। इसलिए अनन्तर समय में बन्ध मानना उपयुक्त नहीं है। प्रत्येक गुणस्थान में उक्त बाधा आयेगी।

दृष्टान्त—जैसे, वर्षा और सूर्यप्रकाश का एक साथ निमित्त मिलता है तभी इन्द्रधनुष का निर्माण हो जाता है। तदनन्तर समय में नहीं होता। उसी प्रकार जिस समय कर्म रूप परिणमन होता है उसी समय आस्रव व बन्ध एक साथ माने जायेंगे। इसीलिए तेरहवें गुणस्थान में ईर्यापथ आस्रव के साथ ही एक समयवर्ती बन्ध स्वीकार किया गया है।

केवल कर्मोदय पर मत टूटो—

जब मोह का उदय होता है तब जीव स्वयं रागादि विकार रूप परिणत होता है। जब तक मोह का उदय नहीं होता तब तक रागद्वेषादि विकार रूप परिणति नहीं हो सकती। इसलिए **केवल कर्मोदय पर मत टूटो, ''मैं क्या करूँ, कर्मोदय के कारण ऐसा हो रहा है, ऐसा भी मत सोचो। मेरे ही कर्म का उदय है''** ऐसा सोचना चाहिए। फलतः परिणामों में आकुलता नहीं होती। यह एक साधना है, भेदविज्ञान का प्रयोग है। इसी के माध्यम से बुद्धिपूर्वक रागद्वेष से बचा जा सकता है। जैसे—मुनिराज के जीवन में कई परीषह आते हैं तो उन्हें कर्म का उदय समझकर जीतते हैं। उनका यह बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ माना जाता है। साधना में परिपक्व होने के उपरान्त अध्यात्मग्रन्थों में कहा जाता है कि ''यह कार्य हो रहा है, किया नहीं जा रहा है'' ऐसा **समयसार** का रहस्य है। इस रहस्य को न समझकर एकान्त से ऐसा कहने लगते हैं कि—निद्राकर्म की उदीरणा है तो लुढ़क गए, हम थोड़े ही लुढ़के हैं। कर्म का उदय था तो लुढ़क गए। यदि कर्म के उदय में स्वतः ऐसी प्रवृत्ति होगी तो गुप्ति कैसे पलेगी ? पुरुषार्थ क्या काम करेगा ? कुछ लोगों को निद्रा का तीव्रोदय होता है तो ज्यों ही स्वाध्याय सुनने बैठते हैं तो निद्रा देवी आ जाती है और वीर हिमाचल तैं... कहते ही चली जाती है। वह पछताता तो है, उसे दुःख तो होता है पर पुरुषार्थ नहीं कर पाता या पुरुषार्थ सफल नहीं हो पाता। जैसे—पडगाहन करके ले जाते हैं, पैर धुलाते समय आँखों में हर्ष के आँसू आ जाते हैं। कभी-कभी तो चौंसठ धार बहने लगती है। कर्मों की उदीरणा इसी ढंग से होती है, क्या कर सकते हैं? राग का उपादान तो आत्मतत्त्व है, आत्मा परिणामी है। **अमृतकलश** में आता है कि—**उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं** राग की उत्पत्ति में एकान्त से परद्रव्य ही कारण है, मैंने राग नहीं किया। राग करते हुए भी राग करने रूप कर्तृत्व स्वयं में नहीं मानता है। वह मोह रूपी वाहिनी को कभी तर नहीं सकते हैं, क्योंकि उसके शुद्ध-बुद्ध आत्मज्ञान का अभाव रहता है। जबकि देखा जाए तो स्वयं समूचा आत्मतत्त्व ही राग रूप परिणमन कर चुका है, क्योंकि राग की लहर आत्मा के किसी एक कोने में नहीं होती है। जैसे—तालाब बहुत बड़ा है, लेकिन उसमें एक छोटा सा कंकर फेंक देने से समग्र तालाब में तरंगें उठ जाती हैं। वह सूक्ष्म है, इसलिए हम समझ नहीं

पाते। लेकिन परिणमन तो समग्र आत्मद्रव्य में होता है। यह परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। कर्मसिद्धान्त का जिसे थोड़ा भी ज्ञान होता है वह इस रहस्य को समझ लेता है।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया कर्म में या आत्मा में—

बन्ध के चार भेद हैं-प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध। ये चारों कर्म में ही पड़ते हैं। कर्म में ही चारों काम होते हैं। कर्म के ही प्रदेश होते हैं, लेकिन कर्म कर्म से बंधता है ऐसा आचार्यों ने कहीं नहीं कहा। कहते हैं कि रस्सी रस्सी से बंधी, रस्सी से गाय नहीं बंधी क्या ? रस्सी से गाय बंधी होती है, फिर भी कहते हैं कि रस्सी से रस्सी बंधी है। यदि ऐसा है तो रस्सी खींचने पर गाय बीच में क्यों आती है ? उसी प्रकार यदि कर्म कर्म से बंधा है तो आत्मा उसका भोक्ता क्यों होता है ? लोहा लोहा में है, अग्नि अग्नि में है फिर इसे लुहार क्यों नहीं जानता। बंध से जीव की गति बिगड़ जाती है या पुद्‌गल की ? चारों बन्ध कर्म में पड़ते हैं, तो भी आत्मा के प्रदेश और कर्मों के प्रदेशों में अन्योन्यप्रवेश हो जाता है, जिसे बन्ध कहा है। यद्यपि कर्म का बन्ध उपादान रूप से वर्गणाओं में होता है, लेकिन आत्मा के परिणामों को निमित्त बनाये बिना होता है क्या? नहीं, इसमें जीव के परिणामों का हाथ होता है। जीव के कषाय परिणामों से अनुभाग पड़ता है। कर्मों के अनुभागस्थान अनन्त होते हैं। योगस्थान असंख्यात होते हैं। कर्मों के तीव्रोदय में तीव्र ही अनुभाग बांधे, ऐसा नियम नहीं है और मन्दोदय में मन्द अनुभाग बांधे, ऐसा भी नियम नहीं है, क्योंकि कर्म का उदय चतुःस्थानीय भी हो सकता है, द्विस्थानीय भी हो सकता है, लेकिन बन्ध भी वैसा ही हो, ऐसा नहीं है। आत्मपुरुषार्थ की भी कुछ भूमिका होती है, हम ऐसा करके ही रहेंगे, ऐसा नहीं होता है, क्योंकि आत्मा और कर्म में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। घट और कुम्भकार की तरह यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। घट रूप परिणमन स्वयं लौंदे में होता है, कुंभकार तो निमित्त होता है। लौंदे में घट रूप परिणमन का उपादान होता है। **योग हो तो सहयोग मिल सकता है और उपयोग हो तो कुछ समझाया जा सकता है।** पहले करण फिर उपकरण होता है। मराठी में सहकार योजना का बहुत महत्त्व है। अर्थात् कोई एक व्यक्ति कार्य करने तैयार हो जाये तो सहयोगी बहुत हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि **पहले स्वयं कार्य प्रारम्भ करो, फिर सहकार तो अपने आप मिल जायेंगे। हम लोग पहले सहयोगियों को ढूँढ़ते हैं। आचार्य कहते हैं कि पहले स्वयं का कार्य करो, सहयोगी तो मिल जायेंगे। यदि नयन नहीं हैं तो उपनयन की कोई आवश्यकता नहीं है।** कई लोगों के नयन काम में नहीं आते लेकिन ऊपर से चश्मा लगा लेते हैं, वे दूसरों को दिखाने के लिए ऐसा करते हैं। करण और उपकरण के बारे में जब विसंवाद होने लग जाता है, तो अधिकरण के द्वारा समाधान हो जाता है। उपनयन आँख के ऊपर होता है आँख में नहीं। अधिकरण रूप नयन है तो उपकरण कार्यकारी होता है। उपनयन में ज्योति का अधिष्ठान नहीं होता है। ज्योति का आधार तो आँख या पुतली होती है। ये पलकें, भौंहे आदि भी उपकरण हैं। **इस युग में उपकरण की चिन्ता बहुत है, किन्तु करण अनुकरण की बात ही नहीं है।**

यदि राग आत्मा में नहीं है, राग का अधिकरण आत्मा नहीं है तो फिर होने दो राग। जबकि आचार्य तो राग को छोड़ने का उपदेश देते हैं। जब आत्मा में राग नहीं है तो फिर क्यों छोड़ना ? राग को छोड़ने का उपदेश है, शरीर को छोड़ने का नहीं। शरीर को छोड़ा भी नहीं जा सकता। किन्तु शरीर के प्रति ममत्व को छोड़ा जाता है। उपधि दो प्रकार की होती है–१. उपात्त और २. अनुपात्त। उपात्त अर्थात् भिन्न और अनुपात्त अर्थात् अभिन्न। शरीर अनुपात्त उपधि है। उसे त्यागा नहीं जाता किन्तु उसके प्रति जो मूर्च्छा है, ममत्व है, उसका त्याग होता है। शरीर के अतिरिक्त जो बाह्य परिग्रह वस्त्र, धन, परिवार आदि सभी उपात्त उपधि हैं, इनका त्याग होता है।

मम इदं इति संकल्पः आशयः परिग्रहः मेरा है, इस प्रकार जो भाव होता है वह परिग्रह है। मेरा–तेरा नहीं करो तो पदार्थों को हटाने की आवश्यकता ही नहीं। दुनिया में जितने पदार्थ हैं उन्हें छोड़ने को नहीं कहा, किन्तु जिनके प्रति ममत्व है, जिनसे सम्बन्ध है, उन्हीं को छोड़ने को कहा है। मेरा तभी तक कहते हैं जब तक झगड़ा उत्पन्न नहीं होता, झगड़ा होने लग जाये तो भइया आपका है। ऐसा व्यवहार करते हैं। हओ कह दो। हओ कहने से संघर्ष बहुत जल्दी समाप्त होते हैं। **चिपको नहीं किसी से...।**

मैं किसी से उलझता नहीं–

एक लेख पड़ा था उसका निचोड़ रूप में शीर्षक पढ़ा था–**मैं किसी से उलझता नहीं।** आप कहते हैं कि मैं किसी से उलझता नहीं, सामने वाला कहता है–मैं किसी को उलझाता नहीं। फिर हमारे बीच उलझनें क्यों हैं ? सामने वाला उलझाना चाहता है और उलझना पसन्द करते हैं तभी उलझनें होती हैं। यदि आप उलझना नहीं चाहते तो कोई एक घण्टे तक भी कुछ सुनाये तो भी आप उसमें उलझ नहीं सकते। कोई कह दे कि तुम सुनते ही नहीं हो तो हओ कह दो। कोई कह दे कि आप महास्वार्थी हैं, निर्दय हैं, तो भी हओ कह दो। यह कितनी अच्छी पंक्ति है कि–**मैं किसी से उलझता नहीं।** भाव करोगे तो उलझोगे। मुझे किसी से उलझना नहीं, कोई कितना कुछ भी कह दे तो भी उलझना मेरा स्वभाव नहीं, यह ज्ञान होने पर कितना भी प्रबल निमित्त मिले तो भी कुछ नहीं होगा। उलझने में अनेक समस्यायें होती हैं। फिर समस्याओं को सुलझाना बहुत कठिन होता है। इसलिए सबसे अच्छा यही है कि–**हर समस्या सुलझेगी, तुम उलझना छोड़ दो।** उलझन या परिग्रह के भाव हम स्वयं करते हैं, हाँ सामने वाला निमित्त हो सकता है। फिर भी यदि उपादान मजबूत हो तो प्रबल निमित्त भी कमजोर हो जाता है। सम्यग्दृष्टि कहता है कि–मैं किसी से उलझता नहीं।

राग रूप परिणमन का श्रेय किसको ?–

अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा रागादि भावों का कर्त्ता होता है। जिसमें राग होता है, वह उसका कर्त्ता–भोक्ता व स्वामी होता है। अध्यात्म ग्रन्थों में अधिकरण कारक बहुत सशक्त माना जाता है। जैसे–मिट्टी, कलश बनने में उपादान कारण है, उसी प्रकार अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा रागादि भावों

का उपादान कारण है। कई लोग कहते हैं–द्रव्य तो शुद्ध है पर पर्याय अशुद्ध है। आचार्य कहते हैं–यदि द्रव्य शुद्ध है तो उसका पर्याय रूप परिणमन भी शुद्ध होना चाहिए। एक छात्र बहुत अध्ययनशील है, बहुत होशियार है, सब कुछ मुखाग्र है, परीक्षा देकर आया और जब परिणाम निकला तो...फेल। यह बात आप मानने तैयार होंगे क्या ? जैसे, यदि अध्ययनशील छात्र है तो परिणाम में फेल क्यों ? इसी प्रकार द्रव्य यदि त्रैकालिक शुद्ध है तो परिणमन अशुद्ध क्यों ? द्रव्य शुद्ध है, तो उसका परिणमन (पर्याय) भी शुद्ध मानो। यहाँ अधिकरण कौन है ? या तो पुद्‌गल को मानो या जीव को मानो। जीव को आप शुद्ध मान रहे हैं तो पुद्‌गल को मानो क्योंकि सभी कार्य पुद्‌गल में हो रहे हैं। यदि पुद्‌गल को अधिकरण मानेंगे तो पुद्‌गल को ही उपदेश चाहिए और पुद्‌गल को ही मुक्ति मिलना चाहिए। फिर तो आत्मा मोक्षतत्त्व का कर्त्ता सिद्ध नहीं होगा। यदि आत्मा को मोक्ष का कर्त्ता मानते हो तो पहले उसे बद्ध मानो, बद्ध अवस्था का नाम ही अशुद्ध पर्याय है, अतः आत्मा को अशुद्ध मानना पड़ेगा। यदि ऐसा नहीं मानते हैं तो मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि से और अभव्य भी भव्य से कम नहीं है, क्योंकि **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** अर्थात् शुद्धनय से सभी जीव शुद्ध है। अभव्य का भी आज तक एक प्रदेश दूसरे द्रव्य रूप परिणमित नहीं हुआ, दूसरे में नहीं गया, दूसरे रूप नहीं हुआ। जितने उसके प्रदेश हैं, उतने ही प्रदेशों में भाव्य है, उसमें कम-ज्यादा नहीं हो सकते, किन्तु परिणाम जो अन्यथा रागादि रूप हो रहा है उसका श्रेय आत्मा को ही जाता है। रागरूप परिणमन करने की क्षमता आत्मा में है, पुद्‌गल में नहीं। इस सिद्धान्त को जो नहीं मानता उसका तत्त्वश्रद्धान समीचीन नहीं माना जायेगा। आचार्यों ने कहा है कि बन्ध एक प्रदेश में नहीं होता, किन्तु **तत्त्वार्थसूत्र** में आठवें अध्याय में एक सूत्र है–

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः
सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः।

अर्थात् आत्मा के सभी प्रदेशों में बन्ध होता है। इस प्रकार निश्चयनय की विवक्षा में जीव का अपने परिणामों के साथ ही कर्त्ता-कर्मभाव तथा भोक्ता-भोक्तृत्व भाव सिद्ध होता है दूसरों के साथ नहीं। थोड़ा सा कर्मसिद्धान्त अच्छे ढंग से समझ लें तो भिन्न-भिन्न पदार्थों के कर्त्ता-भोक्तापन की बात समझ में आ सकती है। भिन्न पदार्थों के भोक्ता होकर सुख मिलने रूप जो परिणति होती है। उसमें विभाजन करके सोचना चाहिए जिससे परद्रव्य के भोक्ता बनने का लालच समाप्त हो जायेगा। क्योंकि स्वद्रव्य के साथ ही हमारा भोक्तृत्व भाव विद्यमान है। हम उसके भोक्ता हैं, जो हमारे स्वयं के भाव हैं तो फिर रूप, रस, गन्ध, स्पर्श रूप जो पुद्‌गल पदार्थ है, उसके हम भोक्ता कैसे हो सकते हैं ? वे हमारे भोग्य पदार्थ नहीं हैं, निश्चयनय तो यही कहता है। असद्‌भूत व्यवहारनय, उपचरित, अनुपचरित व्यवहारनय आदि की विवक्षा से मान लेते हैं। जीव को जो कर्मों का फल मिलता है, वह भी असद्‌भूत व्यवहारनय से मिलता है। उपचार से जो पदार्थ हैं उनके प्रति कर्त्ता-भोक्ता भाव उपचरित असद्‌भूत व्यवहारनय से होता है। इसके साथ अशुद्धनिश्चयनय नहीं लगता। रागादि भावों के साथ अशुद्ध-

निश्चयनय से कर्त्ता-भोक्ताभाव घटित होता है। उपचार तो फालतू जैसा है।

दुनिया का संघर्ष उपचरित असद्भूतव्यवहार पर ही आधारित है—

आज दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच जो संघर्ष होते हैं वे सभी उपचार रूप पर पदार्थों के कर्त्ता-भोक्ता होने के कारण होते हैं। यह सब उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। तत्पश्चात् अहंकार, हिंसा, झूठ, माया, लोभ, वैर, ईर्ष्या आदि भाव करते हैं। जीव इन भावों का कर्त्ता अशुद्धनिश्चयनय से होता है। हम अपने ही कर्मों के भोक्ता असद्भूतव्यवहार नय से हैं। भूकम्प आ गया तो मकान, धन आदि सब समाप्त हो गया, अब क्या करोगे ? चार एकड़ जमीन थी, उसमें गड्ढा बन गया। अब तो लिस्ट में लिखा रह जायेगा। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय कर्म तो होता है पर उपचरित पदार्थ घर, मकान, परिवार आदि नोकर्म नहीं हो सकते। ये सभी उपचरित असद्भूत व्यवहारनय के विषय होते हैं। जब स्वरूप की ओर दृष्टिपात करते हैं तो रागद्वेष आदि विषय रूप अशुद्ध निश्चयनय कर्म, नोकर्म, मकान-दुकान आदि विषय रूप उपचरित असद्भूत और अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय आदि सभी नय हम लोगों को त्रैकालिक संघर्ष में डालने वाले हैं। इन तीनों के कारण ही संसार में संघर्ष होते हैं। इनसे ऊपर उठ जायें तो पर का कोई प्रवेश ही नहीं होगा और जहाँ पर अन्य का प्रवेश नहीं, स्वामित्व नहीं होगा तो वहाँ रागद्वेष भी नहीं हो सकते। रागद्वेष होने से आत्मा से बाहर आने का परिणाम और रत्नत्रय की विराधना होती है। **ज्ञानी जीव इसी लोक में, इसी स्थान में, पदार्थों के बीच रहकर भी अपने उपयोग को अबाधित-निश्चल रूप से सुरक्षित रखता है तथा बार-बार यह विचार करता है कि—मैं किसी से उलझता नहीं।** मात्र बातों से नहीं किन्तु प्रयोग करने पर यह स्थिति आ सकती है। यह वाक्य लिखने वाला भी उलझ सकता है। कैसे ? मान लो, यदि किसी दूसरे ने यह वाक्य बोल दिया तो उसने मेरा वाक्य क्यों बोल दिया ? यह विवाद का कारण बन जाता है। यह उदाहरण मेरा है आपने कैसे बोल दिया इत्यादि विवाद हो जाता है। बहुत कठिन है। किसी भी आचार्य ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में **सर्वाधिकार सुरक्षित** ऐसा नहीं लिखा। बल्कि वे तो यह कहते हैं कि आप इसका प्रकाशन कर रहे हो तो इसमें जो भी गलतियाँ हों उन्हें बुधजन सुधार लें। क्योंकि हो सकता है कि अज्ञान के कारण गलती हो गई तो सुधारने की क्षमता हो तो सुधार करें। **आचार्य वीरसेन स्वामी, आचार्य जयसेन स्वामी** का किसी भी ग्रन्थ पर कॉपीराइट नहीं है।

परद्रव्य के साथ कितनी ज्यादा चिपकन (राग) करते जा रहे हैं और कहते हैं कि—मैं राग नहीं करता हूँ, राग करना मेरा स्वभाव नहीं है। यह कितनी बड़ी भूल है। साथ में अभिमान भी शिखर पर पहुँच रहा है।

हमारे पास चार नय हैं–१. उपचरित असद्भूतव्यवहारनय, २. अनुपचरितअसद्भूत व्यवहारनय, ३. अशुद्धनिश्चयनय और ४. शुद्धनिश्चयनय। अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से भी यदि हम विचार करें तो हमारी बहुत सी उलझनें समाप्त हो सकती हैं। अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा उसके

विषय का चिन्तन करने से उलझन मुक्त होने से हल्कापन हो सकता है। तथा स्वभाव की ओर ध्यान जाये तो कहना ही क्या ? रागद्वेष नहीं करना और उसके बारे में विचार करना कि यह तो कर्म का फल है, मैं इसका कर्त्ता नहीं हूँ। इस प्रकार चिन्तन करने वाला ही सही स्वाध्यायनिष्ठ है, यह हमारे लिए श्रेयस्कर है। इसके द्वारा असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा होती है। ज्ञानी इसी विचारधारा से कर्मनिर्जरा करता रहता है। **अण्णोण्णणिमित्तेण दु** इसका अर्थ होता है कि स्वयं मैं अपना कर्त्ता होते हुए भी दूसरे के लिए निमित्त बन जाता हूँ। इस प्रकार परस्पर कर्त्ता-कर्मभाव हो जाता है। यहाँ तादात्म्य नहीं कहा, निमित्त कहा है। अर्थात् मेरे भीतर जो भाव हो रहे हैं वे मेरे में होते हुए भी कर्म के निमित्त से हो रहे हैं। इसलिए निमित्तक कहलाते हैं। परद्रव्य की अपेक्षा यही कहा जाता है कि कर्म के उदय में वह भाव मेरे में हो रहा है। कुम्भकार के लिए योग-उपयोग में घट निमित्त बन सकता है। घट बनाने का उद्देश्य क्या है? पैसा कमाना। अतः पहले उपयोग में घट आ जाये तब पैसा आये। वक्ता विवक्षा कब बनाता है ? जैसे, आपने हमारे भाव सुन लिए, सुनकर आपके मन में प्रश्न पूछने के भाव हो गये। आपने प्रश्न किया तो मेरी उत्तर देने की विवक्षा बन गई तो यह **अण्णोण्णणिमित्तेण दु** हो गया। इस प्रकार धारा प्रवाह कार्य-कारण सम्बन्ध होते रहते हैं। आप जो कुछ भी लिखने का कार्य करते हैं उसके पीछे सम्पादन व प्रकाशन के भाव आ सकते हैं। यदि कोई लेख पढ़ने वाला नहीं है तो लेख का कुछ महत्त्व नहीं होता है। यदि प्रकाशन को हाथ लगाने वाला नहीं रहेगा तो प्रकाशन का कार्य भी नहीं होगा। घट रूप जो कर्म है वह ज्ञानात्मक भी होता है और ठोस कार्य रूप भी अर्थात् योगात्मक भी होता है। पहले घट ज्ञान में आयेगा उसके उपरान्त कुम्भकार के हाथ में गोल, चौकोर आदि रूप योग में आता है। **मूकमाटी** में मानसतरंग में दो पेजों में लेख है, उसके प्रारम्भ में जो आठ-नौ प्रश्न दिये हैं वे पठनीय हैं। इतना अवश्य है कि कुम्भकार क्या बिना उद्देश्य के घट का आकार योग-उपयोग में ला सकता है? नहीं, यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। कील के बिना चाक में भ्रमण रूप क्रिया आ सकती है क्या? नहीं। इस प्रकार के प्रश्न हैं।

कर्त्ताकारक स्वतन्त्र होता है—

निश्चयनय का प्रकरण चल रहा है, उसी को आगे और बढ़ाते हुए कहते हैं कि निश्चयनय की अपेक्षा कर्तृ-कर्मभाव, भोक्तृ-भोग्यभाव आदि अपने आत्मपरिणामों के साथ ही घटित होते हैं। कर्त्ता हमेशा स्वतन्त्र होता है। कर्त्ता एक कर्तृ कारक है, यह कार्य को करने वाला होता है। कर्म, करण आदि कारक कार्य नहीं करते लेकिन कर्तृकारक के सहयोगी होते हैं। **स्वयम्भूस्तोत्र** में **विमलनाथभगवान्** की स्तुति करते हुए **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** जी ने लिखा है कि-

यथैकशः कारकमर्थसिद्धये समीक्ष्यशेषं स्वसहायकारकम्।

अर्थात् कर्त्ता कारक के लिए शेष सभी कारक सहायक होते हैं। जैसे-लिखने वाला लिखेगा, लेकिन कागज के बिना नहीं, पेन के बिना नहीं, अतः कागज, लेखनी आदि उसके लेख में सहयोगी

हैं। लेखनी करण कारक है, वह कथंचित् स्वतन्त्र और कथंचित् परतन्त्र होती है। परन्तु कर्त्ता कारक हमेशा स्वतन्त्र ही होता है। स्वामी हमेशा स्वतन्त्र होता है, अन्यथा उसे स्वामी नहीं कह सकते। यह जीव जहाँ भी रहता है वह हमेशा शुभ-अशुभकर्म के फल का स्वामी होता है। वह भी पूर्व कर्म के उदय से ही होता है। किन्तु कर्मोदय रागादि रूप परिणमन उसी जीव का होता है जो शुद्धात्मा के अनुभव से अर्थात् निर्विकल्प समाधि से विमुख, विभाव भाव को अपनाने वाला होता है। इस प्रकार प्रत्येक जीव के यह विभाव रूप परिणमन उपादान और निमित्त, इन दोनों कारणों के सहयोग से सम्पन्न होता है, किसी एक से नहीं।

उत्थानिका—इस प्रकार यह बात सिद्ध हुई कि निश्चय नय से जीव का कर्त्ता-कर्म भाव और भोक्तृ-भोग्यभाव अपने परिणामों के साथ ही होता है, सो ही कहते हैं—

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८९॥

अन्वयार्थ— **(णिच्छयणयस्स)** निश्चयनय का **(एवं)** ऐसा मत है कि **(आदा)** आत्मा **(अप्पाणमेव हि)** अपने का ही **(करेदि)** करता है **(दु पुणो)** और **(अत्ता)** आत्मा **(तं चेव अत्ताणं)** अपने आपका ही **(वेदयदि)** भोगता है ऐसा तुम **(जाण)** जानो।

अर्थ—हे शिष्य ! तू ऐसा समझ कि निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा अपने आपका ही कर्त्ता है और अपने आपका ही भोक्ता है, दूसरे का नहीं।

आत्मा सुनिश्चित स्वभाव विभाव कर्त्ता,
भोक्ता स्वयं, स्वयं का निज शक्ति भर्त्ता।
जैसा सुशान्त सर हो सर ही हिलोरा,
लेता उठी लहर हो जब वायु जोरा ॥८९॥

व्याख्या—जैसे, समुद्र की तरंगों के उत्पन्न होने में पवन निमित्तकारण है। फिर भी निश्चयनय से समुद्र ही तरंगों को उत्पन्न करता है। उसी प्रकार द्रव्यकर्मों के उदय का सद्भाव आत्मा के अशुद्ध भावों की उत्पत्ति में निमित्तकारण होता है और द्रव्यकर्म के उदय का न होना आत्मा के शुद्ध भावों में निमित्त होता है फिर भी शुद्ध और अशुद्ध समस्त भावों का उपादान तो आत्मा स्वयं ही होता है। क्योंकि आत्मा ही शुद्ध-अशुद्ध भावों से स्वयं परिणत होता है। तथा उपादान रूप से उन्हीं का भोक्ता भी होता है। स्वयं उसी का संवेदन करता है। तात्पर्य यही है कि आत्मा अपने आत्मभावों को स्वयं करता है और उन्हीं का अनुभव, वेदन भी करता है। उपादान रूप से दूसरे का कर्त्ता नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य कर्तृभाव की अपेक्षा स्वतन्त्र है। प्रत्येक द्रव्य का अपने स्वरूप के अनुरूप परिणमन आज तक अबाधित रूप से होता चला आया है। यह परिणमन कर्त्ता की स्वतन्त्रता पर आधारित है। ज्ञेयभूत पदार्थ ज्ञान की वजह से हों और ज्ञान, ज्ञेयभूत पदार्थ की वजह से हों, ऐसा नहीं है, क्योंकि ज्ञाता के

पास भी प्रमेयत्व गुण है और समस्त ज्ञेय पदार्थों के पास भी प्रमेयत्व गुण है। सबका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। प्रमाण का विषय प्रमेय कहलाता है। उसका भाव प्रमेयत्व है। यह सामान्य रूप से सभी द्रव्यों में पाया जाता है। प्रमाण के कारण प्रमेय नहीं होता और प्रमेय है इसलिए प्रमाण जानता है, ऐसा भी नहीं। प्रमाण प्रमाण है, प्रमेय प्रमेय है। जीव तत्त्व में प्रमाण-प्रमेय दोनों हैं, किन्तु शेष ज्ञेय द्रव्यों में मात्र प्रमेयत्व है। पदार्थ ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं इसलिए ज्ञेय कहलाते हैं। निश्चय से देखते हैं तो **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** ग्रन्थ में **श्री अमृतचन्द्राचार्य** ने कहा है कि-

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र॥

अर्थात् उस केवलज्ञान रूप दर्पण में समस्त पदार्थमालिका एक साथ स्वयं झलक रही है। झलकत्व यह प्रमेयत्व गुण का परिणमन है। यह उस ज्ञान की विशेषता है कि समस्त पदार्थ ज्ञान में दर्पण की तरह झलक रहे हैं। यहाँ ज्ञान को अधिकरण रूप में स्वीकार किया है। झलकन रूप क्रिया किसकी है ? तो इसमें पदार्थ मुख्य होंगे लेकिन झलकन क्रिया किसमें हो रही है ? तो केवलज्ञान मुख्य होगा। यह ज्ञान की विशुद्धता का प्रभाव है।

दृष्टान्त—जैसे, ध्वनि-तरंगें अभी यहाँ पर भी विद्यमान हैं, लेकिन उनको ग्रहण करने वाला रेडियो, मोबाइल या वायरलेस सेट हो तो उन्हें पकड़ लेता है। अतः तरंगों को कहीं से बुलाया नहीं जाता, किन्तु वे तो यहीं विद्यमान हैं। उसी प्रकार पदार्थ तो सर्वत्र विद्यमान हैं। दर्पण होगा तो दिखेंगे। ज्ञेय तो सर्वत्र हैं। ज्ञान होगा तो उन्हें जानेगा। जानना है आपको... तो जानो, लेकिन जानने के लिए आप पर को ही क्यों ढूँढ़ते हो ? स्वयं आत्मा भी तो ज्ञेय है उसे जानने का प्रयास क्यों नहीं करते हो ? यह एक प्रकार का पागलपन या अज्ञान भाव है कि स्वयं के पास प्रमेयत्व होने पर भी हम दूसरों को ही जानना चाहते हैं तथा दुनिया में भी ज्ञानी वही माना जाता है जो अधिक से अधिक दूसरों को जानता है। जबकि अध्यात्म की अपेक्षा से ज्ञानी वही होता है जो स्वयं को जानता है और स्व का संवेदन करता है। मोक्षमार्ग में इसी अध्यात्म की मुख्यता होती है। भावश्रुत की मुख्यता है, इसी के ऊपर केवलज्ञान रूपी महाप्रासाद टिकने वाला है।

स्वयं के प्रमाण से स्वयं को जानो—

विश्व में कुछ पदार्थ प्रकाशित होते हैं और कुछ पदार्थ प्रकाशक और प्रकाशित दोनों तरह के होते हैं। यह शक्ति स्वयं आत्मा के पास है, अतः उसे जानने का प्रयास करो न ! स्व के प्रमेयत्व गुण से स्वयं को नहीं जाना, यह अध्यात्म की बहुत बड़ी भूल है। आचार्य बार-बार कहते हैं कि-स्वयं के पास प्रमेयत्व गुण है और स्वयं के पास ही प्रमाण है अतः स्वयं के प्रमाण से स्वयं को जानो न! आप दीपक के समान स्वयं प्रकाशक ज्ञानरूप भी हैं और प्रमेय रूप भी हैं। आपके पास इतिहास भी है, भविष्य भी है। उसको देखो न ! दूसरे का हाथ देखने में आनन्द आता है, स्वयं का हाथ देखने में

आनन्द क्यों नहीं आता ? कई लोग अपना हाथ देखने का मना करते हैं। क्यों ? इसलिए मना करते हैं कि यदि स्वयं को अपना भविष्य देखने में आ जायेगा, कि मृत्यु होने वाली है या दरिद्रता आने वाली है तो डर जायेगा और सब काम छोड़कर बैठ जायेगा। इसी प्रकार डॉक्टर, वैद्य अपने हाथ स्वयं नहीं देखते। यह कमजोरी है, साहस नहीं है। दृढ़ता नहीं है, विश्वास नहीं है।

एक दर्शन की मान्यता है कि ज्ञान दूसरे को जानता है, तो फिर उसे जानने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता होगी। फलतः अव्यवस्था हो जायेगी, अनवस्था दोष आ जायेगा। जबकि ज्ञान वही माना जाता है जो स्वयं को भी जाने और पर को भी जाने।

दृष्टान्त—समुद्र में यदि तरंग उठती है तो हवा के कारण उठती है लेकिन वस्तुतः समुद्र ही तरंगों का उपादान कर्त्ता है, हवा तो निमित्त है। **उलझत सुलझत स्वयं है ध्वजा पवन के जोर।** ऐसा कहते हैं अर्थात् ध्वजा हवा के कारण स्वयं उलझती है और स्वयं ही सुलझती भी है। हवा के अभाव में वह शान्त रहती है। कुछ स्थानों पर देखा है कि ताँबें की ध्वजा लगा देते हैं, वह न उलझती है, न सुलझती है। भले ही हवा चले या न चले। इसी प्रकार आत्मा में कर्मों के उदय से शुभ-अशुभ भाव होते हैं वे अपने परिणामों के पुरुषार्थ पर डिपेण्ड हैं। उपादान विपरीत होगा तो विपरीत भाव होगा। यह आत्मा के उपादान पर डिपेण्ड है। यह बात अवश्य है कि निमित्त भी आवश्यक है पर आगे जाकर सर्वविशुद्धि अधिकार में कहेंगे कि दो प्रकार के शंख होते हैं–१. सजीव और २. निर्जीव। सफेद और काले दो प्रकार के भी होते हैं। जब तक शंख अपनी सफेदी नहीं छोड़ता तब तक वह काला नहीं होता। ऐसा क्यों? नामकर्म का पलटन हो जायेगा तो काला हो जायेगा। जब उपादान स्वयं परिणमन करता है तब निमित्त काम में आता है, अन्यथा नहीं। अतः निमित्त के साथ-साथ अपने उपादान को भी देखना चाहिए।

निमित्त को नहीं उपादान के स्वतन्त्र परिणमन को देखो –

किसी भी कार्य में काल भी निमित्त होता है। लेकिन यदि इस विषय में काल को एकान्त से निमित्त मानेंगे तो उसी काल में कोई नरक जा रहा है, कोई स्वर्ग जा रहा है, कोई कर्मबन्ध कर रहा है, कोई कर्मबन्ध से मुक्त हो रहा है, ये सब कैसे होंगे ? इसलिए निमित्त को मत देखो। उपादान के स्वतन्त्र परिणमन को देखो। कुछ दिनों पहले कहा था कि केवली भगवान् जब समुद्घात करते हैं तब उनके प्रदेश लोकपूरण समुद्घात के समय आपको छूते हैं। फिर भी उसी समय कोई नरक जा रहा है, कोई मुक्त हो रहा है। उनके प्रदेशों के छूने से किसी को भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। आप लोग तो भगवान् का स्पर्श करने के लिए लालायित रहते हैं, परन्तु उनके प्रदेश आपको छू रहे हैं फिर भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता है। एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक वैसे भी योग्यता नहीं होती, अपर्याप्तक को भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता। अनन्तकाल से निगोदिया जीवों को भी उनके प्रदेश स्पर्श कर रहे हैं तो कुछ न कुछ तो होना चाहिए। लेकिन कुछ नहीं होता। तो ऐसा कहो कि–कभी उपादान रहता है तो योग्य निमित्त नहीं मिलता और कभी निमित्त रहता है तो उपादान जागृत नहीं रहता। निश्चय रत्नत्रय से परिणत

जो आत्मतत्त्व है वह स्वकाल माना जाता है। **कालस्तु हेयः** ऐसा **बृहद्द्रव्यसंग्रह** आदि में कहा है। चार प्रकार की आराधना में परिणत आत्मतत्त्व ही केवलज्ञान का कारण है। यही स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव माना जाता है। यदि आत्मा अशुद्ध रूप परिणमन करता है तो अशुद्ध आत्मा का संवेदन होता है। राग करते-करते शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं कर सकते तथा शुद्धत्व के अनुभव के समय राग नहीं कर सकते।

कई लोग कहते हैं कि-सम्यग्ज्ञान है तो सम्यग्दर्शन भी है और सम्यग्दर्शन के साथ शुद्धात्मा की अनुभूति होती है। लेकिन ध्यान रखो, यदि आप राग कर रहे हैं तो शुद्धात्मा का अनुभव हो ही नहीं सकता। क्योंकि वीतरागता के बिना शुद्धतत्त्व का अनुभव नहीं होता और राग के साथ वीतरागता का अनुभव नहीं होता। हाँ, शुद्धात्मा का श्रद्धान तो हो सकता है, क्योंकि श्रद्धान त्रैकालिक का हो सकता है, लेकिन अनुभव तात्कालिक का होता है। यदि अनुभव त्रैकालिक का हो जाये तो केवलज्ञानी सबसे ज्यादा दुःखी हो जायेंगे। क्योंकि उनका ज्ञान त्रिकालवर्ती, त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ जानता है। वे अपने ज्ञान के द्वारा अतीत के अनन्त भवों को भी जानते हैं। यदि सभी का अनुभव करेंगे तो अनन्त सुख के स्थान पर दुःख का भी अनुभव होगा। अतः यही व्यवस्था है कि चेतना के द्वारा त्रैकालिक का श्रद्धान तो हो सकता है, परन्तु अनुभव तो तात्कालिक ही होता है। सिद्ध बने बिना सिद्धत्व का अनुभव तो केवली को भी नहीं हो सकता है, क्योंकि शुद्ध उपादान होने पर शुद्धत्व का तथा अशुद्ध उपादान के समय अशुद्धत्व का ही अनुभव होगा।

दृष्टान्त—किसी को बुखार भी नहीं है, अन्य कोई वेदना भी नहीं है, फिर भी एक मुस्कान नहीं आ रही है। इसका अर्थ है कि कहीं न कहीं वेदना है। यदि वह कहता है कि नहीं, मुझे कोई वेदना नहीं है तो उसका यह कहना गलत है। क्योंकि भीतर से कुछ न कुछ वेदना रहती है। इन्द्रिय, मन के व्यापार से रहित होकर बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होने का प्रयास करते हैं तो कोई बाधा नहीं। बल्कि ऐसा करना तो आवश्यक ही है। भावश्रुतकेवलित्व के समय शुद्धात्मानुभूति हो सकती है। शुद्ध और अशुद्ध उपादान के अनुसार ही शुद्ध-अशुद्ध आत्मा का अनुभव या संवेदन होता है। ऐसा हे शिष्य ! तुम समझो। इस प्रकार निश्चय कर्तृत्व-भोक्तृत्व का व्याख्यान करने वाली गाथा हुई।

उत्थानिका—अब आगे लोकव्यवहार जैसा होता है, वैसा बतलाते हैं-

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं।
तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥९०॥

अन्वयार्थ— **(ववहारस्स दु)** व्यवहारनय का (मत है कि) **(आदा)** आत्मा **(णेयविहं)** अनेक प्रकार के **(पुग्गलकम्मं)** पुद्गलकर्मों को **(करेदि)** करता है **(तं चेव य)** और उसी **(अणेयविहं)** अनेक प्रकार **(पुग्गलकम्मं)** पुद्गलकर्म को **(वेदयदे)** भोगता है।

अर्थ—व्यवहार नय की अपेक्षा से आत्मा अनेक प्रकार के अपने पुद्गल कर्मों को करता है और

उन्हीं अनेक प्रकार के कर्मों को भोगता भी है।

कर्त्ता तथापि व्यवहारतया जड़ों का,
भोक्ता सचेतन रहा विधि के फलों का।
ऐसा न हो फिर हमें सुख क्यों न होता ?
संसार क्यों फिर भला दिन-रैन रोता ? ॥९०॥

व्याख्या—जैसा देखने में आता है कि घड़े का उपादान कारण मिट्टी का पिण्ड है। उसी का घड़ा बनता है। तथापि घड़े को बनाने वाला कुम्हार है और उसका मूल्य लेना आदि फल का भोक्ता भी वही कुम्हार है। ऐसा अनादिकाल से लोगों का व्यवहार चला आ रहा है। वैसा ही उपादान रूप से कर्मों का पैदा करने वाला भी कार्मणवर्गणा योग्य पुद्‍गल द्रव्य है जो अनेक प्रकार के मूल-उत्तर प्रकृति भेद लिए हुए ज्ञानावरणादि पुद्‍गल कर्म हैं उनका करने वाला व्यवहारनय से आत्मा है, ऐसा समझा जाता है। आत्मा कर्मों के फल का भोक्ता भी है, यह व्यवहार अनादिकाल से चला आ रहा है।

तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र आता है-**शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य** अर्थात् शुभ और अशुभ परिणाम, शुभ-अशुभ कर्म के आस्रव के कारण हैं। उन्हीं बद्ध पुण्य और पाप कर्मों का जब उदय होता है तो यह जीव सुख-दुःख का संवेदन करता है। यह व्यवहारनय का कथन है। महाराज, इसमें कौन से कर्म का उदय है ? ऐसा पूछते हैं तो उसी कर्म का उदय है जो स्वयं ने अर्जित किया है। यह समझ लो। विभाव से हटकर जब तक स्वभाव का चिन्तन नहीं किया जायेगा तक तक आगत सुख-दुःख में रागद्वेष हुए बिना रह नहीं सकता। तत्त्व-चिन्तन की भूमिका रूप ध्यान में स्वभाव का चिन्तन घण्टों तक किया जा सकता है और रागद्वेष से बचा जा सकता है। तत्त्वचिन्तन की यही एकमात्र महिमा है, इसके लिए विशेष शारीरिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं। तत्त्वचिन्तन में इतनी अधिक लीनता आती है कि अतीत-अनागत के विकल्प समाप्त हो जाते हैं।

जिज्ञासा—तत्त्वचिन्तन के लिए जब कोई विशेष शारीरिक क्षमता या श्रम की आवश्यकता नहीं है तो फिर ध्यान के लिए आगम में वज्रवृषभनाराचसंहनन की आवश्यकता क्यों कही है ?

समाधान—मन की एकाग्रता के बिना तत्त्वचिन्तन नहीं होता और मन की एकाग्रता शारीरिक बल, आसन की एकाग्रता, आसन की स्थिरता के बिना नहीं होती। इसलिए संहनन की आवश्यकता का कथन आगम में किया गया है। बिना संहनन के बार-बार अस्थिरता होती है। अस्थिरता हीनसंहनन का प्रतिफल है। मन की अस्थिरता होने से चारित्र में कमी या हीनता आती है, अतः मन की स्थिरता के लिए संहनन की आवश्यकता होती है।

वर्तमान के संहनन के द्वारा आज भी स्वभाव का चिन्तन करने वाले मुनि निकट भविष्य में मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं। जैसा कि-**अष्टपाहुड** में **आचार्य कुन्दकुन्द देव** ने कहा है-

अज्जवि तिरयणसुद्धा, अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं, तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥७७॥

उक्त स्थिति स्वयं अपने उपादान पर डिपेण्ड होती है। संहनन के साथ शरीर की प्राप्ति होना निमित्त है। संहनन जो भी मिला है वह बदलेगा नहीं, फिर भी इसे मुख्यता न देकर आत्मस्वभाव का चिन्तन किया करो।

अशुद्धनिश्चयनय को भी आचार्यों ने व्यवहारनय में अन्तर्गर्भित किया है। अशुद्ध उपादान अशुद्धनिश्चयनय का विषय है, ऐसा पूर्व में भी कहा है। यहाँ भी वैसा ही लगा लेना चाहिए। आचार्यों ने कई बार इस विषय को स्पष्ट किया है। उदाहरण भी दिया है कि मिट्टी का लौंदा घट बनने में उपादान कारण है। कुम्भकार, चाक आदि निमित्त रूप हैं। घट का कार्य जलधारण करना है, यही उसका फल है। घट का प्रयोजन कुम्भ को नहीं, किन्तु कुम्भकार को सिद्ध होता है। वह उससे पैसा कमा लेता है। व्यवहारनय से यह जीव पुद्गल कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता भी है। जीव को कर्म के फल का अनुभव होता है, नोकर्म का नहीं। आप लोग नोकर्म के अम्बार लगा लेते हैं। यदि कर्म का साता रूप उदय है तो अम्बार नहीं होने पर भी जहाँ कहीं कदम रखते हैं वहीं पर सभी भोगोपभोग की सामग्री मिलती जाती है।

प्रद्युम्न को देखो, और अनेक उदाहरण हैं। विष दिया अमृत बन गया। राक्षस भी सेवक बन गया। सर्प फूलमाला बन गयी। शत्रु मित्र बन गया। अग्नि पानी बन गयी। विद्या सिद्ध नहीं थी लेकिन उन्हें सिद्ध विद्याएँ प्राप्त हो गयीं, क्योंकि पुण्योदय था। पुण्योदय में प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी अनुकूल बनती जाती हैं। साता के उदय के साथ लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम आदि भी जुड़ जाता है तो अनुकूल उपलब्धियाँ सहज ही हो जाती हैं। प्रद्युम्न के पुण्य होने के कारण हाथ में एक कोंड़ी भी लेकर नहीं गया था फिर भी सब कुछ प्राप्त हो गया। पुराणों में ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं। पुराण पढ़ते समय कई लोग भावना कर लेते हैं कि हमें भी यह मिल जाये लेकिन वैसा कर्म बंधा होगा तभी तो मिलेगा। संसारी प्राणी के यह क्रम चलता रहता है कि कर्मफल भोगो, फिर बांधो, फिर भोगो, फिर बांधो।

इस प्रकार व्यवहारनय की मुख्यता से सुख-दुःख के कर्त्ता और भोक्तापन का कथन करने वाली गाथा पूर्ण हुई। ज्ञानी जीव का विशेष व्याख्यान करने के लिए ग्यारह गाथाओं द्वारा दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

इसके पश्चात् २५ गाथाओं पर्यन्त चेतन और अचेतन इन दोनों का एक ही उपादान कर्त्ता है, ऐसा कहने वाले द्विक्रियावादियों का निराकरण करते हुए संक्षेप से व्याख्यान करने रूप में **जदि पुग्गलकम्ममिणं** इत्यादि दो गाथाएँ हैं। फिर उसका विवरण करने वाली १२ गाथाओं में से **पुग्गलकम्मणिमित्तं** इत्यादि क्रम से प्रथम छह स्वतन्त्र गाथाएँ हैं इसके आगे अज्ञानी जीव परद्रव्य का कर्त्ता है, किन्तु ज्ञानी जीव अकर्त्ता है, इस प्रकार की मुख्यता से **परमप्पाणं कुव्वदि** इत्यादि दूसरी छह

गाथाएँ हैं। इसके आगे उसी द्विक्रियावादी का विशेष व्याख्यान करने के लिए उपसंहार रूप से ११ गाथाएँ हैं। उन ११ गाथाओं में व्यवहारनय की मुख्यता से **ववहारस्स दु** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं। उसके आगे निश्चयनय की मुख्यता से **जो पुग्गलदव्वाणं** इत्यादि चार सूत्र हैं। उसके आगे द्रव्यकर्मों का उपचार से जीव कर्त्ता है इस मुख्यता से **जीवं हि हेदुभूदे** इत्यादि चार गाथाएँ हैं। इस प्रकार समुदाय पातनिका रूप से २५ गाथाओं द्वारा तीसरा स्थल है।

उत्थानिका—पहले कर्म का कर्त्तापन और भोक्तापन के बारे में जो नय-विभाग कहा गया है, वह अनेकान्त सम्मत है। किन्तु एकान्तनय से जो ऐसा मानता है कि यह जीव भावकर्म –रागद्वेषादि को जैसे करता है वैसे ही निश्चय से द्रव्यकर्मों को भी करता है। इस प्रकार चेतन और अचेतन कार्यों का एक ही उपादानकारण है, ऐसी द्विक्रियावादियों की मान्यता को दूषित बतलाते हैं–

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दो किरियावादित्तं पसज्जदि सम्मं जिणावमदं ॥९१॥

अन्वयार्थ– **(जदि)** यदि **(आदा)** आत्मा **(इणं पुग्गलकम्मं कुव्वदि)** इस पुद्‌गल कर्म को भी उपादान रूप से करता है **(च तं एव)** और उसको भी **(वेदयदि)** भोगता है तो **(दो किरिया-वादित्तं)** एक आत्मा दो क्रियाओं का कर्ता **(पसजदि)** ठहरा **(सम्मं जिणावमदं)** ऐसा मानना सम्यक् जिनमत से विपरीत है।

अर्थ—पुद्‌गल कर्मों का कर्त्ता भी उपादान रूप से आत्मा ही है और भोक्ता भी आत्मा ही है, इस प्रकार की मान्यता का नाम द्विक्रियावाद है। जो कि किसी भी प्रकार से जिन भगवान् के मत से सम्मत नहीं है।

आत्मा उसी तरह पुद्‌गल कर्म को भी,
ज्यों वेदता व करता निज धर्म को भी।
ऐसा कहो यदि अरे! पुरुषार्थ जाता,
संसार का सृजक ईश्वरवाद आता ॥९१॥

व्याख्या—यदि पुद्‌गल कर्मों का भी उपादान रूप से कर्त्ता और भोक्ता आत्मा ही है, तब चेतन-अचेतन इन दोनों क्रियाओं का एक उपादानकर्त्ता रूप से द्विक्रियावादीपने का प्रसंग आता है। जो कि जैनदर्शन में स्वीकृत नहीं है। यहाँ यह कहा गया है कि आत्मा जिस प्रकार निश्चय से अपने भावों का कर्त्ता है उसी तरह पुद्‌गल कर्मों का भी निश्चय से अर्थात् उपादान रूप से कर्त्ता और भोक्ता होता है ऐसा मानेंगे तो द्विक्रियावादी होने से मिथ्यादृष्टि हो जायेगा। कई लोग इसका यह अर्थ लगा लेते हैं कि–एक कारण के द्वारा दो कार्य नहीं हो सकते, ऐसा सिद्धान्त इस गाथा के द्वारा पुष्ट करते हैं, जबकि एक ही अग्नि से प्रकाश, प्रताप, पाचन आदि अनेक कार्य देखे जाते हैं। कहा भी है–**एकस्यानेककार्य-दर्शनात्** ऐसी वार्तिक भी आयी है। ऐसा क्यों होता है ? तो यह स्वभाव है। यहाँ यह कहा जा रहा

है कि निश्चयनय से जीव आत्मा व पुद्गल दोनों का कर्त्ता नहीं हो सकता। ''जहाँ पर कर्त्तव्य होता है वहाँ तक तो ठीक है, लेकिन जहाँ पर कर्तृत्व आ जाता है तो उस भूत को नीचे उतारना बहुत कठिन होता है। कर्त्तव्य के सामने अहंकार का भूत आता ही नहीं है। कहने का अर्थ यह है कि–कर्त्तव्य के पास भूत आता नहीं और कर्तृत्व के पास से भूत जाता ही नहीं है, क्योंकि कर्तृत्व स्वयं अपने आपमें एक भूत है।''

ध्यान नहीं लग रहा तो ज्ञान प्राप्त करो–

दृष्टान्त–जैसे माँ बच्चे के प्रति हमेशा प्रत्येक कार्य करने में तत्पर रहती है, तो इसमें एक सीमा है। लेकिन बालक ज्यादा उद्दण्ड हो जाता है तो कितना भी प्रेम करने वाली माँ क्यों न हो, तो भी उस बालक के प्रति माँ को गुस्सा आए बिना नहीं रहता है। फिर माँ क्या करती है ? या तो बच्चे को ऊँचे स्थान पर बिठा देगी या झूले में बिठा देती है। थोड़े बड़े बच्चे हों तो बाँध देती है और बड़े युवा हों तो विवाह के बन्धन से बाँध देती है। जिम्मेदारी आने पर वह बेटा आलतू-फालतू के खर्चे से बच जाता है। अब वह इधर-उधर घूमना बन्द करके एक-एक पायी को जोड़ता है। अपने परिवार का व्यर्थ धन खर्च नहीं करता। सावधानी से विवेक पूर्वक मितव्ययी होकर अपना कार्य करता है। इसी प्रकार यहाँ पर भी मुनिराज के लिए छह आवश्यक बन्धन के रूप में होते हैं। ये नहीं होंगे तो महाराज बैठे-बैठे क्या करेंगे ? बताओ ? बड़े-बड़े महाराज जो हुए हैं वे कायोत्सर्ग में लीन हो जाते थे। वन में चले जाते थे। लेकिन हम आवश्यक भी नहीं कर पाये तो क्या करेंगे ? आचार्यों ने मन को बन्दर की उपमा दी है, अतः उसे द्वादशांग रूप श्रुतस्कन्ध पर चढ़ाने के लिए कहते हैं। यदि मन चंचल नहीं है तो फिर श्रुतस्कन्ध की आवश्यकता नहीं है। जिसका मन काबू में नहीं होता, उसी के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता होती है। जो निरन्तर ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में तत्पर रहते हैं, उन्हें स्वाध्याय अनिवार्य नहीं है। लेकिन जो अपने-आपको जानने में उपयोग को एकाग्र नहीं कर पा रहे हैं तो उन्हें स्वाध्याय करके ज्ञान प्राप्त करने में मन लगाने के लिए कहा गया है। ध्यान नहीं लग रहा है तो ज्ञान प्राप्त करो, लेकिन ज्ञान भी ध्यान के लिए ही किया जाता है। मात्र ज्ञान को ही महत्त्व देना गड़बड़ है। अध्यात्म में ध्यान को महत्त्व देना चाहिए। क्योंकि **ज्ञानभावना आलस्याभावो स्वाध्यायः** अर्थात् ज्ञान की भावना, आलस्य का त्याग ही स्वाध्याय है। ऐसा **सर्वार्थसिद्धि** में **आचार्य पूज्यपादस्वामी** ने लिखा है। हम सभी का मन बन्दर के समान चंचल है, फालतू बैठेंगे तो इधर-उधर की बातें होंगी, अतः मन को एकाग्र करने के लिए ज्ञानभावना करनी चाहिए।

द्विक्रियावादी सम्बन्धी इस व्याख्यान को जो कि जिन भगवान् के द्वारा सम्मत नहीं है, प्रत्युत जिन भगवान् के द्वारा इसका निराकरण किया गया है, इसे जो मानता है वह निश्चय सम्यक्त्व जो कि निज शुद्धात्मा में उपादेय रूप से रुचि स्वरूप है और विकार रहित चिच्चमत्कार लक्षण वाला है एवं शुद्ध उपादान रूप कारण से उत्पन्न है ऐसे निश्चय सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त होता हुआ, मिथ्यादृष्टि होता

है। निश्चय सम्यग्दर्शन अर्थात् वीतराग सम्यग्दर्शन जो कि वीतराग चारित्र के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला होता है। यही सम्यग्दर्शन यहाँ विवक्षित है। विवक्षावश कभी उपादान को गौण किया जाता है तो निमित्त को मुख्य किया जाता है और कभी निमित्त को गौण किया जाता है तो उपादान को मुख्य किया जाता है। अर्थात् नय विवक्षा के माध्यम से हम कभी गौण को मुख्य और मुख्य को गौण कर लेते हैं। यह नय दर्पणवत् है। नय थर्मामीटर का काम करते हैं। निश्चय और व्यवहार, इनको एक-दूसरे में गर्भित नहीं कर सकते।

उत्थानिका—द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि क्यों होता है ? प्रकारान्तर से इसको स्पष्ट करते हैं–

जम्हा दु अत्तभावं, पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो होंति ॥९२॥

अन्वयार्थ—(जम्हा दु) चूँकि **(अत्तभावं)** आत्मा के भाव को **(च पुग्गलभावं)** और पुद्गल के भाव को **(दोवि)** दोनों ही को (आत्मा) **(कुव्वंति)** करता है (ऐसा कहते हैं) **(तेण दु)** इसी कारण से **(दो किरियावादिणो)** दोनों क्रियावादी **(मिच्छादिट्ठी)** मिथ्यादृष्टि **(होंति)** होते हैं।

अर्थ—क्योंकि द्विक्रियावादी जन कहते हैं–आत्मा के परिणाम और पुद्गल के परिणाम इन दोनों को आत्मा करता है, इसलिए द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि होते हैं।

आत्मा स्वभाव पर पुद्गल भाव को ही,
हो एकमेक करता इक साथ सो ही।
ऐसा सदैव कहता लघु धी विकारी,
मिथ्यात्व मण्डित मुधा द्विक्रियावधारी ॥९२॥

व्याख्या—जबकि आत्मा के भाव चेतनरूप और पुद्गल के भाव अचेतन रूप होते हैं, इन दोनों को आत्मा ही उपादान रूप से करने वाला एक ही है ऐसा मानता है। वह चेतन और अचेतन क्रियाओं का एक आधार मानने वाला जीव मिथ्यादृष्टि होता है।

दृष्टान्त—जैसे कुम्हार अपने ही आत्मभाव को उपादान रूप से करता है, वैसे ही उपादान रूप से घड़े का भी करने वाला मान लिया जाये तब कुम्हार को घटपना या अचेतनपना प्राप्त हो जायेगा अथवा घड़े को चेतनपना कुम्हारपना प्राप्त हो जायेगा। इसी प्रकार जीव भी यदि उपादान रूप से कर्मों का कर्त्ता हो जाये तो जीव को अचेतन पुद्गलद्रव्यपना प्राप्त हो जायेगा। अथवा पुद्गल कर्म को जीवपना व चेतनपना मानना पड़ेगा। प्रयोजन यह है कि शुभ और अशुभकर्मों को करने वाला ''मैं ही हूँ'' इस प्रकार का अहंकार रूप अन्धकार अज्ञानियों का नष्ट नहीं होता। किन्तु स्वरूप में लीन सम्यग्ज्ञानियों का वह अज्ञानान्धकार या अहंकार रूप भाव दूर होता है। फलतः उन्हें नवीन कर्मबन्ध नहीं होता। ऐसा समझकर अहंकार को दूर करके परमात्म तत्त्व की निरन्तर भावना करनी चाहिए।

आत्मा का और पुद्गल भावों का कर्त्ता-भोक्ता उपादान रूप से मानने वाला द्विक्रियावादी

कहलाता है। जबकि प्रत्येक कार्य परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से होते हैं तथा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध 'निमित्त-उपादान' दोनों के बीच होता है और प्रसंग के अनुसार कभी जीव उपादान होता है तो पुद्‌गल निमित्त रूप होता है। इसी प्रकार कभी पुद्‌गल उपादान रूप होता है तो जीव निमित्त रूप होता है।

दृष्टान्त—जैसे किसी को १००-१५० किलोमीटर की यात्रा करना है। उसने मोटरसाइकिल को रास्ते पर लाकर खड़ा कर दिया, उस पर बैठ गया। बैठते समय एक पैर जमीन पर टिकाता है और दूसरे पैर से किक मारता है। दो-चार बार किक मारने के बाद गाड़ी चालू हो गई। अब गेयर लगा लेता है और दोनों पैर ऊपर कर लेता है। अब गाड़ी चालू होने के उपरान्त, मशीन चालू होने के उपरान्त वह गाड़ी चला रहा है या गाड़ी स्वयं चल रही है ? भाग रही है या भगाई जा रही है ? यह कार्य एक-दूसरे पर डिपेण्ड है। यदि गाड़ी अकेली स्वयं मात्र अपनी योग्यता से चल रही है तो चलाने वाला दोनों हाथ छोड़ दे तो फिर देखो। बिना ड्राइवर के गाड़ी चल पायेगी क्या ? गाड़ी को ड्राइवर ले जा रहा है या गाड़ी उसे ले जा रही है ? यदि गाड़ी चला रहा है, तो गाड़ी बन्द होने के उपरान्त भी चला सकता है। **गाड़ी दिशा की ओर अवश्य है, परन्तु उसमें दिशाबोध नहीं है।** तो कौन क्या कर रहा है ? गाड़ी को वह ले जा रहा है या गाड़ी उसे ले जा रही है, यह जानना-देखना है। प्रयोजन को भूलो नहीं और कौन क्या काम कर रहा है ? यह जानते हैं, इसलिए निमित्त को कुछ हद तक मानते हैं। जब तक मशीन चालू नहीं होती है तभी तक किक मारना आदि कार्य आवश्यक होते हैं। उसके उपरान्त तो केवल ज्ञाता-दृष्टा बनना होता है। **प्रयोजन को बस नहीं भूलना चाहिए।** निश्चय ही आप गाड़ी ले जा रहे हैं लेकिन यदि पेट्रोल नहीं हो तो चलाकर देख लो तो जाने। तात्पर्य यह है कि निमित्त और उपादान सब अपने-अपने काम करते हैं। गाड़ी में चलने की योग्यता है लेकिन चालक, हेण्डिल आदि घुमाना सब निमित्त हैं। सभी की उपस्थिति में कार्य होता है। यदि बीच में गड्ढा आ जाता है तो लूना हो तो कन्धे पर उठा लो, बड़ी गाड़ी हो तो क्या करे ? गाड़ी में गति करने की क्षमता होते हुए भी गति देने का काम जीव ही करता है। अब आप समझ गए होंगे कि कौन भाग रहा है ? किसके माध्यम से भाग रहा है? भागते हुए भी जो निर्देश देने वाला है वह उसे निर्देश दे रहा है। यह शरीर भी इसी गाड़ी की भाँति है। साधक इसे आवश्यकों के पालन की साधना में लगाता है। मन को बार-बार दिशाबोध दिया जाता है कि हे मन ! तू अपने आपको छह आवश्यकों में लगा ले, विषयों की ओर मत जा इत्यादि। बन्दर कभी भी नीचे उछल-कूछ नहीं करते। वृक्षों पर, स्कन्धों पर, डालियों पर, मकान के ऊपर उछलते-कूदते हैं। इसी प्रकार आचार्य कहते हैं कि—**मन रूपी बन्दर को इन्द्रिय, विषय-कषाय रूपी नीचे जमीन पर मत कूदने दो इसे तो श्रुतस्कन्ध पर, छह आवश्यकों रूप वृक्ष की डालियों पर कूदने दो, ताकि साधना सफल हो।** मन यदि नियन्त्रण में है तो अन्य कुछ करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। जो साधक शान्त बैठकर घण्टों व्यतीत करते हैं, उनके लिए यह कहना कि—इतना करना जरूरी

है, या ये भी करना जरूरी है, ऐसा कोई बन्धन नहीं। बस, यही चिन्ता रखिये कि मेरा मन अन्यत्र न जाये, क्योंकि जहाँ हम नहीं चाहते यदि वहाँ चला गया तो भटक जायेगा। अतः ये शास्त्र स्वाध्याय रूप षट् आवश्यकादि तथा एकान्त ध्यान आदि सभी सपोर्ट हैं। बेलेन्सड करने के साधन हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि तो निमित्त हैं, इसके उपरान्त भी उपादान में ही कार्य होता है।

निमित्त के द्वारा निश्चय की ओर आओ—

नियमसार, समयसार आदि ग्रन्थों में कहा है कि षडावश्यक सारे के सारे निमित्त हैं। निमित्त के द्वारा निश्चय की ओर आओ। निमित्त का अर्थ ही है कि **नि अर्थात् निश्चय का जो मित्त (मित्र) होता है वह निमित्त है।** निमित्त तो निमित्त है उपादान के लिए सहयोग दे सकता है लेकिन निश्चय की ओर लाने में हठात् कारण नहीं हो सकता। मशीन चालू करने पर गाड़ी दौड़ जाती है, लेकिन इसी दिशा में दौड़ाना है यह ज्ञान गाड़ी के पास नहीं होता। उसी प्रकार मन को किस दिशा में दौड़ना है अर्थात् मन को किस कार्य में लगाना है यह ज्ञान आगम के द्वारा प्राप्त होता है, वह ज्ञान गुरुओं के पास होता है, शरीर रूपी गाड़ी को भी किस कार्य में लगाना है यह सब ज्ञान गुरुओं के पास होता है। आश्चर्य होता है यह देखकर कि व्यक्ति छह सौ कार्य करने को तैयार है पर छह आवश्यक नहीं कर पाता। क्योंकि उसमें उसे आनन्द नहीं आता। पूजन-विधान आदि में मन लग जाता है और संगीतमय पूजन हो रही हो तो हाथ-पैरों में स्वभावतया थिरकन होने लगती है। क्योंकि वह उसकी भूमिका है, लेकिन यदि सामायिक में थिरकन होने लग जाये तो कायिक, वाचनिक, मानसिक दुःप्रणिधान हो जायेंगे। सामायिक भी आवश्यक है और पूजन भी आवश्यक है परन्तु सामायिक में थिरकन होने से उपयोग में कमी मानी जायेगी। अतः भूमिका के अनुसार छह आवश्यक के माध्यम से ध्रुवतत्त्व की ओर दृष्टि जाना चाहिए। **वर्षों निकल गए हैं, अब निश्चय की ओर आओ।**

निमित्त की भी एक उम्र होती है। उस समय कार्य नहीं किया तो कहोगे—महाराज, अब बैठा नहीं जाता। कमरदर्द करती है। घुटनों से बैठा भी नहीं जाता, चला भी नहीं जाता आदि आदि। महाराज कहते हैं—जब सब कुछ ठीक था, बैठा जाता था, चला जाता था तब क्या कर रहे थे ? उस समय क्यों नहीं किया ? दूसरे-दूसरे कार्यों में ८०-९० वर्ष लगा दिए। अब शरीर तो शरीर है, कितना काम में लोगे ? कहते हैं—कपड़ा पुराना हो गया, फट गया। वह तो पुराना होने पर फटेगा ही। इसी प्रकार शरीर भी वैसा ही है। आजकल तो नये-नये कपड़े (शरीर) ही फटने लग गए, कम्पनी से ही थिगड़े लगकर आ जाते हैं। इसीलिए समय पर शरीर का सदुपयोग करोगे तो बहुत आनन्द आयेगा, अन्यथा द्विक्रियावादी होने में देर नहीं लगती।

द्विक्रियावादी मात्र प्रथम गुणस्थानवर्ती नहीं होता किन्तु निश्चयचारित्र के अभाव में रत्नत्रय होते हुए भी निर्विकल्पसमाधि से बाहर आता है उस समय भी द्विक्रियावादी हो सकता है, क्योंकि निश्चय-चारित्र से च्युत होकर जो उपादान रूप से जीव और पुद्गल का कर्त्ता, स्वामी और वेदन करने वाला

अपने आपको मानता है तो द्विक्रियावादी हो सकता है। दो कार्य करने वाला या मानने वाला व्यक्ति द्विक्रियावादी नहीं माना जाता किन्तु जो अपने को दो द्रव्यगत क्रिया को करने वाला और भोगने वाला उपादान के रूप में स्वीकार करता है, उसे द्विक्रियावादी कहा है। निमित्त के रूप में दूसरे द्रव्य को स्वीकार करना अलग बात है और अपने को दूसरे द्रव्य का उपादान रूप से कर्त्ता मानना अलग है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध इन दोनों के आधार से घटित होता है। जिस समय आत्मा में राग उत्पन्न होता है तो उस समय राग का उपादान कारण वह स्वयं है किन्तु इन्हीं राग परिणाम से जब कर्मवर्गणाएँ कर्मरूप परिणत हो जाती हैं, तब वे परिणाम निमित्त रूप माने जाते हैं। इस निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को मानने वाला द्विक्रियावादी नहीं होता, किन्तु जो व्यक्ति दो द्रव्यों की क्रिया को उपादानरूप में स्वीकारता है उसे द्विक्रियावादी कहा जा रहा है।

दूसरा विषय यह है कि एक परिणाम के द्वारा दो कार्य होते हुए देखे जाते हैं। जैसे-संयमप्रत्यय के द्वारा संवर-निर्जरा भी होती है और आहारकद्विक का बन्ध भी होता है। इसी प्रकार **सम्यक्त्वं च** इस सूत्र का अर्थ निकलता है कि सम्यक्त्व के द्वारा केवल संवर-निर्जरा नहीं होती, किन्तु तीर्थंकर आदि प्रशस्त प्रकृतियों का बन्ध भी होता है। जो व्यक्ति एक परिणाम के द्वारा दो कार्यों को नहीं स्वीकारता है उस व्यक्ति को भी आचार्यों ने द्विक्रियावादी कहा है। एक भाव के द्वारा एक ही कार्य मानने रूप जो परम्परा है वह आगम से सम्मत नहीं है। जिसके द्वारा बन्ध होता है उस भाव के द्वारा संवर-निर्जरा नहीं होती है, यह मानना गलत है, क्योंकि **तत्त्वार्थसूत्र** के नवमें अध्याय में एक सूत्र आया है-**स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः** अर्थात् गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र के द्वारा यदि केवल बन्ध होता है तो सूत्र में जो कह रहे हैं कि गुप्ति, समिति आदि भावों से संवर, निर्जरा होती है, यह कथन ही गलत हो जायेगा। जो लोग यहाँ पर यह कह देते हैं कि जिस भाव के द्वारा बन्ध होता है उसके द्वारा संवर-निर्जरा मानना मिथ्या है तो आचार्य कहते हैं कि उनका ऐसा मानना मिथ्या है, ठीक नहीं है। **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने स्वयं एक गाथा में कहा है-**तेण हि बंधो मोक्खो वा** अर्थात् उन्हीं के द्वारा बन्ध और मोक्ष भी होता है। रत्नत्रय के द्वारा बन्ध भी होता है और मोक्ष भी। **आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी** ने टीका में कहा है कि-**येनांशेन...।**

स्वसमय के द्वारा संवर-निर्जरा व मुक्ति प्राप्त होती है और परसमय के द्वारा आस्रव बन्ध होता है। जो मुक्ति को देता है वह स्वसमय है। लेकिन मुक्ति तो बहुत दूर है उसके पहले क्या होता है ? इस विषय में **समयसार** के आस्रवाधिकार में तीन गाथाएँ आती हैं, जिनमें यह विषय है कि ज्ञान गुण का कैसा परिणमन बन्ध का कारण होता है ? वैसे मुख्यतः इन तीन गाथाओं में ज्ञानी जीव के भावास्रव के निषेध की व्याख्या है, फिर भी ज्ञान गुण का जघन्य परिणमन नवीन बन्ध का कारण होता है। अर्थात् ज्ञानी का ज्ञान गुण जब तक यथाख्यातचारित्र की भूमिका को प्राप्त नहीं होता, तब तक उसके द्वारा बन्ध होता है। **षड्खण्डागम** में भी सम्यक्त्व को तीर्थंकर प्रकृति, देवायु आदि के बन्ध का कारण

स्वीकार किया है। तीर्थंकर प्रकृति के साथ सम्यग्दर्शन की व्याप्ति अनिवार्य है पर सम्यग्दर्शन के साथ तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध की व्याप्ति नहीं है। आगम में **आचार्य अकलंकदेव** व **आचार्य पूज्यपाद स्वामी** ने **राजवार्तिक** एवं **सर्वार्थसिद्धि** आदि ग्रन्थों में पूर्वपक्ष बनाकर कहा है कि–**तप अभ्युदय का कारण है, मुक्ति का कारण नहीं है।** लेकिन ऐसा नहीं है, क्योंकि तप मुक्ति का भी कारण है। ध्यान भी तप है और चतुर्थ शुक्लध्यान के द्वारा साक्षात् मुक्ति होती है। कहा भी है–**एकस्यानेक-कार्यारम्भत्वात् अग्निवत्** अर्थात् एक ही कारण से अनेक कार्य देखे जाते हैं, अग्नि के समान। अग्नि के द्वारा पकाना, जलाना व प्रकाश करना ये तीनों कार्य एक ही समय में होते हैं। नीचे ईंधन को जलाने की क्रिया, भगोनी में जो वस्तु रखी है उसे पकाने की क्रिया तथा सामने जो वस्तुएँ रखी हों उन्हें प्रकाशित करने की क्रिया होती है। उसी प्रकार एक ही भाव बन्ध का भी कारण होता है और संवर, निर्जरा का भी कारण होता है।

जिज्ञासा–यदि संवर, निर्जरा एकान्त से शुद्धोपयोग के द्वारा ही होती है तो फिर नीचे के गुणस्थानों में जहाँ शुद्धोपयोग नहीं है फिर भी संवर निर्जरा स्वीकार की गई है, उसका हेतु क्या माना जायेगा ? या वहाँ शुद्धोपयोग न होने से मात्र आस्रव और बन्ध ही स्वीकार करना पड़ेगा ?

समाधान–आचार्य इसका समाधान देते हुए कहते हैं कि जब जीव अप्रमत्त गुणस्थान से प्रमत्त गुणस्थान में आता है तब संज्वलन कषाय का उदय रहता है। रत्नत्रय भी रहता है वहाँ प्रमाद की भूमिका होने से, अरति, असाता, अयशःकीर्ति, अशुभ, शोक और अस्थिर इन छह अशुभप्रकृतियों का बन्ध होता है। यहाँ आप स्वयं बताइये कि वहाँ शुद्धोपयोग नहीं है फिर भी प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती है उस समय कौन सा उपयोग माना जायेगा ? शुद्धोपयोग से शुभोपयोग में आने पर रत्नत्रय नहीं रहता हो ऐसा भी नहीं है। अतः रत्नत्रय के साथ जो शुभोपयोग है वह मात्र बन्ध का ही कारण है, ऐसा नहीं है, किन्तु इसी ग्रन्थ में आगे **जम्हा दु जहण्णादो** अर्थात् जब तक ज्ञान गुण यथाख्यातचारित्र से नीचे जघन्य रूप से परिणमन करता है, तब तक बन्ध भी होता है और संवर निर्जरा भी होती है। यह आचार्यों की विवक्षा है। प्रसंग के अनुसार अनुपात से असंख्यातगुणी निर्जरा में कमो-वेशी हो सकती है। तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोग के द्वारा संवर-निर्जरा होती ही है, लेकिन शुद्धोपयोग के अभाव में शुभोपयोग के द्वारा भी कर्म निर्जरा होती है। यह बात अवश्य है कि जो स्वसमय कार्यरूप समयसार का कारण है जो कि शुद्धोपयोग के साथ ही घटित होता है वह जरूर निरास्रवी, निर्बन्धी है। वैसे ज्ञानी तो अबन्धक है पर समय-समय में ज्ञानी के जघन्य भाव होने पर बन्ध होता है। **प्रवचनसार** की टीका में भी कहा है कि–शुभोपयोग में जो रत्नत्रय है वह मात्र बन्ध का ही कारण हो, ऐसा एकान्त नहीं है। **गृहस्थानां तु अयं शुभोपयोगः परम्परया परमनिर्वाणकारणत्वात्** अर्थात् श्रावक के पास जो सरागचर्या है वह परम्परा से मोक्ष का कारण है। जो परम्परा से मोक्ष का कारण है, वह एकान्त से मात्र बन्ध का ही कारण है, ऐसा तो नहीं कह सकते। हाँ, यह भी निश्चित है कि शुभोपयोग को मुक्ति

का साक्षात् कारण नहीं कहा जा सकता। साक्षात् मोक्ष का जहाँ प्रसंग होता है वहाँ तो आस्रव-बन्ध से रहित शुद्धोपयोग ही कारण है। लेकिन शुद्धोपयोग के अभाव में शुभोपयोग केवल बन्ध का ही कारण हो, ऐसा भी नहीं है। इस आशय को हमेशा-हमेशा अपने सामने दृष्टि में रखना चाहिए। यदि शुभोपयोग को केवल बन्ध का कारण मानेंगे अथवा उसके द्वारा संवर-निर्जरा नहीं मानेंगे तो फिर ऐसा कौन सा साधन या कारण है जो संवर-निर्जरा न कराये और परम्परा से मुक्ति का कारण माना जाए।

मोक्षप्राप्ति के दो ही कारण हैं-१. संवर और २. निर्जरा। ये दोनों साक्षात् और परम्पराकारण के भेद से दो प्रकार के होते हैं। ऐसा तो नहीं कहा कि संवर और निर्जरा दोनों साक्षात् कारण रूप ही होते हैं। अध्यात्म ग्रन्थों में साक्षात् कारण की प्रधानता होती है उसी के गुण गाये जाते हैं। जो कि शुद्धोपयोग ही है। क्योंकि इसके द्वारा ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, लेकिन इसका यह आशय नहीं निकालना चाहिए कि शुभोपयोग के द्वारा संवर-निर्जरा होती ही नहीं है। यह अवश्य है कि शुभयोग और शुभोपयोग दोनों को एक मानकर चलेंगे तो गड़बड़ हो जायेगा। **जयधवल** आदि अन्य ग्रन्थों में भी शुभोपयोग को कोई मात्र बन्ध का ही कारण न मान लें इसलिए लिखा है कि-**सुहसुद्धपरिणामेहिं विणा कम्मक्खयाभावादो** अर्थात् शुभ और शुद्ध परिणामों के बिना कर्मों का क्षय नहीं होता। **जम्हा णमोक्कारो संपई बंधादो असंखेज्जगुणसेढी कम्मणिज्जराकारणो होदि तम्हा भोयणसयण-गमणसुत्तपारंभेण किरियादो णमोक्कारो...।** इससे स्पष्ट है कि यदि णमोकार मन्त्र को शुभोपयोग रूप मानकर मात्र बन्ध का कारण मान बैठेंगे तो गड़बड़ हो जायेगा, क्योंकि कर्मक्षय करने वाले दो ही भाव हैं-शुभभाव और शुद्धभाव। इतना अवश्य है कि शिष्यों की जिज्ञासावशात् भी आचार्य कथन करते हैं। किसी जिज्ञासु ने पूछा हो कि ध्यान रहित अवस्था में विषयकषाय, आर्त्तध्यान आदि से बचने के लिए हम मुनिराज किसका अवलम्बन लें ? तब आचार्यों ने कहा कि-आर्त्त-रौद्रध्यान तथा विषयकषाय आदि से बचने के लिए छह आवश्यक रूप शुभोपयोग का अवलम्बन लें। आचार्य कहते हैं कि किसी भी प्रकार के विकल्प हो रहे हों तो अरहन्त, सिद्ध करते जाओ। यदि यह नहीं करोगे तो अशुभभावों से बच नहीं सकोगे। यह बात ध्यान रखो कि मुनियों को जब शुद्धोपयोग नहीं होता है तो उस समय तक वे शुभोपयोग के माध्यम से संवर-निर्जरा करते हैं। लेकिन यह अर्थ निकालना उचित नहीं है कि शुभभाव मात्र बन्ध का और संसार का ही कारण है, संवर-निर्जरा का कारण नहीं है। यह बात अलग है कि वह प्राथमिक अवस्था में असंख्यातगुणी निर्जरा का हेतु है। पदस्थध्यान में जो वर्ण आते हैं वह इसी का एक रूप है। यह पदस्थ ध्यान निर्विकल्पसमाधि में नहीं होता, यह ध्यान रखो। भावश्रुत के समय पद का अवलम्बन नहीं लिया जाता है, द्वादशांग का आश्रय भी नहीं होता। लेकिन निचली भूमिका में इसी का आलम्बन चलता है, अतः शुभोपयोग संवरात्मक भी होता है और आस्रवात्मक भी होता है। इसी कारण **अयं तु शुभोपयोगस्य अपराधः** अर्थात् यह (आस्रव) शुभोपयोग का अपराध है।

दृष्टान्त—किसी का ज्वर पुराना हो जाता है तो जहर भी औषधि का काम कर जाता है। वह तो वह है, हमारे पास अभी वह क्षमता नहीं है। उसी जहर (शुभोपयोग) के पास हमारे रोग को मिटाने की क्षमता है, उसको हम जहर नहीं औषधि कहते हैं, भोजन भी नहीं कहते। जो व्यक्ति भोजन नहीं करता, उसे औषधि देते हैं, क्योंकि औषधि ही रोग का निवारण करने वाली होती है। हाँ, इतना अवश्य है कि औषधि के सेवन से पेट नहीं भरता, शक्ति नहीं आती, स्फूर्ति भी नहीं आती। किन्तु वह तो मात्र रोग का निष्कासन करती है। फलतः शक्ति, स्फूर्ति स्वतः आती है। रोग निवारण होने के उपरान्त टॉनिक दिया जाता है। **इष्टोपदेश** में **आचार्य पूज्यपाद स्वामी** कहते हैं कि–**ज्वरवानिव सर्पिषा** अर्थात् जिसे बुखार आता है उसे घी अच्छा लगता है, जबकि वह उसे अपथ्य रूप है। ऐसा क्यों होता है ? क्योंकि रोगी की अपथ्य की ओर दृष्टि बहुत जल्दी जाती है। वैद्य कहते हैं कि–घी तुम्हारे लिए अभिशाप है। रोगी कहता है जठराग्नि बहुत तेज है, कुछ तो चाहिए। यह कुछ शब्द ऐसा है जैसे प्रायोगिक दृष्टि में देखें तो कुछ लोग ऐसे होते हैं कि बोलते हुए भी कहते हैं कि मेरी बोलने की इच्छा नहीं होती। मन में यह भाव रहता है कि ''मैं मौन से रहना चाहता हूँ'', फिर भी बोला जा रहा है, बोलना पड़ रहा है। 'मेरा हमेशा मौन पले' ऐसी भावना वाला तो बोलते हुए भी नहीं बोल रहा है। वह

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति॥

इस स्थिति वाला होता है। जो कोई पहली बार माईक के सामने जाता है तो उसके होश-हवास गायब हो जाते हैं। वह सामने वाली सभा को देखते हुए भी नहीं देखता है। इसी प्रकार आचार्य कहते हैं कि जो निर्विकल्पसमाधि में लीन नहीं हो पा रहा है उसके केवल संवर ही नहीं होता किन्तु आस्रव-बन्ध भी होता है। छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होता रहता है और संकल्प/संयम होने से प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा भी होती है, यह भूलना नहीं चाहिए।

दृष्टान्त—माना कि किसी रोगी को वैद्य ने कहा कि–''भोजन मत करो'' फिर कहता है कि अन्य कोई खुराक मत लेना, लो, यह खुराक ले लेना। एक खुराक का निषेध करते हुए भी दूसरी खुराक देता जा रहा है। यह भारतीय चिकित्सा दर्शन है। लेकिन शुभभाव संवर-निर्जरा का कारण नहीं है, यह कौन सा दर्शन है ? आपका यह कोई दर्शन नहीं है। जो भारतीयदर्शन का लेबल देकर कहते हैं कि जो बन्ध का कारण है, वह संवर-निर्जरा का कारण नहीं हो सकता, इसे हम स्वीकार नहीं करेंगे। वह जो वैसा ही है कि कोई भारतीय लेबल मात्र लगा रहा है वास्तव में भारतीय नहीं है। हम भीतर के लेबल नहीं देखते। लेबल लगाने मात्र से कुछ नहीं होता। लेबल को देखकर लेबल को देखो। लेबल की ओर मत देखो। आचार्य कह रहे हैं कि यह शुभोपयोग का अपराध है, चूँकि वह (शुद्धोपयोग) साक्षात् मुक्ति को दिला रहा है, इसलिए अपराध है।

शुभोपयोग क्षायोपशमिक भाव है–

दर्शन और चारित्र मोहनीयकर्म का जब विशिष्ट क्षयोपशम होता है उस समय शुभोपयोग होता है तथा दर्शन-चारित्र कर्म का उदय रहता है तो अशुभोपयोग होता है। जो व्यक्ति औदयिक और क्षायोपशमिक भाव को एक समान मानते हैं वे आगम सम्मत नहीं हैं, क्योंकि क्षयोपशम या उपशम सम्यग्दर्शन के बिना शुभोपयोग नहीं हो सकता। वह सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के प्रति श्रद्धान करने रूप भाव को लिए हुए होता है। इसलिए अशुभोपयोग के समान शुभोपयोग है ऐसा आगम में कहीं भी किसी भी आचार्य ने नहीं कहा। इतना अवश्य है कि शुद्धोपयोग की अपेक्षा शुभोपयोग बन्धक है, यह कहना अलग है। यदि कोई यह कहता है कि शुभोपयोग मुक्ति का साक्षात् कारण नहीं है, तो फिर शुद्धोपयोग भी इस चपेट में आ सकता है, क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान है, यथाख्यात-चारित्र है, शुद्धोपयोग भी है परन्तु वह मुक्ति का साक्षात् कारण नहीं है, क्योंकि वहाँ यदि मरण हुआ तो स्वर्ग ही जायेगा। वह शुद्धोपयोग कर्मनिर्जरा का कारण तो है, पर मुक्ति नहीं दिला रहा है। इसलिए हमें प्रसंग के अनुसार अर्थ निकालना चाहिए, यही भारतीयदर्शन है।

जीव यदि उपादान रूप से कर्मों को करता है तो उसे अचेतन रूप होना चाहिए और पुद्गल चेतन रूप हो जाना चाहिए। लेकिन द्रव्य की स्वतन्त्र व्यवस्था है कि एक द्रव्य त्रिकाल में भी दूसरे द्रव्य रूप परिणमन नहीं करता है। इस प्रकार की जानकारी न होने से तथा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का सही-सही ज्ञान न होने से शुभ-अशुभ कर्मों को करने वाला "मैं ही हूँ" इस अहंकार को अज्ञानी कभी विनष्ट नहीं कर सकता। रागादि परिणामों के निमित्त से ही वर्गणायें ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणत होती हैं। निमित्त कभी भी हठात् उपादान को परिणत नहीं कर सकता। यह बात अलग है कि कहीं-कहीं निमित्त को कर्त्ता के रूप में स्वीकार किया है, परन्तु वह निमित्त कर्त्ता रूप में समझना, उपादान कर्त्ता के रूप में नहीं।

पूर्व में यह कथन करके आए हैं कि वीतरागता के साथ भूतार्थ और सरागता के साथ अभूतार्थ की विवक्षा होती है। अतः भूतार्थनय में एकत्वमय शुद्धोपयोग हो जाता है। उस समय परमसमाधि में लीन होते हैं। उस समय शुभ-अशुभभाव से रहित अवस्था होती है अतः तत्सम्बन्धी बन्ध व्यवस्था भी नहीं रहती। लेकिन जब निर्विकल्प समाधि होती है तब एकान्त से बन्ध का अत्यन्त अभाव होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते। इस प्रकार कारण-कार्य की व्यवस्था का समीचीन ज्ञान होने से ज्ञानी कभी दुराग्रह को प्राप्त नहीं होता, किन्तु एक क्षण में रागादि विकल्पों से रहित होकर कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है। ज्ञानी की महिमा अभूतपूर्व है। विषय-कषाय मात्र ही विकल्प नहीं हैं किन्तु जब साधक शुद्धोपयोग में नहीं ठहर पाते उस समय पुद्गल, धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों के चिन्तन में मन को एकाग्र रखने का प्रयास किया जाता है। इसके माध्यम से घण्टों-घण्टों मन एकाग्र रह जाता है। यह चिन्तन भी एक प्रकार का विकल्प ही है। क्योंकि पर का आलम्बन लेना एक प्रकार से विकल्पात्मक रूप से

दीन-हीन होना है।

वीतराग सम्यग्दर्शन के भेद –

वीतराग सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है–१. धर्मध्यानात्मक, २. शुक्लध्यानात्मक। आज सातवें गुणस्थान तक प्रवेश है। आज शुद्धोपयोग है, वीतरागता है लेकिन धर्मध्यानात्मक है, शुक्लध्यानात्मक नहीं। वीतराग सम्यग्दर्शन में एकान्त से शुद्धोपयोग ही होता है। यह भी एकान्त नहीं है। प्रसंग में पाँचवे गुणस्थान से ऊपर उठने वालों को ही यहाँ ग्रहण करना है। बुद्धिपूर्वक रागादि विकल्पों का त्याग करने के उपरान्त ही अबुद्धिपूर्वक रागादि से रहित अवस्था होती है। वीतराग सम्यग्दर्शन के माध्यम से बार-बार अपने आत्मतत्त्व का स्पर्श करके ही अबुद्धिपूर्वक रागादि विकल्पों को हटाया जा सकता है। इन्हें विषय-कषाय स्वप्न में भी नहीं छूते। विषयकषाय हमारे लिए बन्धन के कारण हैं। वे ऐसे बन्धन के कारण हैं कि धर्मध्यान करना चाहें तो भी नहीं करने देते, स्वस्थ नहीं होने देते हैं, यह श्रद्धान है। **रत्नकरण्डकश्रावकाचार** में एक बहुत अच्छी बात कही है–**स्वस्थः संतोषपरः परिचित्तपरिग्रहात् विरतः।** अर्थात् जब चित्तगत परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा घट जाती है या मूर्च्छा का त्याग हो जाता है और बाह्य परिग्रह भी छूट जाता है तब स्वस्थ कहा जाता है, वही सच्चा सन्तोषी होता है। **वैराग्यभावना** में आप लोग पढ़ते ही हैं–**परिग्रह पोट उतार सब, लीनो चारित पन्थ। निज स्वभाव में थिर भये, वज्रनाभि निर्ग्रन्थ॥** अर्थात् मूर्च्छा कम होना चाहिए, बाह्य में परिग्रहत्याग करने मात्र से कुछ नहीं होता।

दृष्टान्त–जैसे, किसी पिता के पास पचास हजार रुपये हैं। घर में चार बेटे हैं। पिता ने वह राशि चारों बेटे के नाम कर दी। अपने पास एक भी पायी नहीं रखी। लेकिन वह घर में ही है, अतः यदि वह स्वामित्व भाव नहीं छोड़ता, उसके प्रति मूर्च्छा रखता है तो वह पूर्ण स्वस्थ एवं सन्तोषपने का अनुभव नहीं कर सकता। आचार्य कहते हैं–मैं ज्ञानवान हूँ, दर्शनवान हूँ, चारित्रवान हूँ, सुखवान हूँ, ऐसा कहना भी विकल्प है। इस प्रकार के चिन्तन करने से भी मन थक जाता है। उसको भी एक प्रकार का धक्का लगता है। मनोबल को धक्का लगने से अहिंसाव्रत भी सुरक्षित नहीं रह पाता। अतः समस्त विकल्प रहित पूर्ण निर्विकल्प अवस्था में ही पूर्ण स्वस्थता आती है। उसी स्वस्थ भाव में संतोष और शान्ति है। इसलिए दृश्यमान बाह्य पदार्थों को 'मैं करता हूँ, मैं नहीं करता हूँ' इस प्रकार के दुराग्रह को छोड़कर रागादि विकल्प जालों से सर्वथा रहित किन्तु पूर्ण कलश के समान चिदानन्द रूप शुद्ध भाव से परिपूर्ण अपने परमात्मद्रव्य में ज्ञानियों को निरन्तर भावना करनी चाहिए।

इस प्रकार द्विक्रियावादी के संक्षेप व्याख्यान की मुख्यता से दो गाथायें पूर्ण हुईं। आगे इसी का विशेष व्याख्यान किया जायेगा।

उत्थानिका–आगे उसी द्विक्रियावादी का विशेष व्याख्यान करते हैं–

पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं ॥९३॥

अन्वयार्थ– **(जह)** जैसे **(आदा)** आत्मा **(अप्पणो)** अपने **(भावं)** भावों को **(पुग्गलकम्मणिमित्तं)** ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्म के उदय के निमित्त से **(कुणदि)** करता है **(तह)** उसी प्रकार **(अप्पणो भावं)** (आत्मा) अपने भावों को **(पुग्गलकम्मणिमित्तं)** पुद्गलकर्म के निमित्त से **(वेददि)** अनुभवन करता है अर्थात् भोगता है।

अर्थ–जैसे यह आत्मा पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्म के उदय के निमित्त से होने वाले अपने भावों को करता है उसी प्रकार पौद्गलिक कर्म के निमित्त से होने वाले अपने भावों को भोगता भी है।

ज्यों मोह के उदय में यह शीघ्र आत्मा,
रागादि भाव करता बनता दुरात्मा।
त्यों मोह का उदय पा निज को भुलाता,
आनन्द स्वीय तजता सुख-दुःख पाता ॥९३॥

व्याख्या–पुद्गल कर्म के निमित्त से जैसे जीव अपने भावों का कर्त्ता होता है, वैसे ही अपने भावों का वेदन भी करता है। निश्चयनय से अपने ही भावों का वेदन संवेदन होता है, चाहे वह वीतराग भाव का हो या रागभाव का, शुद्धभाव का हो या अशुद्धभाव का हो। परद्रव्य के भावों का वेदन नहीं करता। असद्भूतव्यवहारनय से द्रव्यकर्म का कर्त्ता होता है। किसी ने कहा था कि–वेदनीय के निमित्त से उष्ण-शीत का अनुभव होता है, लेकिन ऐसा नहीं है। हाँ, सातावेदनीय के माध्यम से शीत-उष्ण बाधा सम्बन्धी सुख-दुःख का अनुभव जरूर होगा। शीत-उष्ण का वेदन तो तत्सम्बन्धी नामकर्म के उदय होने पर होता है। मतिज्ञान के द्वारा वस्तु को जानेगा। लेकिन सुख-दुःख में जो अच्छा-बुरा भाव होता है वह मोहनीयकर्म के निमित्त से उत्पन्न होता है। अतः अशुद्धनिश्चयनय से जीव रागादि भावकर्मों का कर्त्ता और वेदन करने वाला होता है। किन्तु वह भी पुद्गल कर्म के निमित्त बिना नहीं होता।

आचार्य कहते हैं कि अपनी शुद्धात्मा से उत्पन्न जो स्वाभाविक सुख है उसका वेदन नहीं करते हुए यह जीव कर्मोदय जनित रागादि भावों का अनुभव करता है, लेकिन पौद्गलिक कर्म परद्रव्य हैं, उनके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि का वेदन नहीं करता है, किन्तु वैसा देखने में या अनुभव में आता है, लेकिन वस्तुस्थिति यह नहीं है। उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से नोकर्मों का कर्त्ता होता है और उससे भी महा अन्धकार यह है कि पृथक्भूत द्रव्य का संवेदन कर रहा है, ऐसा आचार्य कहते हैं। यह वस्तु मुलायम है यह ज्ञान उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय है, क्योंकि वस्तु का स्पर्श रूप ज्ञान कब हुआ ? जब स्पर्शन ने स्पर्श किया। तब वस्तु के मुलायमपने का ज्ञान हुआ। यह निमित्त-

नैमित्तिक सम्बन्ध से होता है। यदि किसी को लकवा लग जाये तो उसे कठोर नामकर्म का उदय होने से मुलायम वस्तु होते हुए भी कठोर का ही वेदन होता है। मीठा भी कड़वा लगता है, तो भीतर कटुक नामकर्म का उदय है, तभी होगा। यह सब मतिज्ञान से जाना जाता है।

आत्मा के दो प्रकार के भाव होते हैं–१. वीतरागात्मक, २. रागात्मक। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा वीतरागात्मक भावों का कर्त्ता होता है तथा अशुद्धनिश्चयनय से रागात्मक भावों का कर्त्ता होता है। इन्हीं भावों का वेदन भी करता है और असद्भूतव्यवहार की भूमिका में कर्म का कर्त्ता व वेदन करता है। जैसा कर्म होगा वैसा अनुभव होगा। साता के उदय के साथ-साथ उसी शीत-उष्ण कर्म का अनुकूल कर्म उदय हो जाये तो सर्दी में गर्मी का, गर्मी में सर्दी का संवेदन भी हो सकता है। लेकिन उदीरणा उसी की होना चाहिए। मीठा खाते हुए भी यदि कटुक नामकर्म का उदय है तो कड़वापन का ही संवेदन होगा, इसलिए रस बाहर से नहीं आता है, किन्तु भीतर से जैसे कर्म का उदय होता है, वैसा ही रस आता है।

दृष्टान्त—यदि किसी को बुखार है तो थर्मामीटर बता देगा कि कितना बुखार है ? लेकिन वात का है या पित्त का प्रकोप है। यह नहीं बताता है। उसी प्रकार जैसा भी संवेदन हो रहा है वह अपने आपमें एक थर्मामीटर के समान है। जैसा अनुभव होता है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि किस कर्म का उदय है ? स्पर्श, रस, गन्ध इत्यादि नामकर्म की उदीरणा के अनुसार यह भारी है, कठोर है, मुलायम है यह जानने एवं अनुभव में आता है। नामकर्म का उदय होने के बाद भी हमारे पास क्षयोपशम ज्ञान होगा तभी जाना जाता है। स्पर्श मतिज्ञानावरण का जितना क्षयोपशम होगा उतना ही जानने का कार्य होगा। एकेन्द्रिय जीव है तो स्पर्शनेन्द्रिय सम्बन्धी मतिज्ञानावरण कर्म का जितना क्षयोपशम होगा तो वह स्पर्श का उतना ही संवेदन करेगा। जैसे, रेडियो के पास तरंगों को ग्रहण करने की ज्यादा क्षमता नहीं है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वहाँ तरंगें ही नहीं हैं।

जिज्ञासा—जैसा ज्ञेय होता है ज्ञान के माध्यम से वह वैसा ही जानने में आता है। यदि कठोर नामकर्म का उदय है तो वह मुलायम का ज्ञान कैसे करायेगा ?

समाधान—कर्मों के असंख्यात भेद होते हैं। तात्पर्य यह है कि उदय में आए हुए द्रव्यकर्मों का निमित्त पाकर यह आत्मा सुख-दुःखादि रूप अपने भावों को करता है। उसी प्रकार उदय में आए हुए द्रव्यकर्म का निमित्त पाकर अपने वास्तविक सुख का आस्वाद नहीं लेता हुआ कर्मोदय जनित अपने रागादि भावों का संवेदन या अनुभव करने वाला भी होता है। किन्तु द्रव्यकर्म रूप जो परभाव है उसका कर्त्ता आत्मा नहीं होता, ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार इस गाथा के द्वारा द्विक्रियावादी का विशेष व्याख्यान पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—अब आगे यह बतलाते हैं कि चेतन रूप आत्मभावों का कर्त्ता आत्मा होता है, उसी प्रकार अचेतन रूप परद्रव्य-कर्मादिमय परभावों का कर्त्ता पुद्गल होता है–

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ॥९४॥

अन्वयार्थ– (तहेव) उसी प्रकार **(पुण मिच्छत्तं)** मिथ्यात्व **(अण्णाणं)** अज्ञान **(अविरदि)** अविरति **(जोगो)** योग **(मोहो)** मोह और **(कोहादीया)** क्रोधादिक कषाय **(इमे भावा)** ये सभी भाव **(जीवमजीवं दुविहं)** जीव-अजीव के भेद से दो प्रकार के हैं।

अर्थ–मिथ्यात्व भाव दो प्रकार का है–१. जीव मिथ्यात्व, २. अजीवमिथ्यात्व। इसी प्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोधादिभाव ये सब भी जीव और अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं।

मिथ्यात्व मान मद मोह प्रलोभ द्वारा,
अज्ञान औ अविरति रति राग सारा।
ये हैं द्विधा जड़ सचेतन भेद द्वारा,
संसार मार्ग चलता इनसे असारा ॥९४॥

व्याख्या–मिथ्यात्व दो प्रकार का है–१. द्रव्यात्मक पुद्गलकर्म प्रकृति रूप, २. भावात्मक चेतनभावात्मक। इसी प्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह, क्रोधादि भाव जीव रूप अर्थात् चेतनात्मक हैं और अजीव रूप अर्थात् अचेतनात्मक भी हैं। आस्रवाधिकार में **मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्ण-सण्णा दु** अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, आदि हेतु संज्ञासंज्ञात्मक होते हैं, ऐसा कहा है। ये भाव जीव और अजीव रूप कैसे होते हैं ? इसे एक दृष्टान्त से समझाया गया है।

दृष्टान्त–जैसे, दर्पण में अनुभव में आने वाले नील-पीतादि आकार विशेष, जो कि मयूर के शरीर के आकार रूप परिणत हो रहे हैं, वे मयूर ही हैं, चेतनमय हैं। वैसे ही जीव के सुख-दुःखादि विकल्प रूप भाव हैं वे अशुद्ध निश्चयनय से जीव रूप ही हैं, चेतनामय हैं और जैसे स्वच्छता रूप दर्पण के द्वारा उत्पन्न प्रकाशमान मुख का प्रतिबिम्बादि रूप विकार सब दर्पणमयी है अतएव अचेतन है, उसी प्रकार उपादान भूत कर्मवर्गणा रूप पुद्गल कर्म के द्वारा किए हुए ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रूप पर्याय तो पुद्गलमय ही है, अतएव अचेतन ही है।

जैसे–मान लो, दर्पण के सामने चेतन वस्तु आयी उसमें उसकी जो छाया पड़ती है, वह अचेतन है। क्योंकि वह दर्पण का परिणमन है। उसी प्रकार जो चेतन रूप होता है वह क्रोधादि भाव रूप होता है। जैसे, हम क्रोध कर रहे हैं, उस समय दर्पण में जो बिम्ब बनता है वह वैसे ही भाव वाला बनता है।

यद्यपि कर्म क्रोध नहीं करता, लेकिन कर्मों के कारण आत्मा में क्रोधभाव उत्पन्न हो जाते हैं। पश्चात् उन भावों के निमित्त से पुनः कर्मबन्ध होता है वह चेतन रूप दिखता है, पर अचेतन है।

तत्सत्ती भावकम्मं तु ऐसा **कर्मकाण्ड** में कहा है। इसका अर्थ यह है कि द्रव्यकर्म में राग या

मोह पैदा करने की जो शक्ति है वह भावकर्म है। ऐसे भाव हम नहीं समझते हैं तो गाफिल हो जाते हैं, कभी चिड़चिड़ापन होता है तो कहते हैं–देखो, आप मुझे ज्यादा गुस्सा मत दिलाओ। देखो, आप गुस्सा दिला रहे हैं। इस क्रोधभाव का आना लेनदेन का काम नहीं है, पर ऐसा कहा जाता है। वह निमित्त है, उसमें हठात् क्रोध कराने की क्षमता नहीं है पर क्रोध कराने में निमित्त है। पुद्गल कर्मवर्गणाओं में जो क्रोध द्रव्य कर्म के रूप में है वह अजीव क्रोध है। निमित्त क्या काम करता है ? समझने के लिए एक उदाहरण दिया जा रहा है।

निमित्त क्या काम करता है ?–

दृष्टान्त–जैसे दर्पण के सामने एक मुर्गा गया तो उसे दर्पण में एक मुर्गा दिखा। उसने अपनी चोंच से उसे टक्कर दे दी, फिर पीछे हो गया तो दर्पण वाला मुर्गा भी पीछे हो गया। यह देखकर वह समझता है कि मैंने सही टक्कर मारी। फिर ऐसा करते-करते वह परेशान होकर घायल जैसा हो गया तो दर्पण का मुर्गा भी घायल जैसा हो गया। इसे खून आ गया तो उसे भी खून भी आ गया। यह देखकर वह खुश हो जाता है। यह क्या है ? अजीवक्रोध है। हम दूसरों पर क्रोध करके, दूसरे पर टूट-टूट करके हम अपने आपको ठण्डा करने का प्रयास करते हैं, और ठण्डेपन का अनुभव करते हैं। क्रोध पर कोई नहीं टूटता है, क्योंकि वह दिखता नहीं है, जो दिखता है उसी पर क्रोध करता है। अतः उस मुर्गे में और इस जीव में कोई अन्तर नहीं है। यहाँ समझने की बात यह है कि निमित्त बहुत बड़ा काम करता है। ज्ञान जब काम नहीं करता तब आप समझ रहे हैं कि निमित्त रूप में दर्पण का मुर्गा काम कर गया। ये क्रोध, रागद्वेषादि भाव आत्मा में तन्मय रूप में होते हैं, उन्हें किसी वस्तु को हाथ से उठाकर अलग करने के समान पृथक् नहीं कर सकते। जैसे-मयूर का जो नीलकण्ठ है, उसमें से नीलापन को अलग नहीं किया जा सकता। सोने को पंख से अलग नहीं कर सकते, क्योंकि ये उससे भिन्न नहीं है।

अशुद्ध निश्चयनय से रागद्वेषादि चेतनात्मक हैं, जीव की ही अशुद्ध उपादान की परिणति है, जो कि जीवमय है। जिस समय दर्पण स्वच्छ होता है उस समय प्रकाशमान दर्पण का ही परिणमन होता है वह उसी का परिणमन माना जाता है। प्रतिबिम्ब बनने की क्षमता दर्पण में ही होती है। दर्पण के चारों तरफ जो किनारी होती है उसमें नहीं दिखता। बीच में ही प्रतिबिम्ब बनता है। इसी प्रकार उपादान रूप में जो ज्ञानावरणादि कर्म हैं वे पुद्गलात्मक हैं, ज्ञानात्मक नहीं। जीव के पास जो अशुद्धनिश्चयनय से चेतन क्रोध है उसे उत्पन्न करने वाला पुद्गल द्रव्यात्मक क्रोध निमित्त रूप में होता है। क्रोध का उदय हो तो मान का भाव नहीं हो सकता। लेकिन क्रोध का उदय हो तो मान का बन्ध तो हो सकता है, पर संवेदन नहीं हो सकता, यह निश्चित है। कर्मों का जो फल मिलता है वह उस-उस कर्म के उदय से मिलता है। तभी तत्सम्बन्धी कर्मफल का संवेदन या ज्ञान होता है। ज्ञान का अर्थ, जैसा कर्मोदय है वैसा ही संवेदन होना। जैसे स्पर्श के आठ भेदों में से कठोरनामकर्म का उदय हो तो मुलायम का ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान तो जैसा ज्ञेय होता है वैसा संवेदन कराता है। इसी प्रकार चेतन-अचेतनात्मक

जो पुद्‌गल और जीव की परिणति है, उसकी द्रव्यव्यवस्था से, लक्षण के आधार पर जानकारी लेना चाहिए। इसके अभाव में हम एकान्त की ओर लुढ़क जाते हैं, जो हमारे लिए अन्धकार का कारण होती है।

विशेषार्थ—कर्म के उदय के निमित्त से जो विभाव भाव होते हैं वे चेतना के विकार होने से जीवरूप ही होते हैं, किन्तु इन विकारी भावों के निमित्त से जो पुद्‌गल परमाणु मिथ्यात्व आदि कर्म रूप परिणमते हैं वे सब अजीव हैं, ऐसे मिथ्यात्वादि भाव जीव और अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। (आचार्य ज्ञानसागर महाराज, समयसार)

उत्थानिका—अब जीव और अजीव कितने प्रकार के हैं, इसे बताते हैं–

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदिअण्णाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छत्त जीवो दु ॥९५॥

अन्वयार्थ– **(मिच्छत्तं)** जो मिथ्यात्व **(जोगो)** योग **(अविरदि)** अविरति **(अण्णाणं)** अज्ञान **(पुग्गलकम्मं)** कर्म वर्गणा रूप हैं वे **(अज्जीवं)** अजीव हैं। **(च अण्णाणं)** और अज्ञान **(अविरदि)** अविरति **(मिच्छत्त)** मिथ्यात्व **(उवओगो)** उपयोग रूप हैं वे **(दु जीवो)** जीव हैं।

अर्थ—जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान कर्मवर्गणा रूप हैं वे तो अजीव हैं, किन्तु जो अज्ञान, अविरति, मिथ्यात्व उपयोगात्मक हैं वे जीव हैं।

मिथ्यात्व से बन रही भव बीच फेरी,
अज्ञान और अविरती त्रय योग वैरी।
चारों अजीव जड़ पुद्‌गल शील वाले,
औ चार जीवमय हैं उपयोग वाले ॥९५॥

बन्ध के प्रत्यय सम्बन्धी विश्लेषण—

व्याख्या—प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं–१. द्रव्यप्रत्यय और २. भावप्रत्यय। द्रव्यप्रत्यय पुद्‌गलात्मक कर्म रूप, रस, गन्ध, स्पर्शात्मक होते हैं तथा भावप्रत्यय जीव के भाव रूप चेतनात्मक होते हैं। द्रव्यप्रत्यय, भावप्रत्यय के लिए निमित्त होते हैं और पुनः भावप्रत्यय, द्रव्यप्रत्यय के लिए निमित्त कारण होते हैं। **पुग्गलकम्मं मिच्छं...** अर्थात् पुद्‌गल कर्म रूप जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान हैं वह तो अजीव हैं। किन्तु **उवओगो अण्णाणं** अर्थात् उपयोग रूप भाव जो कि शुद्धात्मतत्त्व से विपरीत विकारमय हैं, वे सभी जीव रूप चेतनभाव हैं। यहाँ पर अज्ञान और मिथ्यात्वप्रत्यय विचारणीय हैं। यह अज्ञानी है, ऐसा कहते ही सभी सोचते हैं कि वह मिथ्यादृष्टि है। इसी ओर सबकी दृष्टि चली जाती है। जबकि मिथ्यात्व तो प्रथम गुणस्थान तक ही होता है, किन्तु अज्ञानभाव तो आगे के गुणस्थानों में भी होता है। आगे कौन सा अज्ञान होता है ? इसका समाधान इसी ग्रन्थ में स्वयं **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने चार प्रत्ययों का कथन करके किया है। जिसमें अज्ञान

और मिथ्यात्व दोनों को अलग-अलग प्रत्यय माना है। यदि उनकी दृष्टि में अज्ञान और मिथ्यात्व एक ही होते तो तीन प्रत्ययों का ही कथन करते, चार प्रत्ययों का कथन क्यों किया ? ये विचारणीय विषय है। **तत्त्वार्थसूत्र** में प्रमाद को भी प्रत्यय रूप में माना है। उसे मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और कषाय में गर्भित नहीं किया। क्योंकि अविरति नहीं रहते हुए प्रमाद रहता है। कषाय से पृथक् प्रमाद प्रत्यय को छठवें गुणस्थान में अरति-शोक, असाता आदि छह प्रकृतियों के बन्धक रूप से स्वीकार किया है। इसके आगे इन छह प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता, आगम में ऐसा उल्लेख है। अविरति तीन प्रकार की मानी गई है–अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान व प्रत्या-ख्यानकषाय सम्बन्धी। अनन्तानुबन्धी कषाय के जाने पर जीव सम्यग्दृष्टि कहलाता है, अप्रत्याख्यान जाने पर देशव्रती और प्रत्याख्यान कषाय के जाने पर सकलसंयमी हो जाता है। सकलसंयमी होने पर छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलता रहता है। जब छठवें गुणस्थान में आता है तो प्रमाद अवस्था आ जाती है। कषाय प्रमादरहित अवस्था में भी रहती है, अतः प्रमाद और कषाय दोनों प्रत्ययों को पृथक्-पृथक् माना है। दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व का अभाव है फिर भी वहाँ ज्ञान को अज्ञान रूप करने का श्रेय अनन्तानुबन्धी कषाय को जाता है। इस प्रकार अज्ञान का कारण मिथ्यात्व ही है, ऐसी धारणा नहीं बनाना चाहिए। **धवला** आदि ग्रन्थों में कषाय को भी अज्ञान रूप में गिना है। मिथ्यात्व की अनुपस्थिति में अनन्तानुबन्धी कषाय मिथ्यात्व का काम करती है। वह चारित्र को भी नहीं होने देती और सम्यग्दर्शन को भी नहीं होने देती। अध्यात्म में प्रमाद की जो धारा है वह अज्ञान रूप में काम करती है। प्रमाद की भूमिका प्रथम गुणस्थान से छठवें गुणस्थान तक होती है, प्रमाद कषाय की तीव्रता का प्रतीक है। आगे के गुणस्थानों में अज्ञान को कषाय रूप में और कषाय को अज्ञान रूप में स्वीकार किया जाता है। विकथा, कषाय आदि पन्द्रह प्रमादों में जो प्रकृष्ट रूप से मत्त या उन्मत्त हो जाता है वह प्रमत्त माना जाता है। यह उपाधि एक अच्छे साधक को भी दी गई है, क्योंकि जो साधक स्वस्थ रहने की भूमिका से कषाय की तीव्रता के कारण स्खलित हो जाते हैं वे प्रमत्त माने जाते हैं, अतः कषाय करना भी अज्ञान है।

अध्यात्म ग्रन्थों में **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने भी कहा है कि **जो निर्विकल्प समाधि से च्युत हो जाते हैं वे निर्विकल्प समाधि के अभाव में अज्ञानी, बहिरात्मा हैं।** बहिरात्मा कहते ही प्रथम गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि नहीं समझना चाहिए, किन्तु वीतराग सम्यग्दर्शन के अभाव में मिथ्यादर्शन या बहिरात्मा कहा जाता है, इसी को अज्ञान भी कहा है। किन्तु यह मिथ्यात्व और अज्ञान प्रथम गुणस्थानवर्ती मिथ्यात्व और अज्ञान से पृथक् है, ऐसा समझना चाहिए। प्रसंग के अनुसार आचार्यों की विवक्षाओं को समझना चाहिए। उसी के अनुसार शब्दार्थ निकालना चाहिए और उनके अभिप्राय के अनुसार ही अर्थ निकालना चाहिए। अतः एक विवक्षा यह भी है कि **कषाय करना भी एक प्रकार का अज्ञान और मिथ्यात्व है। बहिर्दृष्टि होना मिथ्यात्व और अन्तर्दृष्टि होना सम्यक्त्व है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने प्रमाद को प्रत्यय के रूप में स्वीकार नहीं किया है अतः उन्होंने

चार प्रत्यय माने हैं। अध्यात्म ग्रन्थों में निर्विकल्पसमाधि से च्युत होने पर छठवाँ, पाँचवाँ एवं चतुर्थ गुणस्थान होने पर सम्यग्दृष्टि होते हुए भी द्रव्यलिंगी माना जाता है। द्रव्यलिंगी का अर्थ यही है कि जो भावलिंगी नहीं है। द्रव्यलिंग अज्ञान और प्रमाद का भी सूचक है और कषाय रूप भी है। लेकिन यह कहाँ होता है, इसे सोचना है। बाहुबली जो कि क्षायिकसम्यग्दृष्टि थे, फिर भी उनको भी द्रव्यलिंगी कहा है। वास्तव में जो निर्विकल्पसमाधि से च्युत है अथवा रत्नत्रय से च्युत है वह द्रव्यलिंगी है। द्रव्यलिंगी कहने से सम्यग्दर्शन का अभाव नहीं लेना चाहिए। भावलिंगी अर्थात् जो शुद्धात्मानुभूति में लीन रहता है उसे ग्रहण करना चाहिए। सातवें गुणस्थान से छठवें गुणस्थान में आने पर रत्नत्रय तो रहता है लेकिन अप्रमत्तता से च्युत होने के कारण द्रव्यलिंगी कहा है। अध्यात्म में जो फेल हो गया तो वह प्रथम कक्षा में आ गया, ऐसा नहीं समझना चाहिए। पर जिस कक्षा में है उस कक्षा में वह फेल हो गया, ऐसा समझना। कहीं-कहीं पर अज्ञान को भी प्रत्यय रूप में नहीं गिना। आस्रवाधिकार में **मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।** इस गाथा में अज्ञान को प्रत्यय रूप नहीं गिना। किन्तु संवराधिकार में **मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य जोगो य।** इस गाथा में अज्ञान को प्रत्यय माना है, कषाय को पृथक् प्रत्यय रूप नहीं गिना। अतः जहाँ अज्ञान प्रत्यय है, कषाय प्रत्यय नहीं है वहाँ कषाय को भी अज्ञान माना है। तथा जहाँ अविरति को प्रत्यय में नहीं गिना किन्तु अज्ञान को गिना है तो उससे स्पष्ट हो रहा है कि अविरति भी अज्ञान है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों पर आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रत्ययों का कथन किया है। आप **छहढाला** में पढ़ते हैं-**मिथ्या अविरति अरु कषाय प्रमाद सहित उपयोगा।** ऐसा कहा है। यहाँ पहले कषाय फिर प्रमाद कहा है, जबकि पहले प्रमाद फिर कषाय का क्रम कहना चाहिए। लेकिन छन्द में सिद्धान्त क्रम से कथन नहीं किया है। यहाँ योग को पृथक् प्रत्यय नहीं माना। **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने संवराधिकार में कषाय के स्थान पर अज्ञान प्रत्यय लिया है, अतः उसे दसवें गुणस्थान तक स्वीकार किया जा सकता है। **षट्खण्डागम-धवला** की प्रथम पुस्तक में दूसरे गुणस्थान तक अज्ञान माना है। तृतीय गुणस्थान में मिश्रज्ञान माना है। इसलिए अपने को यह सोचना है कि आचार्यों ने जैसे-जहाँ जो प्रत्यय गिनाये हैं, हमें उनको वहाँ वैसी विवक्षा के अनुसार ही ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् कभी कषाय को अज्ञान तो कभी अज्ञान को कषाय में गर्भित किया है।

आचार्यों ने हमें जगह-जगह पर सावधान किया है। हम सावधान हों या न हों यह हमारे ऊपर है। शुद्धात्मतत्त्व के विषय में विपरीत परिच्छित्ति अज्ञान है, विकार है। अज्ञान कहते ही वह मिथ्यादृष्टि है और द्रव्यलिंगी हो गया अथवा द्रव्यलिंगी कहते ही मिथ्यादृष्टि है, ऐसा जो श्रद्धान कराते हैं वह उचित नहीं है। 'तत्त्वज्ञान तो है नहीं, क्रियाकाण्ड में उलझ गये' साथ में ऐसा और कहते हैं, ऐसा कहना भी उचित नहीं है। व्याकरण में भी पंचसन्धि, लिंग, कारक, प्रत्यय, तद्धित, समास, कृदन्त आदि होते हैं। जब वाक्य बनाते हैं तो इन सभी का प्रयोग किया जाता है। जब शब्द सिद्धि करते हैं तो वहाँ बालबोध

होने से यदि सूत्र का अर्थ प्रक्रिया के अनुसार नहीं निकाला जाता तो सूत्र पर टीका, वार्तिक आदि लिखी जाती है। हमेशा प्रसंग के अनुसार अर्थ निकालना चाहिए। सूत्र गूढ़ रहस्यमय होते हैं। उनके अर्थ समझने के लिए सिद्धान्त में भी टीका, उपटीका, व्याख्या, वार्तिक, टिप्पणी, परिशिष्ट आदि-आदि बालबोध वालों के लिए लिखे जाते हैं। कहीं-कहीं पर मात्र चकार भी गूढ अर्थ लिए हुए होता है। च से कहीं विधि तो कहीं निषेध अर्थ निकलता है। **पहले भाव समझा करो बाद में भाषा समझो।** शिष्य जब भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रश्न करते हैं तो टीका, उपटीका आदि की रचना होती है।

ईषत् विरति का नाम भी अविरति है। जब तक संज्वलन कषाय सम्बन्धी उपशम या क्षय नहीं होता तब तक भी कथंचित् एकदेशविरत कहा है। जैसे-मैं कुछ भी ग्रहण नहीं करूँगा, ऐसा संकल्प लिया लेकिन आहार ग्रहण कर लिया तो एकदेशविरति हो गई। रात्रिभोजन पूर्णतः त्याग है लेकिन दिन में ग्रहण करते हैं इसलिए देशविरति है। आहार ही ग्रहण किया है परिग्रह ग्रहण नहीं किया, आर्त्त-रौद्रध्यान नहीं किया, इसलिए एकदेशविरति कहा है लेकिन पंचमगुणस्थानवर्ती देशव्रती नहीं कहा है। कषाय का अभाव सो चारित्र तथा कषाय का उदय सो अचारित्र। अचारित्र दो प्रकार का है-१. चारित्राभावो अचारित्रं और २. ईषत् चारित्रं अचारित्रं।

चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहिदं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो॥

अर्थात् चारित्र का प्रतिपक्षी कषाय भाव है उसके उदय से जीव अचारित्री होता है। ईषत् चारित्र भी अचारित्र है। यह अविरति से ऊपर तो उठ गया फिर भी कषाय के उदय में अचारित्र कहा। कषाय का अभाव होने पर शुद्धात्मानुभूतिमय स्वरूपाचरण या यथाख्यातचारित्र होता है। **अमृतचन्द्र स्वामी** की टीका का तो समाज में बहुत आलोढन हुआ परन्तु **जयसेन स्वामी** की पदखण्डना रूप टीका का प्रवाह नहीं चला। इस कारण से अध्यात्म में कमी रह गई। अर्थात् अध्यात्म के रहस्य उद्घाटित नहीं हो पाये। जबकि उनकी टीका में सभी विषयों का स्पष्ट गुणस्थानपरक विवेचन किया गया है। इसको नहीं समझने के कारण ही पाठक सही-सही अभिप्रायों को नहीं समझ पाये, फलतः अज्ञानी कहते ही मिथ्यादृष्टि है, ऐसा अर्थ लगा लेते हैं।

दृष्टान्त—जैसे, जब सूर्यग्रहण लग जाता है तो दिन में भी रात जैसा लगता है। जब सूर्यग्रहण लगा था उस समय अखबार में आया था कि दिन में भी कमल मुरझा गये और कमलिनी खिल गई। इसी प्रकार अज्ञान का ग्रहण लग जाने से अनन्तानुबन्धी के उदय में मिथ्यात्व का अन्धकार फैल जाता है। एक बार द्रोणगिरि में शाम को पाँच बजे ही सभी चिड़िया वगैरह की आवाज बन्द हो गई, मात्र प्रतिक्रमण करना शेष था। ऐसे ही कुण्डलपुर में सूर्यग्रहण होने पर बिल्कुल शाम जैसी हो गई तो प्रतिक्रमण जल्दी कर लिया और बाहर आकर देखा तो आश्चर्य हुआ अरे, आज तो सूर्यग्रहण लगा है। ग्रहण दूर होने के बाद पुनः प्रकाश आ गया। इसी तरह विपरीत अभिनिवेश का अन्धकार होता है,

लेकिन सम्यक्त्व सूर्य का उदय होने पर ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है। दिन में भी रात्रि का बोध हो रहा है, यही तो विपरीत अभिनिवेश है।

कोई–कोई योग को भावप्रत्यय रूप स्वीकार नहीं करते, लेकिन आचार्यों ने उसे दो प्रकार का स्वीकार किया है–१. चेतनरूप और २. अचेतन रूप। उपयोग की मुख्यता के साथ आस्रव व बन्ध की व्यवस्था बनाते हैं तो योग भावप्रत्यय के रूप में गौण हो जाता है किन्तु जब पुद्गल रूप प्रत्यय गिनते हैं तब मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग सभी को गिनते हैं। बन्ध की व्यवस्था में जब कषाय मुख्य होती है तो योग गौण हो जाता है। जैसे कि निर्जराधिकार में कहा है–

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्म मोहबाधकरे।
सो णिस्संको चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२४९॥

अर्थात् जो कोई कर्मबन्ध का करने वाला मोहभाव व बाधा को उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और शुभाशुभ रूप योग इन चार पायों को उखाड़ देता है वह आत्मा ही निःशंक सम्यग्दृष्टि होता है। अभिप्राय यह है कि **आचार्यकुन्दकुन्ददेव** एवं **आचार्य जयसेन स्वामी** ने बन्ध को करने वाले चार पायों में योग को गिना है। वह योग शुभ–अशुभ दो भेद वाला है। भावप्रत्यय के बिना द्रव्यप्रत्यय हो नहीं सकता, इसलिए योगप्रत्यय भी भावप्रत्यय रूप स्वीकार करना चाहिए।

उत्थानिका–अब जो जीव शुद्ध चैतन्य स्वभाव वाला है, उसमें मिथ्यादर्शनादि विकारी भाव कैसे उत्पन्न हुए, सो बतलाते हैं–

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदि भावो य णादव्वो ॥९६॥

अन्वयार्थ– (मोहजुत्तस्स) मोह से युक्त होने से **(उवओगस्स)** उपयोग स्वभावमय आत्मा के **(अणाई)** अनादि से **(मिच्छत्तं)** मिथ्यात्व **(अण्णाणं)** अज्ञान **(अविरदि भावो य)** और अविरति **(तिण्णि परिणामा)** तीन परिणाम **(णादव्वो)** जानना चाहिए।

अर्थ–अनादिकाल से ही मोह सहित उपयोगवान् आत्मा में मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीनों भाव भी अनादि से ही चले आ रहे हैं, ऐसा जानना चाहिए।

मोहाभिभूत उपयोग वरे अनादि,
निम्नोक्त तीन परिणाम करें प्रमादी।
अज्ञान औ अविरती अरु दृष्टि मिथ्या,
पाया अतः न अबलौं सुख सत्य नित्या ॥९६॥

व्याख्या–उपयोग लक्षण वाला होने से यहाँ उपयोग शब्द से आत्मा को ग्रहण किया है। आज शब्दों की गहराई के बारे में अध्ययन नहीं करने के कारण यह परिणाम निकला है कि शब्दों के यथायोग्य उचित अर्थ नहीं समझ पाते। मोह से उपयुक्त जो उपयोग है या आत्मा है उसके द्वारा अनादि काल से

तीन परिणाम होते हैं–मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति। ये तीनों परिणाम शुद्ध-बुद्ध जीव तत्त्व से विपरीत स्वभाव वाले हैं, अतः ये विकारी भाव छोड़ने योग्य हैं एवं शुद्ध-बुद्ध जीव का स्वभाव उपादेय है।

मिथ्यात्व, अविरति ये दो प्रत्यय चले जाने के बाद भी अज्ञान प्रत्यय कषाय या प्रमाद रूप रहता है। अनादिकाल से यह जीव मोह और योग से युक्त होने के कारण मिथ्यात्व, अज्ञानादि रूप परिणाम करता आया है। यह अशुद्धि कब से है ? अनादि से है। जब से पूछो तब से अनादि से है। जो भव्यत्व से युक्त है, वह पाक्य और जो अभव्यत्व से युक्त है वह अपाक्य है। उसी प्रकार मोह और योग होने से आत्मा अशुद्ध है। आत्मा शुद्ध होता नहीं, किन्तु बनता है। शुद्धत्व की प्राप्ति अभूतपूर्व होती है। **भूत अर्थात् मोह निकल जाये तब अभूतपूर्व होता है। मोह का भूत जब तक रहता है तब तक अभूतपूर्व घटना नहीं घटती।** यहाँ अज्ञान प्रत्यय को दूसरे नम्बर पर गिना है। 'य' शब्द से कषाय भी ले सकते हैं। यदि शुभाशुभ परिणाम से युक्त क्रिया है तो योग भी गर्भित हो जायेगा। अज्ञान की परिणति कषाय या प्रमाद रूप में होती है, इसलिए यहाँ पर तीन ही प्रत्यय लिए हैं। प्रमाद और योग को पृथक् रूप से ग्रहण नहीं किया।

संज्वलन के मन्दोदय में भी अचारित्र है, लेकिन इसे हम अविरति नहीं कह सकते। कषाय का उदय है तो कषाय है और कषाय का अभाव सो चारित्र है। विरति और चारित्र में बहुत अन्तर है।

दृष्टान्त–आपके पास करोड़ रुपये हों और करोड़पतित्व का अनुभव न हो, ऐसा होता है क्या? नहीं। उसी प्रकार कषाय का उदय हो और उसका संवेदन न हो, ऐसा संभव नहीं। इसी तरह द्रव्यप्रत्यय हो और भावप्रत्यय न हो, ऐसा संभव नहीं। जैसे–आप जो कुछ भी खाकर आयें, चाहे खट्टा खाकर आये, चाहे मीठा। खट्टा खाकर आयें तो खट्टी डकार आती है। उस समय चेहरा कैसा बनता है ? मीठा खाकर आयें तो मीठी डकार आती है, उस समय चेहरा नहीं बिगड़ता। बल्कि प्रशस्तता जैसी लगती है। तात्पर्य यह है कि जो खाया है वही तो डकार में आयेगा। उसी प्रकार जैसा द्रव्यप्रत्यय अर्थात् कर्म उदय में आयेगा वैसा ही भावप्रत्यय होता है।

मोह का उदय होने पर ही आत्मा अनादि से मिथ्यात्वादि तीन प्रत्ययों से सहित होकर परिणामों को करता रहता है। ये तीनों परिणाम विकार रूप हैं। मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति इन तीनों विकारों का अभाव होने पर निर्विकार अथवा निर्विकल्प हो सकता है। इसलिए यथाख्यातचारित्र के साथ निर्विकल्प समाधि और शुक्लध्यान के साथ निर्विकल्पसमाधि की व्याप्ति **आचार्य जयसेनस्वामी** ने स्थान-स्थान पर की है। निर्जराधिकार में कहा है–

आभिणिसुदोहि मणकेवलं च तं होदि एक्क मेव पदं।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥२२०॥

अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इस प्रकार जिसके भेद

किये जा सकते हैं वह ज्ञान सामान्यतया एक है जो कि परमार्थरूप है उसे प्राप्त करके ही आत्मा मुक्ति प्राप्त करता है। अन्त में उपसंहार रूप में यही कहा जा रहा है कि जहाँ मोहनीय का समूचा अभाव होता है वही सामान्य परमार्थ रूप ज्ञान है उपादेय है।

उत्थानिका—अब आत्मा के उपर्युक्त तीन विकारी परिणामों का कर्त्तापन है, ऐसा बतलाते हैं–

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९७॥

अन्वयार्थ—**(एदेसु य)** और इनमें (मिथ्यात्व, अविरति, अज्ञान निमित्त होने पर) **(उवओगो)** आत्मा का उपयोग **(सुद्धो)** शुद्धनय से शुद्ध **(णिरंजणो)** निरंजन है तो भी **(तिविहो भावो)** मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति इन तीन परिणाम वाला है। **(सो जं)** वह आत्मा इन तीनों में से जिस **(भावं करेदि)** भाव को करता है **(तस्स)** उसी का **(सो उवओग कत्ता)** वह उपयोग कर्ता है।

अर्थ—यद्यपि शुद्धनय की अपेक्षा से आत्मा का उपयोग शुद्ध है, निर्विकार है, तो भी अनादिकाल से इन उपर्युक्त तीन भावरूप परिणामों में से आत्मा जिस भाव को करता है उस समय उसका कर्त्ता होता है।

लो वस्तुतः शुचि निरंजन आतमा है,
तो भी रहा त्रिविध मोहतया भ्रमा है।
जैसा विभाव करता उपयोग भाता,
कर्त्ता उसी समय है उसका कहाता ॥९७॥

व्याख्या—उदयागत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के होने पर उनके निमित्त से यहाँ उपयोग शब्द से आत्मा को ग्रहण किया है, क्योंकि ज्ञान-दर्शनमय उपयोग से आत्मा अभिन्न है। उपयोग आत्मा का लक्षण है। यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से आत्मा निरंजन स्वभाव वाला है फिर भी उपयोग कर्मोदय के निमित्त से मिथ्यात्वादि तीन रूप में प्रवाहित हो रहा है, अतः उन तीनों प्रत्ययों का कर्त्ता एवं भोक्ता आत्मा है, क्योंकि द्रव्यप्रत्यय भावप्रत्यय के निमित्त से होता है और भावप्रत्यय द्रव्यप्रत्यय के निमित्त से होता है। जहाँ द्रव्यप्रत्यय है वहाँ भावप्रत्यय अवश्य होता है। लेकिन एक अपवाद है, कि संज्वलन का जो सूक्ष्म लोभ है उसके द्वारा सोलह प्रकृतियों का बन्ध होता है परन्तु स्वयं सूक्ष्मलोभ कषाय का बन्ध नहीं होता। ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में सोलह प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। क्योंकि उसका बन्ध प्रत्यय कषाय दसवें गुणस्थान तक ही है। कषाय का सूक्ष्म अंश भी नहीं होने के कारण ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में वीतराग छद्मस्थ संज्ञा दी गई है। किन्तु दसवें गुणस्थान में सूक्ष्मलोभ होने के कारण वीतराग विशेषण नहीं दिया। कषाय का उदय होने से उपयोग रंगीन हो जाता है। उपयोग रंगीन होने से आत्मतत्त्व दिखाई नहीं देता। जैसा कि **आचार्य पूज्यपाद स्वामी** ने **समाधितन्त्र** में एक कारिका लिखी है कि–

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जनः ॥३५॥

अर्थात् जिनके मानस सरोवर में रागद्वेषादि रूप तरंगें नहीं उठ रही हैं वही आत्मतत्त्व के दर्शन कर सकता है। यहाँ तक कि संज्वलन सूक्ष्मलोभ के उदय में भी उपयोग धुंधला होने के कारण भीतर पूर्ण शुद्ध तत्त्व को नहीं देख पाता। दूध और घी को जो व्यक्ति एक मानकर चलता है उसके लिए मैं एक उदाहरण देता हूँ।

दृष्टान्त—एक लोटे में दूध है और एक लोटे में घी। दोनों लोटे में एक-एक सिक्का डाल दो। अब लोटे में चक्षुज्ञान से देखो-दूध में जो रुपया है वह दिखता है क्या ? नहीं। लेकिन घी के लोटे में घी भी दिखता है और सिक्का भी दिखता है। चूँकि दूध की अशुद्ध अवस्था है इसमें अभी १४ आना बट्टा है, लेकिन घी शुद्ध है, सारभूत है, बट्टा से रहित है। यद्यपि दूध में घी विद्यमान है, लेकिन दूध पीते समय उसका स्वाद नहीं आता और दूध में घी का दर्शन भी नहीं होता। घी की गन्ध भी नहीं आती। दोनों के संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न हैं। अतः दूध और घी को एक नहीं माना जा सकता। घी के समान जब उपयोग रागद्वेषादि विकारी अवस्था से युक्त होता है तब शुद्धतत्त्व रूपी सिक्के का दर्शन नहीं होता।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान ये तीनों कषायें सर्वघाती हैं और संज्वलनकषाय देशघाती है, इसमें सर्वघाती स्पर्धक भी होते हैं। यह आगमिक कथन है। लेकिन अध्यात्म दृष्टि से संज्वलन कषाय भी सर्वघाती है, यह यथाख्यातचारित्र का घात करती है। जब तक संज्वलन कषाय का उदय होता है तब तक यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं होता। अर्थात् संज्वलनकषाय के उदय में यथाख्यातचारित्र का थोड़ा बहुत भी स्वाद नहीं आता। देशघाती के कारण तो दोष लगता है, परन्तु यहाँ तो संज्वलनकषाय यथाख्यातचारित्र की पूर्णतया घातक है। छठवें आदि गुणस्थानों में संज्वलनकषाय के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय है फिर भी स्वाद नहीं आता।

अज्ञानी की तपस्या बालतपस्या है, बालव्रत व बालतप है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु यहाँ अध्यात्म में निर्विकल्पसमाधि से च्युत होना ही अज्ञान है। क्योंकि करोड़ों वर्ष भी तप कर लो तो भी केवलज्ञान नहीं होगा। इसलिए समय-समय पर यहाँ अध्यात्मग्रन्थों में शब्द का अर्थ प्रसंग के अनुसार निकालना चाहिए। उस अज्ञान को छोड़ देना चाहिए जो मिथ्यात्व की ओर ले जाता है। यहाँ प्रसंग में जो अज्ञान है वह प्रथम गुणस्थानवर्ती अज्ञान ग्रहण नहीं करना। क्योंकि यह अज्ञान तो हर अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त में छठवें-सातवें गुणस्थान के परिवर्तन में कारण होता रहता है। अप्रमत्त होने के उपरान्त अन्तर्मुहूर्त बाद प्रमत्त अवस्था होना अनिवार्य है, चाहे तीर्थंकर भी क्यों न हों।

दृष्टान्त—जैसे, झूले को ऊपर से नीचे आना ही पड़ता है। तीर्थंकरों के लिए भी छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान रूप अपवाद मार्ग को ग्रहण करना पड़ता है। सातवें गुणस्थान में आने का नाम विश्राम है।

अन्तर्मुहूर्त बाद छठवें गुणस्थान में आना ही होता है। दूसरा उदाहरण भी है कि जैसे–गोताखोर जो है वह डुबकी लगाता है, तो दीर्घ श्वास लेकर नाक पर उंगली रखकर नीचे जाता है फिर पानी ऊपर की ओर फेंकता है। पश्चात् वह नीचे चला जाता है। कहाँ पर क्या है ? यह देख लेता है। हवा समाप्त होने पर पुनः श्वास लेने ऊपर आ जाता है। दीर्घश्वास लेता है और पुनः गोता लगा लेता है फिर ऊपर आकर दस मिनट विश्राम कर लेता है। फिर नीचे जाकर अन्तर्मुहूर्त में चीज ढूँढ लेता है। अतः छठवें गुणस्थान का अज्ञान, विश्राम का स्थान तो है किन्तु पुनः ज्ञान की ओर ले जाने के लिए है, वह मिथ्यात्व की ओर ले जाने वाला अज्ञान नहीं है। मिथ्यात्व और अज्ञान के भेद को जानने का प्रयास करो।

बन्ध प्रत्यय का विश्लेषण चल रहा है। अनादिकाल से मोह से युक्त प्राणी के तीन प्रत्यय मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति रूप होते हैं। इससे स्पष्ट है कि मिथ्यात्व और अज्ञानप्रत्यय पृथक्–पृथक् हैं। कल कहा था कि अविरति समाप्त होने के उपरान्त भी अज्ञान प्रत्यय होता है जो मिथ्यात्व से पृथक् है। वह संज्वलनकषाय के उदय में होता है। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान कषाय के उदय सम्बन्धी अविरति तीन प्रकार की होती है। इन तीनों प्रत्ययों में से आत्मा जिस समय जो भाव करता है, वह उस समय उसी भाव का कर्त्ता होता है। गाथा नं॰ ९५ की टीका में इन तीनों प्रत्ययों का स्वरूप बतलाते हुए कहा था कि–**शुद्धात्मादि तत्त्वों के विषय में विपरीत जानकारी रूप जो विकार भाव हैं वह जीव का अज्ञानभाव है और निर्विकार-स्वसंवेदन विपरीतात्मक अविरतिरूप परिणाम है वह जीव का अविरति भाव है और शुद्धजीवादि पदार्थ के विषय में विपरीत अभिप्राय लिए हुए उपयोगात्मक विकारमय-विपरीतश्रद्धान रूप भाव है वह जीव का मिथ्यात्व भाव है।** मिथ्याचारित्र अर्थात् जो चारित्र को न होने दे। वह मिथ्याचारित्र अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषाय रूप होता है। यहाँ यही अविरति परिणाम विवक्षित है। आगम की अपेक्षा यह कथन नहीं है किन्तु अध्यात्मदृष्टि से मोक्षमार्ग में जो भाव नहीं होना चाहिए उनका होना ही मिथ्यापरिणाम है।

इस विषय में **आचार्य ज्ञानसागर जी** द्वारा अनुवादित **समयसार** में इस गाथा के विशेषार्थ में उक्त विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है–''आत्मा जब परमार्थ रूप होता है अर्थात् समाधिस्थ होता है तब वह रागादिभावों से रहित व नवीन ज्ञानावरणादि कर्म के बन्ध से भी रहित होता है। किन्तु समाधि से च्युत होने की दशा में उपर्युक्त तीन प्रकार के परिणामों में से अर्थात् मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र में से जिस किसी परिणाम को करता है, उसी परिणाम का कर्त्ता होता है। समाधि दशा में ज्ञान का कर्त्ता होकर ज्ञानी होता है, पर समाधि से च्युत अवस्था में इससे विपरीत हो जाता है।''

जीव का लक्षण उपयोग–

उपयोग दो भागों में विभाजित है–ज्ञान और दर्शन। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, दर्शन भी आत्मा

का स्वभाव है। आत्मा का लक्षण–**उपयोगो लक्षणम्** कहा है। अतः दर्शन भी आत्मा का लक्षण है। छद्मस्थ अवस्था में कभी ज्ञानोपयोग, तो कभी दर्शनोपयोग होता है। आठ कर्म अंजन रूप हैं, उनके कारण जीव कर्मरूपी अंजन से सहित होता है। अर्थात् मलीमस होता है। परमार्थ से तो आत्मा रागादि भावकर्म मल से रहित होता है और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रूपी अंजन से रहित निरंजन होता है। लेकिन कर्म मलीमस होने से वह अखण्ड एक स्वभाव वाला होने पर भी मिथ्यादर्शनादि तीन विकार रूप परिणमन करता है। जैसा कि **आचार्य जयसेन स्वामी** ने स्वयं तात्पर्यवृत्ति टीका में लिखा है– **चैतन्यानुविधायिपरिणामः उपयोगः तल्लक्षणत्वादुपयोगरूपः जीवः निर्विकारस्वसंवेदन-ज्ञानपरिणामच्युतः सन् तस्यैव मिथ्यात्वादित्रिविधविकारपरिणामस्य कर्त्ता भवति।** अर्थात् चैतन्य परिणमन रूप उपयोग का धारक आत्मा निर्विकार स्वसंवेदन रूप परिणाम से च्युत होता हुआ उसी मिथ्यात्वादि तीन प्रकार के विकारी परिणाम का कर्त्ता होता है।

आज तक एक सेकेण्ड के लिए भी हमारे ज्ञान का प्रवाह रुका नहीं है। उपयोग की धारा जो कभी टूटती नहीं है, यही हमारे अस्तित्व का बोध कराती है। मिथ्यादर्शन जो है वह सम्यग्दर्शन का विरोधी है। मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान का विरोधी है। मिथ्याचारित्र सम्यक्चारित्र का विरोधी है। बाह्य और अभ्यन्तर उपयोग रूप जो धन है वह हमें कभी निर्धन नहीं होने देता। संसार में व्यक्ति दूसरे के धन से अपने को धनी मानता है जबकि प्रत्येक प्राणी के पास उपयोग रूपी निधि है, उसी के माध्यम से यह धनी कहलाता है। चाहे निगोद चला जाये, या स्वर्ग चला जाये। प्रत्येक प्राणी धनी था, है और रहेगा। इसका मूल्य टटोलो। अपने पास वीतरागता रूप अनन्त धन है इससे परिचित नहीं होने से प्रत्येक धनी दूसरे के धन पर टूट रहा है, जड़ धन पर टूट रहा है। लेकिन अपने उपयोग रूपी धन की ओर दृष्टिपात नहीं करता है, यह मोह की माया है। इसी के कारण मिथ्यात्वादि तीन परिणामों को करता हुआ उसका संवेदन करता है। यहाँ पर यह स्पष्ट कहा है कि निर्विकल्प स्वसंवेदन परिणाम से च्युत होने पर मिथ्यात्वादि परिणामों का कर्त्ता होता है न कि द्रव्यकर्मों का कर्त्ता होता है। क्योंकि जीवात्मा चेतन है तो पुद्गल का उपादान कर्त्ता नहीं हो सकता।

उत्थानिका–अब आत्मा के मिथ्यादर्शनादि रूप तीन प्रकार विकारमय परिणाम का कर्त्तापना होने पर कर्मवर्गणा योग्य जो पुद्गल द्रव्य है वह अपने आप ही उपादान रूप से कर्म के रूप में परिणत हो जाता है ऐसा कथन करते हैं–

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं ॥९८॥

अन्वयार्थ– **(आदा जं भावं)** आत्मा जिस भाव को **(कुणदि)** करता है **(तस्स भावस्स)** उस भाव का **(कत्ता सो होदि)** वह कर्ता होता है **(तम्हि)** उसके कर्ता होने पर **(पुग्गलं दव्वं)** पुद्गल द्रव्य **(सयं कम्मत्तं)** अपने आप कर्म रूप **(परिणमदे)** परिणमन करता है।

अर्थ—१. विपरीताभिनिवेश रूप मिथ्यात्व, २. कलुषता रूप अज्ञान, ३. और पर पदार्थों में प्रवृत्तिरूप अविरति इन तीन प्रकार के भावों में से आत्मा जिस भाव को करता है तब उसी भाव का कर्त्ता होता है, किन्तु उसके इस प्रकार विकारी होने से पुद्‌गल द्रव्य अपने आप कर्म रूप में परिणमन कर जाता है।

रागादि भाव कर जीव जभी सुहाता,
तत्काल पुद्‌गल स्वयं विधि रूप पाता।
आकाश में रवि लसे फिर होय वर्षा,
क्यों ना बने सुरधनू सहसा सहर्षा ॥९८॥

व्याख्या—जब आत्मा शुद्ध स्वभाव से च्युत होता है उस समय मिथ्यात्वादि तीन प्रकार के विकारी परिणामों में से जिस प्रकार विकार रूप परिणाम को करता है, उस समय वह उसी विकारी भाव का कर्त्ता होता है और जब आत्मा उक्त परिणामों का कर्त्ता होता है तब कर्मवर्गणा योग्य जो पुद्‌गल द्रव्य है, वह अपने आप उपादान रूप से द्रव्यकर्म रूप में परिणमन कर जाता है।

दृष्टान्त—जैसे गारुड़ आदि मन्त्र को सिद्ध करने वाला एकाग्रचित्त होकर उस मन्त्र को सिद्ध करता है, तब उसके सिद्ध हो जाने पर विषापहार, बंध, विध्वंस या स्त्री विडम्बना आदि जिस उद्देश्य को लेकर वह उस मन्त्र को सिद्ध कर रहा था वह कार्य देशान्तर में उस मन्त्र-साधक के अन्य किसी प्रकार के व्यापार के बिना सिद्ध हो जाता है। उसका अभीष्ट कार्य अनायास ही सम्पन्न हो जाता है। वैसे ही जीव के रागी-द्वेषी होने पर कर्मवर्गणायें अवश्यमेव कर्मरूप में परिणत होकर उसके साथ बन्ध जाती हैं। इस प्रकार कर्मवर्गणाओं के कर्म रूप परिणमन करने में जीव का विकारीभाव साधकतम है, किन्तु जीव को विकारी बनाने में कर्मोदय उदासीन निमित्त है।

जिस समय आत्मा जो भाव करता है, उस समय वह उसी भाव का कर्त्ता होता है। फलतः कर्म योग्य पुद्‌गल कर्म रूप में अपने आप (स्वयं) ही परिणमन कर जाता है। यहाँ 'सयं' शब्द की प्रमुखता है। इससे स्पष्ट होता है कि जीव अपने भावों का कर्त्ता है, उपादान रूप से पुद्‌गल का कर्त्ता नहीं होता। हाँ, कथंचित् केवल निमित्त बन सकता है। जिस प्रकार आपके भावों के निमित्त से कर्म वर्गणायें कर्म रूप परिणत हो सकती हैं, तो उसी प्रकार आपके परिणामों का प्रभाव दूसरे जो चेतन द्रव्य हैं, उनके ऊपर भी पड़ता है। अतः वह जीव आपके भावों का निमित्त पाकर स्वयं सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की आराधना तथा दान आदि में लग जाता है। उसका भी भाग्य खुल जाता है और उसके निमित्त से अन्यों का भी भाग्य खुल जाता है।

दृष्टान्त—जैसे-एक दीपक से कई दीपक जल जाते हैं, उसी प्रकार रत्नत्रय से युक्त साधक जो आत्मतल्लीन होकर ध्यान में बैठे हैं, उनके निमित्त से कई व्यक्ति लाभान्वित हो सकते हैं। इसलिए इसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। इस रत्नत्रय का आप लोग जितना उपयोग करोगे उतना ही कम

है। बड़े-बड़े तीर्थंकर जैसे जितने भी साधक हुए हैं, उन्होंने भी यही काम किया है। **खरबूजा को देखकर खरबूजे का रंग बदल जाता है।** अपने पास सुगन्ध होने से दूसरे भी सुगन्धित हो जाते हैं। दूसरे के पास सुगन्धि पहुँचने से हमारे पास कोई कमी नहीं होती।

गुरुकृपा—हमने यदि किसी पर उपकार किया है तो उसे चुकाना चाहिए, ऐसा भी फालतू अभिमान नहीं करना चाहिए। आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी **बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र** में श्रीधर्मनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं कि–

मोक्षमार्गमशिषन् नरामरान् नापि शासनफलैषणातुरः।

अर्थात् भगवान् ने मोक्षमार्ग का उपदेश दिया लेकिन कोई अपेक्षा नहीं रखी। यदि आपके निमित्त से सामने वाले का अज्ञान दूर होता है तो वह अनन्तगुणों का धनी होगा, ऐसा करुणामय विचार आना चाहिए। लेकिन यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि पात्र की पात्रता के अनुकूल ही देना चाहिए। अन्यथा गड़बड़ हो जायेगा, क्योंकि यदि पचाने की पात्रता नहीं है और ज्यादा खिला देंगे तो भी विपरीत परिणाम निकल जाता है। जो कुछ भी खिलाना-पिलाना हो अवस्था एवं पात्रता के अनुरूप क्रम से होना चाहिए। अन्यथा जो कुछ भी परिश्रम किया जायेगा वह बेकार हो जायेगा। आज इसकी बहुत कमी देखने में आ रही है। अध्ययन भी क्रमिक होना चाहिए, अन्यथा भ्रमित हो जाते हैं। जो व्यक्ति पठनशील, विनयशील और अध्ययनशील हैं उन्हें पढ़ना-पढ़ाना चाहिए। क्योंकि एक बार जो धारणा बन जाती है तो उसे बदलना बहुत कठिन होता है। **एक नेता यदि गलत काम करता है तो उसके पीछे गलत कार्य करने वालों की बड़ी लाइन बनती जाती है।** बहुत शान्ति और निष्कषाय भाव से यह कार्य होना चाहिए। यदि कषाय और अशुभ योग का योग बन गया तो उसी समय कर्मवर्गणायें कर्म रूप परिणमन कर जाती हैं। पहले उदाहरण दिया था, कि सूर्यप्रकाश तथा वर्षा का योग मिलने पर ठीक उसी समय उससे विपरीत दिशा में इन्द्रधनुष का निर्माण हो जाता है, उसे कोई रोक नहीं सकता।

यहाँ **आचार्य जयसेन स्वामी** की टीका में गरुड़मन्त्र का दृष्टान्त देकर कहा गया है कि जिसके पास गरुड़मन्त्र सिद्ध है वह देशान्तर में बैठा हो तो वह मन्त्र के माध्यम से सर्प के विष को दूर कर देता है। अथवा स्त्री से जो मोहित है उसका वह मोह भी उतर जाता है। जो झाड़ा-फूँकी करते हैं वह यही तो है।

संस्मरण—जब हम छत्तीसगढ़ में रायपुर आदि स्थानों पर विहार करते हुए आ रहे थे तब वहाँ के आदिवासी लोग दर्शन करने आए थे। उनसे कुछ चर्चायें हुईं उसी बीच मलेरिया के बारे में चर्चा चली तो उन्होंने कहा—हम लोगों को मलेरिया आ ही नहीं सकता। पूछा—क्यों नहीं आ सकता ? उन्होंने कहा—वैसे तो मलेरिया आ ही नहीं सकता, यदि आ भी जाये तो उसे हम एक-दो दिन में ही ठीक कर लेते हैं। चाँदी के सिक्के, डोर, व्याघ्र के नाखून आदि बाँधे रहते हैं। एक प्रकार से उनके पास अपनी

पवित्र भावना रहती है। मन में किसी प्रकार के विकल्प नहीं रहते हैं, तो प्रभाव पड़ जाता है।

अच्छा मन हो तो मन्त्र अच्छा होता है–

आज मन्त्र सिद्धि इसलिए नहीं होती, क्योंकि मन अच्छा नहीं रहता। लोग कहते हैं– महाराज, कोई अच्छा सा मन्त्र दे दीजिए हमारा कार्य सफल हो जाये। उनको मैं यही कहता हूँ–**अच्छा मन बना लो तो मन्त्र अच्छा हो जाय।** भावों से मन्त्र बनते हैं, मात्र शब्दों से नहीं। आप सभी को विदित है– **आणं ताणं कछु न जाणं सेठवचनपरमाणं।** जिनवाणी का कोई भी शब्द हो, वह मन्त्र बन सकता है, यदि आपके पास अच्छा मन अर्थात् श्रद्धा आस्था से भरा मन हो तो। आज श्रद्धा, आस्था, निष्ठा है ही नहीं। **माला तो फिर रही है, पर मन माला के बाहर घूमता है।** मन की चंचलता से सबसे ज्यादा अस्थिरता होती है। आज के यान्त्रिक युग में न शास्त्रों के प्रति श्रद्धान है, न मन्त्रों के प्रति। मात्र सभी लोग पढ़ते हैं–योगी भी, भोगी भी। लेकिन भिन्न-भिन्न परिणामों के कारण भिन्न-भिन्न परिणाम यानि फल पाते हैं। मन्त्र का प्रभाव यहाँ तक भी हो सकता है कि वह सर्प स्वयं आकर जहर निकाल सकता है। यह सब मानसिक दृढ़ता से होता है। इसमें राम की अपेक्षा रावण अधिक माहिर था। उसकी एकाग्रता अधिक तो थी लेकिन रौद्रध्यान सहित थी, इसलिए कार्यकारी नहीं थी। **आचार्य रविषेण स्वामी** कहते हैं कि–रावण की इतनी अधिक दृढ़ता, स्थिरता और एकाग्रता थी कि मोक्षमार्ग में उसके माध्यम से केवलज्ञान प्राप्त किया जा सकता था।

शुद्धोपयोग एक गरुड़मन्त्र है–

शुद्धोपयोग निश्चयरत्नत्रयात्मक होता है। यदि गृहस्थावस्था में ही शुद्धोपयोग मान लेंगे तो व्यवहार रत्नत्रय की क्या आवश्यकता है? जैसे–पी-एच० डी० की उपाधि मिल गई फिर अध्ययन की क्या आवश्यकता ? शुद्धोपयोग भी एक गरुड़मन्त्र है जो मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति परिणाम रूपी विष को नष्ट कर देता है। उस समय ऐसी परिणति हो जाती है कि मेरा-तेरा आदि सब छूट जाता है। उस समय सम्बन्ध भी छूट जाते हैं। ''मैं किसी का था नहीं, हूँ नहीं और रहूँगा भी नहीं'' इस प्रकार पर पदार्थों के सम्बन्ध रहित परिणाम रहते हैं। सबके बीच रहकर भी ऐसा दृढ़ श्रद्धान रहता है कि लोग मुझे कितना भी चाहें पर मेरा कोई नहीं है, वे स्वस्थ रहते हैं। आज अरहन्तपरमेष्ठी आ जायें तो उन्हें कौन नहीं चाहेगा ? फिर भी वे इतने तटस्थ रहते हैं कि गणधरपरमेष्ठी जो उनके सबसे करीब बैठते हैं तो भी उन्हें आशीर्वाद नहीं देते। कम से कम भगवान् महावीर, गणधरपरमेष्ठी को तो कुछ बताकर मुक्त हो गये होंगे। तभी तो गणधरपरमेष्ठी को केवलज्ञान हो गया होगा, ऐसा यदि कोई कहते हैं तो उन्हें अभी भगवान् की वीतरागता, निःस्पृहता का भान नहीं है, ऐसा समझना चाहिए, किन्तु वे भी स्वयं जानते थे कि जब तक मुझे भगवान् से राग रहेगा तब तक केवलज्ञान नहीं हो सकता। वस्तुतः सभी लोग दीपावली के दिन शाम को जो दीपमालिका लगाते हैं वह भगवान् महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के कारण नहीं, किन्तु गौतमगणधर को केवलज्ञान होने के कारण लगाते हैं।

गृहस्थावस्था में शुद्धोपयोग हो जाये, यह सम्भव नहीं। संज्वलन कषाय का जब तक उदय रहता है, तब तक यथाख्यातचारित्र का थोड़ा-सा भी स्वाद नहीं आ सकता। अतः दसवें गुणस्थान तक संज्वलनकषाय के देशघातिस्पर्धक भी सर्वघाती जैसा काम करते हैं। कषाय की चार चौकड़ी चार प्रकार के चारित्र का घात करती हैं। जैसे-अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्वाचरण चारित्र का, अप्रत्याख्यान देशसंयम का, प्रत्याख्यान सकलसंयम का और संज्वलनकषाय यथाख्यातचारित्र का घात करती है। इसीलिए दसवें गुणस्थान तक यथाख्यातचारित्र प्रकट नहीं होता तथा छद्मस्थ वीतरागी की उपाधि भी नहीं दी जाती। आत्मा का जैसा स्वभाव है वैसा संवेदन होने का नाम यथाख्यातचारित्र है। सकलसंयम लेने के उपरान्त भी, अभी अपने को कितने, संयमलब्धि स्थान को प्राप्त करना है? अभी कितने संयमलब्धि स्थान को प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। हम लाइन में हैं कि नहीं, ऐसा लगता है। भावों के कारण ऐसा चिन्तन आता है-आत्मा का क्या वैभव है ? मैं अभी तक कहाँ भटकता रहा। सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त उसे छटपटाहट लगी रहती है। त्यागी-तपस्वियों को तो हमेशा-हमेशा संयमलब्धिस्थान को बढ़ाने में लगे रहना चाहिए। इसी का पुरुषार्थ करते रहना चाहिए और नम्बर लेते चले जाईये। अन्य और भी जो आ रहे हैं, उन्हें भी आने दो। रणांगन में जब संख्या बढ़ जाती है तो कोई गिर भी गया तो उसे उठाने में समय नहीं खोते किन्तु आगे बढ़ते जाते हैं। पीछे मुड़ो नहीं, आगे चलते जाओ, मोक्ष राज्य ऐसे ही मिलता है।

शुद्धोपयोग का प्रभाव-

शुद्धोपयोगरूपी गरुड़मन्त्र ऐसा है जिसके द्वारा कर्म रूपी सारा का सारा जहर पिघल जाता है। अर्थात् सारे के सारे कर्म शिथिल हो जाते हैं। पूर्वबद्ध कर्म निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं और नवीनकर्म बन्ध को प्राप्त नहीं होते। जैसे-चन्दन के वृक्ष पर कुण्डली मारकर बैठे हुए सर्प, मोर को देखकर इधर-उधर भाग जाते हैं, वैसे ही निर्विकल्पसमाधि के समय शुद्धोपयोग के प्रभाव से कर्मरूपी सर्प इधर-उधर भाग जाते हैं, अर्थात् निर्जरित हो जाते हैं। ऐसे शुद्धोपयोगी मुनिराज के दर्शन करने से मन प्रफुल्लित हो जाता है। विदेहक्षेत्र में आज भी आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त का लड़का खेल-खेल में मोक्षमार्ग का खेल खेलने लग जाता है। फलतः उस छोटी उम्र में केवलज्ञान हो जाता है। शुद्धोपयोग के प्रभाव से ऐसे अनेक अतिशय होते रहते हैं। शुद्धोपयोग अतिशयों का भण्डार है। दादा जी ढूँढ़ते ही रह जाते हैं और नाती तो केवलज्ञानी बन जाता है।

तात्पर्य यह है कि प्रसंग में निश्चय से वीतराग स्वसंवेदनज्ञान का अभाव होना ही अज्ञान है। देखो, इससे ज्यादा स्पष्ट और कौन सी पंक्ति चाहिए। पहले भी कहा था कि भावश्रुतकेवली को वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान होता है। निर्जराधिकार में दो गाथायें आती हैं-

परमाणुमित्तियं पि हु, य रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि ॥२११॥

अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥२१२॥

अर्थात् जिसके रागादिकों का लेशमात्र भी विद्यमान है, तो वह जीव सम्पूर्ण द्वादशांग में पारंगत होकर भी आत्मा को नहीं जान सकता और आत्मा को नहीं जान सकता तो अन्य अनात्मपदार्थों को भी नहीं जान सकता। इस प्रकार जो आत्मा, अनात्मा दोनों को नहीं जानता तो वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता। कल भी कहा था कि जीव थोड़ी भी कषाय करता है तो वह अज्ञानी हो जाता है और आज आचार्य कह रहे हैं कि वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान का अभाव ही वस्तुतः निश्चय से अज्ञान है। इसी अज्ञान के द्वारा नूतन कर्म बँधते हैं।

इस प्रकार स्वतन्त्र व्याख्यान की मुख्यता से छह गाथायें पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे आचार्यदेव यह बतलाते हैं कि वास्तव में वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान का नहीं होना ही अज्ञान नाम से कहा गया है और अज्ञान से ही नूतनकर्म बँधते हैं–

परमप्पाणं कुव्वदि अप्पाणं पि य परं करंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥९९॥

अन्वयार्थ— **(अण्णाणमओ)** अज्ञानमय **(जीवो)** जीव **(परं)** पर को **(अप्पाणं कुव्वदि)** अपने रूप करता है **(य अप्पाणं पि)** और अपने को भी **(परं करंतो)** पररूप करता हुआ **(सो कम्माणं)** कर्मों का **(कारगो)** कर्ता **(होदि)** होता है।

अर्थ—अज्ञानमय संसारी जीव पर को अपनाता है और अपने आपको पर का बनाता है, अतः वह कर्मों का कर्त्ता होता है।

है अन्य रूप करता निज को विमोही,
औ आत्मरूप करता जड़ अन्य को ही।
हा! मूढ़ जीव विधि-बन्धन को जुटाता,
धिक्कार कातर निरन्तर पीर पाता ॥९९॥

व्याख्या—आत्मा और परद्रव्य में परस्पर भेदविज्ञान न होने के कारण आत्मा अपने को पर रूप और पर को अपने रूप करता है। अर्थात् उसे आत्मसात् कर लेता है। कौन करता है ? अज्ञानी। निर्विकल्पसमाधि से बाहर आया नहीं कि कर्म की हवा लग जाती है।

दृष्टान्त—फोटो की जो पॉजीटिव कॉपी बनती है उसे बाहर की ही नहीं अपनी श्वासोच्छ्वास की भी हवा लग जाये तो भी बिगड़ जाती है। प्रकाश या धूप लग जाये तो धुंधली हो जाती है। अतः उसे बहुत सुरक्षित रखा जाता है। आपके जो फोटो हैं वे प्रकाश के अभाव में बन जाते हैं, फिर प्रकाश में आ जाते हैं। इसी प्रकार यहाँ कहा जा रहा है कि निर्विकल्पसमाधि से बाहर आये नहीं कि बाहर की हवा लग जाती है। यह नेचुरली होता है। किसी ने कहा–नमोऽस्तु महाराज ! आप ठीक हैं, तो महाराज

उसे नमोऽस्तु का आशीर्वाद दे देते हैं। इस प्रकार निश्चय से व्यवहार की भूमिका में आ जाते हैं। इस व्यवहार की भूमिका में यदि विषयों का रागांश और कषाय का पुट न रहे तो वह व्यवहार धर्म भी अन्तरंग धर्म की ओर ले जाने वाला होता है। यदि उसमें रागांश रहा तो वह आपको आत्मानुभूति की ओर नहीं ले जा सकता। महाराज से कुछ बोलने पर महाराज जितनी देर तक नहीं बोलेंगे उतनी देर तक धर्मध्यान होता है। इतनी देर तक क्यों नहीं बोल रहे हैं, यह सोचते हैं तो यह भी धर्मध्यान है। धर्म को लेकर अतिसंक्लेश होने पर ऋद्धियाँ भी हो जाती हैं, ऐसा आचार्यों ने कहा है। जैसे–असंयम से बचना है, तत्त्वों में शंका होने पर उसका समाधान करने के लिए अथवा जिन चैत्यालयों की वन्दना करने के लिए जो संक्लेश होता है उससे आहारकऋद्धि उत्पन्न हो जाती है। उसके माध्यम से मुनि समाधान करके आ जाते हैं। वस्तुतत्त्व क्या है ? ऐसा जानना है तो इस प्रकार विचार आ जाते हैं कि जिन्होंने वस्तुतत्त्व को साक्षात् जान लिया है, ऐसे एकाध तीर्थंकर मिल जाते, तो हम भी सब कुछ जान लेते। लेकिन हमारी इतनी पात्रता नहीं है। भावनाएँ तो बहुत हैं, परन्तु इतना पुण्य नहीं है। हमारा इतना सौभाग्य नहीं है कि साक्षात् ऋद्धिधारियों के, केवलियों के दर्शन हो सकें। यह जो भावना बार-बार हो रही है कि हमें ऐसा सौभाग्य कब मिलेगा ? यही भावना संयम की ओर ले जाती है।

परद्रव्य की छाया अपने ऊपर और अपनी छाया परद्रव्य के ऊपर नहीं पड़नी चाहिए। इस छाँव से हमेशा बचने का प्रयास करना चाहिए।

दृष्टान्त—जैसे, कुछ दवाइयाँ निर्मित की जाती हैं तो उन्हें सूर्य की छाया से बचाने के लिए चाँदनी रात में सुखाते हैं तभी वे असर करती हैं। उसी प्रकार परभावों की छाया पड़ी नहीं कि आपका ज्ञान अज्ञान रूप हो जाता है। पर क्या है ? आत्मा को छोड़कर सभी पदार्थ परद्रव्य हैं। यह तो बहुत कठिन है। चाँदनी या छाया के अभाव में दवाई नहीं बन सकती। दवाई के बिना रोग ठीक नहीं हो सकता। बनी बनाई दवाई नहीं मिल सकती, स्वयं को ही बनाना पड़ेगी। एक सेकेण्ड भी यदि पर को याद किया तो गये। यह शुद्धोपयोग ऐसी औषधि है जो जड़ से कर्मरूपी विष को, रोग को समाप्त कर देती है। यह रामबाण औषधि है।

संसारी प्राणी एक-दूसरे को कहता है कि हम आपके भरोसे हैं, हम आपके भरोसे हैं। हम तो आपके हैं, विश्वास रखो। दूसरा कहता है–कि हम आपके हैं, लेकिन वास्तव में कोई किसी का नहीं है। शुद्धोपयोग की छाँव प्राप्त करना चाहते हो तो–

एकोऽहं शाश्वतो आत्मा, ज्ञानदर्शनलक्षणः।
शेषाः बहिर्भवाः भावाः, सर्वे संयोगलक्षणाः॥

अर्थात् मैं एक हूँ, शाश्वत हूँ, ज्ञानदर्शन लक्षण वाला आत्मा हूँ, शेष सभी बाह्य पदार्थ संयोग लक्षण वाले हैं। यह भावना भाओ, अपने आपको अनाथ मत मानो, क्योंकि तेरे पास भी अनन्त वैभव है। दूसरी बात, पर्यायदृष्टि से विचार करें तो अपने आपको अनाथ भी मानना आवश्यक है, क्योंकि

अपने को अनाथ नहीं मानोगे तो त्रिलोकीनाथ बनने या आत्मवैभव को प्राप्त करने का प्रयास ही नहीं करोगे। तीर्थंकरों की साधना ऐसी होती है कि वे जब तक छद्मस्थ अवस्था में रहते हैं तब तक किसी को आशीर्वाद नहीं देते। आँख उठाकर देखना तो बहुत दूर की बात है, कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष तक किसी को नहीं देखते। उनके सामने नासादृष्टि का एवं उपयोग की एकाग्रता का ऐसा सॉयवान या पर्दा रहता है कि जिसमें कोई प्रवेश नहीं कर सकता। भगवान् ने चलते समय चार हाथ नीचे देखने को कहा है और उस चार हाथ की दृष्टि में इधर-उधर की कोई भी वस्तु नहीं आती। तीर्थंकर की आहारविधि के बारे में मत सोचो, वह तो एक अपवाद है क्योंकि उनका इतना अधिक पुण्य रहता है कि अन्तराय का कोई काम ही नहीं है। हम भी जब शुद्धोपयोग की भावना से नीचे आते हैं, उस समय आशीर्वाद देते हैं तो वह एक प्रकार से ज्ञानी का नहीं किन्तु अज्ञानी का आशीर्वाद मिलता है, ध्यान रखो। क्योंकि वह प्रमाद की दशा का प्रतीक है।

सामान्यतः व्यक्ति दर्शनमोहनीय के उदय से अपने आपको इस शरीर रूप मानता है। ''मैं ठण्डा हूँ, गर्म हूँ'' इस प्रकार संवेदन करता है। वेदकर्म के उदय से आत्मा को स्त्री, पुरुष रूप जानता है और मनुष्यगति नामकर्म के उदय से स्वयं को मनुष्य रूप अनुभव करता है। ध्यान रखो, शुद्धोपयोग ऐसे विचारों के साथ नहीं होता, किन्तु वह तो तब होता है जब बहुत गहरे जाकर कर्मफल से हटकर आत्मतत्त्व में उपयोग लग जाता है। इसलिए उन क्षणों का बहुत अधिक महत्त्व होता है। शुद्धोपयोग की, निर्विकल्पसमाधि की और अध्यात्म की जैसी महिमा **समयसार** में **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने गाई है वैसी अन्यत्र नहीं मिलती। **आचार्य पूज्यपाद स्वामी** के भी कुछ ग्रन्थ **इष्टोपदेश**, **समाधितन्त्र** इत्यादि अध्यात्मपरक हैं। अध्यात्म का चिन्तन करते-करते भी कर्म का उदय जब आता है तो उसका रंग चढ़े बिना नहीं रहता। पता ही नहीं चलता कि कर्मोदय से भावों में परिवर्तन कब आ गया ? कब कर्मोदय का रंग चढ़ गया ? जैसे-काजल की कोठरी में कोई भी व्यक्ति जाये तो दाग लगे बिना नहीं रहता। वैसे ही कर्मोदय की बात है। सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्तिम क्षण में भी सूक्ष्मलोभ, जो कि अनन्तवें भाग रूप है फिर भी उसका उदय आने के कारण यथाख्यातचारित्र का अनुभव नहीं हो पाता है। कैसा प्रभाव है कर्मोदय का ? कर्मों के उदय के साथ सुख का संवेदन किया है तो जीव उसी का कर्त्ता-भोक्ता रहा है।

दृष्टान्त—जैसे, आपको कभी-कभी ज्वर की स्थिति में भी भले ही ऊपर से ज्वर जैसा नहीं लग रहा हो, शरीर ठण्डा हो, भोजन में रुचि नहीं हो, कुछ खाया-पीया नहीं जा रहा हो। किसी काम में मन नहीं लग रहा हो, फिर भी नाड़ी बता रही है कि आपको बुखार है। इसी प्रकार निर्विकल्पसमाधि से नीचे आये नहीं कि प्रमाद का बुखार चढ़ गया। किसी को कम, किसी को ज्यादा चढ़ता है। जिन्हें कम बुखार चढ़ता है उन्हें पता नहीं चलता कि बुखार है। लेकिन यह तो निश्चित है कि वह इस समय स्वस्थ अवस्था का अनुभव नहीं कर सकता। प्रमाद की अवस्था में स्वस्थतत्त्व की अनुभूति नहीं हो सकती।

मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इस प्रकार का भाव होता है तो स्वस्थता की अनुभूति कैसे हो सकती है ? आज तो इतना ही बन जाये कि ध्यान की अवस्था में मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध रहे, रागद्वेष न हों, और जो शुद्धोपयोग में लीन हैं उनका ध्यान करना, प्रशंसा करना, अनुमोदना करना हो जाये तो यह भी धर्मध्यान हो जायेगा। इसी से आर्त्तध्यान से बच सकेंगे। लेकिन दुर्भाग्य है कि दुनियादारी की बातों से फुर्सत ही नहीं है। पंचपरमेष्ठी की स्तुति तो दूर रही किन्तु इधर-उधर की उलझनों में लगे रहते हैं। भले ही अकेले बैठे रहते हैं। बूढ़े दादा भी हो जाते हैं फिर भी यह चिन्ता कि-मेरा बेटा अभी लाइन में नहीं लगा है, यह विकल्प बना रहता है और विकल्पों के साथ यात्रा चल रही होती है। उस यात्रा में मोह के कारण, घर में बड़ा होने के कारण, अपने को बड़ा व्यक्ति मानता है, स्वामित्व का विकल्प करता है। इसलिए कर्त्ताकर्म-अधिकार में कहा है-**पर पदार्थों से स्वामित्व को जोड़ने का प्रयास मत करो, तो बेड़ा पार हो जायेगा। एक दिन कहा भी था, उस बात को याद रखो—मैं किसी से उलझता नहीं।**

उपयोग को धारण करने वाला अज्ञानी जीव स्वयं को पर के रूप में और पर को स्व के रूप में स्वीकार करके असद्विकल्प करता है, लेकिन इसके ठीक विपरीत ज्ञानी की परिणति होती है अर्थात् ज्ञानी जीव स्व को स्व और पर को पर समझता है। इस प्रकार जो वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान से परिणत होता है, उसे बन्ध नहीं होता, किन्तु जो मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इस प्रकार के भावों में परिणत होता है वह कर्मों का कर्त्ता होता है।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि वीतराग-स्वसंवेदनज्ञान के प्रभाव से जीव को कर्मों का बन्ध नहीं होता-

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि ॥१००॥

अन्वयार्थ— (जीवो) जो जीव **(अप्पाणं परं अकुव्वं)** अपने को पर रूप नहीं करता **(य परं अप्पाणं पि)** और पर को अपने रूप भी **(अकुव्वंतो)** नहीं करता **(सो जीवो)** वह जीव **(णाणमओ)** ज्ञानमय है और वह **(कम्माणं अकारगो)** कर्मों का करने वाला नहीं **(होदि)** होता है।

अर्थ—जो जीव किसी प्रकार भी पर को अपने रूप और अपने आपको पर रूप नहीं करता वह ज्ञानी होता है और नूतन कर्मों का करने वाला नहीं होता।

जो अन्य को निजमयी करता नहीं है,
औ आपको परमयी करता नहीं है।
ज्ञानी वही मुनिवशी सुख बीज बोता,
ना कर्मबन्ध करता निज लीन होता ॥१००॥

व्याख्या—आचार्य देव ने ९९ नं० की गाथा में अज्ञानी जीव और इस गाथा में ज्ञानी जीव का

स्वरूप बताते हुए कहा है कि जो कोई आत्मा के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ से सम्बन्ध रखते हुए संकल्प-विकल्प रूप परिणाम का धारक होता है वह नूतन कर्म का बन्ध करने वाला अज्ञानी जीव कहलाता है, किन्तु जो बाह्य पदार्थ के विषय में किसी भी प्रकार के संकल्प-विकल्प से रहित होकर अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभव स्वरूप समाधि में लीन हो जाता है, वह ज्ञानी जीव कहलाता है। जो कि नूतनकर्म बन्ध करने वाला नहीं होता।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि के भी मोह की विचित्रता—

जो अपनी आत्मा को पर रूप और पर को स्व-रूप नहीं करता वह कर्मों का कर्त्ता नहीं होता है। वह कौन है ? यह बता रहे हैं। यह वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी होता है। यह कहना बहुत सरल है कि बाह्य में जो देहादि हैं ये मेरे नहीं हैं और शरीर से पृथक्भूत जो द्रव्य हैं वे तो ऐसे ही पृथक् दिखने में आते हैं। लेकिन पुराणों में उदाहरण मिलता है कि—क्षायिक सम्यग्दृष्टि राम, भ्रातृप्रेम के कारण भाई लक्ष्मण को, जो कि मृत थे, फिर भी वे उन्हें खिलाते हैं, पिलाते हैं, नहलाते हैं, धुलाते हैं, आदि आदि। यह एक-दो दिन या बारह-तेरह दिन नहीं, किन्तु छह महिने तक हुआ। आप लोग जो तेरह दिन बाद करने योग्य घर के सभी कार्य करने लग जाते हैं पर ये अप्रत्याख्यानकषाय के तीव्रोदय में छह महिने तक लेकर घूमते रहे। क्षायिकसम्यग्दृष्टि होने पर भी यह कैसा ? कौन-सा विकल्प है ? आचार्य कहते हैं—मोह के कारण, स्वसंवेदन के अभाव में यह सब होता है। यह ज्ञानमय परिणाम नहीं है। मोह से युक्त होने पर अज्ञानप्रत्यय होने से वीतराग-स्वसंवेदन के अभाव में यह परिणति घटित होती है। देहादि को पृथक् समझते हुए भी अप्रत्याख्यान कषाय का तीव्रोदय होने पर ऐसी परिणति होती है। कुछ लोग कहते हैं कि चतुर्थ आदि गुणस्थानों में कर्मों का बन्ध नहीं होता, लेकिन उन्हें सोचना चाहिए कि चतुर्थ आदि गुणस्थानों में भी रागद्वेषादि कर रहे हैं कि नहीं, तो ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के बन्ध का कर्त्ता होगा कि नहीं ? जो रागादि भाव नहीं करता वह कर्मबन्ध भी नहीं करता है। **भेदविज्ञान के बल से बुद्धिपूर्वक कर्त्तव्य करने की भूमिका में ''मैं नहीं करता हूँ'' ऐसा नहीं कह सकते हैं। हाँ, जहाँ होने रूप क्रिया नहीं है वहाँ तो ठीक है।** वज्रवृषभनाराचसंहनन होने के कारण लक्ष्मण के शरीर में गन्ध न आयी हो, शरीर में कोई परिवर्तन न हुआ हो, अथवा मोह के कारण उसे गौण कर दिया हो और छह महिने तक यही चला। निर्मल आत्मानुभूति रूप जो भेदविज्ञान होता है तब कर्म का कर्त्ता नहीं होता है। बाहर से हाथ पर हाथ रखने के उपरान्त भी रागादि का अभाव नहीं कहा जा सकता। त्रस जीव जैसे ठण्डी-गर्मी से बचने का प्रयास करते हैं, वैसा स्थावरों में नहीं देखा जाता। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उनके कषाय या रागादि नहीं हैं। **गोम्मट्टसार जीवकाण्ड** में कहा है—

अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भावकलंकसुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति ॥१९७॥

अर्थात् अनन्तनिगोदिया जीव हैं, उनकी कषाय की तीव्रता होने के कारण वे निगोदवास को नहीं

छोड़ पाते। उसी प्रकार बाहर से कोई शान्त बैठा है तो उसके अन्दर भी शान्ति है या उसके अन्दर कुछ अशान्ति नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। जब तक हम प्रवृत्ति में रहते हैं या परमसमाधि में लीन नहीं होते हैं तब तक कर्मों का प्रभाव तद्रूप ही पड़ता है। स्त्रीवेद, पुरुषवेद आदि कर्म के उदय में यह सहज ही अनुभव में आता है कि मैं स्त्री हूँ, मैं चल रही हूँ, बैठ रही हूँ और जो पुरुष हैं वे, मैं कर रहा हूँ, मैं बोल रहा हूँ। यह किसी ने सिखाया नहीं है। लेकिन कर्मोदय में ऐसा सहज परिणमन होता है। फलतः वह अपने आपको स्त्री या पुरुष मानता है। वेदकर्म का प्रभाव जबरदस्त होता है। द्रव्यवेद और भाववेद में साम्य एवं वैषम्य दोनों होते हैं। अर्थात् कोई द्रव्य-भाव दोनों की अपेक्षा स्त्रीवेद वाला हो सकता है या दोनों वेद से पुरुषवेदी भी हो सकता है अथवा कोई द्रव्यवेद से पुरुष या स्त्री किन्तु भाव की अपेक्षा स्त्री या पुरुष हो सकता है। इसी प्रकार नपुंसकवेद के साथ भी लगा लेना चाहिए। यहाँ द्रव्यवेद का अर्थ बाह्य लिंग आपेक्षित है। जो बाह्य में पुरुषलिंगी है, लेकिन भाव से स्त्रीवेदी या नपुंसकवेदी है तो उसे मुनि बनने के बाद भी मनःपर्ययज्ञान, परिहारविशुद्धि संयम, आहारकऋद्धि आदि नहीं हो सकते। यह कर्मसिद्धान्त है, क्योंकि स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय में विचारों की दृढ़ता नहीं होती। फलतः ऋद्धि उत्पन्न होने के योग्य उग्र तपादि अनुष्ठान नहीं हो पाता। यह विशेषता है कि वह क्षपक श्रेणी मांढ सकता है लेकिन मनःपर्ययज्ञान आदि प्राप्त नहीं कर सकता। इसका कारण क्या है? इस बारे में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वेद के कारण उसके उपयोग में कहीं न कहीं शैथिल्य विद्यमान रहता है। ऋद्धियाँ अलग वस्तु हैं, इनके द्वारा बहुत अधिक मार्गप्रभावना होती है। जिनके जीवनकाल में स्त्रीवेद, नपुंसकवेद का उदय होता है, वे क्षपकश्रेणी पर आरोहण करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन उनको केवलज्ञान होने पर समवसरण की रचना नहीं होती। यह ध्यान रखो। क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने के लिए बाहर से वातावरण तैयार नहीं करना पड़ता, किन्तु भीतर ही भीतर सब कुछ उपक्रम करना अनिवार्य होता है। कुछ लोगों की ऐसी दृष्टि बनी रहती है कि मोक्षमार्ग में बाहरी सामग्री की बहुत आवश्यकता होती है। जबकि आचार्य कहते हैं कि-**प्रथम दृष्टिकोण में मोक्षमार्ग बाहर कम, भीतर अधिक है, फिर कुछ समय उपरान्त द्वितीय दृष्टिकोण में मोक्षमार्ग भीतर ही भीतर है, बाहर है ही नहीं।**

कहाँ प्रवृत्ति, कहाँ निवृत्ति ?—

एक से छह गुणस्थानों तक प्रवृत्ति में प्रमाद रहता है। सातवें गुणस्थान में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों होती हैं, लेकिन आठ से चौदहवें गुणस्थान तक निवृत्ति ही होती है। वहाँ शुक्ललेश्या ही रहती है, शुक्लध्यान होता है। कषाय करने रूप प्रवृत्ति पूर्ण रूप से मिट जाती है। मैं किस गुणस्थान में हूँ यह ध्यान या विकल्प भी नहीं रहता। जिनको अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञान होता है वे उसका प्रयोग छठवें गुणस्थान में कर सकते हैं, आगे नहीं। लेखन आदि की क्रिया में छठवाँ-सातवाँ दोनों गुणस्थान रूप प्रवृत्ति होती है। अष्टम आदि गुणस्थानों में प्योर मतिज्ञान श्रुतज्ञान का उपयोग रहता है।

अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान का क्षयोपशम तो रहता है पर उपयोग नहीं करते। इन गुणस्थानों में अपने आपको स्त्री-पुरुष आदि रूप अनुभव नहीं करते। क्योंकि वहाँ सामान्य ज्ञान होता है, वहाँ **स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः।** अर्थात् योगी जब योग में तत्पर रहता है तो अपनी देह को भी नहीं जानता, यह स्थिति रहती है।

जब व्यक्ति देहप्रत्यय को नहीं छोड़ पाता तब ध्यान के अभाव में **किमिदं कीदृशं कस्य, कस्मात् क्व** इत्यादि से छानबीन करता है। जिसके पास वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान होता है, तो रागादि भावों का कर्त्ता नहीं होने से ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्त्ता नहीं होता क्योंकि वह ज्ञानी है।

जिज्ञासा—महाराज, उपयोग के द्वारा कर्म नहीं बँधते किन्तु मोह के कारण कर्म बँधते हैं, ज्ञान के द्वारा बन्ध नहीं होता। इसलिए ज्ञानधारा अलग अपना काम करती है और कर्मधारा अलग काम करती है, ऐसा मानना चाहिए क्या ?

समाधान—नहीं, आचार्य कहते हैं कि ऐसा मानना सही नहीं है। यदि किसी उपयोग से बन्ध नहीं होता, ऐसा मानेंगे तो अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग इनमें से किसी के द्वारा बन्ध नहीं होता, ऐसा मानना पड़ेगा। मोह का उपयोग से हटकर एकान्त से अलग ही साम्राज्य है, ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि मोह रूप परिणमन कौन करता है एवं बंध क्यों होता है ? यह बताओ ?

उत्थानिका—आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी स्वयं आगे की गाथा में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं–

तिविहो एसुवओगो अस्स वियप्पं करेदि कोहो हं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥१०१॥

अन्वयार्थ— **(तिविहो)** पूर्वोक्त तीन प्रकार के **(एसुवओगो)** उपयोग वाला आत्मा **(कोहोहं)** मैं क्रोध रूप हूँ ऐसा **(अस्सवियप्पं)** असत्य विकल्प **(करेदि)** करता है इसलिये **(सो)** वह (आत्मा) **(तस्सुवओगस्स)** उस उपयोग रूप **(अत्तभावस्स)** अपने भाव का **(कत्ता होदि)** कर्ता होता है।

अर्थ—पूर्वोक्त मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरतिरूप विकार भाव को धारण करने वाला आत्मा ऐसा असत्य विकल्प करता है, कि मैं क्रोध स्वरूप हूँ, इत्यादि, उस समय वह अपने उस भाव रूप उपयोग का करने वाला होता है। (जो शुद्ध स्वभाव का आधार लेता है, तो कर्मबन्ध नहीं होता, किन्तु यदि कर्मबन्ध हो रहा है तो शुद्ध स्वभाव का आधार नहीं लिया जा रहा है, यह स्पष्ट है।)

मिथ्यादि रूप ढलता उपयोग गाता,
मैं क्रोध हूँ सतत यों रट है लगाता।
कर्त्ता अतः वह निजी उस भाव का है,
ज्ञाता नहीं विमल निर्मल भाव का है ॥१०१॥

व्याख्या—आत्मा और क्रोध के मध्य भेदविज्ञान के अभाव में निर्विकल्पसमाधि से भ्रष्ट होता

हुआ संसारी आत्मा मैं क्रोध हूँ, इत्यादि रूप से अपने आपमें विकल्प उत्पन्न करता है। उस समय वह अशुद्ध निश्चयनय से उसी क्रोधादि रूप अपने आत्मपरिणाम का करने वाला होता है। इस गाथा में क्रोध के साथ मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, पाँचों इन्द्रियाँ आदि को क्रम से लगाकर इसी प्रकार व्याख्यान करना चाहिए। जैसे–मैं मान हूँ, माया हूँ, लोभ हूँ इत्यादि। यहाँ आचार्य देव क्रोधादि सभी प्रकार के विकारी भावों को कर्मबन्ध करने वाला बता रहे हैं और जो कर्मबन्ध से दूर रहना चाहते हैं, उन्हें सभी विकल्पों से दूर रहने की शिक्षा दे रहे हैं।

उक्त मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति रूप परिणाम उपयोग में ही होते हैं अतः अज्ञान के कारण जीव का क्रोधादि रूप परिणमन नूतन कर्मबन्ध का करने वाला होता है। सामने वाला दूसरा कोई क्रोध करा रहा हो और अज्ञानी शान्त बैठें, यह हो नहीं सकता।

दृष्टान्त–जैसे, किसी व्यक्ति को ज्वर आया है तो उसे थर्मामीटर से मापा गया। व्यक्ति को कितना ज्वर है ? इसका मापक या ज्ञापक यन्त्र होता है थर्मामीटर। थर्मामीटर से ज्वर मापने के उपरान्त उसे यूँ झटका दो तो थर्मामीटर का ज्वर चला जाता है, लेकिन व्यक्ति को झटका दो तो ज्वर नहीं उतरता है। जापान आदि का थर्मामीटर एक्यूरेट जितना ज्वर है, उतना बताता है। भारत के थर्मामीटर में थोड़ा बहुत फर्क रह सकता है। तभी तो कभी-कभी दुबारा लगाना पड़ता है। जिस तरफ का श्वांस चलता है, उसी तरफ से ज्वर नापना चाहिए, ऐसा कहते हैं। ज्वर होने के बाद भी व्यक्ति कहे कि मुझे ज्वर नहीं है, क्या यह सच है ? उसी प्रकार जीव रागद्वेष करे और कहे कि मुझमें रागद्वेष नहीं हैं। क्रोध कर रहा हो और कहे कि मैं क्रोध नहीं कर रहा हूँ। इत्यादि सब कहना गलत है। हाँ, क्रोधरहित स्वभाव का ज्ञान होना अलग है, उस पर श्रद्धान करते हुए कहना कि "मैं क्रोध स्वभाव वाला नहीं हूँ" अतः स्वभाव की अपेक्षा कहना अलग है, सत्य है। आप गलत नहीं कर रहे हैं तो आपको कोई दण्ड भी नहीं मिलेगा। लेकिन यदि आपको कर्म का फल दुःख रूप में मिल रहा है तो इसका मतलब है कि आपने कभी न कभी कोई गलत कार्य किया था। कर्मोदय का फल–हमें हमारा इतिहास बताता है। वर्तमान में जो घटना घट रही है, उसमें स्वयं के द्वारा पूर्व का किया हुआ ही कर्म उदय में आकर कारण होता है। आपका इतिहास स्वयं आपके द्वारा पठनीय है, इसलिए कर्म के उदय में ज्ञानी कुछ कहता नहीं है, क्योंकि वह समझता है कि पूर्व में मैंने किया था तभी तो उदय में आ रहा है इसलिए वहाँ से उपयोग हटा देता है।

जिसको बुखार चढ़ जाता है वह व्यक्ति बड़बड़ाने लगता है। वैयावृत्ति करने वालों पर गुस्सा कर देता है और यदि सामने वाला कुछ जबाव दे दे तो क्रोध रूपी ज्वर का पारा और चढ़ सकता है। यह मस्तिष्क में जो ज्वर चढ़ जाता है तो वह भव-भव में आता रहेगा। जैसे ज्वर बार-बार आ जाता है वैसे ही नरक आदि किसी भी गति में चला जाये तो वहाँ भी क्रोध का ज्वर बार-बार आ जाता है। सुबह से शाम तक कौन-कौन से परिणाम होते हैं, इसको देखो...सोचो सो सही। कर्म के उदय में तद्रूप

परिणमन होता रहता है। प्रतिकूल कार्य हो जाता है तो पारा चढ़ जाता है तथा अनुकूल होता है तो फूल जाता है, लेकिन सम्यग्दृष्टि, अध्यात्मवेत्ता इन सब विकल्पों से बहुत ऊपर उठने की कोशिश करता है। जब कोई कार्य नहीं हो पाता है तो सोचता है कि यह कर्म का स्वभाव है। मैं बुद्धिपूर्वक इसमें कुछ न करूँ, इतना ही पुरुषार्थ कर सकता हूँ।

जड़ पदार्थ को कभी क्रोध नहीं आता—

क्रोध भाव्य है, आत्मा भावक है। क्रोध होगा तो आत्मा क्रोधी होगा अन्यथा नहीं। क्रोध स्वयं क्रोधी नहीं होता। जड़ कभी क्रोधी नहीं होता। आप चेतन होकर जड़ पर क्रोध करते हैं लेकिन जड़ पर आप क्रोध करो तो भी जड़ पदार्थ आपसे कुछ नहीं कहता, क्योंकि वह जड़त्व स्वभाव वाला अर्थात् ज्ञानसंवेदन चेतना से रहित स्वभावा वाला है। प्रायः लोग जड़ पदार्थ पर क्रोध कम करते हैं, किन्तु जीव सामने आ जाता है तो उस पर टूटते हैं। हम क्रोध पर नहीं टूटते किन्तु क्रोधी पर टूटते हैं। आचार्य कहते हैं कि यही अज्ञान है। ज्ञानी यह समझता है, कि क्रोध करना अज्ञान है अतः क्रोध नहीं करता। इसलिए वह तत्सम्बन्धी कर्म का कर्त्ता नहीं होता। लेकिन आत्मा और क्रोध के बीच भेदविज्ञान के अभाव में क्रोध, मान, माया, लोभादि सोलह भावों रूप परिणमन करता रहता है। इतना ही नहीं किन्तु सर्वज्ञ के ज्ञान में आत्मा के ये विक्षिप्त रूप क्रोधादि विकार परिणाम जो कि असंख्यात लोकप्रमाण भेद को लिए हुए हैं, वे सभी दिखते हैं। एक लोक में असंख्यातप्रदेश होते हैं और ऐसे असंख्यात को असंख्यात से गुणा करने पर जो फल आता है वह है असंख्यातलोकप्रमाण। इतने प्रमाण विभाव परिणतियाँ, विक्षिप्ततायें अपने में भरी पड़ी हैं, फिर भी संसारी प्राणी अपने आपको ज्ञानी, होशियार समझता है। एक कोई व्यक्ति पागल है, उसको जानने वाला भी पागल हो सकता है, क्योंकि यह भी एक विक्षिप्तता है। अभी यहाँ कोई भी स्वरूपस्थ नहीं है। कोई धन के कारण, कोई कषाय के कारण, कोई अज्ञान के कारण अन्धा हो रहा है। इस अज्ञानमय बुद्धि का कोई ट्रीटमेण्ट अर्थात् उपचार नहीं हो रहा है।

अन्धत्व कई प्रकार का होता है। जैसे—मदान्ध, विषयान्ध, ज्ञानान्ध आदि। अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होना ही अन्धत्व है। आँखों के द्वारा भीतर नहीं देखा जा रहा है इसलिए उस अन्धत्व के कारण उथल-पुथल भावों में होती रहती है। पुरुषार्थ करके प्रयोग करके भी कथंचित् हम भावों के कर्त्ता नहीं हो सकते, क्योंकि कर्म का जैसा उदय होगा वैसा परिणाम होगा। हम यदि सोचें कि हम ये ही भाव करेंगे तो यह नहीं हो सकता है। उपयोग में जो भी परिणतियाँ आती हैं, वे सारी की सारी कर्मोदय के कारण आती हैं। **आचार्य वीरसेन स्वामी** ने **धवला** में स्पर्शन के प्रकरण में और नवमी पुस्तक में भी कहा है कि जब तक स्वभाव की प्राप्ति नहीं होगी तब तक छद्मस्थ अवस्था में जो कुछ भी उपयोग में हलचल मच रही है, वे सारी की सारी कर्म की दशायें हैं, उनसे बच नहीं सकते।

दृष्टान्त—जैसे दर्पण में वस्तु का जैसा बिम्ब पड़ गया तो उस वस्तु को हटाये बिना उसे हटा

नहीं सकते। आपका बिम्ब बन गया हो तो उसे भी हटा नहीं सकते। यदि आप खिसक जाओ तो वह अपने आप हट जायेगा। जैसे शाम को सूर्यास्त होने को है आप उस समय पूर्व दिशा की ओर जा रहे हैं तो छाया आपके सामने पड़ेगी। आप कितना भी सोचें कि छाया पीछे हो जाये तो वह छाया कहती है कि तुम पश्चिम की ओर मुख कर लो तो मैं पीछे की ओर हो जाऊँगी। जिस प्रकार आप छाया को नहीं हटा सकते, पश्चिम की ओर मुख करने पर ही बच सकते हैं। उसी प्रकार छद्मस्थ अवस्था में जो कोई परिणाम हुए हैं, हो रहे हैं, उन्हें मिटा नहीं सकते, किन्तु उन्हें मिटाने के लिए अपने उपयोग की दशा को परिवर्तित करना आवश्यक है।

कर्म यथानाम फल देने में नहीं चूकता—

स्वभाव का चिन्तन अलग है और संवेदन अलग है। मोह का अभाव होने पर यथाख्यातचारित्र अर्थात् आत्मा का स्वरूप जैसा कहा है जैसा आख्यात है, वैसा ही ज्यों का त्यों प्रकट होता है। संज्वलन सूक्ष्मलोभ भी सर्वघाती सिद्ध होता है, क्योंकि जब तक इसका उदय होता है तब तक यथाख्यातचारित्र प्रकट नहीं होता।

लघुतत्त्वस्फोट में **आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी** कहते हैं—हे भगवन्! मैंने अज्ञान दशा में जो विष के बीज बोये हैं, वह फला-फूला घना वृक्ष बना है तथा बीज के अनुरूप ही फल होंगे, लेकिन भक्त कहता है कि हे भगवन् ! ऐसा कुछ हो जाये कि इस जीवन में मुझसे वह विष फल न खाना पड़े किन्तु कर्म यथानाम फल देने में चूक नहीं सकता।

कर्मोदय के दो रास्ते—

कर्मों के उदय में आने के दो रास्ते हैं—१. स्वमुख से, २. परमुख से। यदि स्वमुख से कर्मोदय में आता है तो उसमें कुछ पुरुषार्थ नहीं कर सकते। वह हानिकारक ही सिद्ध होता है, लेकिन जो परमुख से कर्मोदय होता है उसमें ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध बनाने का अवसर होता है। जो कर्म जैसी प्रकृति से बंधा है, वैसी ही प्रकृति से उसका उदय होना स्वमुखोदय कहलाता है तथा जो कर्म परप्रकृति रूप होकर उदय में आता है वह परमुखोदय कहलाता है। जैसे—अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायों का संज्वलन कषाय रूप होकर उदय में आना परमुख उदय है, किन्तु अनन्तानुबन्धी कषाय का प्रथम द्वितीय गुणस्थान में उसी रूप उदय में आना स्वमुख उदय है। यदि कोई मुनि के अनन्तानुबन्धी का स्वमुख उदय आ जाये तो वह धड़ाम से नीचे प्रथम गुणस्थान में गिर जायेगा। संज्वलन के उदय के कारण यथाख्यातचारित्र का दर्शन नहीं हो सकता।

दृष्टान्त—जैसे, किसी ने विष का बीज बोया है तो वह फलने पर विषफल ही देगा। धतूरे की औषधि बना दी तो वह रोग को मिटाने का कारण तो बनेगा लेकिन वह विष अमृत रूप तो नहीं हो सकता। वह विष जो है वह मारक सिद्ध नहीं हो रहा किन्तु अमृत का काम भी नहीं कर सकता। वह इस जीवन को समाप्त नहीं कर सकता, लेकिन कोई भूल से भी सामान्य विष का सेवन कर ले तो

वह जीवन को समाप्त कर सकता है, लेकिन जिस विष की मारक शक्ति को कम कर दिया गया है वह अपना प्रभाव मारकशक्ति के रूप में नहीं दिखा सकता। इसी तरह कषाय की शक्ति कम करते-करते सूक्ष्मसंज्वलन कषाय रूप में हो गई तो भी वह यथाख्यात का दर्शन नहीं करा सकती। हाँ, चारित्र से भ्रष्ट भी नहीं कर सकती, यह भी निश्चित है।

चुटकी बजाते-बजाते कर्मफल दे सकता है—

हमने पूर्व में दर्शनावरणीय कर्म का ऐसा बन्ध किया है कि आज हमें साक्षात् अरहन्त भगवान् के दर्शन नहीं हो पा रहे हैं। भगवान् की साक्षात् दिव्यध्वनि भी नहीं सुन पा रहे हैं, इतना पुण्य ही नहीं है। कहाँ से लायें इतना पुण्य... भीतर जो होगा वही तो बाहर आयेगा। कर्मसिद्धान्त का एक विषय है उसके बारे में बार-बार सोचना चाहिए कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के बाद कर्म में अन्तःकोड़ाकोड़ी की स्थिति बंधती है, उतनी ही सत्ता में शेष रहती है और अन्तःकोड़ाकोड़ी स्थिति रूप नवीन बन्ध की आबाधा अन्तर्मुहूर्त पड़ती है। कोई भी सम्यग्दर्शन की भूमिका में छठवें-सातवें गुणस्थान वाले मुनिराज भी हों तो उनके भी अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण कर्मस्थिति का बन्ध होता है तो उसकी आबाधा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है। तात्पर्य यह है कि अन्तर्मुहूर्त काल बाद उस नवीन कर्म का उदय सम्भव है, रास्ता खुल जाता है। तो त्यागी, तपस्वी हैं उनके जो प्रशस्त अनुभाग बंधता है, अन्तर्मुहूर्त बाद ही उसे उपयोग में ला सकते हैं। उसके कारण उसका जीवन बहुत सुखमय बन सकता है। उसी प्रकार चतुर्थ और पंचमगुणस्थान में अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान कषाय का उदय रहते हुए वहाँ भी अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त नवीन बंधा हुआ कोई भी प्रशस्त कर्म उदीरित होकर काम में आ सकता है। भूमिका के अनुसार कर्मसिद्धान्त अपना फल देता है, इस पर विश्वास रखना चाहिए। इतनी अल्प अवधि में बीज बोकर फल प्राप्त करने का सौभाग्य अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकता। जब आज आप खेत में कोई बीज बोते हैं तो कुछ महिने बाद ही ज्वार, गेहूँ आदि के रूप में फल मिलता है, लेकिन यहाँ तो चुटकी बजाते-बजाते कर्म उदय में आकर अपना फल दे सकता है। हमें यह ज्ञात नहीं होता पर आगम के अनुसार यह निश्चित है।

प्रदेशोदय के बारे में वर्णन आता है कि किसी ने तीर्थंकर प्रकृति का अन्तःकोड़ाकाड़ी स्थिति वाला बन्ध किया तो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उसकी आबाधा होती है। अन्तर्मुहूर्त बाद वह उदय में आयेगा। लेकिन उदय तो तेरहवें गुणस्थान में आता है इसलिए उदयावली में आया हुआ इसका द्रव्य अन्य कर्म रूप परिणमन करके आता है। मान लो वह सर्वार्थसिद्धि में गया और वहाँ से पूर्वकोटि वर्ष की मनुष्यायु को प्राप्त किया। मनुष्यगति में आने के बाद भी तेरहवें गुणस्थान में आने में कुछ कम पूर्वकोटि का समय लगा। तो इतनी लम्बी अवधि तक वह तीर्थंकर प्रकृति स्तिबुक संक्रमण के द्वारा परमुखोदय रूप होकर निकलती रहती है और नया बन्ध भी होता रहता है। स्वमुख से उदय की विवक्षा में यह कथन नहीं है। इसी प्रकार नवीन बंधा हुआ साता का उदय हाथों हाथ आ सकता है। इसलिए असाता के उदय

की परिस्थितियों से घबराने की आवश्यकता नहीं है। विशुद्धि से नवीन बंधे साता कर्म का उदय एक आवली में उदीरणापूर्वक हो सकता है। उस समय सही उपचार होने पर स्वस्थता प्राप्त हो सकती है। सन्तोष रखने की जरूरत है। जीव की जितनी दशायें हैं वे सभी कर्म के उदय की हैं, इसलिए यह श्रद्धान होना चाहिए कि कर्म जैसा बांधा था वैसा ही तो उदय में आयेगा। हमारी भी जो दशा हो रही है वह भी हमारे ही पूर्वकृत कर्म का फल है। जैसे–मनुष्यगति नामकर्म का उदय है इसलिए मनुष्य रूप में संवेदन होता है। कोई भी कर्म हो, नाम, गोत्र, वेदनीय आदि सभी में इसी प्रकार लगा लेना चाहिए। जीव की कोई भी दशा ऐसी नहीं है, जो कर्मोदय के बिना हो रही हो। इसलिए जब यह सत्य है तो उसी की ओर बार-बार देखना चाहिए। उसी का चिन्तन करना चाहिए ताकि हम वर्तमान में अनर्थ करने से बच सकें।

तीन प्रकार के तत्त्व हैं–हेय, ज्ञेय और उपादेय। पौद्‌गलिक तत्त्व हेय तत्त्व है, शुद्धात्मतत्त्व उपादेय है और शेष द्रव्य ज्ञेय हैं। इनका आश्रय लेने से बुद्धिपूर्वक रागद्वेष से बच सकते हैं। किन्तु आत्मोपलब्धि नहीं हो पाती है। जिसके पास उपादेय तत्त्वभूत शुद्धात्मतत्त्व का सहारा लेने की क्षमता नहीं है वह ज्ञेयतत्त्व को विषय बनाकर उपयोग को स्थिर करने का अभ्यास करता है। प्राथमिक अवस्था में उपयोग को स्थिर करते-करते कभी भी अस्थिर हो जाता है। आकाश की ओर देखने से रागद्वेष नहीं होते हैं उसे भी ध्यान का विषय बना सकते हैं। आकाशद्रव्य भी अमूर्तिक है, लेकिन जैसा आत्मद्रव्य अमूर्त है वैसा नहीं है। क्योंकि आत्मा चेतन है, आकाशद्रव्य अचेतन है। इस प्रकार हेय, ज्ञेय और उपादेय तत्त्व की चर्चा है। इन सभी को ध्यान का विषय बनाकर रागद्वेष से बचा जा सकता है।

उत्थानिका–जो तीन प्रकार के भावों से परिणत हैं उन्हीं की मोह से परिणत परिणति घटित होती है आगे इसी को बताया जा रहा है–

तिविहो एसुवओगो अस्स वियप्पं करेदि धम्मादी।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥१०२॥

अन्वयार्थ–(तिविहो) तीन प्रकार के **(एसुवओगो)** इस उपयोग से **(धम्मादी)** मैं धर्मास्तिकाय आदि हूँ ऐसा **(अस्सवियप्पं)** असत्य विकल्प **(करेदि)** करता है इसलिये **(सो)** वह (आत्मा) **(तस्सुवओगस्स)** उस उपयोग रूप **(अत्तभावस्य)** आत्म भाव का **(कत्ता होदि)** कर्ता होता है।

अर्थ–उपर्युक्त मिथ्यात्वादि रूप तीन प्रकार के विकारी परिणाम वाला आत्मा, जिनके साथ में मात्र ज्ञेय-ज्ञायकरूप सम्बन्ध है, ऐसे धर्मादिक द्रव्यों के विषयों में भी, अपनेपन का मिथ्या विकल्प करता है, उस समय वह उस विकल्प रूप आत्मभाव का कर्त्ता होता है।

मिथ्यादि रूप ढलता उपयोग गाता,
धर्मादि द्रव्यमय हूँ निज को भुलाता।

कर्त्ता अतः वह निजी उस भाव का है,
ज्ञाता नहीं विमल निर्मल भाव का है ॥१०२॥

व्याख्या—उक्त मिथ्यात्वादि तीन प्रकार के प्रत्यय से उपयुक्त आत्मा धर्मादि द्रव्यों को अपने उपयोग का विषय बनाता है उसमें रागादि से सहित होने के कारण अपनेपन का मिथ्या विकल्प करता है उस समय ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के साथ वह उस विकल्प रूप आत्मभावों का कर्त्ता होता है। निर्विकार और शुद्ध द्रव्य चार हैं—धर्म, अधर्म, आकाश और काल। ये अनादि से शुद्ध हैं और अनन्तकाल तक शुद्ध रहेंगे। इनके ज्ञेय-ज्ञायक रूप सम्बन्ध से रागद्वेष नहीं होता। अतः तत्सम्बन्धी बन्ध भी नहीं होता। लेकिन रागद्वेष की भूमिका में विषय बनाया जा रहा है। अतः विकल्पात्मक भाव का कर्त्ता होता है।

दृष्टान्त—जैसे-औषधि बनाते समय तीन प्रकार का विचार हो सकता है कि वह औषधि पाउडर रूप में बनाये, गोली रूप में या लिक्विड रूप में बनाये। यदि पाउडर को गोली का रूप देना है तो उसमें कुछ तत्त्व जिसे स्टार्च बोलते हैं, मिलाया जाता है। गोली बनने के बाद पाउडर रूप में नहीं रह जाता। क्योंकि वह गोली रूप में बदल गया है। उसी प्रकार हमारा ज्ञान भी जब धर्मादिक द्रव्यों को अपना विषय बनाता है उस समय क्या विचार आता है ? उस द्रव्य के लक्षण, स्वभाव आदि पर ध्यान जाता है कि-यह जीव और पुद्‌गल को चलने में सहायक द्रव्य है, ठहरने में सहायक अधर्मद्रव्य है आदि। इस समय निमित्त के रूप में स्वीकार करने की भूमिका में उपयोग मोह से प्रभावित रहता है अतः इससे भी बन्ध होता है। यह बन्ध की सूक्ष्मता का कथन है। इसमें भी उपयोग की अस्थिरता का अनुभव होता है। इसलिए इससे भी बन्ध होता है, क्योंकि उस समय उपयोग आत्मतत्त्व में स्थिर नहीं है। यह भी एक प्रकार की कमजोरी तो है ही, भले ही वह ज्ञेय है, हेय या उपादेय तत्त्व नहीं है।

समाधितन्त्र ग्रन्थ में **आचार्य पूज्यपाद स्वामी** ने उपाय-उपेय अर्थात् उपादेय शब्द का निम्न कारिका में प्रयोग किया है—

बहिरन्तःपरश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत् ॥४॥

अर्थात् सभी आत्मायें तीन प्रकार की हैं—१. बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा और ३. परमात्मा। इनमें से परमात्मा उपेय अर्थात् उपादेय है, अन्तरात्मा उपाय है और बहिरात्मा हेय यानि त्याज्य है। पुद्‌गलद्रव्य तो हेय है वह उपाय नहीं हो सकता, और वर्तमान में उपादेय रूप शुद्ध परमात्मतत्त्व की प्राप्ति हमें नहीं हो पा रही है, जो कि त्रैकालिक उपादेय है। इसलिए उपेय रूप जो अन्तरात्मा है वही तात्कालिक उपादेय का काम करता है। यह अन्तस्तत्त्व साधन रूप में होता है। इसके द्वारा परमात्मतत्त्व रूप साध्य की सिद्धि होती है। **आचार्य जयसेनस्वामी** ने दो प्रकार के उपादेय का कथन किया है—१. त्रैकालिक उपादेय और २. तात्कालिक उपादेय। तात्कालिक उपादेय साधन रूप होता है तथा

त्रैकालिक उपादेय साध्य रूप होता है। जब ध्येय रूप शुद्धात्मतत्त्व में मन नहीं लग रहा हो और हेय की ओर हम जाना नहीं चाहते तो धर्मादिक ज्ञेय तत्त्वों को स्वीकार किया जाता है। आखिर उसे ज्ञेय रूप में स्वीकारा है तो उसमें उसके लक्षण आदि का भी चिन्तन होता है, मोह की भूमिका होने से उपयोग बाधित होता है अतः असद्विकल्प का कर्त्ता होता है। इसी ग्रन्थ में आगे निर्जराधिकार में एक गाथा आयी है–

धम्मच्छि अधम्मच्छी आयासं सुत्तमंगपुव्वेसु।
संगं च तहा णेयं देवमणुअ-तिरियणेरइयं ॥२२४॥

अर्थात् परमतत्त्वज्ञानी जीव धर्म-अधर्म, आकाश, अंगपूर्व का श्रुतज्ञान, देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी व अन्य परिग्रह की इच्छा नहीं करता हुआ, मात्र ज्ञाता ही रहता है। इससे स्पष्ट होता है कि परमतत्त्वज्ञानी धर्मादि द्रव्य एवं द्वादशांग रूप श्रुत को भी छोड़ देता है। क्योंकि इसमें उपयोग स्थिर नहीं रहता। धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय तत्त्व का भी चिन्तन नहीं करता है। क्योंकि उसके कारण भी सद्विकल्प होते हैं। त्रैकालिक उपादेय तत्त्व से उपयोग हट जाता है। स्थिरता इसलिए नहीं रहती क्योंकि उसका उपयोग मोह से प्रभावित रहता है। फलतः असद् विकल्पों में अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, अज्ञान में से किसी भी रूप में बँट जाता है। इसलिए **तिविहो एसुवओगो** ऐसा यहाँ कहा जा रहा है।

धर्मादि परद्रव्य और आत्मद्रव्य में ज्ञेय-ज्ञायक भाव, सामान्य ज्ञान, दर्शन और सामान्य परिणति के भेद को नहीं जानता हुआ **मैं धर्मास्तिकाय हूँ** अर्थात् धर्मद्रव्य मेरी गति में सहायक है, ऐसा जो चिन्तन करता है। उस समय ज्ञान को ही उपचार से **मैं धर्मास्तिकाय हूँ** ऐसा कहा गया है। इस प्रकार के चिन्तन के समय उपयोग चूँकि शुद्धात्मतत्त्व से रहित हो जाता है और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध या ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के साथ उपयोग शुभ या अशुभ विकल्पों में बँट जाता है, ज्ञेय तत्त्व से जुड़ने के कारण उपयोग, उपादेय तक नहीं पहुँच पाता। **उपयोग का उपादेय तत्त्व तक नहीं पहुँचना किन्तु ज्ञेय के पास पहुँचना यह उसकी कमजोरी मानी जाती है।** यदि चिन्तन करने वाले से कोई ऐसा पूछता है कि धर्मादि द्रव्य को विषय क्यों बनाते हो तो वह कहता है कि धर्मादिद्रव्य शुद्ध हैं इसलिए। उससे आचार्य कहते हैं कि स्वयं का आत्मतत्त्व भी तो शुद्ध है उसका चिन्तन करने में मन को क्यों नहीं लगाता ? यदि स्वात्मतत्त्व में उपयोग नहीं लगता तो उसकी कमजोरी समझना चाहिए। पर का ध्यान करते हुए भी आपका वीकनेस प्वाइन्ट माना जायेगा इसे भूलते क्यों हो ? पर का चिन्तन करते हुए भी अपनी कमजोरी छुपाना चाहते हो क्या ? जो व्यक्ति गणित में कमजोर हो और वह कहे कि मैं गणित में शोध कर रहा हूँ, ऐसा उसका कहना ठीक है क्या ? नहीं।

संस्मरण–जब हम दूसरी कक्षा में पढ़ते थे तब शिक्षक परीक्षा के समय आधा घण्टे पहले ही कह देते थे कि कोई कुछ बोलेगा नहीं, मुख नहीं हिलाना चाहिए, स्लेट-बत्ती आदि से भी कोई किसी से कुछ पूछेगा नहीं। यह आमुख गणित है। पाँच मिनट में हल करना है। नीचे बैठकर लिखना है और

पुनः खड़े हो जाना है तथा एक दूसरे की ओर किसी को देखना भी नहीं है। पहले तो स्लेटबत्ती के अलावा कुछ नहीं होता था। माइण्ड बहुत अच्छा चलता था। आज ये नोटबुक आदि हो गईं। आज तो पूरी पुस्तक में अण्डरलाइन होती है। पता ही नहीं चलता कि मुख्य विषय क्या है ? जैसे–नोटबुक का आधार लेना छात्र की कमजोरी मानी जाती है उसी प्रकार आत्मतत्त्व के अतिरिक्त अन्य परतत्त्व का अवलम्बन लेना ध्याता की कमजोरी मानी जाती है। सचित्त हो या अचित्त, परद्रव्य का सहारा लेना चाहे वह शुद्ध हो या अशुद्ध, सबको परिग्रह कहा है। कर्मकलंक से रहित, आत्मसम्पत्ति से सहित, शुद्धतत्त्व ही ध्येय है, वही उपादेय है इसी का आश्रय लेना उपादेय है, अन्य सभी ज्ञेय उपयोग को विकल्पात्मक करते हैं, जिससे निर्विकल्प समाधि बाधित होती है। विकल्प रूप कमजोरी को दूर करके निर्विकल्प होना यही साधक का सम्यक् पुरुषार्थ है। सिद्ध परमेष्ठी किसी का आधार नहीं लेते और हम बिना आधार के कुछ सोच भी नहीं पाते, यह सब कमजोरियाँ हैं। एक प्रकार से यह उपयोग की लंगड़ाई है।

दृष्टान्त—कुछ लोग लंगड़ाते हैं पर इसका ध्यान रखते हैं कि लंगड़ापन प्रकट न हो जाये। जल्दी से सामने से निकल जाते हैं। उन्हें लाठी का सहारा लेना अच्छा नहीं लगता। उसी प्रकार साधक को अन्य ज्ञेय द्रव्यों का सहारा लेना लाठी के सहारे के समान है। वह उन्हें शोभा नहीं देता। आचार्य कहते हैं–अपने स्वभाव की ओर देखो, इधर–उधर देखना गलत है।

पहले कहकर आए हैं कि श्रुतकेवली दो प्रकार के होते हैं–१. द्रव्यश्रुतकेवली और २. भावश्रुतकेवली। जो द्रव्यश्रुतकेवली होगा वह दुनिया की सारी की सारी बातें जानेगा। परन्तु शुद्धात्मा को नहीं जानेगा अर्थात् उसे शुद्धात्मा की अनुभूति नहीं होती किन्तु भावश्रुतकेवली निर्मल आत्मानुभूति के समय शुद्धनिश्चय को विषय बनाता है। उस समय उसे शुद्ध स्वसंवेदन होता है। शुद्ध स्वसंवेदन प्राप्तव्य है किन्तु धर्मादि द्रव्यों के लक्षणों के बारे में सोचना असद्विकल्प है। यहाँ असद्विकल्प का अर्थ मिथ्या नहीं है। लेकिन अपने आत्मतत्त्व के अतिरिक्त अन्य किसी को विषय बनाना असद्विकल्प है। आचार्य कह रहे हैं कि अनात्मा के बारे में इतना अधिक सोचते हो, आत्मा के बारे में क्यों नहीं सोच पाते ? जब श्रुत के आधार से परद्रव्य का चिन्तन कर सकते हो तो स्वद्रव्य का चिन्तन क्यों नहीं कर सकते हो ? हम सोचते हैं कि स्व को प्रकाशित करना किसी को देखने में नहीं आता, इसलिए पर को प्रकाशित करते हैं। आचार्य कहते हैं यह सोचना गलत है। क्योंकि ज्ञान तो स्व–पर प्रकाशक है अतः पर प्रकाशन में ही रुचि क्यों ? स्वप्रकाशन में रुचि क्यों नहीं ? घूम–फिर कर यही बात सामने आती है कि स्व में उपयोग टिकना बहुत कठिन है।

दृष्टान्त—जैसे किसी से पाउडर के रूप में गोली नहीं ली जा रही है तो उसे गोली का रूप दे देते हैं या शुगरकोटेड कर देते हैं। गोली के भीतर शुगर नहीं है। ऊपर से शुगरकोटेड कर दिया है, क्योंकि दवाई को ऐसे ही लेने से उल्टी हो जायेगी। उल्टी क्यों होती है ? इसके बारे में हमने सोचा है कि–जिसके

पास मन नहीं होता वे कभी उल्टी नहीं करते। इसका मतलब है उल्टी होना तो मन की विकृति है। जी मचल रहा है, ऐसा कहते भी है। गला खिंच रहा है क्यों ? मन विकृत है इसलिए। हमारा तो यह चिन्तन है कि मन की विकृति के माध्यम से ही उल्टी होती है। क्योंकि मन में जब ऐसी धारणा बन जाती है कि यह दवाई कड़वी है, तो मन में कड़वापन पहले आ जाता है। जबकि कड़वापन तो दवाई का स्वरूप नहीं है, लेकिन दवाई लेने वाला सोचता है कि क्या पता, पेट में रहती है कि नहीं ? पेट में रहे या न रहे अभी तो मन में नहीं है और जब मन में दवाई के प्रति रुचि नहीं है तो वह पेट में भी नहीं रुचती। इसी प्रकार ज्ञानी जीव को शुद्धात्मतत्त्व के अतिरिक्त अन्य तत्त्व का चिन्तन भी नहीं रुचता। अतः कभी निर्विकल्प समाधि से च्युत होने के बाद भी यदि अन्य तत्त्व का चिन्तन करना भी पड़ता है तो उसे असद्विकल्प समझकर, उसे छोड़कर पुनः निर्विकल्पसमाधि में पहुँच जाते हैं। उल्टी का अर्थ है कि पूरा भोजन या आधा भोजन पेट में पहुँचा फिर उल्टा देना या मुख के बाहर आ जाना। अस्वस्थ मन को विषय-कषाय रुचते हैं और वीतरागता रूपी कड़वी औषधि नहीं रुचती, फिर भी अस्वस्थता दूर करने के लिए कड़वी औषधि का सेवन करना अनिवार्य होता है। जब मन स्वस्थ हो जाता है तब सब बात समझ में आ जाती है कि रोग कौन सा है ? उसको दूर करने की औषधि की प्रकृति कैसी है ? और उसका सेवन अनिवार्य क्यों है...इत्यादि।

दृष्टान्त—लोग कहते हैं कि कभी-कभी ऐसा अवसर होता है कि कोई-कोई डेढ़ घण्टे तक माथापच्ची करते हैं। उन्हें मनाओ तो मानते ही नहीं हैं। चर्चा के दौरान कुछ संदेह हो जाता है तो समझ कर नहीं किन्तु समझाकर चला जाता है। जैसे कोई ग्राहक दुकान पर पहुँच जाता है तो दुकानदार उसकी पसन्द की हुई वस्तु की कीमत सौ रुपये बताता है, फिर कम करते-करते पाँच रुपये तक आ जाता है और पाँच रुपये में वस्तु दे देता है। लेने वाला ग्राहक सोचता है कि इस वस्तु का भाव पाँच रुपये ही होना चाहिए। भाव तो एक ही रहेगा। पुनः पूछने की बात ही नहीं है क्योंकि सौ रुपये बताकर ९५ रुपये कम करके पाँच रुपये में देना, यह क्या है ? मात्र माथापच्ची है, इसके अलावा कुछ नहीं। ऐसा ही सौदा आप लोग करते रहते हैं। सौदा होने के बाद वह दुकानदार कहता है कि—मैंने तुमको पाँच रुपये में दे दिया। लेकिन किसी को बताना नहीं। ऐसा सुना तो ग्राहक को और संदेह हो जाता है। तो वह सहज में ही दूसरे व्यक्ति से पूछ लेता है कि तुम्हें दो रुपये में दी है क्या ? मुझे तो पाँच रुपये में दी है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार ग्राहक एक-दूसरे से बताये बिना नहीं रह सकता। उसी प्रकार आत्मा को अपने आपमें रहने में बहुत कठिनाई होती है। लेकिन हेय वस्तुओं को छोड़ देता है, यह भी बड़ा पुरुषार्थ है। जब तक उपादेय नहीं मिलता तब तक हेय को छोड़ना और ज्ञेयभूत धर्मादि द्रव्यों के बारे में जो शुद्धद्रव्य हैं, उनके बारे में चिन्तन करता है और विचार करता है कि अगर हमारा उपयोग भी शुद्ध होता तो धर्मादि द्रव्यों का अवलम्बन नहीं लेते।

आचार्यों ने योग के आठ भेदों में ध्यान को उपान्त्य माना है। समाधि को अन्तिम नम्बर पर

माना है, क्योंकि समाधि में उपयोग पूर्ण शान्त अवस्था में होता है। एक विषय को अग्र बनाना ध्यान है, लेकिन ध्यान अवस्था में जब ध्यान, ध्याता, ध्येय क्या है ? इसका भान न रहे तब उसे शुद्धोपयोग कहते हैं। इसी समय शुद्धात्मानुभूति की स्थिति बनती है। यद्यपि बारह तपों में ध्यान को अन्त में कहा है फिर भी यहाँ योग के आठ भेदों में ध्यान कारण और निर्विकल्पसमाधि कार्य है। इस दृष्टि से ध्यान को उपान्त्य में और समाधि को अन्त में रखा। ऐसी आचार्यों की विवक्षा हो सकती है। समाधि में धर्मास्तिकाय आदि का कोई विकल्प नहीं हो सकता।

जिज्ञासा—देखो, यहाँ प्रश्न आ गया कि–मैं धर्मास्तिकाय हूँ, ऐसा तो कोई नहीं कहता। जैसे कि मैं दर्द हूँ, या मैं दर्द कर रहा हूँ, ऐसा तो कोई नहीं कहता किन्तु मेरा माथा दर्द कर रहा है, ऐसा जरूर कहते हैं ?

समाधान—आचार्य कहते हैं कि यह धर्मास्तिकाय है, ऐसा जानने रूप जो विकल्पात्मक ज्ञान है और उसी विकल्प वाला मैं हूँ अतः अन्यत्र उपचारात् यानि उपचार से ऐसा कहा जाता है, कि मैं धर्मास्तिकाय हूँ।

जिज्ञासा—मैं धर्मास्तिकाय हूँ, इसे उपचार क्यों कहा ?

समाधान—आपने अपने उपयोग को अपने से हटाकर अन्यत्र ज्ञेय पर लगाया, यही उपचार यहाँ विवक्षित है। या यह कह दो कि धर्मद्रव्य मेरे चलने में सहायक है और अधर्मद्रव्य मेरे ठहरने में सहायक है, कालद्रव्य परिवर्तन में सहायक है इत्यादि रूप ज्ञेयतत्त्वों के उपकार, उनके विशिष्ट लक्षण आदि को अपने मन का विषय बनाना, विकल्प ही तो है, उस ज्ञेयात्मक विकल्प को अहम् अर्थात् मैं कहा है क्योंकि ज्ञेयात्मक विकल्प रूप परिणमन अपने उपादान स्वरूप उपयोग में होता है और उपयोग जीव का लक्षण है, इसलिए उपचार से ''मैं धर्मास्तिकाय हूँ'' ऐसा कहा गया है। जैसे–''घट लाओ'' यह कहा तो उपयोग घटाकार रूप होता है, मन में घटाकार आए बिना घट तक की यात्रा हो ही नहीं सकती। मान लो आप चर्या के लिए निकले हैं। दो किलोमीटर चलना है तो तब से आपके ज्ञान में चर्या का विकल्प होता है, अतः ज्ञान, चर्या के विकल्पात्मक होता है। जैसे–ज्ञान में घट रूप परिणमन होता है तो घटज्ञान माना जाता है, उसी प्रकार धर्मास्तिकाय रूप ज्ञान का परिणमन होता है तो धर्मास्तिकाय रूप ज्ञान माना जाता है। किसी भी वस्तु को जानते समय ज्ञान का ज्ञेयाकार रूप होना ज्ञान का स्वभाव है, ज्ञेय रूप (घट या धर्मद्रव्यरूप) हो जाना ज्ञान का स्वभाव नहीं है।

जिज्ञासा—महाराज, ज्ञान ज्ञेयाकार रूप कैसे होता है, इसे किसी दृष्टान्त द्वारा समझा दीजिए ?

समाधान—ज्ञान ज्ञेयाकार रूप होकर ज्ञेय को जानता है, इसे समझने के लिए एक दृष्टान्त लिया जा सकता है। जैसे–फोटोग्राफर कैमरे से फोटो लेता है तो उस समय एंगल बनाता है कि फोटो हाफ लेना या पूरा लेना है। अथवा आड़ा–तिरछा लेना है तो वैसा एंगल बनाया जाता है। एंगल बनाना यही तो तदाकार होना कहलाता है। जैसा जिसका फोटो लिया जाता है उसका वैसा एंगल बनाया जाता है

और उसी पर हाईलाइट दी जाती है। यदि हाईलाइट नहीं देंगे तो फोटो धुंधला आता है। उसी प्रकार जिस वस्तु को जानना है तो उस ज्ञेयाकार रूप एंगल बनाया जाता है साथ में उपयोग की एकाग्रता रूपी हाईलाइट भी दी जाती है तभी ज्ञेय को जानने की क्रिया सम्पन्न होती है।

जैसा इन्टेंशन, वैसा रिफलेक्शन—

तात्पर्य यह है कि जब तक अन्य ज्ञेय का विचार काल चलता है तब तक शुद्धात्मतत्त्व को भुला देता है, विस्मृत कर देता है। अर्थात् उस समय आत्मतत्त्व उपयोग का विषय नहीं बनता। इसलिए धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय को जानते समय जीव असद्विकल्प करता है, ऐसा कहा गया है। यह बहुत गहरी बात है। यहाँ पर ध्यान की बात की जा रही है, श्रद्धान तो विग्रहगति में भी होता है। यहाँ पर यह कहा जा रहा है कि ध्याता जब परद्रव्य को विषय बनाता है तब उस समय वह भावश्रुतकेवली भी नहीं हो सकता। हालाँकि धर्मास्तिकाय द्रव्य शुद्ध है फिर भी उसके बारे में सोचते समय विकल्प ही माना जाता है, क्योंकि तब वह शुद्धात्मानुभूति से बाहर होता है। शुद्धात्मानुभूति के लिए तो **एयत्तणिच्छयगओ समओ** निश्चयगत एकत्व समय में उपयोग का होना अनिवार्य है। तभी आत्मानुभूति तक पहुँचता है। जब तक नींद नहीं आती तब तक णमोकारमन्त्र मनोयोग से पढ़ पाते हैं। कई माला फेर सकते हैं। लेकिन जब नींद आने लगती है तो एक माला भी नहीं फेर पाते और नींद लग जाती है। अर्थात् नींद लगने पर णमोकारमन्त्र भूल जाते हैं और जब मन्त्र में एकाग्रता रहती है तो नींद का ख्याल नहीं रहता। उसी प्रकार जिस समय शुद्धात्मा का अनुभव होता है तब धर्मास्तिकाय आदि का विस्मरण हो जाता है और जब धर्मास्तिकाय का स्मरण होता है तब शुद्धात्मा का विस्मरण हो जाता है। तात्पर्य यह है कि आपने जिस पदार्थ को अपने उपयोग के एंगल में लिया है वही जाना जायेगा, अन्य पदार्थ नहीं। अपने प्रकाशमय उपयोग का विषय यदि परद्रव्य है तो आत्मतत्त्व पीछे रह जायेगा। इसलिए जैसा आपका इन्टेंशन होता है वैसा ही पदार्थ रिफलेक्टिड होता है। क्योंकि ज्ञान का स्वभाव तो प्रकाशित करना है। लेकिन यह बात भी निश्चित है कि छद्मस्थ अवस्था में ज्ञान का जिस वस्तु की ओर एंगल बनायेंगे वही आयेगी, आत्मतत्त्व को एंगल बनायेंगे तो आत्मा आयेगा, नहीं तो नहीं।

दृष्टान्त—जैसे आप लोग दुकान या मकान कहीं भी ग्रीष्मकाल में गर्मी से बचने के लिए पंखा चलाते हैं न। टेबिल फेन या स्टेण्ड फेन है। वह यूँ यूँ घूमता है तो आजू-बाजू और सामने वालों के लिए तो हवा लगती है लेकिन जो पीछे बैठा होता है उसे पंखे की हवा नहीं लगती। क्योंकि उसका मुख विपरीत दिशा में होता है। इसलिए जो समझदार होता है वह बीचों-बीच बैठता है। जिससे पंखा इधर जाये तो, इधर से हवा लगती है और उधर जाये तो भी बीच में हवा लगती है। उसी प्रकार मध्यस्थ होकर जो बैठ जाता है उसे आत्मतत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। आत्मोपलब्धि की हवा लगती रहती है तो आनन्द आता रहता है।

जो चाहो, उसमें रम जाओ—

आचार्य कहते हैं कि यदि आत्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहते हो तो भिन्नद्रव्य को गौण करना पड़ेगा और भिन्नतत्त्व को चाहते हो तो आत्मतत्त्व गौण हो जायेगा। अनादि से अभी तक हमको भिन्न द्रव्य ही अच्छा लगता आया है, आज भी वही अच्छा लग रहा है। आत्मद्रव्य के बारे में सोचनेका भी कहो तो माथा दर्द करने लगता है और परद्रव्य की बातों में, उसकी चर्चा के लिए घण्टों-घण्टों संगोष्ठी चलती रहती है, सिर दर्द हो तो भी ठीक हो जाता है। ऐसा क्यों ? रुचि की बात है। जिसमें रुचि होती है या जो अच्छा लगता है उसमें ज्यादा मन लगता है। जिसमें मन लगता है वह सरल भी हो जाता है। शेष सब कठिन होता है। ऐसा कौन सा तत्त्व चाहिए ? जिसमें मन लग जाये, वह चाहिए। आचार्य कहते हैं कि—बैठ जाओ, तुम्हें तो परद्रव्य ही अच्छा लगा है, उसी में मन लगता है तो उसी का ध्यान करोगे, उसी के बारे में विचार करोगे। फलतः निर्जरा नहीं होगी, तुम ज्ञानी नहीं कहलाओगे। जो शुद्धात्मतत्त्व की प्रतीति से रहित होता है वह अज्ञानी माना जाता है। जो शुद्धपरद्रव्य का चिन्तन करता है, तो भी असद्‌विकल्प रूप परिणमन करेगा। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि शुद्धात्मा के अनुभव का न होना ही अज्ञान है और वह अज्ञान ही कर्ता-कर्मभाव का कारण होता है।

उत्थानिका—आगे की गाथा में **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** बतलाते हैं कि आत्मा अपने आपको पररूप और पर को अपने रूप कैसे करता है ?—

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाणभावेण ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार **(मंदबुद्धीओ)** अज्ञानी **(अण्णाणभावेण)** अज्ञानभाव से **(पराणि दव्वाणि)** पर द्रव्यों को **(अप्पयं कुणदि)** अपने रूप करता है **(अवि य)** और भी **(अप्पाणं)** अपने को **(परं करेदि)** पर रूप करता है।

अर्थ—इस प्रकार अज्ञानी जीव अपने अज्ञान भाव से पर पदार्थों को अपने रूप करता है और इसी प्रकार अपने आपको पर रूप कर लेता है।

अज्ञान से भ्रमित हो पर को निजात्मा,
शुद्धात्म को परमयी करता दुरात्मा।
घोरान्धकार चहुँ ओर घनी निशा में,
औचित्य पैर पड़ते उल्टी दिशा में ॥१०३॥

व्याख्या—पहले दो गाथाओं में कहा जा चुका है कि "मैं क्रोध हूँ" अथवा "मैं धर्मास्तिकाय हूँ" इत्यादि क्रोधादिक अपने परिणाम रूप अथवा धर्मास्तिकाय ज्ञेय रूप परद्रव्य हैं, उनको अज्ञान भाव से अपना लेता है और अपने आपको अपने स्वरूप से भ्रष्ट कर लेता है। रागादि से संयुक्त कर लेता है। फलतः अपने अज्ञानभाव से पराधीन होता है। मन्दबुद्धि होने के कारण **अप्पयं** ये पदार्थ मेरे

आत्मा के हैं, ऐसा विकल्प करता जाता है। इसलिए उस समय उस विकल्प का कर्त्ता होने से अज्ञान भाव का कर्त्ता हो जाता है अर्थात् पर को जानना ही अज्ञानभाव है, यह सिद्ध हो गया। अज्ञानभाव की तारतम्य की अपेक्षा बहुत सी क्वालिटीज हो सकती हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि शक्त्यंश बहुत प्रकार के होते हैं। वैसे अज्ञान भाव भी अनेक प्रकार के होते हैं।

दृष्टान्त—जैसे, एक कटोरी में पानी है। उसमें पेन की निब डुबाने से गहरा नीलापन आया। उस कटोरी के पानी को बाल्टी में डाल दिया, तो नीलापन फीका हो गया। अब बाल्टी के पानी को टेंक में डाल दें तो नीलापन और कम हो जाता है। टेंक के पानी को नदी में, तालाब में या बड़े समुद्र में डाल दें तो शक्त्यंश फैलते चले जाते हैं। नीलेपन में कमी अवश्य आ रही है, परन्तु अविभागप्रतिच्छेद अर्थात् शक्त्यंश फैलते जा रहे हैं। उसी प्रकार अज्ञान भी कई प्रकार के होते हैं। जैसे–परद्रव्य के प्रति एकत्वरूप अज्ञान जो मिथ्याज्ञान के नाम से जाना जाता है। एक प्रमादमूलक अज्ञान, एक कषाय-मूलक अज्ञान और एक छद्मस्थ अवस्थाजन्य अर्थात् केवलज्ञान न होने रूप अज्ञान। इस प्रकार अज्ञान के इन भेदों में अज्ञान के शक्त्यंश नीलेपन की भाँति कम होते जाते हैं। जैसे–मिथ्यात्व के साथ जो अज्ञान है वह महाघोरअन्धकार रूप है। वह आगे-आगे का विवक्षित अज्ञान है। अध्यात्म में तो परद्रव्य को जानने का भाव तो अज्ञान है ही, किन्तु शुद्धद्रव्य को जानने का विकल्प भी अज्ञान है। शुद्धात्मसंवित्ति से च्युत होना भी अज्ञान है। इस प्रकार ये सभी प्रकार के अज्ञान यथायोग्य प्रथम गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक होते हैं। परद्रव्य को जानने का आयाम होने से भावश्रुतकेवली संज्ञा भी प्राप्त नहीं होती। भले ही वह द्रव्यश्रुतकेवली हो।

शुद्धात्मानुभव बुद्धि का आयाम नहीं है—

किसी भी वस्तु का स्मरण करते हैं तो बुद्धि की आवश्यकता होती ही है, लेकिन यहाँ **मंदबुद्धीओ** कहा है। तीव्र बुद्धि नहीं कहा है। इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि शुद्धात्मतत्त्व को जानने-देखने में परिश्रम नहीं करना पड़ता। अतः तीव्रबुद्धि की आवश्यकता नहीं होती। मन्दबुद्धि वाले भी शुद्धात्मतत्त्व को जान सकते हैं। इस विवक्षा में मन्दबुद्धि का अर्थ तीव्रबुद्धि का अभाव, ऐसा लेना। यहाँ मन्दबुद्धि का अर्थ अज्ञानभाव नहीं लेना। लेकिन मन्दबुद्धि के कारण परद्रव्य को अपना मानना। शुद्धात्मतत्त्व को जानने में परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती। फिर भी संसारी प्राणी उसे छोड़कर परद्रव्य को जानने में मेहनत कर रहे हैं। कसरत कर रहे हैं। ''यह बुद्धि का आयाम पर के लिए है जबकि बुद्धि का विराम स्व के लिए है।'' ''मैं कौन हूँ'' यह जानने के लिए बुद्धि के आयाम की आवश्यकता नहीं होती। किताब में, शब्दकोश में शब्द ढूँढने की आवश्यकता नहीं होती। यदि किताब में ढूँढ़ोगे तो आत्मा शब्द मिल भी जायेगा, लेकिन आत्मा का स्वरूप तो अपने पास ही है जो संवेदन के योग्य है। शुद्धात्मानुभूति से च्युत होने वाले श्रुतकेवली को भी मंदबुद्धि का टाइटल दे दिया है। यह **समयसार** के अलावा और कहीं नहीं मिलेगा। यहाँ यह कहते हैं कि–भावश्रुतकेवली बन जाओ तो

क्षायिकसम्यग्दर्शन, केवलज्ञान यूँ ही हो जायेगा। द्रव्यश्रुतकेवली के पादमूल में भले ही दूसरों को क्षायिकसम्यग्दर्शन हो जाता है, लेकिन स्वयं द्रव्यश्रुतकेवली को निर्विकल्पदशा प्राप्त नहीं होती। यदि रागद्वेषादि कर लेता है तो पररूप हो जाता है। अज्ञानभाव की यही महिमा है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि भूताविष्ट दृष्टान्त के द्वारा जिस प्रकार क्रोधादिक के विषय में उसी प्रकार ध्यानाविष्ट दृष्टान्त के द्वारा धर्मादि ज्ञेयपदार्थ के विषय में जो इस जीव का अपने शुद्धात्मा के संवेदन से पृथक् भाव रूप अज्ञान होता है वही कर्त्ता-कर्मभाव का कारण होता है।

दृष्टान्त—जैसे किसी को भूत लग जाता है तो भूताविष्ट होने के कारण व्यक्ति शिला, स्तम्भ आदि को उखाड़ देता है और अन्य मनुष्य से न करने योग्य आश्चर्यजनक व्यापार को करता हुआ दीख पड़ता है। वह अपने में तथा भूत में अन्तर नहीं समझता हुआ उस मय हो जाता है। उसे होश ही नहीं रहता कि यह सब कार्य मैं कर रहा था। उसी प्रकार मोही आत्मा भी ऐसा ही करता है, अनेक प्रकार के विकल्पों को करता है। मोह के कारण मोही आत्मा रागद्वेष की बात करता है। आत्मा की बात भूल जाता है। जो कार्य मनुष्य पर्याय के करने योग्य नहीं हैं उनको भी मोह के कारण करता जाता है। आचार्य कहते हैं कि परद्रव्यों के साथ हमारे उपयोग का सम्बन्ध हुआ नहीं कि भूत लग गया। ऐसा समझना चाहिए। रागद्वेषादि विकल्प बड़े-बड़े भूत हैं, इनसे बचने का प्रयास करो। मोह का भूत जब आत्मा में प्रविष्ट हो जाता है तो उसके प्रभाव के कारण जीव मोह और आत्मा के सच्चे स्वरूप को नहीं जान पाता। कैसे नहीं जान पाता ?

दृष्टान्त—जैसे-कोई ध्यान में लीन व्यक्ति, भैंसा आदि का चिन्तन करता है तो वह उस समय इतना तल्लीन होता है कि अपने आपको ही भैंसा रूप मानने लगता है। भैंसा आदि में और अपने में भेद को नहीं जानता हुआ ''मैं भैंसा हूँ'' ''मैं गारुड़ हूँ'' ''मैं कामदेव हूँ'' ''मैं अग्नि हूँ'' या दूध की धारा के समान अमृत की राशि हूँ, इत्यादि आत्मविकल्पों को करता हुआ वह इन विकल्पों को करने वाला होता है। क्योंकि आप जिस पदार्थ का जिस रूप में ध्यान करेंगे तो वैसा ही लगेगा। उसी प्रकार छद्मस्थ जीव भी सुख-दुःखादि में समता भावना को लिए हुए शुद्धोपयोग लक्षण रूप भेदविज्ञान के न होने से धर्मादिक ज्ञेयपदार्थों में और अपने आपकी शुद्धात्मा के भेद को नहीं जानता हुआ ''मैं धर्मास्तिकाय हूँ'' इत्यादि आत्मविकल्प का कर्त्ता होता है। जिसके कारण नूतन कर्मबन्ध भी अवश्य होता है।

दृष्टान्त—जिस अनुपात से गोंद से कागज को चिपकाया जाता है तो उसका उतना ज्यादा समय तक सम्बन्ध रहता है। ज्यादा गोंद लगाने से कागज ऐसा चिपक जाता है कि अलग नहीं हो पाता। ऐसे ही रागद्वेष के कारण जो कर्म चिपक जाते हैं वे फिर भव-भव में फल देते हैं। छूटते नहीं हैं। इसलिए रागद्वेष को कम करिये। पानी के द्वारा भी कागज को चिपकाया जाता है। कैसे ? जैसे-जब चर्या के लिए चौके में जाते हैं, वहाँ श्रावक द्रव्य से पूजन करता है। उस समय प्रायः करके चावल नीचे बिखर

जाते हैं तो जो होशियार श्रावक होते हैं वे पानी से हाथ को गीला करके यूँ उठा लेते हैं। पानी से चावल चिपक जाते हैं और प्लेट में झड़ा देते हैं। तात्पर्य यह है कि पानी में भी चिकनाहट होती है, लेकिन बहुत कम होती है। हम रागद्वेष से पर पदार्थ को ऐसे चिपका लेते हैं कि भव-भव में भी वह नहीं छूटता है। यह अपने पीछे सागरों पर्यन्त तक भी चिपके रहते हैं।

जैसा ध्येय, वैसी लीनता—

देखो, जैसे ध्यान में लीन व्यक्ति जिस चीज का ध्यान करता है तो तल्लीनता के कारण इतना तन्मय हो जाता है कि उस रूप अपने को मानने लग जाता है। उसी प्रकार पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ आदि धारणा रूप ध्यान करते हैं, तब भी तन्मय जैसा अनुभव होने लगता है। लेकिन यह ध्यान निर्विकल्पसमाधि की निचली सीढ़ी में ही होता है। विषयकषाय रूप असद्विकल्पों को छोड़कर शुद्धधर्मास्तिकायादि द्रव्य के चिन्तन रूप सद्विकल्प को विषय बनाना, यह प्राथमिक भूमिका में तो ठीक है, क्योंकि यदि धर्मध्यान में इनका आलम्बन नहीं लेगा, तो आर्त्त-रौद्रध्यान के अलावा कुछ नहीं होगा। इसलिए आचार्य कहते हैं कि—**असद्विकल्प से सद्विकल्प में आकर फिर निर्विकल्पता में आ जायें यही क्रम है।** देखो, यहाँ पर शुद्धोपयोग का बहुत अच्छा लक्षण बताया है। क्या बताया ? आप सुनना चाहेंगे ? हाँ, आचार्य कह रहे हैं कि सुख-दुःख में पूर्ण समता भाव युक्त होना यही शुद्धोपयोग है। आगे-आगे उसके विकास का क्रम चलता जाता है। सामायिक में भी यही भाव घटित होता है **समता सर्वभूतेषु** जहाँ पर बुद्धिपूर्वक किसी भी प्रकार का बन्ध होता है तो वहाँ निर्विकल्प-समाधि शुद्धोपयोग या वीतराग स्वसंवेदन नहीं होता।

जिज्ञासा—आचार्य श्री अभी आपने बताया कि ''यह धर्मास्तिकाय है'' ऐसा ज्ञेयतत्त्व का विचार या चिन्तन करने रूप विकल्प से कर्मबन्ध होता है, तो फिर इनका चिन्तन भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह भी वृथा है ?

समाधान—नहीं भाई, ऐसा नहीं है। यह कथन भूमिका के अनुसार जानना चाहिए। बात ऐसी है कि त्रिगुप्तिरूप निर्विकल्पसमाधि काल में तो ऐसा विकल्प नहीं करना चाहिए। किन्तु उस ध्यान के अभाव में सराग सम्यक्त्व के काल में विषय कषायों से दूर होने के लिए ऐसा चिन्तन किया जाता है। क्योंकि उपर्युक्त तत्त्वविचार के द्वारा मुख्यता से पुण्यबन्ध होता है और परम्परा से निर्वाण लाभ होता है। अतः उस समय वैसा विचार करने में कोई दोष नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि तत्त्व विचार के काल में भी वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान परिणत साक्षात् शुद्धात्मा ही उपादेय होता है, ऐसा समझना चाहिए। इस विषय को एक दृष्टान्त से समझ सकते हैं—

दृष्टान्त—जैसे, किसी ध्यान के साधक को अपने आपमें तीन घण्टे तक बैठने की योग्यता है, तो उसे प्रवचन सभा में या स्वाध्याय सभा में अच्छा नहीं लग सकता। वह ध्यान में बैठकर एक-एक क्षण में जितनी निर्जरा कर लेता है उतनी यहाँ पूरी सभा कई घण्टों में भी नहीं कर सकती है। **हीरा-**

जवाहरात का सौदा करने वाले को ज्वार-बाजरा बेचने में उपयोग नहीं लग सकता है। लेकिन जब हीरे-जवाहरात का सौदा नहीं कर पा रहा है तब तो ज्वार-बाजरा का व्यापार ही ठीक है। इसी प्रकार जब तक निर्विकल्पसमाधि रूप हीरे-जवाहरात का व्यापार नहीं होता, तब तक विषयकषाय रूपी निम्न कोटि के व्यापार से बचने के लिए शुद्ध धर्मास्तिकाय रूप ज्वार-बाजरा आदि का ध्यान रूपी व्यापार भी ठीक है। इससे साक्षात् पुण्य बन्ध और परम्परा से निर्वाणलाभ होता है।

जिज्ञासा—हे भगवन्, वीतरागस्वसंवेदन के विचार काल में आपने जो बार-बार वीतराग विशेषण दिया है वह क्यों देते आ रहे हैं, क्या कोई सरागस्वसंवेदन ज्ञान भी होता है ?

समाधान—आचार्य देव उत्तर देते हैं कि हाँ भाई, विषय सुखानुभव के आनन्द रूप स्वसंवेदन ज्ञान होता है, वह सर्वजनप्रसिद्ध है अर्थात् वह सब लोगों के अनुभव में आया करता है वह सराग होता है। किन्तु जो शुद्धात्मा के सुखानुभव रूप स्वसंवेदन ज्ञान होता है वह वीतराग होता है। ऐसा स्वसंवेदन ज्ञान के व्याख्यान काल में सब ही स्थान पर समझना चाहिए।

जिज्ञासा—सराग सम्यग्दर्शन के साथ केवल बन्ध ही होता है, शुभोपयोग के साथ केवल बन्ध ही होता है, इनके साथ क्या असंख्यातगुणी निर्जरा नहीं होती ?

समाधान—सराग सम्यग्दर्शन और शुभोपयोग के साथ केवल बन्ध ही होता हो, ऐसा नहीं है। क्योंकि जो परम्परा से निर्वाण का कारण है, वह एकान्त से बन्ध का कारण कैसे हो सकता है ? वीतराग सम्यग्दर्शन के अविनाभावी शुद्धोपयोग के छूट जाने पर शुभोपयोग की भूमिका आती है, तो बन्ध होता है। साथ में संयम के साथ शुभोपयोग की भूमिका होने से असंख्यातगुणी निर्जरा तो होती है, लेकिन शुद्धोपयोग के समय बन्धरहित असंख्यातगुणी निर्जरा होती है और यहाँ बन्धपूर्वक निर्जरा होती है, यह दोनों अवस्थाओं में अन्तर है।

दृष्टान्त—जैसे-देखो, कोई भी व्यापार करते हैं तो उसमें लेन-देन दोनों होते हैं। जब अच्छी दुकान चलती है तो वह दुगुना देने के लिए तैयार रहता है, लेकिन किसी को दुकान नहीं देने देता। किन्तु महिना पूर्ण होने के पूर्व ही किराया भरकर आ जाता है। इसी प्रकार यहाँ का प्रसंग है। शुभोपयोग के द्वारा केवलबन्ध ही नहीं होता, किन्तु स्थिति और अनुभाग को भी कम करता है। बन्ध की स्थिति-अनुभाग की क्वालिटी भी चेंज होती है। बन्ध किस क्वालिटी का हो रहा है, इसकी बात भी तो करो।

प्रत्येक गुणस्थान में असंख्यात समय होते हैं। गुणस्थान वही होते हुए भी संयमलब्धिस्थानों में अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं। जैसे वीतराग स्वसंवेदन का बार-बार कथन किया जाता है, तो सराग स्वसंवेदन भी होता है यह ज्ञात होता है। उसी प्रकार शुद्धनिश्चयनय है तो अशुद्धनिश्चयनय भी होता है, यह स्पष्ट है।

यहाँ ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म और रागद्वेषादि भावकर्म के बारे में जो कर्तृत्व

भाव है उसका प्रसंग चल रहा है। जहाँ पर कर्मबन्ध होता है वहाँ पर कोई न कोई विशेष सहयोगी भाव अवश्य होता है और उस भाव का कर्त्ता आत्मा होता है। जिस समय आत्मा कर्मबन्ध के योग्य परिणामों को करता है उस समय वह किस दशा में होता है ? आचार्य कहते हैं कि उस समय वह निर्विकल्पसमाधि से च्युत अवस्था में होता है। यह समस्त प्रकरण का सारांश है।

जिज्ञासा—यहाँ सम्यग्ज्ञान से क्या तात्पर्य है ? कौन सा सम्यग्ज्ञान विवक्षित है ?

समाधान—तत्त्वार्थसूत्र में **तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्** अर्थात् तत्त्वार्थ श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है। इसके साथ जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान है, ऐसा कहा है। किन्तु यहाँ पर वह सम्यग्ज्ञान विवक्षित नहीं है, किन्तु शुद्धात्मानुभूति लक्षण रूप सम्यग्ज्ञान जिसमें कर्त्ता-कर्म भाव नष्ट हो जाता है। वह वीतराग स्वसंवेदन सम्यग्ज्ञान विवक्षित है, जो शुद्धोपयोग के साथ वीतराग सम्यग्दर्शन का अविनाभावी होता है।

इस प्रकार निश्चय के जानने वालों ने उपर्युक्त प्रकार से आत्मा को कर्त्ता बतलाया है। इसे जो दृढ़ता से जान लेता है वह सब कर्त्तापन से दूर हो जाता है। इसी बात को आगे की गाथा में बतायेंगे।

उत्थानिका—इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि शुद्धात्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसा सम्यग्ज्ञान हो जाने पर कर्त्ता-कर्म भाव नष्ट हो जाता है, यही आगे की गाथा में बतलाते हैं–

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥१०४॥

अन्वयार्थ— (एदेण दु) इस प्रकार से **(णिच्छयविदूहिं)** निश्चय के जानने वाले ज्ञानियों के द्वारा **(सो आदा)** वह आत्मा **(कत्ता)** कर्ता **(परिकहिदो)** कहा गया है **(एवं खलु)** ऐसा निश्चय से **(जो जाणदि)** जो जानता है **(सो)** वह **(सव्वकत्तित्तं)** सर्व कर्तृत्व को **(मुंचदि)** छोड़ता है।

अर्थ—निश्चयनय के जानने वालों ने उपर्युक्त प्रकार से आत्मा को कर्त्ता बतलाया है, इस प्रकार जो दृढ़ता से जान लेता है वह सब कर्त्तापन से दूर हो जाता है।

आत्मा सुनिश्चित निजीय विभाव कर्त्ता,
आत्मज्ञ हैं कह रहे पर भाव हर्त्ता।
ऐसा रहस्य सुनके मुनि अप्रमादी,
कर्तृत्व भाव तजते, भजते समाधि ॥१०४॥

व्याख्या—निश्चय के जानने वाले सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है कि जब तक यह आत्मा अभेद रत्नत्रय के प्रतिपक्षीभूत अज्ञानभाव से परिणत होता है तब तक रागादि भाव का कर्त्ता होता है। जिससे कर्मबन्ध होता है। किन्तु जब यह आत्मा शुद्धात्मा के अनुभव रूप परिणाम रूप परिणत होता है उस समय सम्यग्ज्ञानी होकर रागादि भावकर्मरूप अज्ञान का कर्त्ता नहीं होता। फलतः कर्मबन्ध का कर्त्ता नहीं होता। जो वस्तु स्वरूप को जानता है वह सरागसम्यग्दृष्टि होता हुआ अशुभकर्म के कर्त्तापन को

छोड़ता है, उससे दूर हो जाता है किन्तु जब वही निश्चयचारित्र के साथ में अविनाभाव रखने वाले वीतराग सम्यग्दर्शन का धारक होता है, तब शुभ-अशुभ सभी प्रकार के कर्म के कर्त्तापन को छोड़ देता है। यह बात निश्चित हुई।

अपने कर्म के निमित्तभूत जो भाव हैं, आत्मा उसका कर्त्ता है। निश्चय से जो यह जान लेता है वह कर्त्तापन से दूर हो सकता है। नवीनकर्मबन्ध से यदि बचना चाहते हो और संसार के दुःखों से, संसार परिभ्रमण से बचना चाहते हो तो कर्मबन्ध योग्य भावों से बचना चाहिए।

दृष्टान्त—जैसे-मकान में कचरा फैला हो तो कैसे साफ होता है ? झाड़ू लगाने के भाव करने मात्र से साफ होता है क्या ? नहीं। तो झाड़ू लगाने मात्र से साफ होता है क्या? नहीं, किन्तु झाड़ू लगाने के साथ-साथ कचरा आने के द्वार को बन्द करना भी आवश्यक होता है, क्योंकि यदि हवा के साथ कचरा आने का द्वार यदि बन्द नहीं किया जायेगा और झाड़ू लगाते रहेंगे तो जितना कचरा साफ किया जायेगा उतना पुनः आ जायेगा तो मकान कैसे साफ होगा ? उसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा के साथ-साथ नवीन कर्मबन्ध से भी बचना चाहिए और कर्मबन्ध से बचने के लिए कर्मबन्ध के योग्य भावों से बचना चाहिए।

अनादिसम्बन्धे च अनादि से कर्म धारा-प्रवाह से रह तो रहे हैं परन्तु हमेशा के लिए भविष्य में चिपके रहें, ऐसा नहीं है। जो कर्म को छोड़ने का प्रयास करते हैं तो उनके लिए कर्म हमेशा के लिए नहीं चिपकेंगे। 'च' से ऐसा अर्थ भी निकाला जा सकता है। आज तक एक भी ऐसी घटना नहीं घटी कि कोई मर गया हो और उसे आयुकर्म न बंधा हो। यह संभव ही नहीं है। भले ही असंक्षेपाद्धाकाल में आयुकर्म बंधेगा, पर बंधेगा अवश्य। यह अनिवार्य है। आयुकर्म के बन्ध के लिए मध्यम लेश्या होती है। मध्यमलेश्या के द्वारा आयुकर्म बाँधकर ही आगे की यात्रा होती है। पर्व के दिनों में कहा था कि यदि दुःख से बचने का उद्देश्य है तो उन भावों से बचना चाहिए जो दुःख के कारण हैं। उन भावों को रोकने का प्रयास करना चाहिए। **तत्त्वार्थसूत्र** में एक सूत्र आया है **सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः** योग का निग्रह दो प्रकार का है—१. पाप का आस्रव रोकने रूप गुप्ति, २. पुण्यक्रिया रोकने रूप गुप्ति। तेरहवें गुणस्थान में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती में ही पुण्यक्रियाओं को रोकने का कार्य या सहज उपक्रम होता है। उसके पहले के गुणस्थानों में पापास्रव को रोकने रूप उपक्रम होता है। इस प्रकार ये दो प्रकार की गुप्ति हो गई। इन गुप्तियों के द्वारा संवर होता है।

आज हमारे पास इनमें से कौन सी भूमिका है ? पुण्य को रोकने रूप भूमिका तो नहीं है, पाप को जरूर रोका जा सकता है। इतना पुरुषार्थ हो जाये तो भी बहुत है। ''मेरे भाव ही मेरे लिए कारण हैं।'' कभी-कभी अपनी ही छाया अपने को धोखा दे देती है। ऐसा लगता है कि जैसे कोई आ रहा है। लेकिन वह कोई नहीं होता। अपनी ही छाया होती है। जैसे-प्राकृतभाषा में मूल गाथाएँ होती है, उसकी संस्कृत छाया भी की जाती है। संस्कृत छाया से अर्थ निकालने वाले कभी-कभी धोखे में आ

जाते हैं। इसलिए एक लेखक ने लिखा था कि प्राकृतगाथा की छाया नहीं बननी चाहिए। प्राकृत की छाया को संस्कृत में क्यों बनाते हैं ? तात्पर्य यह है कि **हमारे भाव ही हमारे दु:ख के कारण हो जाते हैं।** इसलिए यदि दु:ख से छूटना चाहते हो, कर्मों से मुक्त होना चाहते हो तो दु:ख के कारणभूत भावों को रोको। दु:ख से छूटना चाहते हो और दु:ख के कारणभूत भावों को करते जाते हो तो मुक्ति कैसे संभव है ? **अपने ही भावों द्वारा अपना संसार खड़ा होता है।** हमारा उपयोग प्रत्येक पल यही कहता है कि इनके कारण हमें परेशानी हो रही है, लेकिन यह भी तो ध्यान रखो कि उनके द्वारा सुरक्षा भी तो होती है। कहते हैं, अड़ोस-पड़ोस नहीं चाहिए था, तो रहो अकेले। इनके कारण परेशानी महसूस होती है। लेकिन अपने भाव अच्छे हों तो उन्हीं के द्वारा सहयोग भी मिलता है। कहने का तात्पर्य यह कि हमारे भाव ही हमारे लिए सुख-दु:ख के कारण हैं, दूसरों के नहीं। वे तो निमित्त मात्र बनते हैं। नोकर्म फल नहीं देता, किन्तु फल देने में सहयोगी होता है। किसी-किसी व्यक्ति के हित के लिए तीर्थंकर निमित्त बनते हैं और किसी के लिए कोई सामान्य व्यक्ति ही निमित्त बन जाता है। **उपादान जोर मारता है तो सामान्य निमित्त से ही काम हो जाता है।** कभी-कभी अच्छी-अच्छी औषधियों से रोग नहीं जाता और कभी-कभी मात्र कालीमिर्च लेने से भी ठीक हो जाता है। तो उसी को आप रामबाण औषधि कह दें, यह तो ठीक नहीं। औषधि अपनी जगह पर है और कालीमिर्च अपनी जगह है। पुण्यकर्म के योग में कालीमिर्च भी औषधि का काम कर देती है तथा पापकर्म का योग हो तो रामबाण औषधि भी काम नहीं करती। इसी प्रकार नोकर्म, कर्मफल में निमित्त होते हैं, उपादान नहीं और कर्म के फलने में भी हमारे भाव ही कारण होते हैं। वे ही काम आते हैं। बहुत प्रशस्त अनुभाग सहित कर्मफल हो पर वर्तमान में भाव ठीक नहीं हों तो घटिया फल मिलता है और भाव बहुत अच्छे हों लेकिन प्रशस्तकर्म का अनुभाग घटिया है तो भी प्रशस्त फल मिलेगा। क्योंकि भाव के अनुरूप ही साक्षात् काम होता है। भाव करना छोड़ दें तो कर्म-कर्तृत्व भी छूट जायेगा।

जिज्ञासा—कर्तृत्व से विराम कब होता है ?

समाधान—वीतराग परम सामायिक स्वरूप उपेक्षा संयम रूप निर्विकल्पसमाधि के समय बुद्धिपूर्वक रागादि भावों से विराम होने पर कर्म-कर्तृत्वभाव छूट जाता है।

जिज्ञासा—अविरति व विरति का क्या अर्थ है ?

समाधान—अध्यात्मदृष्टि से रागद्वेष भावों से पूर्णरूपेण विरत हो जाना विरति है। पाँचों पापों से पूर्णरूपेण विरत होना भी विरति है। एकदेश पापों से विरति होना, विरताविरति है। किन्तु पापों से विरति नहीं होना, अविरति है। संयमासंयम को ही विरताविरति कहते हैं। इसे संयममार्गणा में स्वीकार किया है। किन्तु तप:कर्म में उसकी परिगणना नहीं की है, क्योंकि आचार्यों ने कहा है कि -**संयमासंयमोऽपि संयमप्रतिपक्षत्वात् असंयमो इव** अर्थात् संयमासंयम को संयम का प्रतिपक्षी होने से असंयमवत् कहा है, क्योंकि संयमासंयम में त्रसहिंसा का तो त्याग होता है पर स्थावर हिंसा से विरत

नहीं होती। आरम्भादि भी होता है। आरम्भ में जीवहिंसा होती है। त्रसहिंसा व स्थावरहिंसा दोनों में संकल्पी हिंसा नहीं होती। आत्मा में जब तक सन्तुष्टि न हो तब तक व्रत का पालन सम्भव नहीं होता। व्रती पहले अतिथि को आहार देता है, बाद में स्वयं भोजन करता है। जैसा कि **छहढाला** में कहा है कि **मुनि को भोजन देय, फेर निज करहिं आहारे।** व्रती सोचता है कि अब व्यवस्था गवर्मेन्ट को करना है, हमने तो उनकी सदस्यता को स्वीकार कर लिया है। अब तो उन्हें चिन्ता है, नहीं तो उसका यश कम हो जायेगा। कहीं भी चले जायें गवर्मेन्ट सर्वेन्ट रिटायर भी हो जाये तो भी फ्री टिकट होता है। गवर्मेन्ट सर्विस वालों को भी पास मिलते हैं। कभी कोई सत्याग्रह के लिए गये हों तो उन स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी के लिए भी टिकट फ्री होता है। फर्स्ट क्लास का टिकट मिलता है और साथ में एक व्यक्ति और आ जाये तो उसको भी फ्री जाने को मिलता है। इस प्रकार जो विश्वास करके आरम्भ-परिग्रह का कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग कर देता है वह व्रत के मार्ग में आगे बढ़ता जाता है। आचार्य कहते हैं कि–**ऐसी मुद्रा रखो, कि जहाँ जाओ वहाँ, जैसा चाहो वैसा मिल जाता है। इस श्रद्धान के बल पर ही वीतराग शुद्धात्मानुभूति रूप या उपेक्षासंयम रूप भाव का जब प्रादुर्भाव हो जाता है उस समय कर्मबन्ध नहीं होता। उस केन्द्रबिन्दु को ध्यान में रखकर कार्य करते हैं तो कर्मबन्ध नहीं होता। अज्ञान नहीं होता है तो भी कर्मबन्ध नहीं होता।** चिदानन्दमय शुद्धात्मानुभूति के साथ होने वाला सम्यग्ज्ञान अलग होता है और तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन के साथ जो सम्यग्ज्ञान होता है वह अलग होता है। कर्मबन्ध अज्ञान के कारण होता है, अज्ञान तो अविरति है और अविरति प्रथम गुणस्थान में है तो मिथ्यात्व भी निश्चित रूप से है। कर्तृत्व और कर्मत्व इन दोनों से छुटकारा तब मिल सकता है जब जीव उपेक्षासंयम को धारण करता है। एक अन्तर्मुहूर्त क्या, एक समय के लिए भी उपेक्षासंयम में रह जाते हैं तो सारी की सारी कर्मव्यवस्था फेल हो जाती है। जबकि सुबह से शाम तक रत्नत्रय के साथ शुभोपयोग की भूमिका में रहते हैं, तो उतनी कर्मनिर्जरा नहीं होती। यही एकमात्र कारण है कि **आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी** श्रमणों से बार-बार कहते हैं कि **श्रामण्य को अंगीकार करो, श्रमणता वहीं है, जहाँ समता है। प्रवचनसार** में एक गाथा आती है–

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥

(अधिकार ३, गाथा ४१)

अर्थात् जिसकी दृष्टि में शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, प्रशंसा-निंदा, पाषाण-स्वर्ण, जीवन-मरण में समता भाव होता है, वह श्रमण कहलाता है। यह श्रमण का समवसरण है। इसी श्रमणता के साथ शुद्धात्मानुभूति होती है। श्रमण बार-बार इसी की प्राप्ति का उपक्रम करता है।

दृष्टान्त–जैसे-फसल की प्राप्ति के लिए किसान पानी भरता है और खेत में छिड़क देता है, खाली होने पर फिर भरता है, फिर छिड़क देता है। इस प्रकार अनेक बार पानी भरने और सींचने की

क्रिया करता है तभी उसे समीचीन उपयुक्त फसल की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार श्रमण भी बार-बार शुद्धात्मानुभूति की साधनसामग्री को प्राप्त करता है। पश्चात् शुद्धोपयोग होता है। वहाँ से नीचे आने पर पुनः शुद्धोपयोग की साधनसामग्री से शुद्धोपयोग तक पहुँचता है फिर नीचे शुभोपयोग में आता है। इस प्रकार हजारों बार पुरुषार्थ होता है तब शुद्धात्मानुभूति रूपी फसल की प्राप्ति होती है।

यहाँ प्रसंग में मिथ्यात्व का अर्थ अज्ञान है या वीतराग सम्यग्दर्शन का अभाव है। अज्ञान का अर्थ वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान का अभाव है तथा मिथ्याचारित्र का अर्थ कषाय का सद्भाव है। इसलिए आचार्य बार-बार कहते हैं कि यहाँ जो मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र है वह निर्विकल्पसमाधि से च्युति स्वरूप है। अध्यात्मदृष्टि से बहिर् अतति गच्छति इति बहिरात्मा अर्थात् उपयोग का शुद्धोपयोग से बाहर जाना मात्र ही बहिरात्मा है। किन्तु आगम की दृष्टि से **छहढाला** के अनुसार **देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्व मुधा है।** अर्थात् जो शरीर और आत्मा को एक मानता है वह मुधा है, मिथ्यादृष्टि है, बहिरात्मा है। देखो, कोश देखने का भी एक तरीका होता है। यदि उसे सही ढंग से नहीं जानेगा तो सही अर्थ नहीं निकाल पायेगा। आगम में शब्दार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, नयार्थ और अन्त में भावार्थ आता है। इसी के अनुसार तत्त्व की व्याख्या करना चाहिए। कोई भी प्रसंग हो, सर्वप्रथम शब्द का अर्थ देखना। बाद में कौन से मत का विषय है ? यह देखना। किस आगम का है ? किस विवक्षा में लिखा गया है ? इत्यादि सब कुछ समझकर किस प्रयोजन से लिखा गया है ? उसका भावार्थ क्या है ? इस पर भी मुख्यता से ध्यान देना आवश्यक है। सामने वाला बहुत गलत कह रहा है, एकदम ऐसा मत कहो। पहले उक्त प्रकार से विचार करो, बाद में निर्णय निकालो। यहाँ श्रमण को भी अज्ञानी कहा जा रहा है, तो वह कौन से देवी-देवताओं की आराधना या पूजा आदि करता है जो अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) कहा ? पूजा आदि नहीं करते हुए भी शुद्धोपयोगी श्रमण जब शुभोपयोग में आ जाता है तो अज्ञानी संज्ञा दी जाती है। श्रमण को कहा गया है कि शुभोपयोग में आने के उपरान्त भी शुद्धोपयोग की ही बार-बार चर्चा करो, उसी की भावना करो, जिससे पुनः वहीं पहुँच जाओ। शुभोपयोगी श्रमण की यही चर्या होती है कि वह शीघ्र ही शुभ से शुद्ध की ओर पहुँच जाये। वह अपने को पूर्णरूपेण अशुभ से बचाता है। अशुभ से बचकर शुभ से शुद्ध की ओर जाने की कोशिश करना यही सही मोक्षमार्ग है। इसी मार्ग में आगे बढ़ने की रेस होती है।

दृष्टान्त—जैसे-रेस होती है तो उसमें दौड़ने वाले प्रतियोगियों के लिए अपने-अपने कई रास्ते होते हैं। एक व्यक्ति जहाँ से दौड़ रहा है उसकी सीमा के अन्दर दूसरा नहीं आ सकता। दूसरे के लिए अलग अयन (गली) होता है। जैसे-सूर्य, चन्द्रमा के अयन यानि चलने के मार्ग अलग-अलग घुमावदार होते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी घुमावदार मार्ग होते हैं, उनमें बीच-बीच में किलोमीटर लिखे रहते हैं, उसे वह घुमावदार समझ में नहीं आता। उसी प्रकार मोक्षमार्ग में आप अपनी परिधि देख लो। अपनी क्षमता देख लो, कितना किस तरह कर सकते हैं ? यह देख लो। सरागभूमिका में आते हैं तो

अशुभ से बचने की पूरी कोशिश करना चाहिए। तथा जब श्रमण शुद्धोपयोग में रहता है तो शुभ-अशुभ आस्रव से बच जाते हैं। शुद्धोपयोग कहो, वीतरागचारित्र कहो, अभेदरत्नत्रय कहो, निर्विकल्पसमाधि कहो इत्यादि सभी एकार्थवाची हैं।

जो मिथ्यात्व और अज्ञान को एक मानता है वह अध्यात्म के रहस्य को समझ नहीं सकता। वह समयसार के गूढ़ अर्थों को उद्घाटित नहीं कर सकता। सही-सही विवक्षा को नहीं समझ सकता, क्योंकि वह सही-सही आगमार्थ को नहीं जानता।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को निमित्त बनाकर कर्म अपना फल देते हैं उसमें स्वयं का उपयोग भी सहयोगी बनता है। कषायभाव होने में पूर्व की स्मृति भी कारण बन सकती है। साक्षात् निमित्त देखने में ही आये, ऐसा जरूरी नहीं है। इस स्मृति को वासना काल कहते हैं। जैसे कोई घटना याद आ गई और कषायभाव उखड़कर पुनः होने लगा, यह वासना है। कर्मकाण्ड नामक सिद्धान्तग्रन्थ में भी वासनाकाल का प्रकरण आया है। सम्यग्दर्शन के विषय में भी कहा गया है कि एक बार उपशम सम्यग्दर्शन छूटने पर पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल व्यतीत होने पर पुनः करण करने पर ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होगा। वेदककाल के भीतर क्षयोपशमसम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता है। उपशम सम्यग्दर्शन वेदककाल व्यतीत होने पर ही पुनः उत्पन्न होता है। चतुर्थ एवं पंचमगुणस्थान में असंख्यातलोकप्रमाण अध्यवसाय स्थान होते हैं। इतने परिणाम कैसे होते हैं ?

दृष्टान्त—एक संख्या के उपरान्त एक हजार संख्या आने में कितना समय लगता है। तो ९९९ संख्या लांघेंगे तभी एक हजार संख्या प्राप्त होगी। किसी के पास ९९ पैसे हैं, वह एक रुपया करना चाहता है तो एक पैसा मिलाने पर एक रुपया हो जायेगा। कोई अरबपति बनना चाहता है तो क्या करना होगा ? पहले ९९ करोड़ ९९ लाख ९९ हजार ९९९ रुपये ९९ पैसे हैं, तो भी अरबपति नहीं कहलायेगा। एक पैसा कम होने पर भी वह अरबपति नहीं कहलायेगा। उसमें एक पैसा जोड़ देगा तो अरबपति बन जायेगा। इसी प्रकार मिथ्यात्व कहते ही प्रथम गुणस्थान समझना उचित नहीं है, क्योंकि १२३ भद्रमिथ्यादृष्टि जो सम्यग्दर्शन के सम्मुख हैं वे ऐसे परिणामों से सम्पन्न होते हैं कि डायरेक्ट विदेहक्षेत्र जाकर आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उनके इतने जल्दी कौन से परिणाम हो जाते हैं, कुछ पता नहीं, किन्तु इतना अवश्य है कि उनके भद्रपरिणाम होते हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि जिसने आज तक त्रस पर्याय भी प्राप्त नहीं की हो, वह भी निगोद से सीधे मनुष्यपर्याय को प्राप्त करके आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में रत्नत्रय प्राप्त करके केवलज्ञान को प्राप्त कर सकता है। तत्पश्चात् जघन्यकाल में मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। ऐसा कैसे होता है ? क्यों होता है ? आचार्य कहते हैं—यह सब संभव है, परिणामों की बात है, इसीलिए तो कहा है कि असंख्यातलोकप्रमाण अध्यवसाय स्थान होते हैं।

शुद्धोपयोग के दो भेद होते हैं—१. धर्मध्यानात्मक और २. शुक्लध्यानात्मक। धर्मध्यान के भी दो भेद होते हैं—१. सरागधर्मध्यान और २. वीतरागधर्मध्यान। छठवें गुणस्थान तक सरागधर्मध्यान और

सातवें से दसवें गुणस्थान तक वीतराग धर्मध्यान होता है। कुछ आचार्यों के मतानुसार धर्मध्यान दसवें गुणस्थान तक भी होता है।

इस प्रकार अज्ञानी और सम्यग्ज्ञानी जीव के स्वरूप प्रतिपादन की मुख्यता से दूसरे स्थल में छह गाथायें पूर्ण हुईं। इस प्रकार द्विक्रियावादी का निराकरण करते हुए विशेष व्याख्यान के रूप में कही हुई बारह गाथायें पूर्ण हुईं। अब फिर भी ११ गाथाओं से उपसंहार रूप में आचार्यदेव इसी द्विक्रियावादी के निराकरण के विषय में और भी व्याख्यान करते हैं।

उत्थानिका—अब सबसे पहले यह बताते हैं कि परभावों को भी आत्मा करता है, ऐसा जो व्यवहारी लोग कहा करते हैं, वह सब उनके मोह की ही महिमा है–

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥१०५॥

अन्वयार्थ— **(ववहारेण दु)** व्यवहार से **(इह)** जगत् में **(आदा)** आत्मा **(घडपडरथाणि दव्वाणि)** घट पथ रथादि वस्तुओं को **(करणाणि य)** और इन्द्रियों को **(विविहाणि)** अनेक प्रकार के **(कम्माणि)** क्रोधादि द्रव्य कर्मों को **(य णोकम्माणि)** और शरीरादिक नोकर्मों को **(करेदि)** करता है।

अर्थ—यह आत्मा व्यवहारनय से घट-पट और रथ आदि वस्तुओं को करता है और इन्द्रियादिक को करता है तथा ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म, शरीरादिक नोकर्म व क्रोधादिक भावकर्मों को भी करता है।

कर्त्ता कुम्हार घट का व्यवहार से है,
वो क्योंकि निश्चित सहायक बाह्य से है।
होता उसी तरह जीव निमित्त कर्त्ता,
नोकर्म कर्म मन का, जिन शक्ति-भर्त्ता ॥१०५॥

व्याख्या—व्यवहारनय से आत्मा घट, पट, रथ, गाड़ी, घोड़ा इत्यादि का **करणाणि** अर्थात् इन्द्रियों का, **कम्माणि** अर्थात् ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों व क्रोधादिक भावकर्मों का तथा शरीरादिक नोकर्मों का कर्त्ता है। व्यवहार नय के उपचरित, अनुपचरित आदि भेदोपभेद होते हैं। उपादान से पृथक्भूत जो कुछ भी देखने में आता है, उसका कर्त्ता व्यवहारनय से होता है। इसमें भी जिस पदार्थ (शरीरकर्म आदि) का जीव के साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होता है तो अनुपचरित व्यवहारनय की विवक्षा से कर्त्ता होता है और एकक्षेत्र से पृथक् क्षेत्र में स्थित पदार्थ का कर्त्ता उपचरित व्यवहारनय से होता है।

उपदेशकर्त्ता उपदेश सुनाता है तो व्यवहारनय से ही सुनाता है। यह भूलियो नहीं, हम भी व्यवहारनय से ही सुना रहे हैं, निश्चय से नहीं और आप लोग जो उपदेश सुन रहे हैं वह भी व्यवहार से सुन रहे हैं। उपदेश देने का भाव अशुद्धनिश्चयनय का विषय है। ऐसा सोचकर अपनी भूमिका को

प्राञ्जल बनाये रखो। सभा में सुनाने वाला सुनाता है, एक व्यक्ति नहीं किन्तु हजारों लोग सुनते हैं। किसी को पूछो कि समझ में आया ? तब वह व्यक्ति कहता है कि आपने तो उन्हीं को देखकर समझाया है इसलिए हमारी समझ में नहीं आया। स्वयं का उपयोग एकाग्र रहे तो कितने भी लोगों के बीच बात समझ में आ जाती है, अन्यथा ऐसा ही कहने में आता है कि आपने हमें कहाँ समझाया। आप समझदार होकर भी ऐसा कहते हैं। कल भजन में किसी ने कहा था कि–

मंदिर में बैठी चार सखियाँ, करें जिनवाणी की बतियाँ।
पहली कहे महाराज के कान बड़े तेज हैं, वे सुई गिरने की आवाज सुन लेते हैं,
पड़गाहन में नमोऽस्तु की आवाज सुनत नईयाँ। करें जिनवाणी की बतियाँ...
दूसरी कहे महाराज की आँख बड़ी तेज हैं, छोटे से छोटे जीव देख लेत हैं।
पड़गाहन में हमारी तरफ देखत नईयाँ। करें जिनवाणी की बतियाँ...

इस प्रकार आप लोग बोलते हैं तो हम भी व्यवहार से सुन लेते हैं। निश्चय में यह सुनना-सुनाना कुछ होता ही नहीं है, व्यवहार में ही सब कुछ होता है। जैसे–मनःपर्ययज्ञान ईहापूर्वक होता है। जब कभी भी आपकी इन्द्रियों का व्यापार होता है वह इच्छापूर्वक होता है, उद्देश्यपूर्वक होता है। ईहापूर्वक मनःपर्ययज्ञान होता है इसलिए मुनि उसके प्रयोग के समय प्रमाद की भूमिका में आ जाते हैं। इच्छापूर्वक होने से प्रवृत्ति में गाढ़ता आती है इसलिए जो चतुर साधक होते हैं वे प्रमाद में आकर भी बहुत जल्दी अपने उपयोग को अप्रमाद रूप में डायवर्ट कर लेते हैं, यह बहुत अच्छा है, लेकिन बहुत कठिन है।

दृष्टान्त–जैसे ४०°-५०° का कोण एकदम नहीं बनता है, जिसका अभ्यास अच्छा होता है वही जल्दी बना सकता है। इसी तरह जैसे–रिवर्स में गाड़ी चलाना कठिन है। रिवर्स में बहुत जल्दी वही चला पाता है जिसका अभ्यास अधिक होता है। इसी प्रकार प्रमाद से वही बच पाता है जो अप्रमत्त की भावना भाता है और अपने उपयोग को अप्रमत्त के संस्कार से संस्कारित करता है। जिनका अप्रमत्त का संस्कार, अप्रमत्त होने का अभ्यास तथा वैराग्य तेज होता है वे ही प्रमाद से बच पाते हैं। कई लोग कहते हैं कि–भरत ने बाहुबली पर अबुद्धिपूर्वक चक्र चलाया था। जबकि यहाँ कह रहे हैं **क्रोधादि-द्रव्यकर्माणि ईहापूर्वेण** अर्थात् क्रोधादि ईहापूर्वक होते हैं। पंचेन्द्रिय के विषय स्पर्श, रस, गन्ध, रूपादि देखने में आने पर यदि रागद्वेष नहीं करते तो निर्जरा होती है अन्यथा बन्ध होता ही है। पंचेन्द्रिय विषयों का जो बुद्धिपूर्वक रागद्वेष रहित भोग करता है इसलिए वे भोग भी उसे निर्जरा के कारण होते हैं। ऐसा नहीं लगायेंगे तो भोग निर्जरा के कारण हो जायेंगे और योग बन्ध का कारण हो जायेगा ? नहीं, ऐसा कभी नहीं होता, फिर भी यहाँ रागरहित की विवक्षा है।

कहते हैं कि किसी बात का प्रतिकार करने के लिए या अपनी अनुकूलता बनाने के लिए कभी-कभी क्रोध करना आवश्यक होता है। क्रोध नहीं करेंगे तो लोग मानेंगे नहीं। फिर भी क्रोध तो क्रोध

है। उससे बन्ध होगा ही होगा। मोह क्रोधादि चार कषाय रूप व्यक्त होता है। सम्यग्दृष्टि होता है तो उसे प्रतिकार के लिए की गई कषाय पर भी पश्चाताप होता है, वह सोचता है कि मैंने उसे सभा में क्यों डाँटा, अच्छा नहीं किया। सूक्ष्मता से तुलना करके देखें तो क्रोध से मान पर नियन्त्रण और कठिन है तथा माया और लोभ तो और अधिक खतरनाक हैं। चारों कषायों में सबसे पहले क्रोध जाता है और लोभ सबसे अन्त में जाता है, यह ध्यान रखना। निश्चय से क्रोधादि भाव करना ही हिंसा है।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

औषधि दो प्रकार की होती है–१. तीव्र औषधि, २. सौम्य औषधि। जिस प्रकार वैद्य रोगी के अनुसार औषधि देता है उसी प्रकार सौम्य क्रोध और तीव्र क्रोध दो प्रकार के भेद हैं। यदि सौम्य क्रोध से काम नहीं चलता तो परिस्थितिवश तीव्र क्रोध से प्रतिकार करना पड़ता है। क्रिया-प्रतिक्रिया दो के बीच होती है। अज्ञानी जीव बल का अतिरेक करता है, अपनी पहलवानी बताता है। व्यवहार निभाने में कई प्रकार के कषायभाव, रागद्वेष आदि हो जाते हैं। यहाँ तक कि कई प्रकार की मूढ़ताएँ भी पलती रहती हैं। यह सब व्यामोह है जो कि सत्य नहीं है। इसलिए ज्ञानी अकेले चर्या करता है, सबके बीच जाता भी है तो उसकी सबके बीच रहकर भी अपने में रहने की साधना होती है।

उत्थानिका–अज्ञानी के यह मूढ़ता क्यों पलती है, सो आचार्य कहते हैं–

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥१०६॥

अन्वयार्थ–(जदि सो) यदि वह (आत्मा) **(णियमेण तम्मओ होज्ज)** नियम से तन्मय हो तो **(परदव्वाणि)** पर द्रव्यों को **(करिज्ज)** करे **(जम्हा)** परन्तु **(तम्मओ ण)** तन्मय नहीं होता **(तेण सो)** उस कारण वह **(तेसिं कत्ता)** उनका कर्ता **(ण हवदि)** नहीं है।

अर्थ–यदि आत्मा परद्रव्यों को भी करे तो उन परद्रव्यों के साथ नियम से तन्मय हो जावे, परन्तु तन्मय तो होता नहीं है। इसलिए वह उनका कर्त्ता नहीं है।

मानो कुम्हार घट निश्चय से बनाता,
क्यों कुम्भ रूप ढल तन्मय हो न पाता।
कर्त्री स्वकार्य घट की मृतिका अतः है,
कर्त्ता निजातम रहा निज का स्वतः है ॥१०६॥

व्याख्या–यदि आत्मा घट-पट आदि परद्रव्यों को भी नियमपूर्वक अवश्य ही करने वाला हो तो वह उनसे तन्मय हो जाये, लेकिन यह आत्मा शुद्धस्वाभाविक अनन्त सुख आदि को छोड़कर परद्रव्य के साथ तन्मय तो होता नहीं है। इसलिए आत्मा परद्रव्यों का उपादान रूप से कर्त्ता नहीं होता

है। यदि आत्मा उपादान रूप से घट-पटादि परद्रव्यों को करता है तो आत्मा को परद्रव्य रूप होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। यह सब सुनते-सुनते और हमें बताते-बताते कई वर्ष हो गये फिर भी परद्रव्य के साथ व्यामोह नहीं छूटा। कहते हैं-उसका नशा उतर गया, बहुत अच्छा हो गया, परन्तु दूसरे का नशा उतारने का नशा उतारना है कि नहीं ? यह बताओ। अपना नशा भी तो उतारो। नशा उतारते-उतारते पुनः चढ़ जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह व्यामोह छोड़ दो। अठारह वर्ष तक तो बच्चों को पाला, पोसा था। अब हम कुछ नहीं जानते। यदि कर्त्तव्य समझकर ऐसा कहता है तो ठीक है, लेकिन परद्रव्य के कर्त्तापन में कभी कोई तन्मय नहीं होता। इसलिए उपादान रूप से उसका कर्त्ता नहीं होता। कितने तीर्थंकर हो गये, तीर्थंकरों ने अपने नाम के लिए कुछ नहीं किया, लेकिन आज नाम का ऐसा भूत सवार होता है कि उसके पीछे बड़े-बड़े साधक भी चक्कर काटते रहते हैं। आत्मा परद्रव्य का कर्त्ता तन्मय रूप से नहीं होता। भले ही वह कितनी भी तन्मयता अर्थात् लगन से कार्य करे। संसारी प्राणी दूसरे के साथ बड़ी तन्मयता के साथ कार्य करता है। लेकिन सम्मान के यदि चार शब्द नहीं मिलते हैं तो वह खेद-खिन्न हो जाता है। बड़ा वैचित्र्य है। ज्ञानी इस व्यवहार में रहना नहीं चाहता है। देखो, कुम्भकार एक दृष्टि से घट का निमित्त रूप से भी कर्त्ता नहीं है, क्योंकि उसका योग-उपयोग घट का कर्त्ता होता है। तात्कालिक उसका योग-उपयोग ही घट का कर्त्ता होता है, क्योंकि उपयोग के बिना सुप्त अवस्था में थोड़े ही कुम्भकार घट बना पाता है। इस प्रकार जानने से साधक किसी भी प्रकार का विकल्प होने पर सोचता है कि उस समय मेरे वैसे भाव हो गये थे, अभी मैं उसका कर्त्ता नहीं हूँ। ऐसा विचार कर तत्सम्बन्धी प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त, पश्चाताप करके सामायिक में बैठ जाता है। जो साधक सावधान रहता है वह किसी के निमित्त से विकल्प होने पर या किसी को अपने निमित्त से विकल्प होने पर, सामने वाले से स्वयं क्षमा माँग लेता है और सामने वाले द्वारा क्षमायाचना करने पर क्षमा कर देता है। सामने वाला क्षमा करे या न करे लेकिन स्वयं निर्विकल्प हो जाता है। वर्षों तक अपने पास कषाय नहीं रखता। अन्तर्मुहूर्त में सब कुछ ठीक-ठाक करके बैठ जाता है।

करै सो पावै—

ऐसी स्थिति भी आ जाती है कि गाली देने वाला दूसरा था वह हाथ जोड़कर कह देता है कि गलती हो गई अब मैं माफी माँगता हूँ, प्रायश्चित्त करता हूँ, आप भी मुझे क्षमा कर दो। इस प्रकार उत्तमक्षमा धर्म को अपनाकर, निर्विकल्प होकर अन्तर्मुहूर्त में विशुद्ध होकर केवलज्ञान को प्राप्त कर सकता है। **करे सो पावै, भजे सो भावै।** अज्ञान-दशा में किये गये अपराध का पश्चाताप ऊँसई ऊँसई नहीं होना चाहिए। दूसरों को दिखाने के लिए नहीं होना चाहिए, प्रायश्चित्त तो सही भावों से होना चाहिए। **अंतो अंतो डज्झमि** कहा है अर्थात् अन्तरंग से होना चाहिए। **प्रायश्चित्त ग्रन्थों** में लिखा है कि **कोई व्यक्ति गलती करता है तो पश्चाताप यानी गलती स्वीकार करने से चार आना दोष दूर हो जाता है। गुरु के सामने कहने से या निन्दा-गर्हा करने से और चार आना दोष कम हो जाता**

है। प्रायश्चित्त लेने पर दोष चार आना और कम हो जाता है तथा प्रायश्चित्त करके सामायिक में बैठ जाता है तो पूर्ण रूप से दोष दूर होने पर निर्दोष हो जाता है।

अज्ञानदशा में बंधा कर्म भी प्रायश्चित्त व पश्चाताप से ढीला हो जाता है। अतः अज्ञानदशा में बंधे कर्मों को ज्ञानपूर्वक प्रायश्चित्त विधि से ढीला कर लो। पहले गाँठ जोर से लगा देते हैं फिर उसे खोलने बैठो, तो जल्दी नहीं खुलती, किन्तु धीरे-धीरे गाँठ पर पानी डाल-डालकर गीली करके फिर ढीली करके खोलना पड़ती है। इसी प्रकार विशुद्धि के द्वारा स्थिति-अनुभाग आदि का संक्रमण किया जा सकता है।

दृष्टान्त—मान लो किसी व्यक्ति ने अपराध किया। फलतः उसे आजीवन दण्ड दे दिया गया। पश्चात् यदि वह अच्छे कार्य करने लगता है तो उसे २-३ वर्षों में छोड़ दिया जाता है। अथवा वह कैदी ही वहाँ का जेलर भी बन सकता है। ऐसा सुनने में आता है, कि जो कैदी जेल के परिसर का अच्छे से ध्यान रखता है उसे जूनियर बना देते हैं। इसी प्रकार अपराध करने वाला प्रायश्चित्त आदि के द्वारा विशुद्ध होता हुआ पूर्वकृत कर्मों के अनुभाग-स्थिति को संक्रमित करके उनसे छुटकारा पा लेता है तथा सद्गति को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—कर्त्ता दो प्रकार के होते हैं—१. उपादानकर्त्ता, २. निमित्तकर्त्ता। जो उस पदार्थ रूप परिणमन करे वह उपादान कर्त्ता है। किन्तु उस पदार्थ रूप स्वयं परिणमन तो न करे पर उसको तद्रूप परिणमा देवे वह निमित्त कर्त्ता कहलाता है। जिसका कथन करना व्यवहार है। आचार्य देव उपादानकर्त्ता को दृष्टि में रखकर कहते हैं कि आत्मा घट-पटादि को भी बनाने वाला हो तो उस रूप में परिणमन करना चाहिए। किन्तु वह उस रूप परिणमन नहीं करता है अतः वास्तव में उपादान रूप से वह उनका कर्त्ता नहीं होता। (आचार्य ज्ञानसागर जी)

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि केवल उपादानरूप से कर्त्ता नहीं होता, यह बात नहीं है किन्तु निमित्त रूप से भी आत्मा घट-पटादि का कर्त्ता नहीं होता –

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य सो तेसिं हवदि कत्ता ॥१०७॥

अन्वयार्थ— (जीवो) जीव **(घडं ण करेदि)** घट को नहीं करता **(णेव पडं)** पट को भी नहीं करता **(सेसगे दव्वे णेव)** शेष द्रव्यों को भी नहीं करता परन्तु **(जोगुवओगा)** योग और उपयोग **(तेसिं उप्पादगा)** उन घट पटादि के उत्पन्न करने में निमित्त **(कत्ता हवदि)** कर्ता है।

अर्थ—जीव कभी भी घट को नहीं करता, न पट को ही करता है और न शेष द्रव्यों को ही करता है। जीव के योग और उपयोग दोनों घट-पटादि की उत्पत्ति करने में निमित्त होते हैं। इन दोनों योग-उपयोग का यह आत्मा करने वाला होता है।

कर्त्ता नहीं जड़ अचेतन वस्तुओं का,
आत्मा निमित्त तक भी न घटादिकों का।
योगोपयोग जिनमें कि निमित्त होते,
योगादि को कर कुधी जड़ सत्य खोते ॥१०७॥

व्याख्या—इस गाथा में आचार्य कह रहे हैं कि उपादान रूप से ही क्या निमित्त रूप से भी जीव घट-पटादि शेष द्रव्यों का कर्त्ता नहीं होता। यदि वह उनका कर्त्ता हो तो हर समय अविच्छिन्न रूप से उन्हें करता ही रहे ? लेकिन ऐसा नहीं होता। तब प्रश्न उठता है कि उनका कर्त्ता कौन है ? समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि आत्मा का विकल्प और व्यापार रूप जो योग और उपयोग है जो कि स्वयं विनश्वर हैं, वे उनके उत्पादक हैं। जीव इनका कर्त्ता कब होता है ? जब यह आत्मा अपने शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव वाले परमात्मस्वरूप से भ्रष्ट होता है उस समय यह जीव उपर्युक्त योग और उपयोग का किसी समय कर्त्ता होता है, सर्वदा नहीं। यहाँ योग शब्द से हस्तादिक का हिलना-डुलना और उपयोग शब्द से अन्तरंग घट बनाने के विकल्प को ग्रहण करना चाहिए।

हमें प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, अत्यन्ताभाव का अध्ययन कर लेना चाहिए। जिस भाव से कर्मबन्ध हुआ है तो उससे विपरीत भाव करने से वह कर्मनाश को प्राप्त हो सकता है, क्योंकि वह प्रागभाव प्रध्वंसाभाव के रूप में परिवर्तित हो चुका है। वर्तमान पर्याय का पूर्वपर्याय में अभाव प्रागभाव है तथा पूर्वपर्याय का वर्तमान पर्याय में अभाव प्रध्वंसाभाव है। भाव तात्कालिक होता है, त्रैकालिक नहीं। अतः तात्कालिक भाव कर लिया और आगे बढ़ गये। उन्हीं भावों में उलझना नहीं, तो गलतियाँ ठीक हो सकती हैं। ज्ञानी कर्म का बंधक नहीं होता है। किन्तु ज्ञानी का जघन्यभाव बन्ध का कारण होता है। आस्रवाधिकार में इस विषय को पुष्ट करने वाली एक गाथा है—

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण॥१७९॥

अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीनों जब तक जघन्य अवस्था अर्थात् अबुद्धिपूर्वक कषायभाव से परिणत होते हैं यानि यथाख्यात अवस्था को प्राप्त नहीं होते तब तक ज्ञानी जीव भी गुणस्थान के अनुसार नाना प्रकार के पौद्गलिक कर्मों से बँधता ही रहता है। अतः जघन्य भाव को छोड़ते जाओ और उत्कृष्ट भावों को अपनाते जाओ तो अबन्धक दशा को प्राप्त हो जाओगे। लेकिन हम बन्धक हैं ही नहीं। फिर भी बन्ध हो रहा है, तो हम क्या करें ? ऐसा विचार नहीं करना चाहिए।

दृष्टान्त—जैसे-जेल में कोई कैदी कहता है कि अपराध करना मेरा स्वभाव नहीं है। मेरी हेबिट (आदत) में नहीं है। किसी की संगति में आकर कर लिया तो कर लिया, हो गया तो हो गया। लेकिन वर्तमान में मैं कैदी नहीं हूँ, मैं तो यहाँ बहुत अच्छे भाव कर रहा हूँ, ऐसा कहे तो ठीक है क्या ? नहीं, यह उसकी अज्ञानता मानी जायेगी क्योंकि यदि स्वयं अपराध नहीं करता तो जेल में क्यों जाता ? उसी

प्रकार जो जीव संसार की जेल में रहते हुए, अज्ञान से कर्मबन्ध करते हुए भी यदि कहें कि अज्ञान मेरा स्वभाव नहीं है, अतः उससे होने वाले बन्ध का मैं कर्त्ता नहीं हूँ, ऐसा कहना उसका ठीक नहीं है। किन्तु ज्ञानदशा में अज्ञानदशा कृत कर्म उदय में आते हैं, तो उस समय परिणाम बहुत अच्छे–ज्ञानमय परिणाम रहते हैं अतः नवीन कर्मबन्ध नहीं होता, क्योंकि उस समय ज्ञानी कर्म उदय को शान्ति से देखता है। वह विचार करता है कि अज्ञानदशा में मैंने क्या-क्या किया था इसे शान्ति से देखने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। पूर्व में मेरा अज्ञानभाव हो गया, यदि यह सिद्धान्त नहीं मानेंगे तो मुक्ति का मार्ग प्रशस्त नहीं होगा, मोक्षमार्ग नहीं खुल सकेगा।

निमित्त तो मात्र निमित्त है–

निमित्त तो निमित्त है। यदि कुम्भकार को निमित्त रूप से घट का कर्त्ता मानेंगे तो कुम्भकार की उपस्थिति में हमेशा घड़े बनते रहना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। फिर वास्तव में घट का निमित्तकर्त्ता कौन है ? आचार्य कहते हैं कि वास्तव में तो कुम्भकार का योग और उपयोग घट बनाने में निमित्त कर्त्ता हैं। कुम्भकार को उपचार से निमित्त कर्त्ता कहते हैं। यदि योग और उपयोग न हों तो कुम्भकार की उपस्थिति मात्र से घड़ा नहीं बन सकता। अतः आत्मा का जो विकल्प रूप उपयोग तथा हस्तादि का हिलने-डुलने रूप योग है वही निमित्त कर्त्ता रूप है। आप लोग भी किसी कार्य को अपने योग-उपयोग के द्वारा करते हैं। किसी भी वस्तु को जानने में भी आपका योग-उपयोग सहयोगी होता है। वेदक और वेद्य भाव प्रति समय नश्वर है, क्योंकि जब देखने का भाव हुआ तो दृश्य नहीं है तथा जिस समय दृश्य है तो उस समय देखने का भाव नहीं है, क्योंकि प्रत्येक समय परिणमन हो रहा है।

निर्जराधिकार में एक गाथा आयी है–

जो वेददि वेदिज्जदि समये समये विणस्सदे उभयं।
तं जाणगो दु णाणी उभयमवि ण कंखदि कयावि ॥२१३॥

अर्थात् जो रागपूर्वक जानने वाला भाव है और जो उसके द्वारा जाना जाता है ये दोनों ही समय-समय पर विनष्ट हो जाते हैं। इन दोनों में से जो किसी को भी अंगीकार नहीं करता है, किन्तु केवल ज्ञायक मात्र होकर रहता है वह ज्ञानी होता है। ज्ञानी जानते हैं कि वेद्य-वेदक दोनों ही नश्वर हैं, इसलिए **ण कंखदि कयावि** आकांक्षा नहीं रखते।

संसार में कोई भी जीव ऐसा नहीं है जिसकी सोचते ही इच्छा पूर्ति हो जाती है। देवों में तो सोचते ही अमृत झर जाता है, लेकिन उसमें भी गेप होता है। जिस समय इच्छा होती है उसी समय उनका मानसिक आहार होता है, ऐसा कहा जाता है। लेकिन वह भी अन्तर्मुहूर्त उपरान्त ही मिलता है। हम जो चाहते हैं उसकी पूर्ति के लिए बहुत से क्रिया-कलाप करना पड़ते हैं। जिसमें समय लगता ही है। पहले मन में कोई भी योजना बनती है, फिर वचनों के द्वारा वह व्यक्त होती है। अन्त में काय के द्वारा उसकी पूर्ति की सामग्री जुटाकर कार्य रूप परिणति होती है। तब वह हासिल होती है। संसारी प्राणी

इन कार्यों के लिए तो कृतसंकल्पित होता है, उसके लिए पूरा जीवन भी लगाना पड़े तो तैयार रहता है, लेकिन यह नहीं सोचता कि जैसा कर्म का उदय होगा वैसा ही तो मिलेगा। ऐसा सोचने पर योजना में सफलता मिले या न मिले, ज्यादा विकल्प नहीं होते। व्यक्ति को जिस समय भूख की इच्छा होती है, ठीक उसी समय भोजन नहीं मिलता। थोड़ी देर बाद जब भोजन मिलता है तो कहता है कि अब तो भूख मर गई, अब नहीं करना भोजन। समय पर नहीं मिलता है तो जी मचलता है, क्योंकि जब चाहा तब नहीं मिला। फिर भी हम इच्छा की पूर्ति मान लेते हैं, वस्तुतः पूर्ति नहीं होती। क्योंकि एक बार इच्छा पूर्ण होने पर पुनः इच्छा जागृत हो जाती है।

भगवान् का ज्ञान क्षायिक होने से और पूर्ण वीतरागता होने से उनकी प्रत्येक क्रिया इच्छा रहित होती है। जबकि हमारी प्रत्येक क्रिया इन्द्रिय और मन सहित होने से तथा रागादिक भाव होने से इच्छा सहित होती है। **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** ने **स्वयंभूस्तोत्र** में धर्मनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए लिखा है कि–हे भगवन्, आप धन्य हैं, आपकी धीरता अचिन्त्य है, महिमा अचिन्त्य है।

कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो न भवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर ! तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥४॥

अर्थात् हे नाथ! आपकी काय, वचन और मन की चेष्टायें, करने की इच्छा से नहीं हुईं तथा आपकी प्रवृत्तियाँ चेष्टाएँ वस्तु स्वरूप को ज्यों का त्यों जाने बिना नहीं हुईं। परीषहादिक तथा अन्य-मतावलम्बियों के प्रश्न आदि से चित्त को क्षुभित न करने वाले, हे धीर-वीर धर्म जिनेन्द्र ! आपका चरित्र अचिन्त्य है अर्थात् आश्चर्य करने वाला है।

यहाँ योग का अर्थ क्या है ? बहिरंग हस्त आदि का व्यापार योग है। दस प्रकार का व्यापार होता है–

पंच वि इंदियमुंडा वचमुंडा हत्थपादतणमुंडा।
मणमुंडेण वि सहिया, दसमुंडा वण्णिया समए॥

चतुर साधक कौन ?–

आरम्भादिक कार्य में ये दस प्रकार के इन्द्रिय व्यापार होते हैं। पाँचों इन्द्रिय के माध्यम से देखने की, सूँघने की, छूने की, सुनने की, स्वाद लेने की इच्छा हुई तो आपका उपयोग उस-उस इन्द्रिय के विषय की ओर जाता है फिर पंचेन्द्रिय-विषयों सम्बन्धी इच्छा को पूर्ण करने के लिए व्यापार होता है, क्रम से ही हो यह कोई नियम नहीं है। निर्विकल्प-समाधि से च्युत होने पर या शुद्धोपयोग की भावना से च्युत होने पर इन्द्रियव्यापार होता ही है। कभी-कभी हाथ-पैर हिलाये बिना सन्तुष्टि नहीं होती, यह अनर्थदण्ड नहीं, लेकिन स्वास्थ्य का प्रतीक है, इससे ब्लड सर्कुलेशन सही होता है। इन क्रियाओं के माध्यम से आत्मा बाह्य में आ जाती है अतः यह भी प्रायश्चित्त के योग्य क्रिया है। प्रायश्चित्त में कायोत्सर्ग आदि कर लेते हैं। मोक्षमार्ग में यह ठीक नहीं माना क्योंकि जो भी प्रवृत्ति होती है वह

प्रमादमूलक ही होती है। उस समय छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होता रहता है। भीतर उथल-पुथल होती है और जो भी प्रवृत्ति होती है वह बहिर्मुखी होकर ही होती है। संसारी प्राणी का यह संकल्प-विकल्प रूप कल्पवृक्ष हमेशा-हमेशा फलता-फूलता रहता है। उन्हें यह संकल्प-विकल्प रूप कल्पवृक्ष वरदान रूप में होता है। चाहे दुःख रूप विकल्प हो या सुख रूप, चाहे साता की उदीरणा हो चाहे असाता की उदीरणा हो, ये दोनों ही संकल्प-विकल्प रूप हैं। ये भूमिका के अनुसार होते हैं। लेकिन यह आत्मपुरुषार्थ है कि सुख-दुःख भोगते हुए हर्ष-विषाद न करे। इस बात का मुझे बहुत खेद है, दुःख है, तरस है ऐसा तो सब कहते हैं, पर इस बात का मुझे हर्ष है, खुशी है, ऐसा बहुत कम लोग कहते हैं।

विकल्पों से ऊपर उठने का जो प्रयास करता है वह चतुर साधक माना जाता है। अच्छे से अच्छे ज्ञानी भी हों, श्रुतकेवली भी हों वे भी छठवें गुणस्थान की प्रवृत्ति में उलझते हुए रहते हैं। तीर्थंकर को छद्मस्थ अवस्था में कई ऋद्धियाँ होने के बाद भी, विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी होने के बाद भी आहार के लिए उठने का विकल्प होता है। इसके बारे में सोचते हैं तो लगता है कि यह संकल्प-विकल्प का कल्पवृक्ष है। जबकि उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट है, सुडौल शरीर है, सुन्दरता में कोई कमी नहीं, भूख लगने पर उनका शरीर घट गया हो, कृश हो गया हो, ऐसा भी नहीं है। वर्धमानचारित्र है, ऋद्धि-सिद्धि से सम्पन्न हैं अब उसकी भी कोई आकांक्षा नहीं है। यह सब होने क बाद भी उन्हें आहार का विकल्प होता है।

शुक्ललेश्या के साथ जो अहमिन्द्र होते हैं, उनमें भी इस प्रकार की कोई घटना नहीं घटती। किसी ने पूछा था कि-वहाँ मित्रता होती होगी ? एक-दूसरों को समझाते होंगे ? क्योंकि वहाँ पर भी कषाय-समुद्घात होता है। लेकिन आचार्य कहते हैं कि वहाँ एक-दूसरे को समझाते नहीं हैं, ऐसी कोई आवश्यकता भी नहीं होती। वहाँ तो हमेशा तत्त्वचर्चा चलती रहती है। जहाँ निर्विकल्प समाधि में स्वानुभव प्रत्यक्ष के समय यह सभी विकल्प कि-मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इत्यादि रूप नहीं होते वे ही क्षण हमारे लिए बहुत दुर्लभ हैं। वे ही दुर्लभ क्षण जो सुख-दुःख के विकल्प से रहित हैं, हम सभी को उपादेय हैं, उन्हीं क्षणों में जीने का पुरुषार्थ सम्यक् पुरुषार्थ है।

विषय चल रहा था उपादान और निमित्त कर्त्ता का। यदि मुख्य वृत्ति से निमित्त कर्त्ता ही मानेंगे तो जीव हमेशा-हमेशा ही निमित्त माना जायेगा, हमेशा मोह होता रहेगा और बन्ध भी होता रहेगा, फिर सत्त्व होगा, उदय में आयेगा। फिर बन्ध होगा ऐसा होता रहेगा तो फिर मोक्ष का अभाव हो जायेगा।

विशेषार्थ—आत्मा के योग-उपयोग घटादिक बनने में निमित्त होते हैं अतः उन्हें निमित्तकर्त्ता कहा जा सकता है। परन्तु आत्मा को उनका निमित्तकर्त्ता नहीं कहा जा सकता क्योंकि आत्मा का योग और उपयोग मुख्य रूप से कर्त्ता होते हैं। हाँ, आत्मा जब समाधिदशा से च्युत अज्ञानदशा में होता है तब उस समय अपने योग-उपयोग का कर्त्ता अवश्य होता है। इसलिए व्यवहार में कहा जाता है आत्मा

घटादिक का कर्त्ता होता है, जबकि वह घटादिक का साक्षात् कर्त्ता नहीं होता। ऐसा आचार्य देव के कहने का तात्पर्य है।

उत्थानिका—आगे आचार्यदेव बतलाते हैं कि वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी जीव तो ज्ञान का ही कर्त्ता होता है, परभाव का कर्त्ता कभी नहीं होता–

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥१०८॥

अन्वयार्थ— (जे) जो **(णाणआवरणा)** ज्ञानावरणादिक **(पुग्गलदव्वाणं)** पुद्गल द्रव्यों के **(परिणामा)** परिणाम **(होंति)** होते हैं **(ताणि आदा)** उनको जो आत्मा **(ण करेदि)** करता नहीं परन्तु **(जाणदि)** जानता है, **(सो णाणी हवदि)** वह ज्ञानी है।

अर्थ—पुद्गल द्रव्यों का जो ज्ञानावरणादि रूप परिणमन होता है उसका भी कर्त्ता वास्तव में आत्मा नहीं है... इस प्रकार (स्वानुभव द्वारा) जो जानता है वह ज्ञानी होता है।

निस्सार भूत जड़ पुद्गल भाव धारे,
ये ज्ञान-आवरण आदिक कर्म-सारे।
आत्मा इन्हें न करता इस भाँति योगी,
ज्ञानी सदा समझते, तज भोग भोगी ॥१०८॥

व्याख्या—जो कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्यों का परिणमन ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म रूप होता है, उसको भी आत्मा व्याप्य-व्यापक भाव से, जैसे मिट्टी कलश को करती है, वैसे नहीं करता है। जिस प्रकार ग्वाले से गोरस भिन्न है। उसी प्रकार ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म आत्मा से भिन्न हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व और विषयकषायों का त्याग करके निर्विकल्पसमाधि में स्थित होकर जो जानता है, वह ज्ञानी होता है। जानने मात्र से ही ज्ञानी नहीं हो जाता। गाथा में मूल ग्रन्थकार ने जो ज्ञानावरण शब्द दिया है वह उपलक्षण रूप है, इसलिए ज्ञानावरण के साथ दर्शनावरण, वेदनीय आदि सभी कर्मों के साथ राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभादि सोलह भावों के साथ क्रम से व्याख्यान करना चाहिए। इसी प्रकार शुद्धात्मा की अनुभूति से विलक्षण असंख्यात लोकप्रमाण विभाव भाव हैं।

आचार्य कह रहे हैं कि पुद्गल द्रव्यों का परिणमन जो ज्ञानावरणादि कर्म रूप होता है उसका कर्त्ता वास्तव में आत्मा नहीं है। ज्ञानी को इनमें समताभाव के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध रहता है। मतलब कोई भी अवस्था हो, चाहे प्रकाश हो या अन्धकार, दोनों में ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध रहता है, अर्थात् हर्ष-विषाद नहीं करता है तो निमित्तकर्त्ता होने का भी अवकाश नहीं होता है, निश्चय में ही यह कार्य होता है।

योग, प्रयोग तथा उपयोग—

योग तथा योग-प्रयोग में अन्तर समझ में आने पर उपयोग समझ में आ जायेगा। उपयोग के

बिना प्रयोग नहीं होता है। उपयोग तो रात-दिन चलता है। लेकिन प्रयोग बुद्धिपूर्वक होता है अतः प्रयोग को रोकने को कहा है, क्योंकि जब तक छद्मस्थ अवस्था है तब तक उपयोग तो रुकेगा ही नहीं। काययोग से यदि मरण होगा तो उसी के साथ ही उत्पाद होगा। मन का, वचन का, व्याघात होगा तो काययोग ही आयेगा। वह छूट नहीं सकता। कुम्भकार मनोयोग पूर्वक ही घड़े को बनाता है। जब कोई भी क्रिया होती है तो कहते हैं, कि मनोयोग पूर्वक करिये। प्रवचनसभा आदि का प्रसंग हो तो कहते हैं कि मनोयोग पूर्वक सुनिये, क्योंकि कानों में तो शब्द आते हैं और चले जाते हैं। आप उसे मनोयोग से ही पकड़ सकते हैं। योग-प्रयोग एक प्रकार से उपयोग ही है। जैसे-मुझे घड़े का आकार देना है तो दोनों हाथों में यह जो योग-प्रयोग हुआ। क्योंकि मन में आए बिना हाथों में कुम्भाकार (घटाकार) नहीं आ सकता। कितना भी अभ्यास हो तो भी यह युगपत् क्रिया होती है। ऐसा लगता है।

दृष्टान्त—हम बोल रहे हैं तो बोलते समय ऐसा लगता है कि तीनों योग एक साथ चल रहे हैं। क्योंकि बोलते समय औंठ हिलते हैं, हाथ भी हिल सकते हैं इसलिए काययोग हो गया, वचन प्रवृत्ति होने से वचनयोग हो गया और मन में कोई न कोई विचार आता ही है अतः मनोयोग भी हो गया। इस प्रकार तीनों योग एक समय में होते लगते हैं। किन्तु ऐसा होता नहीं है। यदि तीनों का एक साथ होना मानोगे तो आगम से विरोध आयेगा। इसी प्रकार पाँचों इन्द्रियों का एक साथ व्यापार हो रहा है। कभी-कभी ऐसा लगता है, लेकिन इसमें भी आगम से विरोध आयेगा, क्योंकि आगम में कहा है कि उपयोग एक समय में एक ही इन्द्रियव्यापार में रहता है। किन्तु उपयोग की गति इतनी तीव्र होती है कि उनके विषयव्यापार का भिन्न-भिन्न समय महसूस नहीं हो पाता।

दृष्टान्त—जैसे भोजन करते समय आपने मुख में रसगुल्ला डाला, रसगुल्ले ताजे अभी-अभी के बने हुए थे। स्पर्श इन्द्रिय के द्वारा यह गरम है तथा नरम है। रसना इन्द्रिय के द्वारा यह मीठा है। घ्राणेन्द्रिय से यह सुगन्धित है। चक्षु इन्द्रिय के द्वारा इसका रंग तथा आकार-प्रकार दिखा तथा कर्णेन्द्रिय के द्वारा यह रसगुल्ला है, ऐसा सुना अथवा रसगुल्ला लेते समय कोई गीत या भजन सुन रहे हैं। मन में भी तत्सम्बन्धी विचार भी चल रहा है। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियाँ और मन एक साथ कार्य कर रहे हैं, ऐसा लगता है। जबकि ऐसा नहीं होता। कार्य एक साथ होते हुए भी उपयोग भिन्न-भिन्न समय में उन्हें अपना विषय बनाता है। अभ्यास के कारण ऐसा लगता है कि एक साथ कार्य हो रहा है लेकिन सावधानी रखने पर वस्तुस्थिति का ज्ञान होता है। उसी प्रकार छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होता रहता है। एक अन्तर्मुहूर्त में हजारों बार छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान परिवर्तन होता रहता है।

आहारचर्या के समय भी छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान बदलता रहता है। आहार की इच्छा होना छठवें गुणस्थान का प्रतीक है। शोधन करना, आहार में सावधानी होना सातवें गुणस्थान का प्रतीक है। इस प्रकार गुणस्थान परिवर्तन इतना अधिक सूक्ष्म है कि पकड़ में नहीं आता। मुख में चर्वण का कार्य चलते हुए भी इधर अंजुलि में रखे पदार्थ की एषणा प्रारम्भ हो जाती है। आहारसंज्ञा छठवें गुणस्थान तक होती

है। लेकिन आहार की क्रिया अर्थात् एषणासमिति छठवें-सातवें गुणस्थानों में होती है। आगम में भी यही कहा है।

आचार्य वीरसेन स्वामी ने **धवला** की प्रथम पुस्तक में कहा है-**संज्ञी पंचेन्द्रिय जब भी बोलता है तो वह मनोयोग के बिना नहीं बोलता। क्योंकि संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के मनोयोग पूर्वक ही वचनयोग होता है।** एक समय में एक ही योग होता है। द्वीन्द्रियादि जीव के चूँकि मनोयोग होता ही नहीं अतः उनके मनोयोग पूर्वक वचनयोग का कोई नियम नहीं होता। **सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं** कहा है अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए हेतुओं के द्वारा उसे खण्डित नहीं किया जा सकता है। यह तो आज्ञासिद्ध ग्राह्य है। तात्पर्य यह है कि इसे जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ मानकर स्वीकार कर लेना चाहिए। जिनाज्ञा पर विश्वास करना चाहिए। आचार्य बार-बार कह रहे हैं कि विषय-कषायों को बुद्धिपूर्वक छोड़ो। निर्विकल्प-समाधि प्राप्त करने के लिए परिज्ञान मात्र पर्याप्त नहीं है किन्तु रागद्वेषादि विकल्पों का छोड़ना अनिवार्य है। निर्विकल्पसमाधि में स्थिर रहे तो ज्ञानी है, अन्यथा नहीं। वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी शुद्ध उपादान से शुद्धज्ञान का कर्त्ता होता है। जैसे-उष्णादि गुणों का कर्त्ता अग्नि है, पीतादि गुणों का कर्त्ता स्वर्ण है। उसी प्रकार अनन्तज्ञानादि गुणों का कर्त्ता केवलज्ञानी है।

आगम में आत्मा का जैसा स्वभाव कहा गया है वैसा ही अनुभव होना यथाख्यात चारित्र है। यथाख्यातचारित्र अकषाय वालों के होता है। ग्यारहवें गुणस्थान से सिद्ध परमेष्ठी तक सभी जीव कषायरहित होते हैं। सिद्धपरमेष्ठी के साथ अकषाय वालों की संख्या अनन्त है तथा शेष गुणस्थानों में अपने-अपने गुणस्थान की संख्या के बराबर है।

जिस समय जीव अपने आपको पुद्गल द्रव्य का कर्त्ता मानता है तब वह ज्ञानी नहीं होता। क्योंकि शुद्धनिश्चयनय से जीव शुद्ध ज्ञानादि का तथा अशुद्धनिश्चयनय से अशुद्धज्ञानादि का कर्त्ता होता है। निश्चयनय से जीव जब जिसका कर्त्ता होता है उस समय वह तद्रूप परिणमन करता है। जीव जिसका कर्त्ता होता है उसका भोक्ता भी होता है। जब राग करता है तो राग का ही भोक्ता होता है। द्वेष का नहीं। क्योंकि राग करे और द्वेष का अनुभव हो, यह तो संभव ही नहीं है। जैसे-घट बनाते समय हाथ का घट आकार रूप व्यापार होता है। फलतः वह उस समय घट का कर्त्ता होता है। वैसे ही निर्विकल्पसमाधि से च्युत हुआ उस समय अज्ञान, अविरति आदि रूप उपयोग हो जाता है, यह कहा है अतः भूमिका के अनुसार कर्त्ता-भोक्ता का विषय घटित करना चाहिए।

शुद्धोपयोग और केवलज्ञान में अन्तर-

शुद्धोपयोग और केवलज्ञान दोनों एक नहीं हैं। केवलज्ञान प्रत्यक्ष है और अबन्धक है। शुद्धोपयोग मानसिकप्रत्यक्ष है और केवलज्ञान अनुभवप्रत्यक्ष है। शुद्धोपयोग छद्मस्थ अवस्था में होता है वह क्षायोपशमिक होता है तथा ध्यानावस्था रूप होता है जबकि केवलज्ञान क्षायिक होता है, केवली

अवस्था में होता है। शुद्धोपयोग साधन या कारण रूप होता है किन्तु केवलज्ञान साध्य या कार्य रूप है।

अज्ञान कहते ही मात्र प्रथम गुणस्थान की ओर दृष्टि जाना गलत है। मिथ्या अर्थात् विपरीत। जैसे–रागद्वेष करना आत्मा का स्वभाव नहीं है और यदि रागद्वेष किया तो विपरीत परिणमन हुआ। चारित्र का अभाव यानि मिथ्याचारित्र भी होता है और अचारित्र भी होता है। कषाय करने वाले को चारित्री नहीं माना जाता। सिद्धान्तग्रन्थों में पाँच पापों का त्याग करने वाला विरत या चारित्री माना जाता है। जबकि अध्यात्म में **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने **समयसार** में स्वयं कहा है कि **रायादिपरिहरणं चारित्तं** अर्थात् रागद्वेष का परिहार करना चारित्र है।

दृष्टान्त—जैसे कोई एम० ए० पढ़ रहा है, प्रोफेसर साहब पढ़ा रहे हैं। पढ़ाते समय कोई छात्र कुछ गलती कर देता है तो वे उससे कहते हैं–''गधा कहीं का'' तुझे किसने भेजा यहाँ पर पढ़ने के लिए? चूँकि छात्र समझता है कि मैंने गलती की है। १०० प्रतिशत नम्बर लेना कठिन है, लेकिन ३३ प्रतिशत नम्बर भी आ जायें तो वह खुश हो जाता है। कोई दूसरा इससे ज्यादा नम्बर अर्थात् ५० प्रतिशत भी ले आये तो भी वह पुरस्कार के योग्य नहीं है। क्योंकि वह ५० नम्बर से फेल है। हम उसे पढ़ाने योग्य तभी कहेंगे जब वह पी–एच० डी० कर ले, एम० डी० कर ले, एम० एड० कर ले, प्रशिक्षण ले ले। पढ़ने का प्रशिक्षण और पढ़ाने का प्रशिक्षण अलग–अलग होता है। कोई भी विद्यार्थी आई० एस० में पास हो जाता है या यू० एस० में पास हो जाता है तो उसके लिए एक–डेढ़ साल की ट्रेनिंग लेना होती है। आमुख आदि में निकल गये लेकिन टैस्ट में फेल हो गये तो भी गये। मेहनत की थी, सब कुछ किया था। टैस्ट में फेल हो गया तो वह आगे नहीं बढ़ सकता। यहाँ आचार्य कहते हैं कि–**आपको कुछ नहीं आता तो भी स्वीकार्य है पर मोक्षमार्ग में रागद्वेष करना स्वीकार्य नहीं है। जो व्यक्ति रागद्वेष नहीं करता उसे मोक्षमार्ग में सबसे जल्दी प्रवेश मिलता है। दिट्ठमग्गो** वाली बात है। जिसका लक्ष्य की ओर बार–बार ध्यान रहता है वही व्यक्ति उसे जल्दी–जल्दी हासिल करता है। वैज्ञानिक भी जब प्रयोगशाला में कोई प्रयोग करते हैं तब अपने प्रयोग के अतिरिक्त बाहर का सब भूल जाते हैं। यहाँ तक कि खाना–पीना भी गौण हो जाता है। आप लोगों ने सुबह–सुबह सूर्य की ओर देखा होगा, पहले तो वह लाल–लाल दिखता है और इसके आसपास भी लाल–लाल दिखता है। अब यदि थोड़ी देर तक उसी की ओर देखते रहो आँखों की टिमकार भी नहीं करो, तो फिर सूर्य के अलावा कुछ नहीं दिखता।

आपका कर्म भी नोकर्म के अनुसार परिवर्तित होता जाता है। मान लो पहले साता की उदीरणा हो रही थी किन्तु नोकर्म की प्रतिकूलता का संयोग होने पर असाता की उदीरणा चालू हो जाती है। जैसे–जब निषद्या परीषह सहन करने बैठ गये, आसन लगा दिया, थोड़ी देर बाद सहन नहीं हो रहा तो असाता की उदीरणा चालू हो गई। सहायक तत्त्वों से पीला भी नीला हो जाता है। सफेद भी काला पड़ जाता है। जैसे–तेज पुंज सूर्य को पाँच मिनट देख लेते हैं तो आँखों के सामने काला–काला हो जाता है।

नोकर्म के अनुसार कर्म अन्तर्मुहूर्त में परिवर्तित होकर आ जाते हैं। मात्र नोकर्म के अनुसार नहीं किन्तु कर्म के अनुसार सारा का सारा फल मिल रहा है। उस समय ऐसी शान्त धारणा बनाई जाती है कि जो पदार्थ जिस रूप में है उसे उससे विपरीत भी बनाया जा सकता है। जो कर्म हमारे अनुकूल नहीं है तो अन्य साधनों के माध्यम से अर्थात् प्रत्याहार, धारणा आदि के माध्यम से उसे अनुकूल बना सकते हैं। यह सब साधक की साधना का फल है। धारणा पद्धति के माध्यम से भी उपयोग को एकाग्र बनाने की प्रक्रिया है।

इस प्रकार जैसे एक काला रंग है तो उसके भेद प्रकृति की अपेक्षा अनेक होते हैं। वैसे ही क्रोधादि भाव के भी असंख्यातलोक प्रमाण भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन सामान्य से एक भेद वाला होता है, उत्पत्ति की अपेक्षा निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक की अपेक्षा तीन भेद होते हैं तथा स्वामी की अपेक्षा असंख्यातभेद तथा विषय की अपेक्षा अनन्त प्रकार का होता है। अध्यात्म में भी निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के दो भेद होते हैं। निश्चयसम्यग्दर्शन, वीतरागसम्यग्दर्शन रूप होता है तथा व्यवहारसम्यग्दर्शन, सरागसम्यग्दर्शन रूप होता है।

उत्थानिका—वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी ज्ञानभाव का ही कर्त्ता होता है किन्तु ज्ञानावरणादि परद्रव्य का कर्त्ता नहीं होता, ऐसा आगे बतलाते हैं—

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०९॥

अन्वयार्थ—**(आदा जं)** आत्मा जिस **(सुहमसुहं)** शुभ अशुभ **(भावं)** अपने भाव को **(करेदि)** करता है **(स तस्स)** वह उस भाव का **(कत्ता खलु)** निश्चय से कर्ता होता है **(तं तस्स)** वह भाव उसका **(कम्मं होदि)** कर्म होता है **(सो अप्पा दु)** वही आत्मा **(तस्स वेदगो)** उस भाव रूप कर्म का भोक्ता होता है।

अर्थ—वास्तव में आत्मा अपना शुभ या अशुभ जैसा भी भाव करता है तो वह अपने भाव का करने वाला होता है और वह भाव ही उसका कर्म होता है। तथा अपने भाव रूप कर्म का ही भोक्ता भी होता है।

आत्मा शुभाशुभ विभाव जभी करेगा,
कर्त्ता तभी नियम से उसका बनेगा।
यों बार-बार कर कर्म कुधी सरागी,
है भोगता दुःख कभी सुख दोष भागी ॥१०९॥

व्याख्या—आत्मा शुद्ध-अशुद्ध जिन भावों को करता है उनका वह निश्चित रूप से कर्त्ता होता है और वह उसका कर्म हो जाता है तथा उन्हीं भावों का वेदक भी होता है। जैसे—आत्मा राग भाव का

कर्त्ता है तो रागभाव का वेदक भी है। कर्म के उदय-उदीरणा के काल में उसी का वेदक होता है। अशुद्धनिश्चयनय से रागादि का कर्त्ता होता है। असद्भूतव्यवहारनय से ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का कर्त्ता होता है। अशुद्धनिश्चयनय से अज्ञानी जीव अशुद्धउपादान रूप से मिथ्यात्व आदि भाव कर्मों का ही कर्त्ता होता है। ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का आत्मा को कर्त्ता असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से कहा गया है। इस कारण अशुद्धनिश्चयनय को निश्चय की संज्ञा दी गई है तो भी नैमित्तिक या परसापेक्ष होने से उसे शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय में गर्भित किया गया है। **नियमसार** ग्रन्थ में कहा है कि—क्षायिक भाव भी आत्मा का स्वभाव नहीं है, क्योंकि वह भी कर्म सापेक्ष है, यानि कर्म के क्षय से क्षायिक भाव उत्पन्न होता है। त्रैकालिक भाव ही स्वभाव होता है।

जिज्ञासा—हे भगवन्! आपने अशुद्ध उपादान रूप से आत्मा को रागादि भावों का कर्त्ता बताया है तो क्या उपादान भी शुद्ध-अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का होता है ?

समाधान—अग्नि के द्वारा गर्म किए हुए लोहे के पिण्ड के समान आत्मा औपाधिक भावों को स्वीकार किये हुए है, वह अशुद्ध उपादान होता है, किन्तु जो निरुपाधिक सहज भाव को स्वीकार किये हुए है वह शुद्ध उपादान कहलाता है। जैसे-सोना अपने पीतत्वादि गुणों का, सिद्ध जीव अपने अनन्तज्ञानादि गुणों का और अग्नि अपने उष्णत्वादि गुणों का उपादान है। इस प्रकार शुद्ध या अशुद्ध उपादान स्वरूप के व्याख्यान के समय सभी स्थान पर स्मरण रखना चाहिए।

जिज्ञासा—आत्मा रागादि भावों का कर्त्ता कैसे ?

समाधान—जैसे-लोहे को अग्नि से तपाये जाने पर उसमें ललाई आ जाती है, किन्तु अग्नि का संयोग दूर होने पर ज्यों ही वह ठण्डा होने लगता है, त्यों ही उसकी ललाई समाप्त होती जाती है। फलस्वरूप लोहा पूर्व रूप में आ जाता है। इसी प्रकार तप्त लोहे के समान आत्मा के एक-एक प्रदेश में कर्मोदय होने से राग की ललाई आ जाती है किन्तु कर्मोदय का अभाव होने पर ललाई समाप्त हो जाती है। उपाधि से रहित आत्मा सिद्ध के समान स्वर्ण पीतवत् रहेगा।

जहाँ भी शुद्ध उपादान का प्रसंग लेंगे वहाँ एक-दूसरे में आरोप नहीं किया जाता। परभावों को उपादानरूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता। कभी-कभी ऐसा होता है कि उसको समझा दे... तो समझाते समय यह भाव आ जाता है कि हमारी समझ उसमें आ जाये। लेकिन ऐसा नहीं हो सकता। हमारी समझ दूसरों में कैसे आ सकती है। स्वयं का उपादान जागृत हो तो समझ आये। कोई किसी का उपादान नहीं बदल सकता है। हाँ, उपादान बदलने में निमित्त बन सकता है। फिर भी यदि कर्म का तीव्रोदय है तो उसकी समझ में आ ही नहीं सकता और वह भी कहता है कि मेरे लिए आप क्यों इतनी मेहनत कर रहे हो, कुछ नहीं होने वाला है। डिप्टी कलेक्टर या कलेक्टर बहुत मुश्किल से एकाध बन पाता है। कर्मों के उदय में जिस रूप में परिणाम होगा वैसा ही कहा जायेगा।

उत्थानिका—आगे आचार्य बताते हैं कि कोई भी किसी भी प्रकार के उपादान से परभाव का

कर्त्ता नहीं होता–

जो जह्मि गुणो दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं॥११०॥

अन्वयार्थ– (जो गुणो) जो गुण **(जह्मि दव्वे)** जिस द्रव्य में होता है **(सो अण्णम्हि दव्वे)** वह उसको छोड़कर अन्य द्रव्य में **(ण दु संकमदि)** कभी नहीं जाता **(सो अण्णमसंकंतो)** और वह अन्य द्रव्य में नहीं जाता तब वह **(कह तं परिणामए दव्वं)** अन्य को कैसे परिणमा सकता है अर्थात् नहीं परिणमा सकता।

अर्थ–जो गुण जिस द्रव्य में होता है वह उसको छोड़कर अन्य द्रव्य में कभी नहीं जाता और जब वह अन्य द्रव्य में नहीं जाता तब वह अन्य को कैसे परिणमा सकता है? कभी नहीं परिणमा सकता।

जो द्रव्य आप अपने-अपने गुणों में,
होता न संक्रमित है पर के गुणों में।
वो अन्य को परिणमा सकता हि कैसे ?
अन्धा भला पथ दिखा सकता हि कैसे ? ॥११०॥

व्याख्या–चेतन रूप या अचेतन रूप गुण जिस चेतन या अचेतन द्रव्य में अनादि सम्बन्ध से स्वभावतः प्रवर्तमान है, वह उसे छोड़कर कभी भी किसी अन्य द्रव्य में नहीं जाता। अतः जब वह चेतन या अचेतन गुण अन्य में नहीं जाता, तब वह अन्य द्रव्य को उपादान रूप से कैसे परिणमा सकता है? कभी नहीं परिणमा सकता। इसलिए यह बात निश्चित हुई कि यह आत्मा पुद्गल द्रव्यों का कर्त्ता नहीं है।

जो गुण जिस द्रव्य में विद्यमान है, वह उसको छोड़कर अन्य द्रव्य में कभी नहीं जा सकता। कहा भी है–**द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।** अर्थात् जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं लेकिन स्वयं निर्गुण होते हैं वे गुण कहलाते हैं। एक गुण किसी दूसरे गुण को आश्रय नहीं देता। **गुण का यह गुण है कि वह अन्य गुणों की अपेक्षा निर्गुण होता है अर्थात् एक गुण दूसरे गुण का आधार नहीं होता।** जैसे धन होने से व्यक्ति धनी होता है वैसे ही द्रव्य में गुण होने से गुणी होता है। द्रव्य का परिणमन अपने-अपने गुण रूप ही होता है।

इष्टोपदेश में **आचार्य पूज्यपादस्वामी** ने एक कारिका लिखी है–

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गते धर्मास्तिकायवत् ॥३५॥

अर्थात् अज्ञ, विज्ञता को प्राप्त नहीं हो सकता तथा विज्ञ, अज्ञता को प्राप्त नहीं हो सकता, ये तो गति में धर्मास्तिकाय के समान निमित्तमात्र होते हैं।

तीर्थंकरों की भी भावना होती है कि सबका कल्याण हो, पर कर नहीं पाते। उनकी निश्चय की ओर दृष्टि रहती है। उनको यह भी ज्ञात होता है कि प्रत्येक द्रव्य का परिणमन अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार होता है। अत: वे पर-कल्याण की भावना तो रखते हैं, लेकिन हठात् कल्याण नहीं कर सकते।

उत्थानिका—यही बात आचार्यदेव आगे की गाथा में कहते हैं—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि।
तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता ॥१११॥

अन्वयार्थ— **(आदा)** आत्मा **(पुग्गलमयम्हि कम्मम्हि)** पुद्गलमय कर्म में **(दव्वगुणस्स य)** द्रव्य तथा गुण को **(ण कुणदि)** नहीं करता **(तम्हि तं)** उसमें उन **(उभयमकुव्वंतो)** दोनों को न करता हुआ **(सो तस्स कत्ता)** वह उसका कर्ता **(कहं)** कैसे हो सकता है ?

अर्थ—आत्मा पुद्गलमय कर्म में द्रव्य को अथवा गुण को नहीं करता है। जब वह उसमें उन दोनों को नहीं करता तब वह उसका कर्त्ता कैसे कहा जा सकता है ?

तादात्म्य धार निज द्रव्य निजी गुणों से,
आत्मा उन्हें कर रहा कि युगों-युगों से।
पाया सुयोग विधि पुद्गल का तथापि,
स्वामी न आतम बना विधि का कदापि ॥१११॥

व्याख्या—जैसे मिट्टी का कलश बनते समय मिट्टी कलश को तन्मय होकर करती है, वैसे कुम्हार मृत्तिका सम्बन्धी वर्णादिक को तन्मय होकर नहीं करता। उसी प्रकार आत्मा भी पुद्गलमय द्रव्यकर्म के विषय में पुद्गल द्रव्य सम्बन्धी वर्णादि को तन्मय होकर नहीं करता और जब आत्मा वर्णादि को तन्मय होकर नहीं करता तब जीव को पुद्गल के विषय में कर्त्ता कैसे कहा जा सकता है ? कभी नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य यह है कि आत्मा पुद्गलमय कर्म में द्रव्य को अथवा गुण को नहीं करता है। जब वह उसमें उन दोनों (द्रव्य, गुण) को नहीं करता तब वह उसका कर्त्ता कैसे कहा जा सकता है ? यह बार-बार इसलिए कहा जा रहा है कि हमारा उपयोग बार-बार यह रहस्य सुनने के बाद भी उसी पुद्गल की ओर दौड़ जाता है। जीव का यह ऐसा स्वभाव बन गया है कि जीव एक सेकण्ड के लिए भी कर्त्ता-कर्म भाव से रहित नहीं होता है। भले ही कर्त्ता-कर्म अधिकार का अध्ययन बहुत अच्छे ढंग से करे तो भी इस विषय में इतना अभ्यस्त हो गया है कि किसी भी प्रकार से उसे भुला नहीं पा रहा है। भुलावे में डाल दो तो भी अबुद्धिपूर्वक से भी ज्यादा बुद्धिपूर्वक जैसा ही करता चला जाता है।

अभ्यास करो शुभ ध्यान का—

किसी ने कहा—आप हमें ध्यान सिखा दीजिए। तो हमने कहा—आप तो हमसे भी ज्यादा ध्यान

में माहिर हैं। लेकिन कौन से ध्यान में माहिर हैं ? इस पर ध्यान दीजिए। संसार के कारणभूत आर्त्त-रौद्र दोनों ध्यान करने में संसारी प्राणी चूँकि अनादिकाल से इन्हें करता आ रहा है इसलिए उनमें माहिर है। इन दोनों ध्यानों को आपको करना नहीं पड़ता, ये तो होते ही रहते हैं। यहाँ तक कि धर्मध्यान करते-करते भी आर्त्तध्यान कर लेते हैं और भी विशेष बात यह है कि धर्मध्यान की व्याख्या/चर्चा करते-करते भी आर्त्तध्यान हो जाता है। आँखें लाल हो जाती हैं। इसका इतना अभ्यास हो चुका है कि उसे बताने की आवश्यकता ही नहीं है। किन्तु **परे मोक्षहेतू**। अर्थात् मोक्ष के कारणभूत धर्मध्यान और शुक्लध्यान का अभ्यास आज तक नहीं किया, जबकि बुद्धिपूर्वक धर्मध्यान करने का अभ्यास करने की आवश्यकता है। इनका अभ्यास कीजिए। **अपरे मोहहेतू।** अर्थात् मोह के कारणभूत आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान का अभ्यास अनादि से हो ही रहा है। इसके अभ्यास को छोड़कर धर्मध्यान करने का अभ्यास प्रारम्भ करो।

जिस प्रकार मृण्मय कलश कर्म है और कुम्भकार कर्त्ता है। लेकिन उपादान कर्त्ता तो मिट्टी ही है। मिट्टी का लौंदा ही कलश रूप परिणमन करता है। कुम्भकार घड़े रूप तथा उसके गुण रूप परिणमन नहीं करता। उसी प्रकार आत्मा भी पुद्गलकर्म का कर्त्ता तो है, लेकिन उपादान रूप से कर्मवर्गणायें ही कर्म रूप परिणमन करती हैं, क्योंकि आत्मा पौद्गलिक कर्मद्रव्य रूप तथा उनके वर्णादि गुण रूप परिणमन नहीं करता। किन्तु आत्मा के परिणामों के निमित्त से कर्मवर्गणायें स्वयं कर्म रूप परिणमन करती हैं। चाहे प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव हो चाहे तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव हो, कर्मबन्ध करते हुए भी तन्मय रूप नहीं होता। आगम में ऐसा कहा है कि बन्ध की प्रक्रिया प्रथम गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक होती है। उपचार से या निमित्त रूप से जीव कर्म का कर्त्ता होता है। जब एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने पर भी कर्त्ता-कर्म की भिन्न-भिन्न प्रक्रिया घटित हो रही है तो फिर भिन्न-भिन्न देश में पृथक् रूप से रहने वाली चेतन-अचेतन वस्तुओं के साथ हमारा जो सम्बन्ध है, वह तो बिल्कुल ही पृथक् है, उनके हम कर्त्ता कैसे हो सकते हैं ? तथा वह हमारा कर्म भी कैसे हो सकता है ? यह बहुत चिन्ता का और चिन्तन का विषय है। हमारे अन्दर अज्ञान के कारण ही कर्तृत्व भाव होता है और अज्ञान की भूमिका में मोह भी हम पर विशेष हावी होता है अथवा प्रभाव डालता है। इसलिए हम ऐसे-ऐसे मोह के कार्य करते चले जाते हैं। फिर भी आचार्य कहते हैं कि भीतरी व्यवस्था को देखो, इसे देखने पर ऐसा लगता है कि पानी, पानी रूप और दूध, दूधरूप रहता है। अभिप्राय यह है कि जड़ पदार्थ का जड़ रूप में तथा चेतन का चेतन रूप में परिणाम होता रहता है। योगस्थानों के साथ भी जीव का तादात्म्य नहीं है।

जब अपूर्वस्पर्धकों के बारे में पढ़ते हैं तो वह घटना सामने आ जाती है। तब ऐसा लगता है कि आत्मा के प्रदेशों का योगस्थान के रूप में कैसे परिणमन हुआ ? आत्मा के प्रदेशों को योगस्थानों से जब पृथक् कराया तब अपूर्व-अपूर्व स्पर्धकों को करता चला जाता है। अर्थात् पूर्व में जो स्पर्धक था

वह नहीं रहता। श्रेणी में भी जहाँ मोहनीयकर्म के अपूर्व स्पर्धकों का कार्य होता है उस समय भी शुक्लध्यान के माध्यम से शक्त्यंशों को क्षीण करके कमजोर किया जाता है और अपूर्वस्पर्धकों को बनाया जाता है।

अपूर्वस्पर्धकों का निर्माण कैसे ?—

दृष्टान्त—जैसे मैथीदाना में कड़वापन होता है। उसे जब तक धोयेंगे नहीं तब तक उसका कड़वापन कम नहीं होता। उसमें अपूर्व स्पर्धकत्व नहीं आता। उसी प्रकार कैरी (कच्चा आम) को भी पहले धोया जाता है, उसकी खटास कम की जाती है। धतूरे के बीज को भी धोने पर उसकी मारकत्व शक्ति कम की जाती है। यदि उसे बिना धोये या उसकी मारण शक्ति को कम किये बिना ही उपयोग में लिया जाता है तो मरण की सम्भावना बनी रहती है, किन्तु जब उसकी मारणशक्ति को कम करके अर्थात् जहर के शक्त्यंश को कम करके उसके अपूर्व शक्त्यंश निर्मित हो जाते हैं तब वह औषध रूप में काम आ जाता है। उक्त सभी चीजें सीधे-सीधे काम में नहीं ली जातीं। इसी प्रकार तेरहवें गुणस्थान में तृतीय शुक्लध्यान के द्वारा अपूर्व स्पर्धक निर्मित होते हैं उस समय स्पर्धकों की स्थिति-अनुभाग आदि इतनी कम हो जाती है कि वह जीव चौदहवें गुणस्थान में जाने योग्य हो जाता है। लेकिन कर्म की प्रकृति उस समय भी कड़वाहट से युक्त रहती है अर्थात् उन स्पर्धकों में कड़वाहट के शक्त्यंश पूर्ण समाप्त नहीं होते किन्तु उनमें कड़वाहट का अस्तित्व बरकरार रहता है। इसे दूसरे दृष्टान्त से भी समझ सकते हैं।

दृष्टान्त—जैसे-आपको बुखार आ गया या कोई अन्य रोग हो गया हो तो रोग के प्रभाव के कारण खून के शक्त्यंश कम होते जाते हैं। मारक तत्त्व का प्रभाव पड़ने से शक्त्यंश कम हो जाते हैं। फलतः रोग की शक्ति के कारण एच० बी० का गाढापन कम हो जाता है अर्थात् खून का पानी रूप भी हो सकता है। नवीन ताजा खून बनता नहीं है और जो शरीर में खून है वह भी पानी रूप हो जाता है। पौष्टिक चीज का सेवन करे तो भी खून नहीं बनता। कितना भी योग्य भोजन करे तो भी कुछ असर नहीं होता। उसी प्रकार कर्म जो बंधते हैं वह योगस्थान तथा कषायस्थानों को लेकर बँधते हैं, पश्चात् विशुद्धि के द्वारा कर्मों की शक्ति को कमजोर करके अपूर्वस्पर्धक बना लिए जाते हैं। एक और उदाहरण याद आ गया कि-

दृष्टान्त—जैसे-किसी बर्तन में पानी भरा रखा है। अचानक वह लुढ़क गया तो जहाँ ढलान होती है उस तरफ पैर से दो-चार रेखाएँ बना दी जाती हैं तो वह पानी उस ओर लुढ़क जाता है। आठ-दस रेखा खींचने से पानी जल्दी फैल जाता है और सूख भी जाता है। उसी प्रकार योग की शक्ति को भी अपूर्व-स्पर्धक के द्वारा छिन्न-भिन्न किया जाता है। आत्मा के प्रदेशों को भी अपकर्षित कर देता है। जिस स्थान पर हैं वहाँ से अपकर्षित कर दिया जाता है और छिन्न-भिन्न कर दिया जाता है जिससे अब वह आगे नहीं जा सकता।

उक्त प्रसंग को इस तरह भी समझा जा सकता है कि मानलो किसी व्यक्ति का हाथ या पैर टूट गया या चोट आ गई तो उसे मोड़ कर बाँध दिया जाता है। जिससे खून की गति पुनः भीतर की ओर चली जाये। खून बहना बन्द हो जाये। इसी प्रकार योगस्थानों के माध्यम से भी ऐसा ही कार्य किया जाता है। सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान में कायगत सूक्ष्म स्पन्दन रहता है। मनोगत, वचनगत तथा बादरकायगत श्वासोच्छ्वासगत स्पन्दन तो समाप्त हो जाते हैं, काय की स्थूलता भी कम होकर सूक्ष्म रह जाती है।

दृष्टान्त—जैसे लालटेन जल रहा है और आप उसे बुझाना चाहते हैं तो पहले उसकी बाती को कम कर देते हैं तथा इस प्रकार की सावधानी रखते हैं कि बाती गिरे भी नहीं और बुझ जाये, ऐसा करते हैं, क्योंकि कल उसे फिर जलाना है। तो चन्द्रमा की एक कला भर रह जाये उतनी बाती रह जाती है। तो थोड़ा यूँ हिला दिया या फूँक मार दी तो बुझ जाती है। इसी प्रकार आत्मा योगस्थानों तथा कषाय अध्यवसायस्थानों को अनुभाग स्थानों को कम-कम करता जाता है। फिर भी यह ध्यान रखता है कि उनके रूप, रस, गन्धादिक गुणों का कर्त्ता आत्मा नहीं है। आत्मा के परिणामों के निमित्त से कर्म बँधते हैं। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। केवली भगवान् अपने ही गुणस्थान में होकर पहले के योगस्थानों को असंख्यातगुणित कम कर लेते हैं। **पश्चिमस्कन्ध** नामक एक प्रकरण **कसायपाहुड** ग्रन्थ में आता है। उसमें केवली समुद्घात, योगनिरोध आदि की अत्यन्त सूक्ष्म व्याख्या विस्तार से की गई है। तेरहवें गुणस्थान में होने वाले आवर्जितकरण का भी वर्णन किया गया है।

चेतन कभी अचेतन नहीं होता—

चेतन द्रव्य कभी भी परस्वरूप अर्थात् अचेतन स्वरूप से परिणमन नहीं करता। अतः चेतन उपादान रूप अचेतन पदार्थ का कर्त्ता नहीं होता। जैसे-स्फटिक मणि सफेद है। उसके सामने किसी भी रंग का पदार्थ रखने पर वह मणि उस रंग रूप परिणमन कर जाता है। चूँकि स्फटिक मूर्तिक है अतः मूर्तिक का मूर्तिक पदार्थ के साथ सम्बन्ध घटित हो जाता है। लेकिन आत्मा की ऐसी स्थिति नहीं है कि पूर्व में वह स्फटिक के समान सफेद या शुद्ध रहा हो, बाद में कर्म का उदय आने से अशुद्धरूप परिणमन हुआ हो। ऐसा कभी नहीं होता कि पहले शुद्ध अवस्था में जीव सदाशिव, सदामुक्त रूप रहा हो बाद में कर्म का संयोग होने पर संसार में आ गया हो। आगम का तो यह सिद्धान्त है कि शुद्ध जीव के साथ उपाधि का सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु अनादि से बन्धनबद्ध जीव शुद्धनिश्चयनय से शक्ति रूप से अमूर्त है पर व्यक्ति रूप से व्यवहारनय से मूर्त है। अतः उसके साथ मूर्त उपाधि का सम्बन्ध बन जाता है, ऐसा आचार्यों का अभिप्राय है।

आत्मा कब से अशुद्ध है ? अनादि से अशुद्ध है। किसी से कहा जाये कि अनागत के बारे में सोचो, कहाँ तक सोच पाते हो ? मन से नहीं सोच पाते तो बुद्धि के द्वारा अनागत को विषय बनाओ। जैसे लोक के आगे अलोकाकाश है। बुद्धि के द्वारा वहाँ बढ़ते जाईये, बढ़ते जाईये। जब तक वापिस

लौटने का न कहा जाये तब तक बढ़ते जाईये। कभी पूर्व दिशा में कभी पश्चिम दिशा में, कभी दक्षिण दिशा में, कभी उत्तर दिशा में बुद्धि को दौड़ाइये। फिर कोई दिक्कत हो तो बताईये। कभी ऊपर, कभी नीचे, कभी दिशा में, कभी विदिशा में। जहाँ भी बुद्धि से दौड़ोगे वहाँ सर्वत्र **अकाशस्यानन्ताः।** आकाश अनन्त रूप है। उसका कहीं भी और कभी भी अन्त नहीं है। काल की विवक्षा और क्षेत्र की विवक्षा में विचार करें तो दोनों की अपेक्षा अनन्त है। अर्थात् काल भी अनन्त है और क्षेत्र भी अनन्त है।

दूसरी बात दूध में किसी ने कभी घी नहीं डाला। काष्ठ में किसी ने कभी अग्नि नहीं डाली। उसी प्रकार आत्मा के बारे में भी पहले क्या था ? उसके पहले क्या था ? इस प्रकार सोचते-सोचते जो ज्ञान होगा वह आपको ऐसी झुंझलाहट में डाल देगा कि आप यही कहेंगे कि किसी के कारण से नहीं किन्तु हम अपने भावों के कारण ही उलझते हुए कर्मों का निर्माण करते आ रहे हैं। किसी के द्वारा आत्मा को उलझाया नहीं गया है। मैं तो स्वयं अपने भावों से अनन्तकाल से उलझता आया हूँ। **क्षेत्र-काल के बारे में आगे, पीछे, ऊपर, नीचे कहीं भी देख लो ओर दिखे ना छोर वाली बात है। मात्र एक पर्याय के बारे में सोचते-सोचते तो ऊब जाते हैं और अनन्त पर्यायें कैसे निकाल दी यह पता ही नहीं...।** आप लोग तो सोच रहे हैं कि जो नहीं सोचता है वही निर्विकल्प रहता है। नहीं सोचने में ही आनन्द है। या तो बारहवें गुणस्थान में विशेष सोच नहीं होती या असंज्ञी जीव नहीं सोचते। सोचने से बहुत कुछ बातें होती हैं। मन व्याकुल होता है। बाद में पश्चाताप होता है। मन के द्वारा ही सब वैचित्र्य होते हैं। इस प्रकार चार गाथाओं द्वारा निश्चयनय की मुख्यता से व्याख्यान का प्रकरण समाप्त हुआ।

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यहाँ यह स्पष्ट किया है कि कोई भी जीव प्रारम्भ में शुद्ध से अशुद्ध हुआ हो, एकाकी होकर भी अन्य द्रव्य के साथ मिश्रित हुआ हो, ऐसा नहीं है। किन्तु तिल का तेल के साथ में जिस प्रकार सदा का सम्बन्ध है, उसी प्रकार संसारी जीव के साथ अनादि से ही प्रवाह रूप से द्रव्यकर्मों का सम्बन्ध है, जिससे यह संसारी आत्मा कथंचित् मूर्त बना हुआ है। पकड़ में आने वाला है और पर द्रव्यों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए रागादि भावों से नये-नये कर्म बाँधता रहता है। किन्तु जब यह जीव अपने शुद्ध स्वरूप को जान लेता है तब परद्रव्यों में रागद्वेष करना छोड़कर अपने शुद्धस्वरूप में लीन हो जाता है। तब इसे नूतन कर्मों का बन्ध भी नहीं होता और पुरातन कर्म जो इस आत्मा के साथ लगे हुए हैं वे भी निर्जीण होकर पृथक् हो जाते हैं। तब यह आत्मा सदा के लिए मुक्त हो जाता है, जन्म-मरण के दुःखों से दूर हो जाता है, यह जैनदर्शन का सार है।

उत्थानिका—इससे यह बात सिद्ध हुई कि आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्त्ता है, ऐसा जो कहा जाता है वह उपचार मात्र है, यही बतलाते हैं–

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमेत्तेण ॥११२॥

अन्वयार्थ– (जीवम्हि हेदुभूदे) जीव में निमित्त रूप होने पर **(बंधस्स दु)** कर्मबंध के **(परिणामं)** परिणाम को **(पस्सिदूण)** देखकर **(जीवेण)** जीव के द्वारा **(कम्मं कदं)** कर्म किया जाता है यह **(उवयारमेत्तेण)** उपचार मात्र से **(भण्णदि)** कहा जाता है।

अर्थ–जीव के निमित्तभूत होने पर कर्मबन्ध की पर्याय होती है, ऐसा देखकर उपचारमात्र से यह कहा जाता है कि कर्म जीव के द्वारा किये हुए हैं।

अज्ञानि का विकृत भाव निमित्त होता,
तो आप पुद्‌गल अहो! विधि रूप होता।
जीवात्म ने विविध कर्म किये इसी से,
माना अवश्य उपचार किया खुशी से ॥११२॥

व्याख्या–जीव के रागादि परिणाम निमित्तभूत होने पर कर्मबन्ध की पर्याय होते हैं। ऐसा देखकर उपचार मात्र से यह कहा जाता है कि कर्म जीव के द्वारा किये हुए हैं। निमित्त दो प्रकार के होते हैं–१. प्रेरकनिमित्त, २. उदासीननिमित्त। प्रेरकनिमित्त को देखने पर लगता है कि जीव कर्त्ता है और उदासीननिमित्त की ओर देखते हैं तो अपने आप कर्त्ता–कर्म की ओर से दृष्टि हट जाती है। उदासीनता अपने आपमें महत्त्वपूर्ण है।

दृष्टान्त–जैसे आप भगवान् के पास दिन में तीन–चार बार जाते हैं तो भी भगवान् क्यों नहीं बोलते हैं ? मन में यह भाव तो आता ही होगा कि भगवान् हमसे बोलें। लेकिन ध्यान रखो, भगवान् उदासीन निमित्त हैं। उदासीननिमित्त को देखकर हम अपना ज्यादा समय नहीं देते हैं और प्रेरक निमित्त मिल जाये तो उसे कोई छोड़ता नहीं है। भगवान् के पास जाता है तो आशीर्वाद नहीं मिलता है, अतः वहाँ बैठता ही नहीं है, किन्तु यहाँ पर आशीर्वाद मिलने की आशा रहती है, इसलिए बैठ जाता है। आशीर्वाद के साथ यदि बोलने का अवसर मिल जाये तो बार–बार वहीं–वहीं जाता है। तेरहवें गुणस्थानवर्ती साक्षात् भगवान् विहार भी करते हैं, उपदेश भी देते हैं, दिव्यध्वनि खिरती है, वहाँ भी भगवान् के चरणस्पर्श करने की इच्छा या भावना होगी तो भी नहीं कर सकते। क्योंकि वहाँ समवसरण में पहले से ही ऐसी व्यवस्था रहती है कि वहाँ तक जा ही नहीं सकते। कोई सोचे कि हम भगवान् से बात कर लें तो भी नहीं कर सकते। सामान्य व्यक्ति से बात नहीं होती। सामान्य व्यक्ति को उत्तर नहीं मिलता, किन्तु चक्रवर्ती या गणधर तथा अन्य पुण्यशाली जीवों को उत्तर मिलता है। हम–तुम जैसे साधारण व्यक्ति पूछें तो उत्तर नहीं मिलता। कोई कहता है कि भगवान् ने हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया, चक्रवर्ती के प्रश्न का उत्तर दे दिया अथवा हमारे यहाँ आहार नहीं हुआ, किन्तु बड़े–बड़े राजाओं के यहाँ ही आहार हुए। तो यह पक्षपात सा हो गया। लेकिन हमें तो ऐसा लगता है कि जैसे–आप लोग

उत्तमपात्र की गवेषणा करते हैं तो वे भी उत्तम दाता की गवेषणा करते हों। क्योंकि उनका भी जल्दी-जल्दी कल्याण हो, उत्थान हो, तो अन्य व्यक्ति भी ऐसा सोच सकते हैं कि हमारा भी ऐसा हो, हम भी ऐसा करें। वैसे तो उनकी कोई भी क्रिया इच्छापूर्वक नहीं होती फिर भी असमीक्ष्य भी नहीं होती। वस्तुस्थिति क्या है ? इसे कौन छद्मस्थ बता सकता है।

जिज्ञासा—आचार्य श्री जी, उत्तम, मध्यम, जघन्य ये तीन पात्र हैं, इनके बारे में कुछ स्पष्टीकरण कर दीजिए ?

समाधान—आज शास्त्रों में दान के बारे में थोड़ा-सा कथन मिलता है। सामान्यत: ग्रन्थों में तीन पात्रों का स्पष्टीकरण यही मिलता है कि उत्तम पात्र मुनि हैं, मध्यम पात्र देशव्रती हैं और जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टि हैं लेकिन दाता के बारे में **धवला** में एक गाथा मिली थी। **आचार्य वीरसेन स्वामी** ने **धवला** की सातवीं पुस्तक में उद्धरण के रूप में इस गाथा का समावेश किया है।

गोत्र परिचय—तत्त्वार्थसूत्र में **उच्चैर्नीचैश्च।** सूत्र है। इसमें गोत्र के दो भेद किए हैं—उच्च और नीच। लेकिन सूत्र में जो 'च' शब्द है उससे गोत्र के छह भेदों के भंग बतलाये हैं—१. उच्च-उच्च, २. उच्च, ३. उच्च-नीच, ४. नीच-उच्च, ५. नीच, ६. नीच-नीच। गोत्र की परिभाषा बतलाते हुए **गोम्मटसार कर्मकाण्ड** में आया है कि—

संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं, उच्चं णीचं हवे गोदं ॥१३॥

अर्थात् जो उच्च और नीच का आचरण कराता है उसे गोत्र कहते हैं। तथैव जो उच्च और नीच कुल का ज्ञान कराता है अथवा जो उच्च या नीच कुल को प्राप्त कराता है, उसे गोत्र कहते हैं। जिनका दीक्षायोग्य साधु आचार है, अथवा साधु आचार वालों के साथ जिन्होंने सम्बन्ध स्थापित किया है तथा जो 'आर्य' इस प्रकार के ज्ञान और वचन व्यवहार के निमित्त हैं, उन पुरुषों की परम्परा को उच्चगोत्र कहा जाता है। तथा उनमें उत्पत्ति का कारणभूत कर्म भी उच्चगोत्र है, उससे विपरीत कर्म नीचगोत्र है।

यहाँ मुख्य रूप से दो बातें बतलाई हैं—१. जन्म की अपेक्षा उच्च-नीचगोत्र। २. आचरण की अपेक्षा उच्च-नीचगोत्र। व्यक्तिगत किसी व्यक्ति के ऐसा कर्म का उदय भी होता है कि जो उच्चगोत्र में जन्म लेकर भी नीच आचरण करता है। इसी की ध्वनि उक्त गाथा में है। नोकर्म के कारण कर्म की उदीरणा होती है यह प्रसंग कर्मसिद्धान्त में आता है। उसे देखने का प्रयास करना चाहिए।

मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय की उदीरणा के लिए छह अनायतन नोकर्म हैं तथा सम्यक्त्व की उदीरणा के लिए छह आयतन नोकर्म हैं। गोत्रकर्म की उदीरणा के लिए नोकर्म के रूप में शरीर को बताया। शरीर को देखकर उच्च-नीच गोत्र की उदीरणा हो जाती है। वह स्वयं नहीं कहता कि "मैं उच्च हूँ" लेकिन उसके शरीर की योग्यता देखकर ज्ञान होता है। जैसे—श्रीपाल का परिचय सही नहीं होने से उनके लिए अपशब्द बोला गया कि "यह भाण्ड है"। लेकिन वहाँ के राजा को उनका

शरीर देखकर विश्वास नहीं हुआ कि यह भाण्ड है। अतः परिचित और अपरिचित स्थानों में भिन्न-भिन्न महत्त्व होता है। अपरिचित स्थानों में कोई नहीं जानता कि ''यह वही है'' परन्तु शरीर से उसकी पहचान होती है। अतः स्पष्ट है कि कर्म की उदीरणा में नोकर्म कारण होता है। यह ग्राउण्ड है, अन्यथा जो रसोई में नहीं जाता उसको भूख की उदीरणा ही नहीं होगी और जो रसोई में जाकर भोजन करता है उसके उदीरणा हो ही जायेगी, ऐसा कोई नियम नहीं होता। यह तो सामान्य कथन है कि गोत्रकर्म का नोकर्म शरीर है। ऐसा पढ़ा भी है और पढ़ाया भी होगा।

जब अभेद रत्नत्रय होता है तब परम उपेक्षा संयम रूप परिणमन होता है तथा उसके अभाव में जीव में रागादि भाव होते हैं। तो पुद्‌गलद्रव्य कर्मरूप परिणत हो जाता है। देखो, चन्द्रमा के साथ में अर्थात् रात में भी इन्द्रधनुष का निर्माण होता है तथा दिन में भी होता है। लेकिन शर्त है कि वर्षा होना चाहिए। प्रकाश और वर्षा का योग मिलने पर ऐसा रिफलेक्शन होता है कि वहाँ के परमाणु इन्द्रधनुष रूप परिणमन कर जाते हैं। **धवला** की तेरहवीं पुस्तक में बताया है कि रात में चन्द्रमा की उपस्थिति में जो इन्द्रधनुष की रचना होती है वह राष्ट्र के अहित, पतन या परतन्त्रता का सूचक होती है। अथवा राष्ट्र के शासक की मृत्यु का सूचक होती है। इसी प्रकार रागादि भावों को लेकर कर्म वर्गणाएँ कर्म रूप में (इन्द्रधनुष रूप में) परिणत हो जाती है। मोहनीय कर्म के उदय में जीव के जो भाव उत्पन्न होते हैं वे मोह से हुए या मोह ने कराये, ऐसा कहना उपचार मात्र है। नहीं तो सिद्धपरमेष्ठी में भी मोह करा दे, लेकिन उनके तो मोहनीय कर्म का उदय ही नहीं है। कर्म का उदय हो और भाव न हो, ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि मोहभाव औदयिकभाव है। कर्म के उदय में आत्मा में भाव होना यही तो औदयिकभाव है। उसी प्रकार हमारे रागादि भाव होने पर कर्मवर्गणाएँ कर्मरूप में परिणत हो जाती हैं, यह उपचार से कहा जाता है। आपने बोलने का भाव किया तो शब्दवर्गणाएँ शब्द रूप से परिणत हो जाती हैं। लेकिन ध्यान रखना, मात्र भाव करने से नहीं, किन्तु तालु, कण्ठ, ओष्ठ आदि का प्रयोग भी आवश्यक होता है। जैसे-'प' बोलेंगे तो ओष्ठ हिलेंगे ही। जब साइटिका या लकवा आदि हो जाता है तो शब्दवर्गणायें होने पर भी 'प' शब्द से पद्मप्रभ या परमेष्ठी आदि का उच्चारण होता है।

विशेष-सम्बोधन—अन्त समय में इस शरीर में मुख से न शब्द निकलते हैं न सुनाई पड़ता है। भजन में कहते हैं कि अन्त समय में यह रसना हिली न हिली... इसलिए अभी से थोड़ा-बहुत प्रभु भजन कर लो। पर के भावों के बारे में सोचते हो, अपने भावों के बारे में भी सोच लो। जब बोलते हो तो इधर-उधर की बातें बोलते हो और अन्त समय में बोलने को कहें तो...अरे रे! निकलता है। भगवान् शब्द नहीं निकलता। भाव हुआ नहीं कि कर्मबन्ध होता ही है। राघव मच्छ और तन्दुलमच्छ दोनों भावों से सातवें नरक चले जाते हैं। सब भावों का खेल है। बैठे-बैठे भावों की ऐसी दरिद्रता मत रखो। बुरा तो हमेशा से सोचता आया है, पर को देखने से दोष ही दोष दिखते हैं। गुण की ओर दृष्टि जाती ही नहीं। इसलिए आचार्य कहते हैं कि-पर को देखो ही नहीं। आठ हाथ का सफेद वस्त्र है उसमें

काला दाग है तो उसी ओर दृष्टि जाती है। पूरा वस्त्र सफेद है वह नहीं दिखता है। तो उस दाग पर पट्टी या चूना लगा दो अथवा अपनी आँखों पर पट्टी बाँध दो या सॉयवान का प्रयोग कर लो। कुछ लिखने पर यदि गलत हो जाता है तो सफेद-सफेद कुछ लगा देते हैं। उसी प्रकार कर लो।

गुणग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जावे।

ऐसा अभ्यास करो। क्योंकि दोषों की ओर दृष्टि जाने से गुणों का जो महत्त्व है वह खत्म हो जाता है, समाप्त हो जाता है।

विशेषार्थ—उप समीपे पृष्ठपोषकत्वेन प्रोत्साहकत्वेन वा चरणं प्रवर्तनं उपचारः इस निरुक्ति के अनुसार उपचार का अर्थ प्रेरणा होता है। जैसे—महाभारत में कौरवों के साथ युद्ध तो अर्जुन ने किया, किन्तु इसके समर्थक श्रीकृष्ण नारायण रहे। उनकी प्रेरणा से ही कौरवों से युद्ध किया। इसी प्रकार कर्मवर्गणाएँ जो कर्मरूप बनती हैं वे सब रागी-द्वेषी संसारी आत्मा की प्रेरणा से बनती हैं, न कि स्वयं। (आचार्य ज्ञानसागर जी)

उत्थानिका—इसी बात को आचार्य देव स्वयं उदाहरण देकर समझाते हैं—

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जप्पदे लोगो।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥११३॥

अन्वयार्थ— (जोधेहिं) जैसे योद्धाओं द्वारा **(जुद्धे कदे)** युद्ध किये जाने पर **(राएण कदं)** राजा के द्वारा युद्ध किया गया **(तह)** उसी प्रकार **(णाणावरणादि)** ज्ञानावरणादि कर्म **(जीवेण कदं)** जीव के द्वारा किए गए **(इति)** इस प्रकार **(लोगो)** लोग **(ववहारेण)** व्यवहार से **(जप्पदे)** कहते हैं।

अर्थ—योद्धाओं के द्वारा किये हुए युद्ध को लोक जिस प्रकार व्यवहार से राजा का किया हुआ कहा करते हैं, वैसे ही ज्ञानावरणादि कर्म जीव के किये हुए हैं, ऐसा कहना भी व्यवहार से है।

लो युद्ध यद्यपि सुसैनिक ने किया है,
लोकोपचार वह भूपति ने किया है।
दुष्टाष्ट कर्म दल को जड़ ने बनाया,
पै मानना विकृत आतम ने बनाया ॥११३॥

व्याख्या—योद्धाओं के द्वारा युद्ध होता है परन्तु जीतता कौन है ? जीतने में किसका नाम आता है ? जिस राजा के योद्धा जीतते हैं उस राजा का नाम जीतने में आता है। युद्ध योद्धा करते हैं और जीतता राजा है। उसी प्रकार व्यवहारनय से ज्ञानावरणादि आठकर्म जीव के किये हुए हैं, ऐसा कहा जाता है। यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से कर्म का उत्पादक, कर्म का कर्त्ता या कर्म का बन्धक, वेदक जीव नहीं है। इसलिए आत्मा कर्त्ता नहीं होता। फिर भी व्यवहारनय से निमित्त-नैमित्तिक होने के कारण ऐसा कहा जाता है।

उत्थानिका—आगे उपचार से कर्म-कर्तृत्व को जिसे उक्त दृष्टान्त से स्पष्ट किया है उसी को पुनः

स्पष्ट करते हैं–

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं, ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥११४॥

अन्वयार्थ– (आदा पुग्गलदव्वं) आत्मा पुद्‍गल द्रव्य को **(उप्पादेदि)** उत्पन्न करता है और **(करेदि य)** और करता है **(बंधदि)** बाँधता है **(परिणामएदि)** परिणमाता है **(गिण्हदि य)** तथा ग्रहण करता है ऐसा **(ववहारणयस्स)** व्यवहारनय का **(वत्तव्वं)** वचन हैं।

अर्थ–व्यवहारनय का यह कहना है कि आत्मा पुद्‍गलद्रव्यकर्म को उपजाता है, करता है, बाँधता है, परिणमाता और ग्रहण करता है।

स्वीकारता परिणमा करता कराता,
आत्मा सबन्ध पर पुद्‍गल को उगाता।
ऐसा नितान्त व्यवहार सुबोलता है,
जो भव्य के सहज लोचन खोलता है ॥११४॥

व्याख्या–यह व्यवहारनय का कथन है कि पुद्‍गल द्रव्य रूप जो कर्म है उनका उत्पादक, कर्त्ता, बंधक, वेदक तथा उस रूप परिणमन आत्मा करता है। मतलब एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध कैसा हुआ है वह भी ज्ञातव्य है।

दृष्टान्त–जैसे–सूर्योदय के समय वर्षा के होने पर विपरीत दिशा में बहुत दूर इन्द्रधनुष का निर्माण देखने में आता है, क्योंकि वहाँ की वर्गणाएँ इन्द्रधनुष रूप परिणमन कर जाती हैं, लेकिन सूर्योदय एवं वर्षा पर आरोप आता है कि इनके द्वारा इन्द्रधनुष का निर्माण हो गया। उसी प्रकार जब निश्चय में नहीं रहते हैं तब यह स्वीकार कर लो कि कर्म का उदय जो आया है, वह दूसरे के जीवन की बात नहीं है। वर्तमान में जो कर्म कर रहे हैं वह उसके उदय में नहीं, किन्तु हमने पूर्व में किये थे, पूर्व में हमारे साथ कर्म करने वाले हजारों लाखों लोग थे, लेकिन उनका किया हुआ कर्म अपने उदय में नहीं आता है। आगम पर ऐसा यथार्थ श्रद्धान करना कि हमने जैसा कर्म बाँधा था वही उदय में आया है। यह व्यवहार है, जनपद सत्य है। सुनने में भी ऐसा आता है कि जैसा बीज बोओगे, वैसा फल मिलेगा। जो जैसा करता है वैसा भोगता है। यह अक्षरशः सत्य है। इससे भी बहुत धीरज मिलता है। ऐसा चिन्तन हमें नोकर्म से बचाकर कर्म की ओर इंगित करता है। एकान्त से कर्म से ही ऐसे रागद्वेष भाव होते हैं, ऐसा नहीं है, क्योंकि पूर्व में अपने ही ऐसे भाव हुए थे। इसलिए यह विचार आना चाहिए कि मैं अपनी निन्दा, गर्हा, आलोचना करता हूँ आदि–आदि सारी बातें करके सन्तोष कर लेता है। वस्तुस्वरूप यह है कि भले ही वर्तमान में आप वैसा भाव नहीं कर रहे हैं, फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यह मेरे पूर्वकृत भावों का फल है। पूर्व में जैसा किया वैसा कर्म का उदय तो आ भी सकता है लेकिन वैसा ही परिणाम हो यह जरूरी नहीं है। अप्रशस्तप्रकृतियों का सशक्त अनुभाग

बाँधा था तो वैसा ही उदय में आये ऐसा जरूरी नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से परिवर्तन भी हो जाता है। जैसा कि अभी कहा था कि–धतूरे के बीज को पानी में भिगो दो तो उसका मारक तत्त्व समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार अप्रशस्त प्रकृतियों का जो सशक्त अनुभाग है वह भी ढीला पड़ जाता है। लेकिन यह कुछ हद तक होता है। तीर्थंकर भी अपने परिणामों के द्वारा नवमें गुणस्थान में द्विस्थानीय से एकस्थानीय कर पाये थे। मिथ्यात्वगुणस्थान में भी जब सम्यग्दर्शन की भूमिका बनती है वहाँ भी करण परिणामों के द्वारा अप्रशस्त प्रकृतियों का चतु:स्थानीय अनुभाग द्विस्थानीय रूप हो जाता है। द्विस्थानीय से एकस्थानीय होने का कार्य उपशमक या क्षपक के बिना सम्भव नहीं। नवमें गुणस्थान के प्रथम समय से यह कार्य प्रारम्भ होता है। आठवें गुणस्थान में यह कार्य नहीं होता है, भले ही क्षपकश्रेणी में हो, शुक्लध्यान के प्रारम्भ के साथ भी यह कार्य नहीं होता। अप्रत्याख्यान एवं प्रत्याख्यान का एक साथ जो क्षय होता है वह भी नवमें गुणस्थान के प्रारम्भ में होता है। उपशामना या क्षपणा का जो कार्य है वह नवमें गुणस्थान में ही प्रारम्भ होता है। आठवें गुणस्थान में क्षय या उपशम की पूर्व भूमिका निर्मित होती है।

जिज्ञासा–अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग द्विस्थानीय से एकस्थानीय होना क्यों आवश्यक है?

समाधान–उपशामना और क्षपणा प्रक्रिया में देशघाती करण होता है। उसमें द्विस्थानीय से एकस्थानीय अनुभाग होता है। क्योंकि उसके बिना ऐसे परिणाम नहीं हो सकते हैं। देशघाती के बिना उपशामना या क्षपणा नहीं होती है। इसलिए ऐसा सोचना चाहिए कि जैसा हमने कर्म बाँधा है वैसा ही फल पायेंगे, यह द्विस्थानीय तक के उदय में ही होता है। यदि त्रिस्थानीय उदय हो गया तो प्रथम गुणस्थान का दर्शन हो जायेगा।

दृष्टान्त–अग्नि के पास रहकर भी अपनी अंगुलियों को अपने शरीर को बचाकर रसोई तैयार करना होती है। अन्यथा थोड़ी सी भी असावधानी हुई नहीं कि फोले आ जाते हैं। हाथ जल जाता है। भले ही ऊपर से गीला आटा लगा लो, परन्तु जल तो गये। अग्नि थोड़ी जानती है कि यह आटा है, यह अंगुली है। जल गया तो इसमें अग्नि का क्या दोष ? लोग हँसेंगे कि अपनी गलती स्वीकार नहीं करता है और कहता है कि अग्नि लग गई। प्राय: करके असावधानी के कारण रूप बदल जाते हैं। ऐसा ही कर्म के बारे में है। थोड़ी सी लालटेन की बाती ऊपर कर देंगे तो बाती भी ज्यादा जलेगी, तेल भी जलेगा, कालापन भी आ जाता है, यह प्राय: करके असावधानी से होता है।

अनादिकाल से आत्मा बन्धन से बँधा हुआ है इसलिए वीतराग स्वसंवेदन भेदज्ञान के अभाव में रागादि चिकनाहट को प्राप्त होकर उसके माध्यम से आत्मा द्रव्यकर्म का बन्ध कर लेता है। यह व्यवहार से जानना चाहिए। जैसे–कुम्भकार घट को बना देता है, वैसे आत्मा भी प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग रूप चार प्रकार का बन्ध कर लेता है। चार प्रकार के बन्ध को करने वाला आत्मा होता है। क्योंकि कर्म और नोकर्म बन्ध दोनों पौरुषेय हैं। पौरुषेय अर्थात् आत्मा का भाव उसमें आवश्यक हो

जाता है, इसलिए पौरुषेय है। यह कथन एकान्त से जीव या पुद्गलकृत नहीं है। इस प्रकार व्यवहार के विषय में समझना चाहिए। इतना अवश्य समझना चाहिए कि आत्मा यदि कर्म का कर्त्ता नहीं होता है तो भोक्ता भी नहीं होता। चार प्रकार के बन्ध होते हैं। उसमें से प्रकृतिबन्ध को उत्पन्न करता है, स्थितिबन्ध को कराता है, अनुभागबन्ध को बाँधता है, प्रदेशबन्ध को परिणमाता है। लोह के पिण्ड में जैसे अग्नि घुस जाती है, तो प्रत्येक प्रदेश में उसका प्रभाव होता है उसी प्रकार प्रदेश बन्ध होता है।

तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्याय के दूसरे सूत्र में **आदत्ते** शब्द आया है। उसका अर्थ है ग्रहण करना। **सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।**

अर्थात् कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है वही बन्ध है। **आचार्य कुन्दकुन्द भगवान्** ने भी **गिण्हदि** शब्द का प्रयोग किया है। जहाँ कषाय के साथ स्थिति, अनुभाग बन्ध नहीं है, वहाँ प्रकृति और प्रदेशबन्ध होता है। वह आत्मप्रदेश और कर्मप्रदेशों का अन्योन्य प्रवेश रूप होता है।

नोकर्मबन्ध भी पौरुषेय है। नोकर्म अर्थात् शरीर। नोकर्म वर्गणाओं का आत्मप्रदेशों से सम्बन्ध होना यही नोकर्म बन्ध है।

पंचास्तिकाय ग्रन्थ में निष्क्रिय और सक्रिय द्रव्य का वर्णन करते हुए वहाँ कहा है कि **खंधा खलु कालकरणा दु**। अर्थात् स्कन्ध के विषय में काल को लिया है।

जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा।
पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु ॥९८॥

अर्थात् जीव और पुद्गलकाय ये दो द्रव्य बाहरी कारणों के होने पर क्रिया सहित होते हैं, शेष चार द्रव्य क्रियावान नहीं हैं। जीव पुद्गलों की सहायता से और पुद्गलों के स्कन्ध वास्तव में कालद्रव्य के कारण से क्रियावान होते हैं। विशेष यह है कि निर्विकार शुद्धात्मतत्त्व की भावना से च्युत होकर मन, वचन, काय की हलन-चलन क्रिया से जीवों के द्वारा जो कर्म-नोकर्मरूप पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं वे ही जीवों की क्रिया में कारण होते हैं तथा पुद्गल के स्कन्ध और परमाणु के परिणमन में बाह्य कारण कालाणु द्रव्य होता है, अर्थात् कालाणु के निमित्त से पुद्गलद्रव्य क्रियावान होता है। तात्पर्य यह है कि शुद्धात्मानुभूति के बल से कर्मक्षय होने पर कर्म-नोकर्म पुद्गलों का अभाव होने से सिद्धों के निष्क्रियत्व होता है। लेकिन पुद्गलों के वैसा निष्क्रियत्व नहीं पाया जाता है, क्योंकि काल हमेशा विद्यमान रहता है। उसके निमित्त से पुद्गल यथासम्भव क्रिया करते रहते हैं।

क्रियावती शक्ति की अभिव्यक्ति–

जीव में क्रियावती शक्ति का प्रादुर्भाव पुद्गल कर्म पर आश्रित है। पुद्गल परमाणु कभी भी आत्मा की क्रियावती शक्ति में कारण नहीं होता है, किन्तु स्कन्ध अर्थात् वर्गणा रूप स्कन्ध कारण होता

है। उनमें भी सभी स्कन्ध कारण नहीं होते, किन्तु जो पुद्गल जीव के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध रखने की क्षमता रखते हैं वे ही कारण होते हैं। शब्दवर्गणायें पृथक् हैं। आत्मा के साथ उनका कोई संश्लेष सम्बन्ध नहीं है। जैसे–कर्मवर्गणायें कर्म रूप में परिणत होकर एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध को प्राप्त हो जाती हैं, वैसे शब्द वर्गणायें सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होती। अन्य दार्शनिकों ने **आकाशस्य गुणः शब्दः** अर्थात् शब्द आकाश का गुण है। आकाश में जो शब्द हैं, वे अचक्षुज्ञान का विषय बनते हैं, चक्षुज्ञान का नहीं। इसके साथ–साथ शब्द को पकड़ना चाहें तो नहीं पकड़ सकते। शब्द को सूक्ष्म–स्थूल के भेद रूप माना है। शब्द आँखों का विषय नहीं बनता, इसलिए सूक्ष्म है तथा कर्णेन्द्रिय का विषय बनता है इसलिए स्थूल है। कर्णेन्द्रिय का विषय बनने के बाद भी शब्दों को हवा आदि के समान पैक नहीं कर सकते।

दृष्टान्त–कैसिट के रूप में अवश्य टेप कर सकते हैं लेकिन वह शब्द का वास्तविक (ओरिजनल) रूप नहीं होता। जैसे–पेज के ऊपर हस्ताक्षर करने पर नीचे कार्बन रखा होने से नीचे भी लिख जाता है। ऐसा लगता है कि मानो नीचे पेज पर छप गया हो। लेकिन वह ओरीजनल नहीं होता। उस पर डॉयरेक्ट लेखन नहीं हुआ। तो जैसे यहाँ कार्बन से शब्द का निर्माण होता है। वैसे ही शब्द वास्तविक नहीं है। दूसरी बात और है। यहाँ जैसे सभा में एक हजार व्यक्ति शब्द सुन रहे हैं तो एक हजार शब्दों का निर्माण हमारे मुख से नहीं हुआ। शब्द एक ही बोला गया लेकिन वातावरण में जो शब्द वर्गणाएँ फैली हुई हैं, उन पर प्रभाव पड़ता है, तो वहाँ पर जो कोई भी कार्बनाईज है उसके द्वारा शब्द फैल जाते हैं। आप लोग हजार हैं या दस हजार हैं, यहाँ से एक शब्द का निर्माण हुआ तो वर्गणाओं से तरंगायित होकर फैलते चले जाते हैं। फलतः वह एक शब्द दस हजार ही नहीं किन्तु दस हजार व्यक्तियों के कुल बीस हजार कान हैं तो बीस हजार शब्द निर्मित हो जाते हैं। शब्दों के फैलने की क्षमता आश्चर्यजनक है। शब्दों में कम से कम दूसरे ही समय में और अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त में पूरे ब्रह्माण्ड में अर्थात् लोक के अन्त तक फैलने की क्षमता है। चूँकि शब्दवर्गणाएँ पूरे लोक में फैली हुई हैं, अतः कार्बन पर लिखे हुए शब्द के समान ये शब्द फैल जाते हैं, परन्तु वे ओरीजनल नहीं होते। फैले हुए शब्दों की एज कितनी होती है। इसके बारे में हमारे पास ग्रन्थ का कोई आधार नहीं है। आज वर्तमान में वैज्ञानिकों ने राम आदि के वचनों को ग्रहण करने का प्रयास किया है। अगर ऐसा हो गया तो **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** का **रत्नकण्डकश्रावकाचार, गन्धहस्तिमहाभाष्य** प्राप्त हो सकता है।

तिहुवणहिदमहुरविसदवक्काणं यह लिखते समय **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** या **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** के मन में तीनों लोकों के जीवों के हित की भावना न रही हो, ऐसा तो संभव नहीं है। वे पशु–पक्षियों की आवाज भी समझते थे। **आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज** कहते थे कि **गन्धहस्तिमहाभाष्य** में आया है कि पशु–पक्षियों की आवाज कैसी होती है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा की जो क्रियावती शक्ति व्यक्त होती है वह पुद्गल के कारण होती है। लेकिन स्वतन्त्र पुद्गल यानि परमाणु के द्वारा नहीं। जैसे–अभी–अभी बताया कि हमारा जो वचन प्रयोग हुआ, जिसके कारण शब्द वर्गणा में शब्द बनने की क्षमता प्रगट हो गई। अपनी जो कोई भी क्रियावती शक्ति हो रही है। उसका उद्घाटन पुद्गल द्रव्य के माध्यम से होता है। इसलिए अरहन्त परमेष्ठी को हितोपदेशी कहते हैं। सिद्ध परमेष्ठी सर्वज्ञ हैं, केवलज्ञानी हैं, वीतरागी हैं, लेकिन हितोपदेशी नहीं हैं, क्योंकि हितोपदेश के लिए वहाँ कोई सामग्री नहीं है। सिद्ध बनने पर सिद्धालय तक तो पहुँच सकते हैं, क्योंकि क्रियावती शक्ति उनके पास है, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति के लिए वहाँ कोई भी साधन नहीं है।

जैसे कोई राजा है। उसके पास सेना व राज्यादि नहीं हैं, तो उसे राजा नहीं कहा जाता। राष्ट्रपति जब तक कहता नहीं तब तक कोई भी कार्य नहीं होता तथा प्रधानमन्त्री जब तक कोई आज्ञा न दे तब तक राष्ट्रपति भी कुछ नहीं कर सकता। इसी प्रकार जब हमारे साथ से पुद्गल का सम्बन्ध छूट जायेगा तो हम कोई भी कार्य नहीं कर सकेंगे अर्थात् हमारी अमूर्त रूप क्रिया तो हो जायेगी पर स्थूल रूप क्रिया नहीं होती, क्योंकि पुद्गल का सम्बन्ध छूट गया है।

संक्षेप में अन्त में यही कहना है कि बन्धपर्याय के वशवर्ती होने से वीतराग भेदविज्ञान के न होने के कारण रागादि परिणाम से स्निग्ध होता हुआ आत्मा कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य को द्रव्यकर्म के रूप में उत्पन्न करता है। जैसे कि कुम्हार घड़े को उत्पन्न करता है, द्रव्यकर्मों को करता है, बाँधता है, परिणमन कराता है व ग्रहण करता है, ऐसा व्यवहारनय का अभिप्राय है। जैसे गर्म किया हुआ लोहे का गोला अपने सम्पूर्ण प्रदेशों से जल ग्रहण करता है। वैसे ही रागी आत्मा अपने सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों से प्रदेशबन्ध को ग्रहण करता है, ऐसा अभिप्राय है।

उत्थानिका–आगे इस ही व्याख्यान को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं–

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणप्पादगो भणिदो ॥११५॥

अन्वयार्थ– **(जह राया)** जैसे राजा को **(दोसगुणुप्पादगो)** (प्रजा के) दोष और गुणों को उत्पन्न करने वाला **(त्ति)** ऐसा **(ववहारा)** व्यवहार से **(आलविदो)** कहा है **(तह जीवो)** उसी प्रकार जीव भी **(ववहारा)** व्यवहार से **(दव्वगुणुप्पादगो)** (पुद्गल द्रव्य के) द्रव्य और गुण का उत्पादक **(भणिदो)** कहा गया है।

अर्थ–व्यवहार में कहा जाता है कि प्रजा में दोष और गुणों को पैदा करने वाला राजा होता है, वैसे ही यह कहना व्यवहार से है कि पुद्गलद्रव्य में कर्म रूप गुण को उत्पन्न करने वाला जीव होता है।

राजा गुणी अवगुणी प्रजा करता प्रजा को,
वो पूर्ण सत्य व्यवहार नहीं मजा को।
आत्मा करे विधिमयी जड़द्रव्य को है,
ऐसा न मान्य व्यवहार, अभव्य को है ॥११५॥

व्याख्या—जैसे व्यवहार से प्रजा में होने वाले सदोष और निर्दोष लोगों के दोष और गुणों का उत्पादक राजा को कहा जाता है, उसी प्रकार पुद्‌गलद्रव्य में पुण्य-पाप रूप गुणों का उत्पादक जीव होता है, यह भी व्यवहारनय से कहा गया है। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को लेकर कहा है। राजा जो होता है वह अनुग्रह करने वाला होता है। शिष्टों का अनुग्रह तथा दुष्टों का निग्रह करने वाला होता है। उसी प्रकार यहाँ सदोष को विशेष दण्डित करता है और निर्दोष जो है उसकी प्रोग्रेस करा देता है तो कुछ वर्गणाओं में पाप रूप प्रकृति व अनुभाग को डाल देता है और कुछ वर्गणाओं में पुण्य रूप प्रकृति व अनुभाग आदि को डाल देता है। द्रव्यकर्म को करने वाला आत्मा होता है, यह बार-बार कहा है। यह पिष्टपेषण क्यों ? पिष्टपेषण का अर्थ है कि जो पीसा गया है उसे पुनः पीसना, जो छाना गया है उसे पुनः छानना। गेहूँ पीसने के बाद आटा हो जाता है। भिन्न-भिन्न तरह से नम्बर के अनुसार चक्की में पीसा जाता है। अलग-अलग तरह की छन्नियाँ होती हैं। जैसे-प्रेस में टाईप कई प्रकार के होते हैं। शीर्षक लिखने का टाईप अलग तथा टीका और गाथा के लिए अलग। इसी प्रकार चक्की भी भिन्न-भिन्न टाईप की होती है उसको पीसने का तरीका बदल जाता है। जैसे-दलिया बनाना है तो उसके राउण्ड अलग होते हैं और आटा पीसना हो तो आठ बार राउण्ड देकर फिर मुट्ठी भर गेहूँ डालते हैं, लेकिन दलिया बनाना हो तो चार राउण्ड देकर फिर गेहूँ डालते हैं। इसी प्रकार योगस्थान द्वारा शरीर में जो संघातन-परिशातन क्रिया होती है वह प्रक्रिया चलती है और कषाय के द्वारा स्थिति-अनुभाग अध्यवसाय स्थान बनते हैं, उनके द्वारा कार्य होता है तो यहाँ पर भी पिष्टपेषण नहीं है। गेहूँ चालने की, आटा चालने की, दलिया चालने की इत्यादि चालनी भी अनेक प्रकार की होती हैं। कुछ लोग कपड़े से भी छानते हैं, मेंदा बनाने में ऐसा करते हैं। तात्पर्य यह है कि जितने कार्य होते हैं, उतने कारण होते हैं, इसलिए यहाँ पिष्टपेषण नहीं कह सकते।

सांख्यमत कहता है-आत्मा भोक्ता हो सकता है, कर्त्ता तो पुद्‌गल है उसे वे प्रकृति कहते हैं। हम जिसे आत्मा कहते हैं वे उसे पुरुष कहते हैं। इसलिए ज्ञान को भी उन्होंने पुरुष का स्वभाव नहीं माना। ज्ञान और आत्मा में समवाय सम्बन्ध से आत्मा को ज्ञानी मानते हैं। उनका सिद्धान्त है कि जब तक ज्ञान है तब तक मुक्ति नहीं मिलती यह उनका सिद्धान्त है। एक निर्गुण परमात्मावाद मानने वाला भी मत है। वे सत्त्व, रजो और तमो इन तीन गुणों के अभाव रूप परमात्मा को मानते हैं। हम भी मानते हैं, कि गुणातीत होना चाहिए अर्थात् मुक्तावस्था में क्षायोपशमिक ज्ञान आदि गुणों का अभाव होना आवश्यक है। केवलज्ञानादि क्षायिक गुण रह जायें तो कोई बात नहीं। लेकिन शेष संसार अवस्था में

रहने वाले गुणों का अभाव मानते हैं तो ठीक है। यदि रागादि प्रत्यय को कर्म करता है तो कर्म ही उसका भोक्ता होगा। फिर कर्म ही कर्त्ता और कर्म ही भोक्ता होगा। जीव न तो कर्त्ता होगा न भोक्ता। फिर संसार और मोक्ष की व्यवस्था भी नहीं बनेगी। यदि कर्म, कर्म में है, जीव जीव में है तो फिर संसार क्या है?

दृष्टान्त—जैसे–आपने ताला लगाया और भीतर से लूज होने से वह लगा नहीं और झटका लगने से खुल जाता है, क्योंकि बन्धन सही तरह से नहीं है। बन्ध का छेद नहीं होगा तब तक आत्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं होगी। जैसे–ताले पर घन पटक–पटक कर तोड़कर चोर घर में घुस जाते हैं, वैसे ही कर्म नहीं टूटते हैं। वह तो अपने ढंग से ही पृथक् होते हैं, नहीं तो ऊर्ध्वगमन करने में क्या बाधा?

इस प्रकार व्यवहारनय की मुख्यता से चार गाथायें कहीं गई। इस प्रकार द्विक्रियावादी के निराकरण के उपसंहार की मुख्यता से ग्यारह गाथायें पूर्ण हुईं।

जिज्ञासा—यहाँ पर कोई शंका कर सकता है कि निश्चयनय से आत्मा द्रव्यकर्म को नहीं करता है, ऐसा व्याख्यान बहुत बार किया है। उसी से द्विक्रियावादी का निराकरण अपने आप हो जाता है। फिर यह व्याख्यान करके पिष्टपेषण क्यों किया ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि निश्चयनय में और द्विक्रियावादीपने में हेतु–हेतुमद्भाव को बतलाने के लिए ऐसा किया है। निश्चयनय से आत्मा द्रव्यकर्म का कर्त्ता नहीं है। इसी हेतु से द्विक्रियावादीपने का निराकरण भी सिद्ध है।

इस प्रकार पुण्यपापादि सात पदार्थों का संक्षेप व्याख्यान किया है। इसके पश्चात् १२ गाथाओं से उसका विशेष व्याख्यान है। तत्पश्चात् ११ गाथाओं से उपसंहार करते हुए उसी का विशेष विवरण है। इस प्रकार समुदाय रूप से २५ गाथाओं से यह द्विक्रियावादी का निषेध रूप अवान्तर अधिकार समाप्त हुआ।

अथानन्तर **सामण्णपच्चया** इत्यादि गाथा को आदि लेकर पाठ्यक्रम से सात गाथाओं पर्यन्त मूलप्रत्यय चतुष्टय को कर्म का कर्त्ता बताने की मुख्यता से व्याख्यान करते हैं। इन सात गाथाओं में से चार गाथाओं में यह बताया गया है कि जैनमत में शुद्ध–उपादान वाले शुद्ध निश्चयनय से जीव कर्मों का कर्त्ता नहीं है। किन्तु मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय ही कर्म के कर्त्ता हैं अथवा यों कहो कि जो लोग शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा न करके एकान्त से ऐसा कहते हैं कि जीव कर्मों का कर्त्ता नहीं है, उन सांख्यमतानुयायिओं के प्रति दूषण दिया गया है कि यदि मिथ्यात्वादि प्रत्यय ही कर्म के कर्त्ता हैं तो जीव उन कर्मों का वेदक भी नहीं होना चाहिए। यह एक मोटा दूषण आयेगा। अथवा इसके मत में एकान्त से जब जीव कर्म नहीं करता है तो कौन करता है ? ऐसा यह दूसरा दूषण है। इसके पश्चात् यह बतलाया है कि जैनमत में शुद्ध उपादान रूप शुद्धनिश्चयनय से जब विचार करें तो जीव और मिथ्यात्वादि प्रत्यय इन दोनों में एकता नहीं, किन्तु वे दोनों भिन्न–भिन्न हैं, ऐसा कथन करते हुए तीन गाथाएँ हैं। अथवा जो लोग पूर्वोक्त रीति से नयविभाग नहीं मानते हैं, उनको दूषण दिया है कि जीव

और प्रत्यय इन दोनों में एकान्त से एकपना मानने से जीव का अभाव हो जायेगा। यह एक दूषण हुआ और एकान्त से यदि भिन्नपना ही मान लें तो संसार का अभाव हो जायेगा वह भी ठीक नहीं है। यह दूसरा दूषण है। यह चौथे अन्तराधिकार की सामुदायिक–पातनिका हुई।

उत्थानिका—यहाँ सबसे पहले यह बताया जाता है कि निश्चयनय से मिथ्यात्वादि पौद्‌गलिक प्रत्यय ही कर्म को करते हैं–

सामण्णपच्चया खलु चउरो भणंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥११६॥
तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो।
मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११७॥
एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा।
ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगो आदा ॥११८॥
गुणसण्णिदा दु एदे, कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥११९॥

(चतुष्कम्)

अन्वयार्थ— **(सामण्णपच्चया)** सामान्य प्रत्यय (कर्मबन्ध के कारण आस्रव) **(चउरो खलु)** चार निश्चय से **(बंधकत्तारो)** बंध के कर्ता **(भणंति)** कहे जाते हैं वे **(मिच्छत्तं)** मिथ्यात्व **(अविरमणं)** अविरमण **(कसायजोगा य)** कषाय और योग **(बोद्धव्वा)** जानना चाहिये।

(पुणोवि य) और फिर भी **(तेसिं इमो)** उनका यह **(तेरसवियप्पो)** तेरह प्रकार का **(भेदो दु)** भेद **(भणिदो)** कहा गया है जो कि **(मिच्छादिट्ठीआदी)** मिथ्यादृष्टि आदि **(सजोगिस्स चरमंतं जाव)** सयोगकेवली तक हैं।

(एदे खलु) ये गुणस्थान या प्रत्यय निश्चय से **(अचेदणा)** अचेतन हैं **(जम्हा)** क्योंकि **(पुग्गलकम्मुदयसंभवा)** पुद्‌गल कर्म के उदय से हुए हैं **(ते जदि)** और यदि वे **(कम्मं करंति)** कर्म को करते हैं तो भी **(तेसिं वेदगो)** उनका भोक्ता **(णवि आदा)** आत्मा नहीं होता।

(एदे दु) ये प्रत्यय **(गुणसण्णिदा)** गुणस्थान नाम वाले हैं **(जम्हा)** क्योंकि ये **(कम्मं कुव्वंति)** कर्म को करते है **(तम्हा)** इस कारण **(जीवोऽकत्ता)** जीव तो (कर्म का) अकर्ता है **(गुणा य)** और गुणस्थान ही **(कम्माणि कुव्वंति)** कर्मों को करते हैं।

अर्थ—वास्तव में सामान्य से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के भेद से चार प्रकार के प्रत्यय हैं। ये बन्ध के करने वाले कहे गये हैं। उनके उत्तरभेद मिथ्यादृष्टि आदि सयोगकेवली पर्यन्त गुणस्थान के नाम से तेरह प्रकार के हो जाते हैं। ये गुणस्थान या प्रत्यय निश्चयदृष्टि में अचेतन हैं

क्योंकि वे सभी पौद्गलिक कर्म के उदय से होते हैं और जब वे कर्म को करते हैं तो फिर उनका भोक्ता भी आत्मा नहीं होता है और जब कि ये गुणस्थान संज्ञा वाले प्रत्यय ही कर्म को करते हैं तब फिर जीव कर्म का कर्त्ता नहीं है, ये गुणस्थान ही कर्म के करने वाले हैं।

सामान्य से चउविधा विधिबन्ध कर्त्ता,
निम्नोक्त हैं, दुखद हैं, शुचि-भाव हर्त्ता।
मिथ्यात्व और अविरती कुकषाय योग,
ज्यों ये मिटे नियम से भव का वियोग ॥११६॥
मिथ्यात्व लेकर सयोगि सुकेवली लों,
ये हैं विभेद उनके दस तीन भी लो।
ये दीन जीव गुणथानन में पड़े हैं,
स्वाधीन सिद्ध सब वे इनसे परे हैं ॥११७॥
मिथ्यात्व आदि गुण पुद्गल से बने हैं,
सारे अचेतन निकेतन ही तने हैं।
ये कर्म को कर रहे यदि हों तथापि,
आत्मा न भोग सकता उनको कदापि ॥११८॥
निर्भ्रान्त ! प्रत्यय सभी गुण-नाम वाले,
दुष्टाष्ट कर्म करते मन को विदारे।
ज्ञाता विशुद्ध नय से, निजधर्म धर्त्ता,
कर्त्ता न आतम रहा गुण, कर्म कर्त्ता ॥११९॥

व्याख्या—सामान्य अर्थात् जहाँ विशेष कार्य नहीं होते, जहाँ पर विवक्षा नहीं होती है। विवक्षायाः अभावः सामान्यमिति। वह सामान्य है। रूप, रस, गन्धादिक का कर्त्ता आत्मा नहीं है, तो उसका भोक्ता कैसे हो सकता है ? आत्मा कथंचित् पुद्गलों का कर्त्ता तो हो सकता है, लेकिन पुद्गल कर्मों का या पुद्गल का निश्चयनय से भोक्ता तो कहीं भी स्वीकार नहीं किया है। निश्चयनय से आत्मा ही आत्मभावों का कर्त्ता होता है, कर्म नहीं। कर्म, कर्म का भोक्ता नहीं हो सकता है, क्योंकि कर्म को कर्म का फल नहीं मिलता है। यदि ऐसा होता तो कर्म को ही संसार और कर्म को ही मुक्ति होने का प्रसंग आता। कर्म सिद्धान्त में मोह और योग के निमित्त से गुणस्थान का निर्माण होता है, यह भी व्यवहारनय का कथन है।

जिज्ञासा—मोह और योग से गुणस्थान का निर्माण होता है, तो फिर तेरह ही गुणस्थान होना चाहिए, चौदहवाँ गुणस्थान कैसे बनेगा ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक है। लेकिन ऐसा नहीं है। जैसे—चोरी करने वाला यहाँ पर चोरी

करता है और जेल में उसका दण्ड भोगता है। जेल में कोई चोरी नहीं करता। लेकिन चोरी का फल तो वहीं भोगना पड़ता है। उसी प्रकार तेरहवें गुणस्थान तक तो प्रत्यय होते जाते हैं। उनके फलस्वरूप आस्रव बन्ध होता रहता है। लेकिन अन्तिम चौदहवाँ गुणस्थान ऐसा है जहाँ प्रत्यय तो नहीं होते, लेकिन प्रत्ययगत कर्म का फल तो वहाँ पर भी मिलता है। अपराधी को जब जेल होती है तो अन्तर्मुहूर्त तक तो उसी ड्रेस में रहता है, इसके पश्चात् वहाँ उसकी ड्रेस भी चेंज कर देते हैं। जेल से निकलने पर ड्रेस चेंज करने में अन्तर्मुहूर्त का समय लग जाता है। इसी प्रकार तेरहवें गुणस्थान में संसार रूपी जेल से छुट्टी तो मिल गई परन्तु ड्रेस चेंज करने में थोड़ा समय लगता है। यह थोड़ा सा समय चौदहवें गुणस्थान का होता है। इसके उपरान्त चौदहवें गुणस्थान से ऊपर हो जाते हैं। संसार की ड्रेस चेंज होने पर वे एक समय भी हमारे बीच नहीं रहते। हम लोग इतने अपवित्र हैं कि सिद्धपरमेष्ठी हमारे बीच एक समय भी रहना नहीं चाहते। इसलिए यहाँ से बहुत दूर जाकर स्थित हो जाते हैं।

एक दिन कहा था–पौरुषेय अर्थात् आत्मा ही भाव करता है, परन्तु कर्मबन्ध पुद्‌गल कर्मवर्गणाओं में होता है। इन्द्रधनुष का उदाहरण दिया था। उस दिन कहा था कि यहाँ आत्मा में भाव होता है और कर्मवर्गणाओं में बन्ध होता है। प्रकृति किसमें पड़ती है ? कर्म में। स्थिति–अनुभाग किसमें पड़ता है ? कर्म में। द्विस्थानीय आदि बन्ध आत्मा में नहीं किन्तु कर्म में होता है, लेकिन उथल–पुथल आत्मा में होती है। बन्ध के समय कर्मवर्गणाओं में प्रक्रिया घटित होती है फिर भी आत्मप्रदेशों के साथ उनका अन्योन्य प्रवेश होता है।

दृष्टान्त—कोई कमजोर व्यक्ति था और दवाई सशक्त दे दी गई तो वह व्यक्ति नाचने लगता है। उसी प्रकार कर्म में चतु:स्थानीय बन्ध हुआ। वह जब उदय में आता है तो जीवात्मा नाचने लगता है। जब तक कर्म सत्ता में रहता है तब तक तो कुछ प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु ज्यों ही कर्म उदय में आता है तो उसके अनुसार आत्मा के ऊपर प्रभाव पड़ता है। चतु:स्थानीय बन्ध तो कर्म में पड़ता है और फल आत्मा को मिलता है। आत्मा में नशा चढ़ता है और जिस आत्मा की मोह रूपी शराब में बहुत प्रोटेन्सी होती है तो आत्मा झूमने लगता है, उसका उसे रंग चढ़ जाता है।

बड़ा वैचित्र्य है, चतु:स्थानीय उदय का–

हमारे शरीर में अव्यक्त रूप से सारे के सारे रोग विद्यमान रहते हैं। जब सन्निपात हो जाता है तो उसे दस व्यक्ति भी पकड़े हों तो भी वह उनसे अपने आप को छुड़ा लेता है। जैसे, किसी को कोई देव अर्थात् भूत–प्रेत आ जाता है तो दुबला–पतला व्यक्ति भी कोटिभट हो जाता है। अर्थात् करोड़ों व्यक्तियों से लड़ने की क्षमता रखता है। उसमें इतनी शक्ति आ जाती है। जब तक कर्म सत्ता में रहता है तब तक कोई हानि नहीं। उदय में आने पर सब कार्य देखने में आते हैं। फटाखों के निर्माण में कुछ समय लगा लेकिन अगरबत्ती जलती है तो फिर फटाखों को फोड़ने की आवश्यकता नहीं होती। अपने आप सब फूट जाते हैं। इसी प्रकार एक निषेक आया नहीं कि उदीरणा प्रारम्भ हो जाती है फिर कोई पास में नहीं

जा सकता। कर्फ्यू आर्डर जैसा हो जाता है। चतुःस्थानीय का उदय ऐसा ही होता है। बड़ा वैचित्र्य है।

स्थितिबन्ध की विशेषता—

अब स्थिति बन्ध के बारे में देखते हैं। स्थितिबन्ध अर्थात् आयु। लेकिन उसे काल नहीं कह सकते। जब तक उस कर्म में अपनी प्रकृति के अनुरूप फल देने की क्षमता है वह स्थितिबन्ध है। यह काल नहीं, टाइम बम नहीं, प्रकृति बम है। यह बात अलग है कि जब तक आबाधाकाल रहता है तब तक वह कर्म उदय-उदीरणा के योग्य नहीं होता है। कर्म में काल नहीं है, किन्तु क्षमता है। काल के माध्यम से क्षमता को जाना जाता है। आज तो सब काल पर डिपेण्ड हैं। आत्मा में जो भी कार्य होता है वह कर्म के माध्यम से होता है, काल से नहीं। काल सामान्य से वर्तना रूप है। ''द्रव्यस्य पर्याया वर्तते यस्य वर्तकः प्रवर्त्तकः कालः'' अर्थात् द्रव्य की पर्यायें होती हैं। होने की उसके पास क्षमता है। काल के निमित्त से उनकी पहचान होती है। यदि योग्यता नहीं होती तो कार्य कैसे होता ? उस प्रकृति के पास वह क्षमता है और वह अपने स्वभाव को (योग्यता को) लेकर बैठी है। वह तब तक है जब तक शक्ति पूर्ण नहीं होती, शक्ति के अभाव में स्थिति नहीं। स्थिति का अर्थ उसकी परिस्थिति उतनी ही है। इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि स्थितिबन्ध में काल नहीं बंधा है किन्तु प्रकृति बंधी है। रस (फल) देने की क्षमता बंधी है। फल देने का जो समय है वह स्थितिबन्ध है। प्रकृति की जो फल देने की तरतमता है वह अनुभागबन्ध है, किन्तु वह प्रकृति जब तक फल देगी वह उसकी स्थिति है। यहाँ काल का कथन औपचारिक रूप से किया गया है। कोई चाहे तो उदीरणा या अपकर्षण के माध्यम से कर्म की स्थिति को कम कर सकता है। जैसे-किसी ने सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर स्थिति का तीव्रकषाय के साथ बन्ध किया तो उसे उदय आने में सात हजार वर्ष की आबाधा पड़ती है। अर्थात् सात हजार वर्ष बाद प्रथम निषेक उदय में आ सकेगा, इसके पूर्व नहीं। लेकिन आगम का कथन है कि अन्तर्मुहूर्त मात्र में मोहनीय की सत्ता को समाप्त किया जा सकता है। अर्थ यह है कि सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर काल तक उसमें फल देने की योग्यता होती है यह स्थितिबन्ध है। किन्तु करण परिणामों के द्वारा जब दर्शनमोहनीय की सत्ता समाप्त कर दी जाती है तब कर्मक्षय के उपरान्त सत्ता नहीं, बन्ध नहीं, कोई स्थिति नहीं। अन्तर्मुहूर्त में ही उसे पूरा समाप्त कर दिया। अन्तर्मुहूर्त मात्र में सब समाप्त। कहाँ गई स्थिति ? आचार्य कहते हैं यही तो मोक्षमार्ग है। **धवला** ग्रन्थ में कहा है कि एक ही कर्म नहीं किन्तु अन्तर्मुहूर्त में तो समस्त कर्मों को समाप्त किया जा सकता है। अन्त में फिर समझ लो कि स्थिति का अर्थ काल नहीं किन्तु उस प्रकृति की अपनी निषेक रूप रचना के अनुरूप फल देने की क्षमता ही स्थिति है। काल के द्वारा नहीं किन्तु अविपाक निर्जरा के द्वारा कर्मों की स्थितियाँ समाप्त की जाती हैं। यदि अविपाकनिर्जरा की ओर कदम नहीं बढ़ाते हैं तो समय पर ही कर्म निर्जरित होते हैं। अभव्य में यह कार्य करने की क्षमता नहीं होती। यह तो भव्य में ही होती है। वही अविपाकनिर्जरा कर सकता है। भव्य में भी जो निकट भव्य है वह अपने आप इस ढंग से कार्य करता है कि उसमें स्थिति आदि

आड़े नहीं आती। न पुण्य आड़े आता है, न पाप आड़े आता है। कोई भी आड़े नहीं आता। आड़े तो हमारा प्रमाद आता है।

अपना मुख्य विषय चल रहा था कि मिथ्यात्वादि भावप्रत्यय भी शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा में अचेतन ही हैं, क्योंकि ये सभी पौद्गलिक कर्म के उदय में सम्भव होते हैं।

दृष्टान्त—जैसे–किसी के एक सन्तान उत्पन्न हुई। वह स्त्री–पुरुष दोनों के सहयोग से होती है। लेकिन विवक्षावश यदि वह पिता जी के पास है तो यह देवदत्त का पुत्र है, ऐसा कहने में आता है और यदि माँ के पास है तो वह देवदत्ता का पुत्र है, ऐसा कहा जाता है। यह विवक्षा है। परन्तु इस कथन में कोई दोष नहीं है, क्योंकि विवक्षा भेद से दोनों ठीक हैं। उसी प्रकार जीव और पुद्‌गल इन दोनों के संयोग से उत्पन्न होने वाले रागादि रूप जो भावप्रत्यय हैं वे अशुद्ध उपादान रूप अशुद्धनिश्चयनय से चेतन हैं, क्योंकि जीव से सम्बद्ध हैं, किन्तु शुद्ध उपादान रूप शुद्ध निश्चयनय से ये सभी अचेतन हैं, क्योंकि ये सभी पौद्‌गलिक कर्म के उदय से हुए हैं, किन्तु वस्तुस्थिति में ये सभी एकान्त से न जीव रूप ही हैं और न पुद्‌गल ही हैं, किन्तु चूना और हल्दी के संयोग से उत्पन्न हुए लालरंग के समान ये प्रत्यय जीव और पुद्‌गल के संयोग से उत्पन्न संयोगीभाव हैं।

एकान्त से आत्मा अकर्त्ता नहीं—

पुत्र माँ–पिता दोनों के संयोग के बिना नहीं होता, इसलिए इसे पौरुषेय कहते हैं। इसी तरह जीव अकेला आस्रव का कारण नहीं होता। जीव और अजीव का सम्बन्ध होने पर आस्रव होता है इसलिए इन्हें एकान्त से जीव और एकान्त से पुद्‌गल रूप कह दें तो गलत है। शुद्धनिश्चयनय से जीव कर्मों का कर्त्ता नहीं तो भोक्ता भी नहीं होता है। किसी पिता ने चोरी की हो और दण्ड सन्तान को मिले ऐसा नहीं होता। आत्मा को एकान्त से अकर्त्ता मानेंगे तो वह भी मिथ्या होगा। गहराई से सोचें तो सूक्ष्म रूप शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में मिथ्यात्व रागादि का अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि ये अज्ञान द्वारा उत्पन्न हैं, अतएव कल्पित हैं।

जिज्ञासा—सूक्ष्म रूप शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से ये किसके हैं ?

समाधान—इसका समाधान पहले ही दिया जा चुका है कि सूक्ष्म रूप शुद्धनिश्चयनय से तो इन सबका अस्तित्व ही नहीं है।

काल सिंह ने मृग चेतन को घेरा भव वन में।
नहीं बचावन हारा कोई यों समझो मन में॥

भागना चाहते हो, पर भागोगे कहाँ ? सभी को दुःख हो रहा है, सभी दुःख से दूर भागना चाहते हैं, पर भागे तो कहाँ भागे ? प्रसिद्ध है कि जीवों में संसार विद्यमान है उसे गौण नहीं कर सकते। यदि एकान्त से आत्मा को अकर्त्ता मानेंगे तो संसार का ही अभाव हो जायेगा। यहाँ पर कोई शुद्ध नहीं दिखता है। संवेदन में सभी को अशुद्धता का ही संवेदन हो रहा है। प्रतिदिन कहते हैं कि हम बहुत दुःखी हैं,

हम बहुत दु:खी हैं। जो अपने को सुखी ही मानता है तो फिर सेठ, राजा या भगवान् के पास जाने की आवश्यकता नहीं रहती और यदि सेठ, राजा या भगवान् के पास जा रहा है तो कुछ न कुछ उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही जाता है क्योंकि यदि दु:खी नहीं होता तो वह किसी के पास जाता ही नहीं। यदि दु:खी नहीं होता तो भगवान् के पास या राजा के पास क्यों जाता ? जा रहा है इसका मतलब है कि अभी शुद्ध नहीं है। भगवान् किसी के पास जाते हैं क्या ? सांख्यमत वाले आत्मा को कर्त्ता नहीं मानते, किन्तु पुद्‍गल अर्थात् प्रकृति को कर्त्ता के रूप में मानते हैं। वे आत्मा को कर्त्ता नहीं मानते, परन्तु भोक्ता मानते हैं।

जीव और मिथ्यात्वादि प्रत्यय में एकान्त से एकत्व नहीं हो सकता। वे प्रत्यय यहाँ पर उदय में आते हैं, जो पुद्‍गल रूप हैं। इन द्रव्य प्रत्ययों के लक्षण, क्षेत्र, स्वभाव, प्रयोजन आदि सब भिन्न हैं और आत्मा का लक्षण, क्षेत्र, स्वभाव, प्रयोजन आदि सब भिन्न हैं। बन्ध क्या है ? **तत्त्वार्थसूत्र** के आठवें अध्याय में दूसरा सूत्र है जिसमें बन्ध का लक्षण स्पष्ट किया है–

सकषायत्वाज्जीव: कर्मणो योग्यान्पुद्‍गलानादत्ते स बन्ध:।

भावबन्ध, नूतन द्रव्यबन्ध का कारण होता है। अर्थात् भावबन्ध के माध्यम से कर्मवर्गणाएँ कर्मरूप में बंध जाती हैं। बद्धकर्मों का उदय आना और बध्यमान कर्मों के लिए निमित्तभूत आत्मा में कषायभाव होना, उससे कर्म के योग्य पुद्‍गलों को ग्रहण करना बन्ध है। यह सूत्र का स्पष्टीकरण है। सर्वप्रथम कर्मों का उदय होना ये बन्ध के कारण हैं। इनके द्वारा आत्मा में जो रिफलेक्शन होता है वह भावात्मक होता है। उससे नूतनबन्ध होता है। ये द्रव्यप्रत्यय और भावप्रत्यय भिन्न-भिन्न हैं। उसी प्रकार उदयागत प्रत्यय और आत्मा भी भिन्न-भिन्न हैं। इनको एक मानना गलत है।

जिज्ञासा—ये मिथ्यात्वादि प्रत्यय ही कर्म करते हैं, तो करते रहें, इसमें क्या हानि-लाभ है ?

समाधान—कुछ नहीं, ऐसा शुद्धनिश्चयनय के द्वारा सम्मत ही है, क्योंकि **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** शुद्धनय की दृष्टि में सब शुद्ध हैं, ऐसा आर्षवचन है।

जिज्ञासा—यदि कोई कहे कि मिथ्यात्व के उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि होकर मिथ्यात्व और रागादिरूप भावकर्म को भोगता रहता है अत: उनका कर्त्ता भी है, ऐसा मानना चाहिए ?

समाधान—शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा में आत्मा कर्मों का वेदक भी नहीं है और जब वेदक ही नहीं है तब कर्त्ता कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता। ऐसा शुद्धनिश्चयनय का मत है।

उक्त विवक्षा को न मानकर जो लोग आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता ही कहते हैं, उनके प्रति यह दोष अवश्य है कि यदि आत्मा सर्वथा अकर्त्ता ही है तब तो शुद्धनिश्चयनय से जैसे अकर्त्ता हुआ, वैसे व्यवहार से भी अकर्त्ता हुआ और इस प्रकार सर्वथा अकर्त्तापन होने पर संसार का अभाव हुआ, जो कि एक बड़ा भारी दूषण है। तथा उनके मत में आत्मा कर्त्ता नहीं है, तो कर्मों का वेदक भी नहीं हो सकता। यह दूसरा दूषण है। इस प्रकार आत्मा को केवल वेदक मानने वाले जो सांख्य लोग हैं उनके

लिए स्वमत व्याघात रूप दूषण है।

विशेषार्थ—अशुद्धनिश्चयनय आत्मा को विकारमय देखता है। अतः उसकी दृष्टि में रागादि भाव आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए चेतन ही हैं, किन्तु शुद्धनिश्चयनय आत्मा को शुद्ध देखता है तो वहाँ रागादिक भाव होते ही नहीं हैं। अतः उसकी दृष्टि में रागादिभाव कर्म के उदय में होते हैं इसलिए वे पौद्‌गलिक हैं और अचेतन हैं, किन्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय से तो आत्मा शुद्ध है फिर उनके उदय से रागद्वेष कैसे हो सकते हैं? इसलिए इसकी दृष्टि में रागादिक भाव न तो जीवकृत चेतन हैं और न पौद्‌गलिक कर्मकृत अचेतन ही हैं, किन्तु स्वप्न के समान काल्पनिक ही हैं। जो कि जीव की अज्ञानदशा में होते हैं। यहाँ पर आचार्यदेव के कहने का यह भाव है कि जीव को रागादि के वश में न होकर इन्हें ही दूर करना चाहिए। जो कि केवल मिथ्यात्वादि प्रत्ययों के वश से होने वाले हैं।

इस प्रकार शुद्धनिश्चयनय से कर्म करने वाले प्रत्यय ही हैं। इसके व्याख्यान में चार गाथायें पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि एकान्त से जीव और प्रत्ययों में एकपना नहीं है–

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥१२०॥
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥१२१॥
अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पच्चय, कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥१२२॥

अन्वयार्थ—**(जह जीवस्स)** जैसे जीव के **(अणण्णुवओगो)** अनन्य अर्थात् एक रूप ज्ञान-दर्शन उपयोग है **(तह जदि)** उसी प्रकार यदि **(कोहो वि)** क्रोध भी **(अणण्णो)** अनन्य (एक रूप) हो तो **(एवं)** इस प्रकार **(जीवस्साजीवस्स य)** जीव और अजीव के **(अणण्णत्तं)** एकपना को **(आवण्णं)** प्राप्त हुआ।

(एवं इह) ऐसा होने से इस लोक में **(जो दु)** जो **(जीवो)** जीव है **(सो चेव दु)** वही **(णियमदो)** नियम से **(तहाजीवो)** उसी प्रकार अजीव सिद्ध हुआ। **(पच्चयणोकम्मकम्माणं)** प्रत्यय अर्थात् मिथ्यात्वादि भावकर्म, देहादि नोकर्म एवं ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म के **(एयत्ते)** एकत्व में भी **(अयं दोसो)** यही दोष आता है अर्थात् ये सब भी जीव रूप होंगे।

(अह) अब यदि (अथवा) **(पुण)** फिर **(कोहो अण्णो)** क्रोध अन्य है और **(उवओगप्पगो चेदा अण्ण)** उपयोग स्वरूप आत्मा अन्य **(हवदि)** है तो **(जह कोहो)** जैसे क्रोध है **(तह पच्चय)** वैसे ही प्रत्यय तथा **(कम्मं णोकम्मं अपि)** कर्म और नौकर्म भी **(अण्णं)** आत्मा से अन्य ही है।

अर्थ—जिस प्रकार जीव के साथ ज्ञानदर्शनोपयोग की एकता है, उसी प्रकार क्रोधादि भी जीव

के साथ एकमेक हों तो जीव और अजीव में नियम से एकपना हो जायेगा। कोई भेद नहीं रहेगा, क्योंकि जैसा जीव वैसा ही अजीव, दोनों सर्वथा एक ही रहेंगे। तब यह दोष आयेगा कि देहादिक नोकर्म, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म तथा मिथ्यात्वादि भावकर्म के साथ इस जीव की एकता हो जायेगी। इस दोष से बचने के लिए ऐसा मानना चाहिए कि क्रोध अन्य है तथा उपयोगवान् आत्मा अन्य है। तो जैसे– आत्मा से क्रोध अन्य है उसी प्रकार इतर सब प्रत्यय भी तथा कर्म और नोकर्म भी आत्मा से अन्य ही हैं।

है जीव से समुपयोग अभिन्न जैसा,
है क्रोध भी यदि त्रिकाल अभिन्न वैसा।
तो एकमेव सब जीव, अजीव होंगे,
ये बन्ध मोक्ष फिर तो सब साफ होंगे ॥१२०॥
हो क्रोध आत्ममय ज्यों उपयोग भाता,
आत्मा अनात्म जड़ में ढल पूर्ण जाता।
नोकर्म कर्म तक प्रत्यय आदि सारा,
आत्मीय हो फिर नहीं भव का किनारा ॥१२१॥
पूर्वोक्त दोष भय से यदि मित्र मानो,
है क्रोध भिन्न निज आतम भिन्न मानो।
बाधा रही न फिर तो अतिभिन्न न्यारे,
शुद्धात्म से जड़मयी विधि कार्य सारे ॥१२२॥

व्याख्या—आस्था के माध्यम से ज्ञान कर लिया जाता है कि देह सो आत्मा नहीं, कर्म सो आत्मा नहीं है। वर्गीकरण कर लिया जाता है। बुद्धि में वर्गीकरण करना बहुत कठिन है, क्योंकि दिखता तो एक ही है।

दृष्टान्त—जैसे, दूध में पानी डाल दें तो दूध का रंग पानी में आ जाता है। दोनों एकमेक हो जाते हैं। फिर दोनों में बुद्धि के द्वारा वर्गीकरण किया जा सकता है। मान लो आपने दो किलो दूध खरीदा। दूध में से मलाई और घी निकालने पर पता लगता है कि यह दो किलो दूध तो देखने में था। इसमें तो पानी मिला था। उसे पीने से भूख नहीं मिटती, क्योंकि उसमें पानी मिलने से वास्तव में दूध के गुणधर्म नहीं रहते। उसी प्रकार शरीर सो आत्मा नहीं। जैसे पानी सो दूध नहीं। फिर भी दिखते तो एक जैसे हैं। किन्तु आस्था के साथ दोनों के बीच भेदविज्ञान से ज्ञाता हो जाता है कि शरीर सो आत्मा नहीं और आत्मा सो शरीर नहीं। शरीर में ७०-८० प्रतिशत पानी की मात्रा है। पानी अधिक होने से जब जलोदर रोग होता है तो वह बाहर से फूला दिखता है। जैसे–गुडिया के बाल। जिसको बम्बई की मिठाई कहते हैं। भले ही वह इन्दौर में बनती हो। मुँह में डालते ही यह फुस हो जाती है। अर्थात् वह तो गायब

हो जाती है। उससे न पेट भरता है और न जेब।

जीवन पर्यन्त इस शरीर में रहने वाले दद्दा जी से पूछो कि आपने अपने जीवन में क्या पाया ? कुछ नहीं। जीवन में जो उनके पास था वह दे दिया। इसलिए उन्हें दद्दा कहते हैं। जो अभी दद्दा नहीं बने हैं उनसे हमारा कहना है कि लक्षण के माध्यम से आत्मा और शरीर को पृथक् समझने का प्रयास करो। आचार्यों ने शरीर को नोकर्म कहा है, क्योंकि नोकर्म यानि शरीर के माध्यम से कर्म का फल मिलता है। मात्र एक एक्सेप्शन यानि अपवाद है कि विग्रहगति में तीन समय को छोड़कर बाकी सब समयों में कर्म का फल नोकर्म के माध्यम से ही मिलता है।

दृष्टान्त—जैसे, आपके पास करण्ट है, वह प्रवाहित भी है। आप प्रकाश चाहते हैं। लेकिन यदि लट्टू नहीं लगाया तो प्रकाश की अभिव्यक्ति नहीं होती। आप जानते हैं कि लट्टू सो करण्ट नहीं, क्योंकि लट्टू तो करण्ट का नोकर्म है और करण्ट कर्म है। प्रकाश की अभिव्यक्ति या प्रकाश का अनुभव लट्टू के माध्यम से होता है। उसी प्रकार रूप, रस, गन्धादिक पंचेन्द्रिय विषयों का शरीर के बिना या इन्द्रियों के बिना सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के लिए नोकर्म अनिवार्य है। इसलिए कर्म, नोकर्म और प्रत्यय को अलग-अलग कहा है। आपने बटन दबा दिया और पंखा नहीं लगाया तो हवा नहीं आयेगी। हवा का नोकर्म पंखा है, पंखा चलने के लिए करण्ट बटन के माध्यम से आया। दूसरी बात, पंखा है लेकिन करण्ट नहीं है तो भी हवा संभव नहीं। इसी प्रकार शरीर है और आत्मा नहीं तो कुछ नहीं। आँखें खुली भी हों लेकिन आत्मा नहीं है तो कुछ दिखेगा नहीं। मात्र चश्मा के द्वारा नहीं दिखता। वह तो उपकरण है। जब चक्षु इन्द्रियावरण का क्षयोपशम होगा तभी दिखेगा और क्षयोपशम तब महसूस होगा जब शरीर में आत्मा हो। क्योंकि आत्मा को प्रत्येक कार्य में इन्द्रिय और शरीर का सहारा लेकर ही काम करना होता है। संसारदशा में तभी ज्ञानादि गुण महसूस होते हैं। नहीं तो कुछ नहीं। ज्ञान का आधारस्तम्भ होकर के भी आत्मा की दुर्दशा हो रही है।

जिज्ञासा—मिथ्यात्वादि प्रत्ययों को आत्मा से पृथक् कैसे किया जाये ?

समाधान—मिथ्यात्वादि प्रत्ययों को आत्मा से अलग करने के पूर्व, हमें यह श्रद्धान और ज्ञान होना आवश्यक है कि जीव और प्रत्ययों में एकपना नहीं है। जैसे, ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग जीव से तन्मय है। क्योंकि अग्नि की उष्णता के समान वह आत्मा के साथ अनन्य ही देखने में आता है। कभी किसी भी प्रकार उससे पृथक् देखने में नहीं आता। उसी प्रकार यदि एकान्त से क्रोध को भी या मिथ्यात्वादि प्रत्ययों को भी जीव के साथ अनन्य ही मान लिया जायेगा तो ऐसा मान लेने पर उपयोगवान जीव और अजीव ये दोनों एक हो जायेंगे। इस प्रकार जो जीव है वही नियम से अजीव समझा जायेगा। फिर अजीव का अभाव ठहरेगा। यह बड़ा दूषण आयेगा। इस दोष से बचने के लिए शुद्धनिश्चयनय से क्रोध तथा मिथ्यात्वादि प्रत्यय, कर्म, नोकर्म को विशुद्धज्ञान-दर्शनमय आत्मा से भिन्न ही मानना चाहिए। एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने से ये दोनों दूध पानी की तरह मिले हुए दिखते

हैं। आप लोग बारह भावना में पढ़ते हैं–

तू चेतन अरु देह अचेतन, यह जड़ तू ज्ञानी,
मिले अनादि यतन तैं बिछुड़ै ज्यों पय अरु पानी।
रूप तुम्हारा सबसों न्यारा, भेदज्ञान करना,
जौ लों पौरुष थके न तौ लों उद्यम सों चरना॥

(बारहभावना, मंगतरायकृत)

जैसे दूध में पानी अनादि काल से मिला हुआ है। किसी ने मिलाया नहीं है, लेकिन यतन तैं बिछुड़ सकता है। पुरुषार्थ करना आवश्यक है, भेदविज्ञान होना आवश्यक है। तभी दोनों को पृथक् किया जा सकेगा।

समय आने दो सब हो जायेगा–

आज एक बड़ा प्रबुद्धवर्ग है जो उसकी प्रतीक्षा में लगा हुआ है। वह कहता है कि–''जब जो होना होगा वही होगा'' उन्हें उक्त दो पंक्तियों को पढ़ लेना चाहिए। पुरुषार्थ करो कहते ही उनके निश्चय को धक्का सा लगता है, ऐसी उनकी धारणा है। पुरुषार्थ करना यानि कुछ न कुछ निमित्त होना। उनका कहना है कि–क्या हम पुरुषार्थ कर सकते हैं ? दुनिया के तो सारे कार्य बुद्धिपूर्वक और पुरुषार्थ के द्वारा करते हैं। इसमें भी उन्हें विश्वास होना चाहिए कि जब करने से कुछ नहीं होता तो दुनियादारी के कार्य भी नहीं करना चाहिए। यदि दुनियादारी के कार्य करने के भाव होते हैं तो देह-जीव को भिन्न-भिन्न करने के भाव भी होना चाहिए। इस पंक्ति पर ध्यान जाना चाहिए कि–**मिले अनादि यतनतैं बिछुड़ें।**

दृष्टान्त–जैसे बचपन में आपको वस्त्र मिले थे, उनको स्वयं यतन से पहना था या अपने आप पहनने में आ गए थे। वे अपने आप छूट गये या यतनतैं छूटे। आज जो वस्त्र पहिने हैं वे अपने आप छूट जायेंगे या उन्हें यतनतैं छोड़ना पड़ेगा। आप स्वयं वस्त्र चयन करते हैं, वस्त्रों की दुकान पर जाते हैं, वस्त्र लेने के लिए पसन्द करने के लिए, अनेक थान देखने का पुरुषार्थ करते हैं। दुकानदार पूछता है कि कैसा वस्त्र चाहिए ? तो कहते हैं कि–नई वैरायटी का चाहिए। कम्पनी का है तो बताइये। दुकानदार वस्त्र दिखाता है–एक, दो, तीन, चार, नई-नई चीज लाकर दिखाता है तो कहते हैं–यह ठीक नहीं है। यह भी ठीक नहीं है। तब दुकानदार कहता है कि–तुम्हारे चश्में में ठीक-ठीक दिखता है कि नहीं ? तुम्हारा चश्मा गलत तो नहीं है। इस प्रकार कई दुकानों में जाने के बाद वस्त्र का चयन कर लेते हैं। फिर उसे बुद्धिपूर्वक ओढ़ लेते हैं या पहन लेते हैं और यहाँ धार्मिक क्षेत्र में आते हैं या मन्दिर में आते हैं तो कहते हैं कि ''समय आने पर हो जायेगा।'' भैया, पूजन कर लो, दान कर लो, धर्म-कार्य कर लो, ऐसा कहने पर कहते हैं कि–समय आने पर हो जायेगा। सारे काम समय पर होते हैं। यह मन्दिर का प्रभाव है या ग्रन्थों का ? क्या पता है ? मन्दिर से बाहर जाते ही पुरुषार्थ की भूमिका शत-प्रतिशत

रहती है। कहते हैं कि–हम यह करके दिखायेंगे। हम ऐसा लाकर दिखायेंगे आदि-आदि और मन्दिर में आकर कहते हैं कि ''समय आयेगा तो कपड़े अपने आप उतर जायेंगे।'' मुझे समझ में नहीं आता कि आप लोग कपड़े ग्रहण करने में तो बुद्धि लगाते हैं और उतारने में काल लगाते हैं। काल इनकी बुद्धि से और अधिक उत्कृष्ट चीज है, ऐसा लगता है। आज वैज्ञानिक भी इसे (काल) कोई अद्‌भुत चीज है, ऐसा कहते हैं।

आज एक ऐसा वर्ग है जो यह कहता है कि–''जब तक काल न आये तब तक पत्ता भी नहीं हिल सकता।'' यह एक प्रकार से एकान्त नहीं है तो एकान्त का बाबा अवश्य है, उन्हें एकान्त को छोड़कर पुरुषार्थ करके देखना चाहिए। आत्मा में जब स्वतन्त्र शक्ति विद्यमान है तो फिर काल की प्रतीक्षा करना आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को नकारना नहीं है क्या ? आत्मा के पास जब स्वतन्त्र शक्ति है तो काल पर डिपेण्ड होने की क्या आवश्यकता है ? काल को माना अवश्य है पर उसको प्रेरक नहीं, किन्तु उदासीन निमित्त माना है। जैसे धर्मद्रव्य है, उसी प्रकार कालद्रव्य भी उदासीन कारण है। काल के द्वारा सामान्य से परिवर्तन होता है।

पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु।

ऐसा **कुन्दकुन्द स्वामी** ने कहा है। आत्मा की क्रियावती शक्ति के लिए कर्म निमित्त है, न कि काल। **कुन्दकुन्द भगवान्** के रहस्य को जानना चाहते हैं तो उन्होंने क्या कहा है, इसे पढ़ो। उन्होंने कहा है कि–स्कन्ध बनने में कथंचित् काल आपेक्षित है, आत्मा के लिए काल एक उदासीननिमित्त है, कर्म कथंचित् प्रेरक हो जाते हैं। काल जब से है तब से वहीं का वहीं है। काल कभी इधर-उधर लुढ़कता नहीं है। कर्मवर्गणाएँ लुढ़क-पुढ़क करती हैं। काल का चक्र नहीं होता है, बल्कि काल तो कील के समान होता है। उसके ऊपर चक्र घूमता है।

दृष्टान्त—जैसे–कुम्भकार का चाक लकड़ी से घुमाने पर घूमता है, लेकिन नीचे कील, पैंसिल की तरह लगी रहती है। वह कील नहीं घूमती, चाक घूमता है। यदि नीचे से कील निकाल दी जाये तो चाक नीचे आ जाता है। बस काल का भी कील के समान कार्य है। ''काल को जो नहीं मानते हैं उनके लिए काललब्धि आवश्यक है। लब्धि यानि स्वीकारना। तात्पर्य यह है कि जो काल को नहीं मानते हैं उन्हें कालद्रव्य स्वीकार कर लेना चाहिए, यही काललब्धि है।'' एक ही काल में कोई नरक जाता है, कोई स्वर्ग जाता है, कोई ऊपर कोई नीचे जा रहा है। कोई जन्म ले रहा है, कोई मृत्यु को प्राप्त हो रहा है। इस प्रकार अनन्तकाल हो गया। काल तो शुद्ध द्रव्य है, सामान्य से काल एक द्रव्य है। असंख्यात कालाणु हैं, उनके द्वारा अनन्तानन्त कार्य होते चले जा रहे हैं। जीव अनन्त हैं, पुद्‌गल अनन्तानन्त हैं, सभी के परिवर्तन में कालद्रव्य सहायक है। इतनी ही काल की अपेक्षा है। वैसे तो कालद्रव्य को अधिक महत्त्व देने वालों को कहा है कि **कालस्तु हेयः** काल हेय है। लेकिन अपना जो स्वकाल है वह उपादान, कर्मों के लिए वह यमदेव के समान है। स्वकाल को देखकर कर्म डर जाते हैं।

जिज्ञासा—स्वकाल क्या है ?

समाधान—आचार्यों ने कहा है कि निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान, निश्चय सम्यक्चारित्र और निश्चय सम्यक्तप में ढला हुआ जो आत्मा का उपादान है वही स्वकाल है। यह प्राप्त हुआ कि अनन्तर समय में केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। यदि कोई कहे कि रात्रि में दूध में जामुन डाल दो तो सुबह घी निकलता है और सुबह जामुन डालो तो शाम को घी निकलता है। अब कोई ऐसा यन्त्र बनना चाहिए कि इस हाथ से जामुन डालो और तुरन्त उस हाथ से घी निकालो। तब तो फिर यह अपने हाथ की बात हो गई। लेकिन ध्यान रखो प्रक्रिया यत्न पर आधारित है और वह यत्न यद्वा-तद्वा भी नहीं होना चाहिए, किन्तु समीचीन होना चाहिए। इसलिए मोक्षमार्ग की अपेक्षा भी स्वकाल कार्यकारी है।

निर्जरा दो प्रकार की होती है–१. सविपाकनिर्जरा, २. अविपाकनिर्जरा। **बारहभावना** में आप लोग निर्जराभावना के बारे में पढ़ते हैं–

पहली सबके होय, नहीं कछु सरै काज तेरा।
दूजी करै जु उद्यम करके, मिटे जगत फेरा॥

सविपाक निर्जरा के द्वारा मोक्षमार्ग नहीं बनता। जो काल पर डिपेण्ड रहता है, पुरुषार्थ नहीं करता उसके अविपाकनिर्जरा तीन काल में कभी नहीं होगी। समय नहीं होने पर या समय आने के पूर्व ही तप के द्वारा जो निर्जरा होती है। उसे अविपाकनिर्जरा कहते हैं। मोक्षमार्ग में अविपाक निर्जरा ही कार्यकारी होती है। उसे ही नमोऽस्तु किया है। **अकालविपाको निर्जरा अविपाकनिर्जरा। तत्त्वार्थराजवार्तिक** में **आचार्य अकलंकदेव** ने भी लिखा है कि **कालानियमाच्च निर्जरा** अर्थात् काल के अनियम से जो निर्जरा होती है वही अविपाकनिर्जरा मोक्षमार्ग में कार्यकारी है। जिसमें हमारा सम्यक् पुरुषार्थ लगा होता है वही कार्य सफल होता है। समय अपने आप में मात्र काल का वाचक नहीं है। किन्तु समय यानि आत्मा भी है। समय शब्द आत्मा के स्वभाव का भी वाचक है। आत्मा के साथ काल कभी बंधता नहीं। कर्म आत्मा के साथ बंधता है। उसको समाप्त करना चाहें तो उसकी भी सम्यक् विधि है। रत्नत्रय के द्वारा ही उसका निष्कासन संभव है। अन्य किसी तरह से नहीं। इसलिए काल चेतना का कथन कहीं नहीं मिलता। जैनाचार्यों ने तीन प्रकार की चेतना में कालचेतना को कोई स्थान नहीं दिया। काल की प्रतीक्षा करके बैठो, ऐसा किसी भी ग्रन्थ में नहीं लिखा। कुछ लोग जिन गाथाओं का हवाला देते हैं, उन्हें उन गाथाओं का अच्छी तरह से अर्थ लगा लेना चाहिए। जब सही अर्थ समझ में आयेगा तो आँखें खुल जायेगीं। अर्थात् सही ज्ञान हो जायेगा।

उपदेश रूपी फिटकरी का प्रभाव—

दृष्टान्त—जैसे, किसी की आँखें आ जाती हैं अर्थात् आईफ्लू हो जाता है तो आँखें चिपक जाती हैं। उनको खोलने के लिए फिटकरी का पानी उपयोग में लाते हैं। उस पानी से चिपकी हुई आँखें खुल

जाती हैं। पहले आँखें चिपक गई थीं। फिटकरी के पानी से साफ करने पर आँखें खुल जाती हैं। इसी प्रकार आचार्यों की उपदेश रूपी फिटकरी से हम सभी संसारी प्राणियों की अज्ञान रूपी आईफ्लू से चिपकी आँखों को खोला जा सकता है। **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** में कहा है कि जैसा जिस प्रकार से जिसके द्वारा जो कार्य होता है वही, उसी प्रकार का, उसी के द्वारा होगा। यह इसलिए कहा है कि तुम तो अपने आत्मधर्म या परिणाम संभालो। आप संभलना चाहोगे तो संभल जाओगे। देव, गुरु, शास्त्र के अलावा जो अन्यत्र जा रहा है यह समझकर कि वहाँ मेरा उद्धार होगा, हित होगा, लेकिन उन्हें समझना चाहिए कि इसमें हित नहीं होगा। कर्म का योग जिसका जैसा होगा वैसा संयोग मिलेगा। इसलिए इन सब बातों को छोड़कर अपनी आत्मा की बात करने में लग जा। ये ही पंक्तियाँ हमें बता रही हैं कि अन्यक्षेत्र में हम कुछ नहीं कर सकते। परन्तु स्वक्षेत्र में या अपने विषय में जो चाहें, जैसा चाहें, वैसा कर सकते हैं। इसका भाव यह है कि आँखें आ गई हों तो फिटकरी का पानी लगाने से धीरे-धीरे ठीक हो जाती हैं। हल्दी के पानी में कपड़े को गीला करके आँखों पर रखने से भी आँखें ठीक हो जाती हैं। कोई भी उपचार करने पर यही भाव रहता है कि मेरी आँखें ठीक हो जायें, बड़ी बीमारी से बच जाऊँ इत्यादि।

व्याकरण में 'मयट्' प्रत्यय तादात्म्य का द्योतक माना जाता है। कहीं-कहीं पर संयोग रूप में भी लिया है। जैसे-जीव के साथ रहने वाला क्रोधादि भाव नैमित्तिक है। क्रोध दो प्रकार का होता है- १. द्रव्यक्रोध, जो पुद्गलद्रव्य कर्मवर्गणा रूप से परिणत होता है और २. भावक्रोध, जो चेतना की परिणति रूप होता है। इसे एकान्त से आत्मा रूप नहीं कह सकते, किन्तु नैमित्तिक होता है। तादात्म्य भी दो प्रकार का होता है-१. त्रैकालिक तादात्म्य और २. तात्कालिक तादात्म्य। यदि भाव एवं द्रव्य क्रोधादि का जीव के साथ त्रैकालिक तादात्म्य मानोगे तो आत्मा अजीव के साथ एकता को प्राप्त हो जायेगा। यह भाव क्रोध जीव के स्वभाव या उपयोग लक्षण जैसे अनन्यता को प्राप्त नहीं हो सकता। बन्ध के समय भी कर्मप्रदेश एवं आत्मप्रदेश में एकत्व प्राप्त होता है। वह एकत्व जैसा दिखता है, लगता भी है लेकिन निश्चयनय से एकत्व नहीं है। यदि एकान्त से एकत्व हो जाये तो अजीव रूप हो जाने से संवर, निर्जरा आदि नहीं होगी और संवर-निर्जरा का अभाव होने पर मुक्ति का भी अभाव हो जायेगा। आप किसी व्यक्ति को देखते हैं या किसी की आवाज दूर से सुनते हैं या आवाज सुनाई पड़ रही हो तो आप उसे सुनकर तुरन्त कहते हैं कि यह उस व्यक्ति की आवाज है। व्यक्ति के साथ आवाज का ऐक्य होने से ऐसा कहने में आता है। आवाज कर्णेन्द्रिय का विषय है, परन्तु यह उसी की आवाज है, यह कैसे जाना? आचार्य कहते हैं कि भिन्न-भिन्न नामकर्मों के उदय से भिन्न-भिन्न रूप में शब्दों की अभिव्यक्तियाँ होती हैं, इसलिए भिन्न-भिन्न आरोप किये जाते हैं कि यह उसी की आवाज है और यह उसकी। यह ठीक ही है। इसी प्रकार के आरोप से ही तो संसार चल रहा है। भगवान् तीर्थंकर की आवाज सामान्य नहीं होती, किन्तु उनकी आवाज दिव्यध्वनि कहलाती है। भगवान् तीर्थंकर ही दिव्यध्वनि के कर्त्ता होते हैं। हम-तुम लोगों की ध्वनि, दिव्यध्वनि नहीं कही जा सकती। भगवान् की

दिव्यध्वनि भी विशिष्ट नामकर्म के उदय में होती है। अतः दिव्यध्वनि के कर्त्ता तीर्थंकर भगवान् होते हैं। लेकिन एकान्त से उसके कर्त्ता नहीं होते। यदि एकान्त से कर्त्ता मानेंगे तो वे भाषावर्गणा जो दिव्यध्वनि रूप परिवर्तित होती है उसके स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, आदि गुणों के भी कर्त्ता हो जायेंगे। जबकि ऐसा नहीं है, किन्तु इतना अवश्य है कि उनके लोककल्याणमय भावों के बिना शब्द रूप वर्गणायें उस दिव्यध्वनि रूप परिवर्तित नहीं हो सकतीं। इसलिए कथंचित् तीर्थंकर भगवान् दिव्यध्वनि के कर्त्ता सिद्ध होते हैं। अतः भगवान् की वाणी ही दिव्यध्वनि रूप मानी जाती है। दिव्यध्वनि के द्वारा ही द्वादशांग की रचना होती है। हम तुम कितनी भी देर तक बोलते चले जायें तो भी द्वादशांग की रचना नहीं हो सकती। इस प्रकार स्याद्वाद शैली से एकत्व और अन्यत्व का स्वरूप जानना चाहिए।

सांसारिक जीवन का आधार : कर्म-नोकर्म—

कर्म-नोकर्म पर ही आज पूरा का पूरा जीवन आधारित है। आज आपके दस प्राण हैं और कोई संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मान लो एकेन्द्रिय में चला गया तो छह प्राण समाप्त हो जाते हैं। विग्रहगति में चला गया तो श्वासोच्छ्वास प्राण और कम हो जाता है। जिस आयुकर्म का उदय होगा। उसके अनुसार जीव वहाँ चला जाता है। मतलब इन कर्म पुद्गलों के निमित्त से जीव यह नारकी है, यह मनुष्य है, यह देव है या तिर्यंच है, ऐसा घोषित होता है तथा यह औपचारिक नहीं है। पंचेन्द्रिय अवस्था से जब जीव एकेन्द्रिय हो जाता है तो चार इन्द्रिय सम्बन्धी पूरा का पूरा ज्ञान समाप्त हो जाता है। एकेन्द्रिय अवस्था में मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय सम्बन्धी ही ज्ञान रहता है। अब वह एकमात्र स्पर्शनइन्द्रिय के माध्यम से ही सब कुछ भोगेगा। तथा एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय बन जाये तो पंचेन्द्रिय जीव कहलाने लग जाता है। इतना अवश्य है कि अतीत-अनागत में क्षयोपशम ज्ञान होने के कारण पहले मैं एकेन्द्रिय था या पंचेन्द्रिय था, यह ज्ञान नहीं रहता है। वह तो जहाँ भी जाता है वहीं उसे ऐसा लगता है कि मेरा जीवन तो यही है। इसके पहले मैं कहीं नहीं था। यह सब कर्म की देन है। कर्म और नोकर्म के साथ ऐसा गठबन्धन है कि आज तक छूटा नहीं है। संसारी प्राणी इसे मात्र आस्था या श्रद्धा का विषय बनाकर सोच सकता है। अन्यथा कोई संवेदनशीलता को ला ही नहीं सकता। समझाने वाले समझायें तो भी उसमें योग्यता या आस्था होगी तभी समझना संभव है। तीर्थंकर भी कुछ नहीं कर सकते। देशनालब्धि की योग्यता जब हो जाती है तो सम्यग्दर्शन की संभावना लगने लगती है। अन्यथा हमारी भावना मात्र है। लेकिन भावना अलग होती है और परिणमन अलग। कर्म या संस्कार को समाप्त कर दे, यह सम्भव नहीं है। हम अपने कर्मों को ही समाप्त नहीं कर सकते तो दूसरों के कर्मों को कैसे समाप्त कर सकते हैं और वह जब तक समाप्त नहीं होते हैं तब तक वैसी धारणा बन नहीं सकती। संसारी प्राणी की सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि वह अपनी आस्था का विषय तो नहीं बनाता है और दूसरों को समझाने की कोशिश करता है। किसी को कैसे समझा सकते हैं ? पत्थर की शिला रखी हुई है, जा ही नहीं सकते हैं, लेकिन यह आकुलता मात्र है। अभी तक आपको समझ में नहीं आया था। अभी एक समय भी

नहीं हुआ और दूसरों को समझाने लग जाता है। कम से कम एकाध घण्टे तो शान्ति से बैठ जाओ, पर आकुलता ऐसी ही होती है। यह छद्मस्थ अवस्था का स्वरूप है, ऐसा लगता है।

व्यवहारनय की दृष्टि से कर्म-नोकर्म आदि जीव से अभिन्न कहे जा सकते हैं लेकिन शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से जीव से भिन्न ही हैं। जब तक मिश्रित अवस्था में हैं, तब तक इसे स्वीकार किया जाता है। **आलापपद्धति** ग्रन्थ में उपचरितसद्भूतव्यवहार नय की दृष्टि से **सिद्धानां परज्ञता** अर्थात् सिद्धों के परज्ञता को स्वीकार किया है। सर्वज्ञत्व और परज्ञत्व यह चूँकि औपचारिक कथन है, अतः उपचरितव्यवहारनय का विषय हैं। भले ही वह सद्भूत है, फिर भी आत्मा से पृथक्भूत समस्त लोक को जान रहा है इसलिए औपचारिक कथन है। सर्वज्ञत्व स्व पर डिपेण्ड नहीं है, पर के ऊपर आधारित है।

जो है सब औपचारिक—

दृष्टान्त— जैसे, आप अपना चेहरा या अपना शृंगार देखने के लिए दर्पण का आधार लेते हैं। उसमें आपकी मुखमुद्रा देखने में आ जाती है। आप पहचान जाते हैं कि-''यह मैं हूँ'' लेकिन इसे आप सर्वप्रथम औपचारिक मानिये। क्योंकि उसमें जो बिम्ब आया है वह औपचारिक है। जब यह औपचारिक है तो उसी प्रकार किसी ने आपका चेहरा देखा और किसी का चेहरा आपने दर्पण में देखा तो यह तो और अधिक औपचारिक हो गया। वह असली कैसे हो सकता है ? उस व्यक्ति से पूछते हैं कि मैं कैसा लग रहा हूँ और मेरे आभूषण कैसे लग रहे हैं ? सामने वाला यदि कह दे कि यह सब तो औपचारिक है तो फिर देखो-क्रोध आ जायेगा। आज तक दर्पण से कभी पूछा आपने कि-मैं कैसा लग रहा हूँ ? नहीं, क्योंकि वह तो अचेतन है और ये आभूषण आदि भी अचेतन हैं। लेकिन हम इस शरीर को और आभूषण आदि को अच्छा मानते हैं। इससे तादात्म्य जैसा मानते हैं। इससे प्रभावित हो जाते हैं। इसके कारण बहुत सारे संकल्प-विकल्प होते रहते हैं। इनसे संसार में केवल संघर्ष ही है, इसके अलावा कुछ नहीं।

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को नहीं समझने के कारण, अपने जीवन का लक्ष्य डायवर्ट हो जाता है। हम बहुत कुछ योजनाएँ समझ लेते हैं पर बाहर की हवा लग जाती है तो फिर मैं कहाँ से आया हूँ ? कहाँ जाना है ? यह भूल जाते हैं। रावण जैसे के सामने कितनी बड़ी-बड़ी नीतियाँ भी क्यों न हों वे भी फेल हो जाती थीं। कर्मों की विचित्रता देखो-ग्यारहवें गुणस्थान में जाकर भी वहाँ से गिरकर कषाय के कारण निगोद की यात्रा तक कर लेता है। यह एक अचम्भा जैसा लगता है। बड़ा वैचित्र्य है। संसारी प्राणी भले ही इसे वास्तविक मानता है, परन्तु उसे भी जब रहस्य समझ में आ जाता है तो वह कहता है कि-यह सब औपचारिक है। क्योंकि दो द्रव्यों के बीच में जो भी कार्य होता है वह सब औपचारिक होता है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है पर एक-दूसरे पर डिपेण्ड हो गया है तो औपचारिक ही तो है। वह हमारे ऊपर डिपेण्ड नहीं है फिर भी हम मान रहे हैं। मान्यता के बल पर ही सारा का सारा

कार्य फैलता जा रहा है। इसमें ज्यादा फैलना नहीं चाहिए।

दृष्टान्त—जितना टॉर्च का प्रकाश फैलेगा उतने ही क्षेत्र की वस्तुयें दिखाई देती हैं। जैसे—टॉर्च से जितने करीब का देखेंगे उतना ही घना प्रकाश दिखेगा और वस्तु भी उतनी ही स्पष्ट दिखेगी। लेकिन उसकी रेंज बढ़ा दी जाये तो चार से आठ फीट तक प्रकाश चला जाता है। प्रकाश के दूर तक फैलने से प्रकाश का घनत्व समाप्त हो जाता है और आकाश में अगर टॉर्च मार दी तो प्रकाश का अभाव सा ही लगता है। पदार्थ हैं, पदार्थ प्रकाशित होता है, इसलिए यहाँ प्रकाश है यह ज्ञात होता है। पर अकेला प्रकाश नहीं दिखता। इसी प्रकार अमूर्त का चिन्तन प्रारम्भ कर दो तो सारा का सारा विश्व हमारी दृष्टि से गोल यानि ओझल हो जायेगा। संसारी प्राणी का मन अमूर्त के चिन्तन में नहीं लगता। इसलिए आचार्यों ने ध्यान की प्रारम्भिक अभ्यास अवस्था में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत आदि ध्यान-धारणा का अभ्यास करने का उपदेश दिया है, जिससे हमारा मन अन्यत्र न जाये।

जिज्ञासा—किसका ध्यान करें महाराज ?

समाधान—प्रारम्भिक अवस्था में पदार्थ का माध्यम लेकर, शब्दों का माध्यम लेकर ध्यान का अभ्यास कर सकते हैं। जिन शब्दों का अवलम्बन लेकर ध्यान करते हैं तो बाद में थोड़ी देर तक वे ही शब्द दिमाग में घूमते रहते हैं। जिन शब्दों के माध्यम से ध्यान करते हैं तो उसी से सम्बन्धित शब्द आते हैं। उसी की चर्चा सुनते हैं तो अच्छा लगता है, नहीं तो नहीं। लेकिन यह सब औपचारिकता है।

आचार्य अकलंक स्वामी ने एक वार्तिक में कहा है कि—

पराभिप्रायनिवृत्तिः अशक्यत्वात्।

अर्थात् दूसरे के अभिप्राय की निवृत्ति अशक्य है। दूसरे के अभिप्राय जानने, देखने, समझने आदि को परिवर्तित नहीं कर सकते। बच्चों को तो बहुत जल्दी परिवर्तित किया जा सकता है। चुटकी बजाते ही वे खेल आदि सब भूल जाते हैं और दूसरे कार्य में लग जाते हैं। इसी प्रकार बच्चे बनकर हम भगवान् के पास, **आचार्य कुन्दकुन्द** के पास चले जायें तो बहुत जल्दी समझ में आ जाये। पर हम **आचार्य कुन्दकुन्द** से ज्यादा प्रौढ़ बनकर जानते हैं। अतीत को भूलना नहीं चाहते। अनागत की योजनायें भी नहीं भूलना चाहते और भगवान् से या **आचार्य कुन्दकुन्द** से अच्छा विषय मिल जाये तो एड करना चाहते हैं। इसलिए 'याद करना बहुत सरल है, भूलना बहुत कठिन है।' इसको याद रखना। आजकल कोई पत्र लिखते हैं तो रंगीन कागज पर लिखते हैं। अलग-अलग पेन से लिखते हैं। वे शब्द पढ़ने में भी नहीं आते। ऐसे सुनहरे रंग के पेन से लिखते हैं। यह आज का स्टेण्डर्ड है, इसी में दुनिया लीन हो रही है।

परस्पर सापेक्ष—

निश्चय और व्यवहार दोनों सापेक्ष नय हैं। इनकी परस्पर में सापेक्षता रहती है। दोनों में से एक मुख्य होता है तो दूसरा गौण हो जाता है।

दृष्टान्त—कोई दाँयी आँख से देखता है तो उस समय उसकी बाँयी आँख गौण रहती है। एक के लिए दूसरी आँख सहयोगी रहती है। अर्थात् दोनों आँखें परस्पर में सापेक्ष होकर देखने का कार्य करती हैं। जो बचपन में एक आँख से देखता है वह काना होता है। पर काना कहने से व्यवहार में अच्छा नहीं माना जाता। वह एक आँख से देखता है, ऐसा भी नहीं कहते। इसी तरह परीक्षार्थी का जब परीक्षाफल आता है, उसमें वह ३३ नम्बर से पास हुआ है। उससे यदि कोई यह कहता है कि तुम ६७ नम्बर से फेल हो गये तो यह सुनकर उसे अच्छा नहीं लगता। किन्तु यदि उससे यह कहा जाये कि तुम ३३ नम्बर से पास हो गये हो तो सुनकर कूदने लगता है। यह विधि और निषेधपरक कथन का प्रभाव रहता है। सामने वाले को देखकर विधि-निषेधपरक या मुख्य-गौण कथन होता है। कई व्यक्ति ऐसे हैं जिनको डाँटने पर भी बुरा नहीं लगता। लेकिन कुछ लोग ऐसे होते हैं कि बिना डाँटे भी बुरा लगता है। तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति दोषों का निष्कासन करना चाहता है, उस कार्य में तत्पर रहता है तो डाँटने पर भी बुरा नहीं लगता। कुछ लोग दोषों को निकालना तो चाहते हैं, परन्तु लाइटेड होना नहीं चाहते। जबकि भगवान् भी तो जान रहे हैं। भगवान् के केवलज्ञान में यह पूरा का पूरा झलक रहा है। किसी भी व्यक्ति का इतिहास साफ-सुथरा नहीं है। सभी जीव अनन्त गलतियों के भण्डार हैं। कोई बड़ा नहीं है। एक व्यक्ति के पीछे अनन्त सिद्धपरमेष्ठी होने वाले हैं और हमारे सिद्ध होने के बाद भी अनन्त तीर्थंकर मुक्ति को प्राप्त होने वाले हैं। सामान्य भगवान् तो ठीक ही हैं, यह प्रत्येक भव्य जीव के साथ जुड़ेगा। ध्यान रखना, इसलिए घबराओ नहीं...।

व्यवहारनय दो प्रकार का है-१. रूप, रस, गन्धात्मक पुद्‌गल कर्म से सम्बन्ध रखने रूप, २. जीव के रागादि भावों का कर्त्ता होने रूप। अशुद्धनिश्चयनय को भी व्यवहारनय कहा जाता है। इसी प्रकार शुद्धोपयोग और केवलज्ञान में भी अन्तर है। **इन्द्रियज्ञानापेक्षया शुद्धोपयोगः प्रत्यक्षं किन्तु केवलज्ञानापेक्षया परोक्षं** केवलज्ञान तो एकान्त से प्रत्यक्ष है। बाकी सभी परोक्ष हैं। शुद्धोपयोग सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है उसे केवलज्ञान के समकक्ष नहीं रख सकते हैं।

दृष्टान्त—जैसे रात्रि में भी चन्द्रमा का उजाला तो है पर दिन के उजाले जैसा वह नहीं होता है। सूर्य के रहते हुए उजाला रहता है इसीलिए सूर्य को दिनकर कहते हैं और चन्द्रमा को रजनीकर कहा जाता है। निश्चयापेक्षा से तो चन्द्रमा रजनीकर ही है। लेकिन ताराओं की अपेक्षा से चन्द्रमा ज्यादा प्रकाश देता है, फिर भी दिन के उजाले की अपेक्षा से तो वह भी धुँधला सा है। दिन में चन्द्रमा दिखता है क्या? प्रातःकाल तो दिख जाता है, पर जब तेज-पुंज सूर्य रहता है, दिन के बारह बजे हों उस समय चन्द्रमा को देखो, ढूँढ़ो तो भी नहीं मिल सकता है। आचार्य कहते हैं कि केवलज्ञान और शुद्धोपयोग इसी प्रकार इक्व ल नहीं हैं। वे लोग केवलज्ञान और शुद्धोपयोग को एक कह रहे हैं, यह ठीक नहीं है। इन्द्रियज्ञान की अपेक्षा शुद्धोपयोग प्रत्यक्ष है लेकिन केवलज्ञान की अपेक्षा वह परोक्ष ही कहलाता है।

जब नूतनकर्म बन्ध होता है तब जीव उनका कर्त्ता होता है। लेकिन उसी समय उनका भोक्ता

नहीं होता। किन्तु उदय के समय उनका भोक्ता होता है। एक स्थान पर **धवला** में कहा है कि–संसार में जो सारी की सारी दशायें हैं वे अपने ही सारे के सारे कर्मों के फल हैं। क्योंकि कर्म उदय में आ रहे हैं और पुनः रागद्वेष भाव होने से बन्ध को प्राप्त होते हैं। उन्हीं की सत्ता रहती है, पुनः उदय में आते हैं। यह परम्परा आज तक छूट नहीं पायी है। आज तक एक समय के लिए भी आयु कर्म का अभाव नहीं हुआ। यदि एक समय का गेप हो गया होता तो यह समझो कि अनन्तकाल के लिए गेप हो जाता।

जिज्ञासा—आयुकर्म की प्रकृति और उसकी स्थिति तो समझ में आती है, परन्तु अनुभाग समझ में नहीं आता ? उसके उदय में कैसा अनुभव होता है ?

समाधान—आचार्य उमास्वामी महाराज ने **तत्त्वार्थसूत्र** के अष्टम अध्याय में अनुभाग बन्ध के विषय में एक सूत्र लिखा है **विपाकोऽनुभवः।** कर्म के विपाक या फल को अनुभाग कहा गया है। आयुकर्म का कार्य क्या है? किसी एक गति में जीव को समयावधि को लेकर रोकना, बन्धन में रखना, जीवन जीने के प्रति जो उत्साह है या जीवन के प्रति निराश होना यह सब आयुकर्म के अनुभाग पर डिपेण्ड है। भिन्न-भिन्न आयु के उदय में भिन्न-भिन्न प्रकार के बन्धन की अनुभूति होती है। यही आयुकर्म के उदय में आने वाले अनुभाग का अनुभव है। जैसे–देवों में सबके देवायु होते हुए भी सभी को एक सा अनुभव नहीं होता। सिक्यूरिटी एक सी है पर अनुभव भिन्न-भिन्न है। एक जेल में अनेक कैदी रहते हैं, पर सबके लिए समान अनुभव हो, ऐसा है क्या ? नहीं। देव स्वयं मनुष्य भव प्राप्त करने की भावना करते हैं। जैसा कि **बारहभावना** में सभी लोग पढ़ते ही हैं–

नरकाया को सुरपति तरसै सो दुर्लभ प्राणी।

सभी देवों को सामान्य रूप से देवायु का उदय है। परन्तु उस सम्बन्धी जो आकुलता होती है वह एक समान नहीं होती। सभी के देवायु सम्बन्धी अनुभाग में कमी-वेशी होती है।

आयुकर्म की स्थिति अनन्त रूप नहीं होती किन्तु उसका अनुभाग अनन्त रूप होता है। बन्धन में जो गाढ़ापन या हल्कापन की अनुभूति है, वह आयुकर्म के अनुभाग के कारण होती है।

बन्धन कई प्रकार के होते हैं। जैसे–चातुर्मास में मुनिराज चारों दिशाओं में १०-१५ किलोमीटर की छूट करके बन्धन करते हैं अर्थात् उतनी दूरी तक विशेष प्रयोजन से आ-जा सकते हैं। उतने क्षेत्र में थोड़ा हिल-डुल सकते हैं। लेकिन यदि किसी ने नियम ले लिया कि "मैं जहाँ हूँ वहीं रहूँगा, यहाँ से बाहर अन्यत्र नहीं जाऊँगा" तो फिर वह कहीं भी जाने का विकल्प नहीं करता। वह कितनी भी समस्या आये तो भी कहीं नहीं जाता। उसका अनुभव अलग ही होता है। **स यथानाम।** अर्थात् प्रकृति अपने नाम के अनुसार फल देती है। एक-एक प्रकृति के अनुभाग के तारतम्य की अपेक्षा कई भेद होते हैं। किसी-किसी प्रकृति के किसी अनुभाग के उदय में कुछ-कुछ अनुभव होता रहता है पर पकड़ में नहीं आता।

दृष्टान्त—जैसे किसी को बुखार आना हो तो बुखार आने के पहले हरारत सी लगती है, खाने

की इच्छा नहीं होती। ऐसा कह देते हैं। यह क्या है ? यह भी असाता कर्म है पर भिन्न-भिन्न पाक यानि फल देता है। उसी प्रकार आयुकर्म का कार्य तो बाँधे रखना है।

स्त्री रूप अंगोपांग मिलना यह अंगोपांगनामकर्म के कारण होता है तथा वेदकर्म के उदय से वेदत्व यानि अभिलाषायें होती हैं। आयुकर्म का कार्य उस-उस गतिगत बन्धन होता है। गतिगत जो बन्धन है वह आयुकर्म के कारण और जो शरीरगत बन्धन है वह बन्धन नामकर्म तथा शरीरांगोपांग नामकर्म पर आधारित है। वेदगत जो आकुलता होती है वह वेदकर्म के उदय से होती है। औपचारिक जो नोकर्म हैं उनके साथ अनुपचरित नय का प्रयोग नहीं कर सकते। संसार तो बिल्कुल उपचार में डूबा हुआ है। अव्रती जो होता है वह तो नोकर्म पर टूट पड़ता है। यदि व्रती होगा तो १५ दिन के भीतर-भीतर शान्त हो जायेगा, क्योंकि प्रत्याख्यानावरण कषाय का वासनाकाल एक पक्ष तक रह सकता है। आप लोग किसी की मृत्यु होने के उपरान्त तेरहवीं या तेरई करते हैं। तेरई के बाद मन्दिर में पूजन आदि करने लग जाते हैं। उसके पहले नहीं करते। क्योंकि तत्सम्बन्धी परिणाम शान्त होने में इतना समय लग जाता है। मुनि के संज्वलनकषाय का वासनाकाल अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, अतः उनका परिणाम अन्तर्मुहूर्त में शान्त हो जाता है। अव्रती सम्यग्दृष्टि के छह मास तक अप्रत्याख्यान कषाय का वासनाकाल होता है अतः उसके छह माह तक कषाय का संस्कार रह सकता है। बाद में तो भगवान् ही मालिक है। अव्रती वगैरह पंचायत करने बैठेंगे तो हमेशा दूसरों की ही बात करेंगे, दूसरों को ही दोष देंगे। वे कहेंगे कि-महाराज ! हम कुछ भी नहीं कर रहे थे, उन्होंने ऐसा-ऐसा कर दिया। फिर दूसरा व्यक्ति आता है वह भी यही कहता है कि-हाँ महाराज, इस गलती का पूरा-पूरा श्रेय उसी को जाता है। मैंने तो कुछ भी नहीं किया। इस प्रकार दोनों ही अव्रती अपनी गलती स्वीकार करने तैयार नहीं होते। मतलब एक सांख्य है तो दूसरा उसका दादा है। पंचमगुणस्थानवर्ती कहता है, गलती मुझसे हुई है। पर उस समय उन्होंने भी ऐसा-ऐसा किया था इसलिए उनके कारण मुझे ऐसा करना पड़ा और मुनिराज कहते हैं कि गलती तो हमारे द्वारा हुई है, लेकिन उनके बारे में हम कुछ कहना नहीं चाहते। इस प्रकार तीनों की गलती स्वीकार करने में अन्तर आता है। अव्रती कहता है-आप कहो तो हम मान सकते हैं। तो सबसे अच्छा तो यही है कि आप अणुव्रती हैं, हम महाव्रती हैं, अतः आप अपनी बात करो तो हम सुन सकते हैं। प्रायश्चित दे सकते हैं। यदि आपको अपना व्रत शुद्ध करना है तो अपनी बात करो। आपका दिल तो जानता है कि आपने कितना क्या किया है ? पहले उस पर ध्यान दो। बाद में दूसरे जो कोई भी हैं, वे तो निमित्त मात्र हैं। उसको मुख्यता देकर उसकी बात करके अपना समय और खराब होगा। इसलिए अपने दोष ही बताना चाहिए। कभी-कभी पुराणग्रन्थों में उदाहरण मिलते हैं कि सीता कहती है कि-"मेरे ही कर्म का उदय है किसी का कोई दोष नहीं है। यदि मैं इतनी सुन्दर नहीं होती तो अपहरण क्यों होता ? इसलिए रामचन्द्र जी से कह देना कि-जैसे मुझे छोड़ दिया है वैसे धर्म को कभी मत छोड़ना।" सही बात है कि बादरनामकर्म का उदय होने से यह बाधा पहुँचाता है। **आत्मानं**

नमयति इति नामकर्म जो आत्मा को नमा देता है वह नामकर्म है। यह कहाँ तक है ? तेरहवें गुणस्थान तक नामकर्म का उदय रहता है, क्योंकि तेरहवें गुणस्थान तक कथंचित् आराधक है। नामकर्म का उदय समाप्त होने पर सिद्धपरमेष्ठी बन जाते हैं। फिर समस्त दुनिया उन्हें प्रणाम करती है। वे किसी को प्रणाम नहीं करते। उसके पहले तो तीर्थंकर भी क्यों न हों उन्हें भी नामकर्म के अनुसार करना पड़ता है।

इस प्रकार शुद्धनिश्चयनय से जीव को अकर्त्ता और अभोक्ता तथा क्रोधादि से भिन्न बताने पर दूसरे पक्ष में व्यवहारनय से जीव का कर्त्तापन, भोक्तापन और क्रोधादि से अभिन्नपना भी अपने आप आ जाता है। क्योंकि निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों में परस्पर सापेक्षता है। जैसे–किसी ने कहा है कि देवदत्त अपनी दाहिनी आँख से देखता है, तब ऐसा कहने में यह बात भी अपने आप आ जाती है कि वह बायी आँख से नहीं देखता। हाँ, सांख्य या सदाशिव मतानुसारी लोग इस प्रकार के परस्पर सापेक्ष नयविभाग को नहीं मानते हैं। अतः उनके मत में जिस प्रकार शुद्धनिश्चयनय से जीव कर्त्ता नहीं होता और क्रोधादि से भिन्न होता है, वैसे ही व्यवहार से भी वह अकर्त्ता और क्रोधादि से भिन्न ही ठहरता है। ऐसी दशा में जीव का क्रोधादि रूप परिणमन न होने पर सिद्धों के समान किसी भी जीव को कर्मबन्ध नहीं होगा। कर्मबन्ध नहीं होने से संसार का अभाव और उसके अभाव से सदा ही मुक्तपने का प्रसंग प्राप्त होता है। जो कि प्रत्यक्ष में ही विरोध है क्योंकि संसार तो प्रत्यक्ष ही दिख रहा है। इस प्रकार प्रत्यय और जीव दोनों में एकान्त से एकता मानने का निराकरण तीन गाथाओं में किया।

जिज्ञासा–यहाँ शिष्य शंका करता है कि आपने बहुत बार ऐसा कहा कि शुद्धनिश्चयनय से जीव अकर्त्ता है। किन्तु व्यवहारनय से कर्त्ता भी है। तब आपके कहने से जीव जिस प्रकार व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्त्ता है उसी प्रकार रागादि भावकर्मों का भी कर्त्ता है। तब द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों एक हो जायेंगे ?

समाधान–आचार्य कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। अपितु दोनों एक न होकर भिन्न हैं। इस भेद को बताने के लिए ही रागादिभावकर्मों का कर्त्तापना बताने वाले व्यवहारनय की अशुद्धनिश्चयनय संज्ञा है। जो द्रव्यकर्म और भावकर्मों में तारतम्य रूप से भेद स्थापन करता है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्यकर्म तो अचेतन जड़ हैं, जबकि भावकर्म विकारमय चेतन रूप हैं। तथापि शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से इन भावकर्मों को अचेतन ही कहते हैं, क्योंकि यह अशुद्धनिश्चयनय भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार की कोटि में ही गिना जाता है।

तात्पर्य यह है कि द्रव्यकर्मों का कर्त्तापन और भोक्तापन जीव में अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से है किन्तु रागादि भावकर्मों का कर्त्तापन और भोक्तापन अशुद्ध निश्चयनय से है, जो कि शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार ही है। इस प्रकार पुण्य-पापादि सात पदार्थों की पीठिका रूप महाधिकार में सात गाथाओं से चौथा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ।

अब इसके आगे **जीवे ण सयं बद्धं** इत्यादि गाथा को आदि लेकर आठ गाथाओं पर्यन्त

सांख्यमतानुसारी शिष्य को समझाने के लिए जीव और पुद्गल के एकान्त से अपरिणामीपन का निषेध करते हुए इनमें किसी अपेक्षा परिणामीपना है, ऐसा स्थापित करते हैं। इन आठ गाथाओं में पुद्गल के परिणामीपने की मुख्यता से तीन गाथायें हैं। तत्पश्चात् जीव के परिणामीपने की मुख्यता से पाँच गाथाएँ हैं। इस प्रकार पाँचवें स्थल में समुदायपातनिका है।

उत्थानिका—अब यहाँ सांख्यमतानुयायी शिष्य को लक्ष्य में लेकर पुद्गल के कथंचित् परिणामी स्वभावपने को सिद्ध करते हैं–

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जदि पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥१२३॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२४॥
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंतं कहं तु परिणामयदि णाणी ॥१२५॥

अन्वयार्थ— **(जदि इणं)** यदि यह माना जाये कि **(पुग्गलदव्वं)** पुद्गलद्रव्य **(जीवे)** जीव में **(ण सयं बद्धं)** स्वयं नहीं बंधा और **(ण सयं कम्मभावेण परिणमदि)** कर्मभाव से स्वयं नहीं परिणमता **(तदा)** तो **(अप्परिणामी होदि)** अपरिणामी होता है। यह सिद्ध हुआ।

(कम्मइ य) और कार्मण **(वग्गणासु य)** वर्गणाएँ **(कम्मभावेण)** स्वयं कर्म भाव से **(अपरिणमंतीसु)** परिणमित नहीं होने से **(संसारस्स)** संसार का **(अभावो)** अभाव **(पसज्जदे)** प्राप्त हो जायेगा **(वा)** अथवा **(संखसमओ)** सांख्यमत का प्रसंग आता है अर्थात् द्रव्य कूटस्थ नित्य सिद्ध होता है।

(जीवो) जीव ही **(पुग्गलदव्वाणि)** पुद्गलद्रव्यों को **(कम्मभावेण)** हठपूर्वक कर्मभावों से **(परिणामयदे)** परिणमन कराता है यदि ऐसा माना जाये तो **(ते)** जब वे पुद्गलद्रव्य **(सयम् अपरिणमंतं)** स्वयं ही परिणमन नहीं करते तब उनको **(चेदा)** यह चेतन जीव **(कहं तु)** कैसे **(परिणामयदि)** परिणमा सकता है।

अर्थ—पुद्गलद्रव्य जीव में न तो आप बंधा ही है और न कर्म के रूप में ही परिणमा है। यदि ऐसा माना जाये तो पुद्गलद्रव्य अपरिणामी ठहरेगा। कर्मवर्गणाएँ स्वयं कर्म रूप से नहीं परिणमती हैं, यदि ऐसा एकान्त मान लिया जायेगा तो फिर संसार का अभाव ठहरेगा और सांख्यमत का प्रसंग आयेगा। यदि ऐसा माना जायेगा कि पुद्गल द्रव्यों को जीव हठात् कर्मरूप में परिणमाता है तो वहाँ यह प्रश्न खड़ा होता है कि जब पुद्गलद्रव्य स्वयं अपरिणामी है तब जीव उसको कैसे परिणमा सकता है?

जो जीव में जड़ बँधा न स्वयं बँधा है,
वो कर्म रूप ढलता न स्वयं सदा है।
ऐसा त्वदीय मन का यदि भाव होगा,
तो मित्र पुद्‌गल नहीं परिणामि होगा ॥१२३॥
किं वा स्वयं न ढलती विधि वर्गणायें,
कर्मत्व में सहज पुद्‌गल की घटायें।
साम्राज्य सांख्यमत का फिर तो चलेगा,
संसार का फिर पता रह ना सकेगा ॥१२४॥
आत्मा स्वयं परिणमाकर पुद्‌गलों को,
देता बना विधि, मनो ! विधि शक्तियों को।
आश्चर्य है! जड़ नहीं परिणामि वैसे,
आत्मा उन्हें परिणमा सकता हि कैसे ?॥१२५॥

व्याख्या—पुद्‌गल द्रव्य जीव में न तो आप बंधा है और न कर्म के रूप में ही परिणमा है, यदि ऐसा माना जाये तो पुद्‌गल द्रव्य अपरिणामी ठहरेगा। जीव में पुद्‌गल द्रव्य स्वयं बद्ध नहीं है। क्योंकि जीव के भाव के साथ ही वह कर्मभाव के रूप परिणमन करता है। कुछ ऐसे नोकर्म होते हैं जिनके माध्यम से उपयोग प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। इसलिए अध्यात्म में प्राथमिक भूमिका वालों को यह कहा जाता है कि–''पुद्‌गल को विषय मत बनाओ।'' पहले जीव तत्त्व को विषय बनाओ, अथवा पंच परमेष्ठी को या शुद्ध धर्मास्तिकाय आदि जो ज्ञेय द्रव्य हैं, उन्हें विषय बनाओ। पुद्‌गल द्रव्य में शुद्ध परमाणु को विषय बनाओ। क्योंकि वह परमाणु रागद्वेष का कारण नहीं बनेगा। जीव में संसार नहीं है, कर्म-कर्म में है, जीव जीव में है, राग राग में है, आत्मा में नहीं, ऐसा कहना तो सरल होता है, अच्छा भी लगता है। लेकिन फिर कर्मोदय में तनाव क्यों होता है ? कोई कहे कि तनाव तो जड़ पुद्‌गल में है या जड़रूप है तो फिर जीव को अचेतन मानो। लेकिन ऐसा नहीं है, जीव का उसके साथ सम्बन्ध है। पानी में कंकड़ डाला तो कंकड़ के द्वारा लहर मानने तो तैयार हैं। हमें यह बात तो समझ में आ गई ''पर कंकड़ में लहर'' ऐसा कहना... कुछ समझ में नहीं आता। यह कर्मोदय आत्मा में हो रहा है, यह व्यवहार है। एकान्त से आत्मा को अपरिणामी कहेंगे तो संसार का अभाव व मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। फिर कोई कह दे कि पुद्‌गल वर्गणाएँ स्वयं परिणमन नहीं करतीं। किन्तु जीव हठात् उनको परिणमन करा देता है तो जो स्वयं परिणमनशील नहीं है, रागद्वेषादि रूप परिणमन नहीं करता वह दूसरों को कैसा परिणमा सकता है। जैसे–कोई कहता है कि हम तो शान्त बैठे थे उन्होंने आकर मुझे क्रोध दिला दिया। उसे ऐसा लगता है कि उसी ने गुस्सा दिला दिया। पर जो स्वयं अपरिणामी है वह दूसरों को कैसे परिणमा सकता है। तुम सामायिक में मन लगाओ, ज्ञानी तो ऐसा कह ही नहीं

सकता। प्रत्येक के पास अपनी उपादान शक्ति विद्यमान है। पुद्गलवर्गणाओं में कर्म रूप परिणमन करने की क्षमता है। जीव के पास की योग और कषाय शक्ति का निमित्त लेकर रात-दिन यह कार्य ऑटोमेटिक होता रहता है क्योंकि लोक में कर्मवर्गणाओं की कमी है नहीं और आत्मा में भाव की कमी नहीं है। जीव भाव करता जाता है और कर्म बँधते जाते हैं। वह कहता है कि-ऐसे कौन से कर्म का उदय है ? हमने तो ऐसा किया ही नहीं। यदि आपने नहीं किया तो वह कर्म उदय में कैसे आया ? दूसरा कोई डिब्बा खाली कर देता है और हम भरते हों ऐसा भी तो नहीं है। अतः मानना ही पड़ता है। भव्यजीव मान लेता है और दूसरा कोई है तो उसे मनवाना पड़ता है। अपने दोष स्वीकार करने के लिए कोई भी तैयार नहीं होता है। **वह सबसे महान्, होशियार और पवित्र बनने वाली आत्मा है जो अपने दोषों को स्वीकार कर लेती है।** दु:ख क्यों हो रहा है, यदि स्वभाव नहीं है तो कर्म के उदय में हो रहा है, यह वह स्वीकार कर लेता है।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं, हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ तत्त्व किन्हीं भी हेतुओं से खण्डित नहीं होता है वह तो जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा है, ऐसा मानकर ग्रहण करने योग्य है, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् अन्यथावादी नहीं होते।

भगवान् ने देखा है कि तुमने पूर्व में जो किया था वह उदय में आया है। इसलिए बिना ननु न च किये, बिना कान फड़फड़ाये स्वीकार कर लो। जैसे-हाथी यूँ-यूँ कान करता है वैसे हओ कह दो और स्वीकार कर लो। इसको स्वीकार करना ही होगा। नहीं तो इसका कोई अन्त ही नहीं है। अपने आपको अपरिणामी स्वीकारना अर्थात् अपने आपको नकारना है। रागादि की अनुभूति कर रहा है और कहता है कि-मैंने नहीं किया। महाराज! अपने दोष स्वीकार करते समय अच्छा नहीं लगता। ऐसा विचार आता है कि लोग क्या कहेंगे ? मैं छोटा हो गया हूँ, सबके बीच अप्रसिद्ध हो जाऊँगा। स्वीकार करने पर भी बीच में मान आ जाता है यह आकुलता पैदा करता है। यह मान जड़ होकर भी जीव को जड़ बना देता है। नीतिज्ञ होकर भी रावण इसी मान के पीछे पिट गया। रावण कहता है कि-**मैं मान रहा हूँ कि मेरी हार है पर क्षत्रियता पर बट्टा नहीं लगा सकता। राम के पास से सीता ले आया हूँ, मैं दे नहीं सकता।** दुनिया कहते-कहते हार गई, पर रावण नहीं हारा। वह कहता है कि-दुनिया हार मान ले तो मान ले, मैं नहीं मान सकता हूँ। बड़े-बड़े हाथी भी लुढ़क जाते हैं। ''हओ कह दो'' बाद में स्वीकार करोगे ही, अतः पहले ही स्वीकार कर लो ना। हमें तो ज्ञात नहीं, पर आप यदि कहो तो मैं 'हओ' कह देता हूँ। मन से, वचन से, काय से आपके कहने से कह सकता हूँ। बीच में वह कौन आता है जो स्वीकारने नहीं देता है ? वह मान है। मान की शक्ति तो अद्भुत है। स्वीकारने को जो तैयार नहीं उसी का नाम तो मान है।

मान तो मान है नमने नहीं देता। जो ज्ञानी होते हैं वे ज्ञान के माध्यम से मान पर प्रहार करते रहते हैं। प्रतिकार नहीं करते। स्वीकारते चले जाते हैं। इसके लिए बहुत हिम्मत की, दृढ़ता की आवश्यकता है। फिर दुनिया से क्या मतलब, दुनिया क्या कहेगी ? दुनिया एक तरफ हो जाती है और ज्ञानी एक तरफ रहता है। जो भी मन, वचन, काय से करना पड़ता है वह कर्त्तव्य समझकर करता है। यह केवल कर्म का ही जाल है। यह भेदज्ञान है कि उसका हमसे बिल्कुल पृथक् स्वभाव है। कर्म का रिफलेक्शन हमारे उपयोग पर पड़ रहा है उसे नकार नहीं सकते यह औदयिकभाव है। इस प्रवाह के साथ भी हमारा श्रद्धान कायम है, यह विशेष बात है। दुनिया के सामने कोई भी प्रस्तुति हो पर हम जानते हैं कि यह कर्म के उदय में ऐसा हो रहा है। यह मानना और दूसरे के सामने भी कह देना कि यह मेरा किया कर्म है और कर्म को दोष दे नहीं सकते, क्योंकि वह जड़ है और जिस समय कर्म किया था वह भाव अभी है नहीं इसलिए वह अतीत की घटना है। उसे मैं स्वीकारने तैयार हूँ। यह ऋण है। इस ऋण को चुकाने में आगे-पीछे नहीं देखना चाहिए। इसे नहीं चुकायेंगे तो दिवालिया हो जायेंगे। इसलिए जो कुछ है, उसे स्वीकारो। एक भव में नहीं सही दो भव में चुक जायेगा। इस भव में गलती स्वीकार कर लो तो ज्ञान आने से ऋण बहुत जल्दी चुक जाता है।

जिज्ञासा—चौदहवें गुणस्थान में जो महाराज हैं, उनके कितनी प्रकृतियों का सत्त्व है?

समाधान—चौदहवें गुणस्थान में ८५ प्रकृतियों का सत्त्व है किन्तु उदय तेरह प्रकृतियों का है। शेष प्रकृतियाँ परमुख से निकलती जाती हैं। ज्ञानी का यह काम है कि वह सत्तागत प्रकृतियों को परमुख से निकाल-निकालकर फेंकता जाता है। डेट से पहले अर्थात् समय से पहले निकालता जाता है। उसे आनन्द आता है। ज्ञानी की करामात बहुत अद्‌भुत है। ढेर सारा, बहुत सारा उधार ले रखा है। उसे खूब निकाल-निकाल कर फेंक रहे हैं, समय से पहले चुका रहे हैं, सौदा कर रहे हैं, यही अविपाकनिर्जरा है।

आप लोग बहुत अच्छा भजन गाते हैं-

नगद ले लो या उधार ले लो, ले लो सौदा कर लो...।

चौदहवें गुणस्थान में कुछ प्रकृतियाँ उदय से निकलती जाती हैं, कुछ को वे निकालते जाते हैं। सौदा करते रहते हैं। इसलिए ज्ञानी को रंचमात्र भी उदय का प्रभाव नहीं पड़ता है। उससे पहले के गुणस्थानों में जितनी भी कषाय हैं वे उदीरित हो जाती हैं। तो भी ज्ञानी को यह आस्था रहती है कि- ''यह कषाय भाव मेरा स्वभाव नहीं है।'' इसके बल पर स्वीकार करते चले जाते हैं।

यदि जीव और पुद्‌गल दोनों अपरिणामी हैं तो फिर कोई भी क्रिया नहीं बनेगी। यदि जीव और पुद्‌गल को अपरिणामी मानेंगे तो इसने परिणमन करा दिया या ये परिणमन कर गया यह कहना नहीं बन सकता।

दृष्टान्त—जैसे कोई भी पिता अपने बच्चे को ज्ञानी बनाना चाहता है तो वह एक दिन में ज्ञानी

नहीं बन सकता। तब वह पिता सोचता है कि इसे गुरु या उपाध्याय के पास ले जाना आवश्यक है। अतः वह उसे गुरु जी, उपाध्याय जी या प्राध्यापक जी के पास ले गया और कहा कि–प्रणाम गुरु जी! यह हमारा बच्चा बहुत होशियार है। इसे भर्ती कर लो। प्राध्यापक जी कहते हैं–आपका बच्चा जब होशियार है ही तो इसे अपने घर पर ही रख लो और होशियार नहीं है तो भी अपने घर पर ही रख लो। क्योंकि यदि होशियार है तो उसे ज्ञान देने की जरूरत नहीं है और यदि होशियार नहीं है तो मैं उसे ज्ञान दे नहीं सकता। अर्थात् मेरे माध्यम से वह होशियार नहीं हो सकता। इसी प्रकार जीव और पुद्गल अपरिणामी हैं तो उन्हें कोई परिणमन करा नहीं सकता क्योंकि उनमें परिणमन करने की क्षमता नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि वे दोनों परिणमनशील हैं ही तो उन्हें परिणमन कराने की आवश्यकता नहीं है। यदि वे दोनों अपरिणमनशील हैं तो कर्मबन्ध की प्रक्रिया कैसे बनेगी ? जीव बन्ध को प्राप्त कैसे होगा ? कर्म वर्गणाएँ रागद्वेष होने पर भी कर्म रूप में परिणमन नहीं करेंगी। जीव को भी अपरिणामी मानेंगे तो रागद्वेष परिणाम भी नहीं होंगे और फिर जब कर्म नहीं बँधेंगे तो मुक्ति भी नहीं होगी। मुक्ति नहीं होगी तो संसार का भी अभाव हो जायेगा। इस प्रकार अपरिणामी मानने से बहुत सारे दोष आ जाते हैं।

जीव चैतन्य स्वभावी है, निर्विकार, निर्विकल्प स्वभाव वाला है। उसमें पुद्गल कर्म बन्ध नहीं है, क्योंकि शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से जीव स्वभाव से शुद्ध है। फिर भी व्यवहार या अशुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा जीव कर्म से बद्ध है।

दृष्टान्त—जैसे आपने किसी दुकान से कपड़ा खरीदा। उसे पहनने की ड्रेस में तैयार किया। उस ड्रेस को ४-५ दिन पहना तो वह गन्दा हो गया। किसी ने कहा–आपकी ड्रेस गन्दी हो गई है। तो आप उससे यदि यह कहें कि वह तो ऊपर-ऊपर गन्दा हुआ है, ऊपर-ऊपर से मैल चिपक गया है। स्वभाव की अपेक्षा मूलतः वह सफेद है। यह कहना और यह मान्यता रखना कथंचित् आपकी सही है लेकिन वस्त्र पर गन्दगी लगने से वह मैला हो गया है तो उसे धोना तो पड़ेगा ही। क्योंकि धोने से ही वह मूल रूप से सफेद अवस्था में दिख सकेगा।

दृष्टान्त—जैसे–स्वर्ण पाषाण है। उसमें किट्ट-कालिमा भी है या स्वर्ण कीचड़ में गिर गया है उसे निकाला है। किसी व्यक्ति ने देख लिया तो कहा कि यह स्वर्ण नहीं कीचड़ है। यह सोने का हार नहीं, कीचड़ है। आप कहेंगे कि यह तो ऊपर-ऊपर कीचड़ है मूल में तो सोना ही है। उसे धो लेंगे तो हार में कीचड़ नहीं रहेगा। तात्पर्य यह है कि स्वभाव की अपेक्षा हार तो हार है। हार में कीचड़ नहीं है। लेकिन हमेशा कीचड़ नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते।

जीव द्रव्यकर्म की पर्याय रूप परिणमन नहीं कर सकता। जो व्यक्ति स्वभाव से वंचित है और उसकी श्रद्धा भी नहीं जम रही है तब उसे ऐसा कहना पड़ता है कि–तुम्हारे हाथ में बुद्धि की रेखा लम्बी है। तुम्हें स्कूल जाने की क्या आवश्यकता ? वह रेखा यह बता रही है कि बुद्धि बढ़ेगी। लेकिन द्रव्य,

क्षेत्रादि को लेकर बढ़ेगी। तथा जिसके हाथ में बुद्धि की रेखा नहीं है, वह भी पुरुषार्थ करके आगे बढ़ सकता है। अर्थात् उसकी बुद्धि में विकास हो सकता है। एक छात्र जो एम० ए० कर रहा है। वह हिन्दी बोलता है और दूसरा जो एम० ए० नहीं पढ़ा है फिर भी जो हिंदी बोल रहे हैं उसे समझ लेता है तथा अभिव्यक्त कर देता है। मतलब जो बात समझ ले वह पढ़ा-लिखा है और जो पढ़ा-लिखा होकर भी बात नहीं समझ रहा है तो 'पडा' है। अर्थात् यदि ज्ञान काम में नहीं आता तो वह पड़ा-पड़ा क्या करेगा? यदि जीव हठात् कर्मवर्गणाओं को कर्म रूप बना लेता है, ऐसा कहेंगे तो यह वैसा ही हुआ जैसे कि कहते हैं कि-हमारा लड़का तो अज्ञानी था परन्तु गुरु के पास गया तो ऐसा ज्ञानी हो गया कि कुछ कह नहीं सकते। उनके गुरु ने उसमें ज्ञान को उड़ेल दिया। जैसे-एक जग से दूसरे जग में पानी उड़ेल देते हैं। हमारा लड़का तो बिल्कुल ठूँठ जैसा था अब तो सरस्वती उसके मुख के अग्रभाग पर विराजमान है। इतनी बुद्धि आ गई कि कुछ कह नहीं सकते। उसी प्रकार जीव हठात् कर्मवर्गणाओं को कर्मरूप परिणमा देता है, ऐसा कहेंगे तो जब ज्ञानी जीव स्वयं अपरिणामी है अर्थात् जब स्वयं में परिणमन होने की क्षमता नहीं है तो वह दूसरों को कैसे परिणमा सकता है ?

दृष्टान्त—जैसे, रेत में तेल का अस्तित्व नहीं है। रेत को ज्यादा देर तक पेलने से तेल निकल जायेगा क्या ? नहीं। क्योंकि तिल में तेल होता है। उसी में से तेल निकल सकता है। निकलता ही है, निकालने पर। जहाँ जो शक्ति स्वयं में नहीं है, वहाँ वह शक्ति दूसरों के द्वारा भी प्रकट कैसे की जा सकती है ?

जिज्ञासा—पुनः एक प्रश्न उठता है कि जो अपरिणमनशील है उसे तो नहीं परिणमाया जा सकता, तो क्या जो परिणमनशील है उसे एकान्त से हठात् परिणमाया जा सकता है ?

समाधान—परिणमन करने वाले को हठात् परिणमाता है, ऐसा भी एकान्त नहीं है। क्योंकि स्फटिक के सामने जपापुष्प आदि रखने पर स्फटिक में उस रूप परिणमन हो जाता है। लेकिन सामान्य पत्थर, लकड़ी आदि के सामने पुष्प आदि रखें तो उस रूप परिणमन नहीं दिखता है। मतलब पैरों के पास ही चलने की शक्ति है, तो लकड़ी की आवश्यकता नहीं है और पैरों में चलने की शक्ति नहीं है तो भी लकड़ी कुछ काम की नहीं है। आर्टीफिशियल ऑक्सीजन दिया जाता है, पर वह भी तब तक ही कार्यकारी होता है जब तक फेफड़ों में उसे ग्रहण करने की क्षमता है। यदि सोचें कि महीनों ऑक्सीजन दे दें, तो नहीं। कुछ समय के लिए दी जा सकती है। यदि उस समय उनके परिणाम में कोई सुधार हो जाये और शरीर की नश्वरता का ख्याल आ जाये तो दस लाख का काम दस करोड़ के बराबर कर सकता है। वह आपको हमेशा याद करेगा कि यदि इलाज नहीं करते तो कुछ सुधार नहीं होता, किन्तु जो व्यक्ति देखने की, सुनने की क्षमता ही नहीं रखता, वहाँ आपका बोलना, सम्बोधन करना, आपका रहना और आपका कुछ भी करना कोई कार्यकारी नहीं होता। आपका स्मरण भी अन्त समय में कई व्यक्तियों के लिए राग का कारण हो सकता है और वैराग्य का भी। हाँ, इतना अवश्य है कि अन्त समय

में जागृति की आवश्यकता है। हाथी पर बैठे-बैठे दिगम्बर दीक्षा तो ली जा सकती है, लेकिन हाथी पर बैठे-बैठे गृहस्थ को केवलज्ञान तो नहीं हो सकता।

दृष्टान्त—जीवन्धरचरित्र पढ़िये। उनके पिताजी सत्यन्धर ने अपना जीवन भोग-विलास विषयों में ही बिता दिया था। उसी का मन्त्री काष्ठांगार था। वह राजा बनकर बैठ गया। अब उसके पास युद्ध करने की शक्ति नहीं, क्योंकि मन्त्री ने सभी शस्त्र-अस्त्र, कोष आदि सभी साधन-सामग्री अपने आधीन कर ली थी। सुनते हैं कि अन्त में उन्होंने जीवंधर की माँ को विमान में बिठा दिया था। फिर जीवंधर का जन्म वन में होता है। इस प्रकार की कोई भी घटना किसी भी प्रकार से वैराग्य का कारण हो सकती है। जीवंधर के चरित्र पर तीन-चार ग्रन्थ लिखे गये हैं। **क्षत्रचूडामणि, जीवंधरचम्पू, गद्यचिन्तामणि आदि। जीवन्धरचम्पू** यह आदर्श काव्य है। इसमें वैराग्यप्रद और प्रेरणात्मक कथायें मिलती हैं।

यदि कोई कहे कि पुद्‌गल में जब स्वयं परिणमन करने की शक्ति विद्यमान है तो फिर जीव के परिणामों के संयोग की आवश्यकता नहीं होना चाहिए। उनसे हमारा यह कहना है कि आकाश में यदि इन्द्रधनुष बनने की क्षमता है ही तो सूर्यप्रकाश और वर्षा होने की आवश्यकता नहीं होना चाहिए। यह निश्चित है कि जीव के परिणामों के बिना कर्मवर्गणायें कर्मरूप में परिणत नहीं होती हैं। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसमें प्रश्न क्यों ? प्रश्न करना ही नहीं चाहिए। शब्दों में ऐसी शक्ति विद्यमान होती है कि जो उसके धर्म तक आपकी बुद्धि को ले जा सकती है। शब्द और संकेत दोनों ऐसी चीजें हैं कि इनसे अर्थ तक पहुँच सकते हैं। जैसे—यूँ संकेत दिया था। गुस्से से देखा या गंभीरता से देखा तो सहजता से ही इन संकेतों को समझ जाते हैं। जो प्रत्येकबुद्ध होते हैं उनका कार्य संकेत से ही होता है। जैसे—बादलों का विघटन होना, पतझड़ होना, सफेद बाल का दिखना आदि। एक ही बाल सफेद दिख जाता है तो वैराग्य हो सकता है। पुराणग्रन्थों को पढ़कर देख लो ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि सफेद बाल देखकर वैराग्य हो गया।

छोटे बच्चे जो होते हैं, उनके दूध के दाँत होते हैं। जब वे गिर जाते हैं तो वे समय पर पुनः आ जाते हैं। यह सबको विश्वास है, लेकिन उस समय बहुत परेशानी होती है। बच्चों को दस्त वगैरह लग जाते हैं। बच्चे लस्त पड़ जाते हैं। इसके बाद एक और मौका रहता है। सौ वर्ष बाद भी दाँत आते हैं, उसकी प्रतीक्षा में कई लोग रहते हैं। कई लोग इस प्रतीक्षा में भी रहते हैं कि सफेद बाल पुनः काले हो सकते हैं। परन्तु वे मजबूत नहीं आते।

दृष्टान्त—ज्वार की जो फसल होती है तो पहले जो पौधे ऊगते हैं उन्हें ४-५ पौधे छोड़कर उखाड़ दिया जाता है। उसकी देखभाल करके खाद-पानी देकर बड़ा किया जाता है और एक पद्धति यह है कि पौधों को ऊपर-ऊपर से थोड़ा काट देते हैं। तथा एक और पद्धति है कि बीच से काट देते हैं। जिससे ३-४ मुँह और फूट जाते हैं और जब पक जाता है, फसल आ जाती है तो नीचे से काट दिया जाता

है। उसके बाद भी जो सिट्टे होते हैं उसमें से भी पुनः पौधे फूट जाते हैं। ऐसे ही तम्बाकू के भी होते हैं। जो पहली बार फसल आती है वह अच्छी आ जाती है, लेकिन दुबारा जो आती है वह कम फसल आती है और उतनी वजनदार भी नहीं होती। उसी प्रकार जो सौ वर्ष के बाद दाँत और बाल की प्रतीक्षा करते हैं या माना कि वे सौ वर्ष बाद आते हैं तो वे उतने मजबूत नहीं होते। जैसे बच्चों के दाँत आते हैं, वैसे ही बूढ़ों के भी दुबारा दाँत आते हैं, ऐसी कहावत है।

मोह और योग का निमित्त पाकर ही कर्मवर्गणाएँ कर्मरूप में परिणमन करती हैं। नोकर्मवर्गणाओं के द्वारा बन्ध नहीं होता है। वे तो आती हैं और झड़ जाती हैं। उनकी संघातन और परिशातन कृति होती रहती है। जो पुद्गलवर्गणाएँ कर्म रूप परिणमन करती हैं उनमें परिणमन करने की उपादान शक्ति है तो जीव के परिणाम उसमें निमित्त पड़ जाते हैं। कर्मों के उदय में जीव के द्वारा गलती होती है लेकिन गलती होने के उपरान्त भी यह सिद्धान्त याद रखना चाहिए कि इसका एकान्त से दोष नहीं है। कल ही तो कहा था कि–यदि सीता का रूप सुन्दर नहीं होता तो रावण के ऐसे भाव नहीं होते। उसका जो भाव हुआ वह सीता के कारण हुआ। इसलिए कथंचित् निमित्त को हेय कह सकते हैं। लेकिन यदि उस ओर हमारा उपयोग नहीं गया तो वह हठात् हमें कार्य नहीं करा सकता। वह कर्म है, कर्म कभी कर्त्ता से ज्यादा बलवान नहीं हो सकता। पर इसमें भी एकान्त नहीं है।

दृष्टान्त–जैसे–किसी ने चोरी की तो जेल में बन्द हो गया। अन्याय किया, पाप किया तो कर्मबन्ध हो गया। कर्मबन्ध का प्रभाव जब ज्यादा पड़ता है तो जेल में कैदी होकर के जैसा कहे वैसा आपको करना पड़ेगा, क्योंकि आपने दोष किया है। जब तक किया गया दोष नहीं मिटता तब तक वहाँ रहना होता है। उसी प्रकार केवलज्ञानावरण कर्म का उदय बारहवें गुणस्थान तक रहता है। वह कर्म कहता है कि यहाँ तक मेरा पूरा–पूरा राज्य है, साम्राज्य है। तब तक केवलज्ञान का सूर्य उग नहीं सकता। घबराने की बात नहीं, क्योंकि अशुद्धदशा में रहकर भी शुद्धनिश्चयनय को अपना विषय बनाया जा सकता है। कर्मोदय में भी जो विचलित नहीं होते हैं वे ही मुनिराज सिद्धत्व को प्राप्त कर सकते हैं।

दृष्टान्त–जैसे नदी के किनारे कई मुनिराज ध्यानस्थ बैठे हैं और अचानक बाढ़ आ गई। वे मुनिराज बह गये। उन्हें सिद्धत्व की प्राप्ति हो गयी, क्योंकि उन्होंने शुद्धनिश्चय को विषय बना लिया था। उन्हें यह भेदज्ञान था कि शरीर बह गया, मैं (आत्मा) नहीं। इसलिए किसी को विदेह आदि से लाकर भोगभूमि आदि में हरण करके पटक दिया या किसी को घानि में पेल दिया हो तो इन सब दशाओं में भी वहाँ उनको केवलज्ञान हो जाता है। इसमें केवल एक निर्विकल्पता आवश्यक है। शरीर तो जाने वाला है ही, आया है तो जायेगा और मैं आया भी नहीं हूँ, जाऊँगा भी नहीं, ऐसा जो दृढ़ विश्वास हो जाता है तो उत्कृष्ट संहनन नहीं हो, दुबला–पतला भी हो तो वह सब कुछ सहन कर लेता है। कोई दुबले–पतले बच्चे भी अच्छे से लड़ लेते हैं और एक हट्टा–कट्टा मोटा है फिर भी कोई चूहा या छिपकली सामने आ जाये तो भाग जाता है। डर जाता है। अभी कुछ दिन पहले यहाँ मंगलाचरण हो रहा था,

बीच में चूहा आ गया था तो सभी के सभी उठने लगे। स्वयं को ''ज्ञाता-दृष्टा आतमराम'' कहने वाले भी उठ गये। होता है...ऐसा। क्योंकि भीतर से भय नोकषाय का उदय रहता है। भेदरत्नत्रय जो है वह अभेद रत्नत्रय का साधक होने से उपादेय है। आज तो यह भी मिल जाये तो बहुत कुछ कर सकते हैं, क्योंकि अभेद से भेदरत्नत्रय का काल ज्यादा है।

इस प्रकार तीन गाथाओं के शब्दार्थ के व्याख्यान से शब्दार्थ जानना चाहिए। व्यवहार, निश्चय रूप से नयार्थ को भी जानना चाहिए। सांख्य के लिए मतार्थ का व्याख्यान हुआ। इस प्रकार शब्द, नय, मत, आगम और भावार्थ इन पाँच अर्थों से कथन किया। यह व्याख्यान-काल में यथासंभव सर्व ही ठिकाने जानते रहना चाहिए। इस प्रकार पुद्गल को परिणमनशील बताने के रूप में तीन गाथाओं का व्याख्यान हुआ।

उक्त व्याख्यान से यह स्पष्ट हुआ कि जीव-पुद्गलों में कथंचित् परिणमन करने की शक्ति सहज स्वभाव से है। जब उनमें यह शक्ति है तो उनका कर्त्ता वे स्वयं ही हैं। इस प्रकार अपने सम्बन्धी ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म का उपादानकारण पुद्गल ही है। जैसे कि कलश का उपादान कारण मिट्टी का पिण्ड है। ज्ञानावरणादि कर्मों का उपादान कारण जीव नहीं है। जीव तो उसका निमित्त कारण मात्र है। जो कि हेयतत्त्व है। अर्थात् जीव का जो भाव, कर्मों का निमित्त कारण होता है वह भी आस्रव रूप होने से हेय तत्त्व है। उपादेय रूप तत्त्व तो शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से निज शुद्धात्मा ही है, जो कि शुद्धपरमात्मभावना रूप परिणत अभेदरत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के द्वारा जानने योग्य है और चिदानन्द रूप एक स्वभाव वाला है। इस प्रकार तीन गाथाओं द्वारा व्याख्यान पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—अब सांख्यमतानुसारी शिष्य को समझाते हुए जीव को भी कथंचित् परिणामी सिद्ध करने के लिए कहते हैं–

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जदि एस तुज्झ जीवो, अप्परिणामी तदा होदि ॥१२६॥
अपरिणमंते हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं।
संसारस्स अभावो, पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२७॥
पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं कह परिणामएदि कोहत्तं ॥१२८॥
अहसयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहोत्तमिदि मिच्छा ॥१२९॥
कोहुवजुत्तो कोहो, माणुवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया, लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१३०॥

अन्वयार्थ— आचार्य सांख्यमतानुसारी शिष्य से पूछते हैं– **(तुज्झ जदि)** यदि तेरी बुद्धि में **(एस जीवो)** यह जीव **(कम्मे)** कर्मों से **(सयं बद्धो ण)** स्वयं बंधा नहीं है और **(कोहमादीहिं)** क्रोधादि भावों से **(सयं परिणमदि ण)** स्वयं परिणमन नहीं करता **(तदा)** तो **(अप्परिणामी होदि)** अपरिणामी होता है।

(क्रोहादिएहिं भावेहिं) क्रोधादि भावों से **(सयं हि जीवे)** स्वयं जीवों को **(अपरिणमंते)** परिणमन नहीं करता हुआ होने से **(संसारस्स अभावो)** संसार का अभाव **(पसज्जदे)** हो जायेगा **(वा)** अथवा **(संखसमओ)** सांख्यमत का प्रसंग आवेगा।

(पुग्गलकम्मं कोहो) पुद्‌गल कर्म रूप क्रोध **(जीवं कोहत्तं)** जीव को क्रोध रूप **(परिणामएदि)** परिणमन कराता है, ऐसा है तो **(सयं अपरिणंतं)** स्वयं नहीं परिणमते हुये **(तं कोहत्तं)** उस जीव को पुद्‌गल कर्म क्रोध रूप **(कह परिणामएदि)** कैसे परिणमन करा सकता है?

(अह) अथवा **(सयमप्पा)** आत्मा अपने आप **(कोहभावेण)** क्रोधभाव से **(परिणमदि)** परिणमता है **(एस दे बुद्धी)** ऐसी तेरी बुद्धि हो तो **(कोहो जीवं)** क्रोध जीव को **(कोहत्तं)** क्रोधरूप **(परिणामयदे)** परिणमन कराता है **(इदि मिच्छा)** यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है।

(कोहुवजुत्तो) क्रोध से युक्त **(आदा)** आत्मा **(कोहो)** क्रोधी है **(माणुवजुत्तो)** मान से युक्त आत्मा **(माणमेव)** मानी है **(माउवजुत्तो माया)** माया से युक्त मायावी है **(लोहुवजुत्तो लोहो)** लोभ से युक्त आत्मा लोभी **(हवदि)** होता है।

अर्थ—उसी सांख्य मतानुसारी शिष्य को लक्ष्य में लेकर आचार्य देव कहते हैं कि हे भाई! यदि तेरे विचार में यह जीव कर्मों से स्वयं बद्ध नहीं है और क्रोधादि भावों से भी आप परिणमन नहीं करता है तो वह अपरिणामी हुआ। इस प्रकार जीव के अपरिणामी होने पर क्रोधादि रूप से जीव के स्वयं परिणमन न करने पर संसार के अभाव का प्रसंग आयेगा। तब सांख्यमत का कहना हो जायेगा। यदि ऐसा कहा जाय कि क्रोध रूप जो पुद्‌गल कर्म है, वह जीव को क्रोध रूप में परिणमा देता है तब यहाँ ऐसा विचार आता है कि वह पुद्‌गलकर्म स्वयं न परिणमन करते हुए जीव को क्रोध रूप में कैसे परिणमा सकता है ? कभी नहीं परिणमा सकता। यदि ऐसा कहो कि आत्मा स्वयं ही क्रोध रूप में परिणमन करता है तब पहले वाला कहना कि क्रोध कर्म, जीव को क्रोध रूप परिणमाता है यह असत्य ठहरेगा। इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि जब आत्मा क्रोध से उपयुक्त होता है अर्थात् इस आत्मा का उपयोग क्रोधरूप में परिणमन करता है, तब आत्मा ही क्रोध रूप होता है, मान से उपयुक्त होता हुआ मान रूप, माया से उपयुक्त होता हुआ माया रूप और लोभ से उपयुक्त होता हुआ स्वयं लोभ रूप होता है।

आत्मा स्वयं यदि नहीं विधि से बँधा है,
क्रोधाभिभूत यदि हो न स्वयं सदा है।

तू मानता इस विधी कर बोध आत्मा,
तो क्यों न हो अपरिणामी त्वदीय आत्मा॥१२६॥
किं वा मनो अपरिणामि त्वदीय आत्मा,
क्रोधाभिभूत यदि हो न स्वयं दुरात्मा।
संसार का फिर पता चल ना सकेगा,
साम्राज्य सांख्यमत का सहसा चलेगा ॥१२७॥
मानो कि क्रोध खुद पुद्‌गल को सुहाता,
क्रोधाभिभूत यदि आत्मा को बनाता।
आत्मा रहा अपरिणामि तथापि कैसा ?
क्रोधी उसे कि वह क्रोध बनाय कैसा ? ॥१२८॥
क्रोधाभिभूत बनता बस आत्म आप,
हो मानते यदि यहाँ इस भाँति आप।
तो क्रोध, क्रोधमय आतम को बनाता,
यो मानता फिर असत्य न सत्य गाथा ॥१२९॥
आत्मा करे जब प्रलोभ तभी प्रलोभी,
मानी तभी जब करे अघ मान को भी।
मायाभिभूत बनता कर निंद्य माया,
क्रोधी बने करत क्रोध स्व को भुलाया ॥१३०॥

व्याख्या—जीव क्रोध का उदय होने पर भी क्रोध रूप परिणमन नहीं करता, यदि ऐसा एकान्त मानेंगे तो संसार का ही अभाव हो जायेगा और सांख्यमत आ जायेगा। यहाँ पर नियत जैसा परिणमन बताया है। सामान्य संसारी प्राणी के क्रोध का उदय हो और वह क्रोध रूप परिणमन न करे, ऐसा संभव नहीं। यदि क्रोध नहीं भी कर पाते तो उसे दबा लेते हैं। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने के कारण कभी पूर्व की दु:खद घटना याद आ जाती है तो अकेले रात काटना मुश्किल हो जाती है। बहुत समझाना चाहते हैं पर मन नहीं मानता, मनमानी करता है। मनाने पर भी नहीं मानता, मनमाना मन। भीतर कर्म का वेग रहता है तो सामने वाला है और मैं कौन हूँ, यह कुछ नहीं दिखता। यदि कमजोर व्यक्ति है और क्रोध या मान का अतिरेक हो गया तो उसका कर्म शोक के रूप में परिणमन कर जाता है, क्योंकि प्रतिकार नहीं कर पाता। यदि उस कर्म को दबा दिया जाता है तो हार्ट पर उसका प्रभाव पड़ सकता है। ऐसे ही कर्मों के स्वरूप नहीं समझने के कारण उनसे जीव प्रभावित होता रहता है। फिर त्रिस्थानीय या चतु:स्थानीय उदय हो जाये तो धारा फूट जाती है। द्विस्थानीय उदय को तो दबा सकते हैं, संयम भी सुरक्षित रह सकता है। लेकिन त्रिस्थानीय या चतु:स्थानीय में संभल नहीं पाता।

दृष्टान्त—जैसे—बहुत गहरा घाव लग जाये तो खून की धारा फूटती ही रहती है, कुछ लगा दो तो भी उससे खून बाहर निकलता रहता है। द्विस्थानीय और त्रिस्थानीय के उदय को इससे भी समझ सकते हैं कि जैसे—ट्यूबबेल वगैरह खोदते हैं तो थोड़ा-थोड़ा पानी का जोर रहता है तो वह बाहर आ जाता है। इसी प्रकार द्विस्थानीय कर्म के उदय में कर्मफल का थोड़ा जोर बाहर आता है। इसे नियन्त्रित किया जा सकता है। किन्तु जब पानी का फोर्स ज्यादा रहता है तो खोदते हुए उसे बाँधना ही मुश्किल हो जाता है। उसी प्रकार त्रिस्थानीय या चतु:स्थानीय के उदय में विचारों को नियन्त्रित करना कठिन होता है। बहुत गनीमत है कि द्विस्थानीय उदय है अत: शान्ति से यहाँ बैठे हुए हैं। त्रिस्थानीय उदय आ जाता है तो शान्ति से बैठ भी नहीं सकते। यदि जीवन में थोड़ी सी सुख-शान्ति है तो समझना चाहिए कि साता का उदय चल रहा है, ऐसा समझो।

आचार्यों ने कहा है कि—द्विस्थानीय के साथ-साथ साता की उदीरणा जब बन्द हो जाती है तभी श्रेणी चढ़ने का सौभाग्य प्राप्त होता है। क्योंकि देखो, यह भी ध्यान रखना कि साता की या असाता की जब तक उदीरणा होती रहती है तब तक अप्रमत्त नहीं हो सकते। इसलिए संयम रखिये, जिससे त्रिस्थानीय या चतु:स्थानीय उदय आ ही नहीं पायेगा। अप्रमत्त आदि गुणस्थानों में साता का बन्ध तो होता रहता है पर उदीरणा शान्त हो जाती है। आयुकर्म की तथा साता-असाता की भी उदीरणा सातवें गुणस्थान में नहीं होती। वहाँ सम-शीतोष्ण जैसा वातावरण होता है, अर्थात् न ज्यादा गर्मी, न ज्यादा शीत वाली स्थिति रहती है। जिसे माध्यस्थ अवस्था भी कह सकते हैं।

शोर-सूतक में क्या होता है ? शोर अर्थात् पुत्र आदि की उत्पत्ति हुई तो शोर मच गया अर्थात् आनन्द आ गया और गमी हो गई तो रोना प्रारम्भ हो गया। अब दोनों ही विधान आदि धार्मिक कार्यक्रम में नहीं बैठ पा रहे हैं। एक ही दीवाल है। घर-मन्दिर की, लेकिन शोर-सूतक के कारण मन्दिर नहीं जा पा रहा। विधान-पूजन, आहारदान आदि जैसे धार्मिक कार्य नहीं कर पा रहा। सभी चीजों का अनुभव कर लेना चाहिए, तभी उदाहरण देना चाहिए, अन्यथा नहीं।

आत्मपुरुषार्थ—

विषय चल रहा था कि भावक्रोधादि रूप जो परिणमन होता है वह द्रव्यकर्म क्रोध के उदय के बिना संभव नहीं। मतलब क्रोध हुआ है तो क्रोध कर्म के उदय में हुआ और मायाचार का परिणाम हुआ तो माया कर्म के उदय में हुआ। यह मेरा स्वभाव नहीं है। यह दृढ़ श्रद्धान रखते हुए माया के कारण उपयोग में क्या-क्या गाफिलता हो रही है यह जानना, देखना चाहिए। ज्ञानी का यही काम है। मान का प्रसंग आने पर भी मान नहीं करना मार्दव है। क्रोध का प्रसंग प्राप्त होने पर भी क्रोध की प्रवृत्ति नहीं होना ही क्षमा है। ऐसा **राजवार्तिक** ग्रन्थ में कहा है। यही आत्मसंयम है, यही आत्मपुरुषार्थ है। यही करना चाहिए। देखो, जब कर्म भी हठात् हमारे भीतर क्रोध-मानादि उत्पन्न नहीं कर सकता है तो फिर नोकर्म हठात् कैसे क्रोधी, मानी बना सकता है ? अर्थात् नहीं बना सकता। लेकिन जब हम

गाफिल हो जाते हैं तो वह क्रोधादि हमारे लिए निमित्त हो जाते हैं।

दृष्टान्त—जैसे, आपके मकान के आंगन में धूप आ रही है और आप देहरी के भीतर से झाँक रहे हैं तो आपकी छाया नहीं पड़ेगी। लेकिन आप बाहर चले गये तो आपकी छाया धूप में न पड़े, यह सम्भव नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि आप भीतर खड़े होकर भी धूप को देख सकते हैं। भीतर खड़े होने का अर्थ है कि हम क्रोध के उदय में किसी नोकर्म की ओर न देखें। हम क्रोध से क्रोधी नहीं होते, नोकर्म के निमित्त से, कर्म के उदय से क्रोधी होते हैं। क्रोध को देखने से भी क्रोधी नहीं होते हैं। कर्म, नोकर्म के माध्यम से फलता है। नोकर्म के माध्यम से क्रोध की उदीरणा रुककर उदयमात्र रूप भी रह सकता है। यदि हम केवल कर्म की ओर दृष्टि रखते हैं, नोकर्म को नहीं देखते हैं तो निश्चित रूप से उदयाभावी क्षय प्रारम्भ हो जायेगा। अथवा उदयमात्र रह जायेगा, उदीरणा रुक जायेगी।

मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व कर्म की उदीरणा हमेशा बनी रहती है। एक समय के लिए भी रुक नहीं सकती, किन्तु अनन्तानुबन्धी क्रोध, मानादि की उदीरणा हमेशा-हमेशा होती हो ऐसा एकान्त नियम नहीं है। इसका उदय मात्र भी सम्भव है। जहाँ-जहाँ उदीरणा है, वहाँ-वहाँ उदय नियम से होता है, किन्तु जहाँ-जहाँ उदय है, वहाँ-वहाँ उदीरणा होती ही हो, यह कोई नियम नहीं है। जब हम अपने कर्म की ओर देखेंगे, कर्म विपाक के बारे में विचार करेंगे तो हमारी कषायों की उदीरणा रुक जाती है। लेकिन नोकर्म की ओर देखने से हमारी उदीरणा हमेशा-हमेशा बलवती होती है। कर्म के उदय से नोकर्म दुःख को और ताजा बना देता है।

दृष्टान्त—जैसे, किसी को अपनी पूर्व घटित दुःख की घटना याद आ गई। लेकिन वहाँ यदि उस घटना को बढ़ाने वाली द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनुकूलता नहीं है तो दुःख नहीं होगा, लेकिन उस दुःख को याद दिलाने वाले व्यक्ति आकर बैठ जायें तो दुःख बढ़ जाता है। उस समय यदि आप घर छोड़कर मन्दिर में जाकर भगवान् के सामने बैठ गए तो घर में जो दुःख की उदीरणा होनी थी वह मन्दिर में नहीं होगी। कर्म का उदय तो हमेशा चल रहा है। लेकिन उसकी उदीरणा को हम इस ढंग से उपशमित या उदयगत कर सकते हैं।

उदय-उदीरणा सम्बन्धी कर्मसिद्धान्त—

गुणस्थान वही रहते हुए भी उदयगत या उदीरणागत करना यह नोकर्म पर डिपेण्ड करता है। बार-बार इस बात पर विचार करना चाहिए कि घटाकार परिणत होने वाला जो लौंदा है वही घट बनता है, अग्नि रूप परिणत होने वाला लोहपिण्ड ही अग्निवत् हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा का उपयोग ही क्रोध रूप परिणमन करके क्रोधी हो जाता है। इसलिए कषाय की अपेक्षा से ही आगम में संक्लेश और विशुद्धि स्थान बताये गये हैं। कषाय की उदीरणा का क्रम और उदयक्रम को दृष्टि में रखकर यह कथन होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्वादि की उदीरणा कभी नहीं रुकती। तृतीय गुणस्थान में सम्यग्मिथ्यात्व का उदय होता है। तो उदीरणा भी बराबर होती रहती है। सम्यक्प्रकृति के बारे में आगम

में अभी तक ऐसा नहीं मिलता कि सम्यक्प्रकृति की उदीरणा रुक गई हो, उदय मात्र हो। हाँ, एक अपवाद है कि जो क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने के सम्मुख है उसके उस समय जबकि सम्यक्प्रकृति का द्रव्य मात्र उच्छिष्टावली प्रमाण रह जाता है। उस समय सम्यक्प्रकृति की उदीरणा रुक जाती है। मात्र उदय रहता है। तब वह कृतकृत्यवेदक वाला हो जाता है। कृतकृत्य वेदक का अर्थ यह है कि वह अब सम्यक्प्रकृति के द्रव्य को घटा-बढ़ा नहीं सकता। उत्कर्षण, अपकर्षण समाप्त अर्थात् उदयावली मात्र द्रव्य के रह जाने पर उसमें हाथ नहीं लगा सकते। इसको बोलते हैं कृतकृत्यवेदक। एक आवली को छोड़कर सम्यक्प्रकृति की उदीरणा कभी भी नहीं रुकती। चाहे वह नरक में हो या स्वर्गों में या अन्यत्र कहीं भी हो। एक आवली को छोड़कर मिथ्यादर्शन सम्बन्धी तीनों प्रकृतियों की उदीरणा स्वमुख से होती है। यह कभी भी नहीं रुकती। किन्तु कषायों का यह क्रम नहीं होता। मतलब मन्दकषाय व विशुद्धि के साथ भी मिथ्यात्वादि तीनों प्रकृतियों की उदीरणा जारी रहती है। ज्यों ही हम विशुद्धि की ओर होते हैं तो उनकी उदीरणा उदय रूप में रह जाती है। उस समय जो कोई भी भूमिका के अनुसार क्रोधादि कषाय है उसका उदय रह सकता है। उदीरणा नहीं होती। **जयधवलादि** ग्रन्थ में विषय आया है कि–

सिया उदीरिया सिया अनुदीरिया...।

इस प्रकार का पाठ मिलता है। यह सोलह प्रकृतियों के बारे में कहा गया है। उपशमश्रेणी से चतुर्थ गुणस्थान में आता है तो अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान की अनुदीरणा बताई है। सोलह कषायों की अनुदीरणा क्यों कही, यह अपने आप स्पष्ट है और इसके साथ नव नोकषाय भी प्रसिद्ध हैं।

नोकर्म की ओर दृष्टि होना, बहिर्दृष्टि है–

लोभ करना और लोभ रूप परिणमन करना, इसमें बहुत अन्तर है। कर्म के उदय में सहन नहीं होने के कारण या कर्मोदय को नहीं देखने के कारण उस रूप परिणमन कर जाता है। जिस समय हम क्रोध को या कर्म की ओर देखेंगे अर्थात् कर्मों के विपाक का विचार करेंगे तो उस समय क्रोधादि नहीं होंगे। कर्म के उदय में हम नोकर्म की ओर चले जाते हैं, तो क्रोधादि होने की पूरी-पूरी संभावना रहती है। कभी-कभी व्यक्ति अकेला बैठा-बैठा भी सोचता है कि–इतना तो कमाना ही है (यह लोभ है) भले ही कमा नहीं पा रहा है। इस समय यदि कर्म की ओर देखता है तो सब विकल्प शान्त हो सकते हैं। कर्म दिखता नहीं फिर भी कर्म के विपाक को देखकर विचार किया जा सकता है। कर्म का विपाक नोकर्म के माध्यम से अनुभव में आता है। लाइट मारने से पदार्थ तो दिखेगा पर टॉर्च नहीं दिखेगी। इसी प्रकार कर्म का फल तो दिखता है परन्तु कर्म नहीं दिखता। कर्म डॉयरेक्ट हमारे उपयोग का विषय नहीं बनता। इसलिए आचार्य कहते हैं कि–शान्त बैठो।

दूसरी बात यह है कि जिस किसी व्यक्ति को भूत वगैरह लगते हैं तो वह अकेले में कुछ नहीं करता। दूसरे के सामने आने पर ताव आ जाता है। उसे एक कोठरी में बन्द कर दो तो सब शान्त हो

जाता है। नोकर्म मिला नहीं कि लड़ाई प्रारम्भ हो जाती है। जब आप अकेले बैठे होते हैं तब गुस्सा आता है क्या ? यह देख लो। अकेले में संघर्ष नहीं होता भले ही लकड़ी ही क्यों न हो।

द्रव्यकर्म का उदय तो निमित्तमात्र है, ऐसा विचार करना अपनी वृत्ति को संकुचित करके अन्तर्मुखी करने की विधि है। देखो, पहले अपनी बहिर्मुखी दृष्टि को नोकर्म से हटाओ। वह नोकर्म चेतन-अचेतन में से कोई भी हो सकता है। जैसे-रास्ते चलते किसी को हरा-हरा नोट दिख गया, वह एक हजार रुपये का नोट है और उसने महाराज जी से नियम लिया है कि हम नीचे गिरी हुई किसी की वस्तु को नहीं उठायेंगे, हाथ नहीं लगायेंगे और देखने पर मन में विकार नहीं लायेंगे, ऐसा संकल्प लेने से नोकर्म से दृष्टि हट जाती है। यदि मुझे मिलना होंगे तो हमें २००० रुपये भी कोई दे सकता है। अतः तात्पर्य यह कि अपने कर्म के उदय में धनप्राप्ति होना होगी तो घर बैठे भी रुपये मिल जायेंगे और कभी-कभी ऐसा होता भी है। फिर सोचता है कि यह तो जड़ वस्तु है क्या करना इसका? जड़ वस्तु को लाकर रखने वाला ही तो कर्म है। कर्म कभी चेतन वस्तु को लाकर नहीं रखता। इस प्रकार चेतन आत्मतत्त्व की ओर दृष्टि जाना ही धर्म की ओर दृष्टि मानी जाती है। आत्मा में, गुप्ति में, स्वभाव में पहुँच गया तो फिर क्या कहना ? मैं अकेला हूँ, था और रहूँगा। यही भाव मात्र रहता है। फिर बीच में ये सब ऐसा क्यों होता है ? सिनेमा देखा होगा आप लोगों ने। वह सिनेमा लाइट के रिफलेक्शन के कारण होता है। पर्दा नहीं हो, दीवार नहीं हो, लाइट हो, फिल्म भी हो तो फिर फिल्म दिखती है क्या? नहीं। क्यों नहीं दिखती ? पर्दे का अभाव है। इसी प्रकार नोकर्म से, कर्म से उपयोग को हटाने के उपरान्त भावकर्म रूप परिणमन नहीं होने से अकेले का अर्थात् शुद्धात्मा का अनुभव होता है। उस समय संसार की फिल्म दिखती है क्या ? नहीं। क्योंकि कर्म, नोकर्म का अभाव है।

दृष्टान्त—यहाँ उत्थानिका को पुनः दोहराते हैं। जैसे-रेडियो या टी.व्ही. पर जब समाचार आते हैं तो समाचार पूर्ण होने पर एक बार पुनः मुख्य समाचार के रूप में सुनाते हैं। उसी प्रकार यहाँ **श्री जयसेनाचार्य** पुनः प्रकरण को दोहरा रहे हैं। जो शुद्धोपयोग से च्युत हो जाता है तो वह अज्ञानी हो जाता है। **तात्पर्यवृत्ति** का अर्थ ही यही है कि इसका तात्पर्य क्या है ? इसे पुनः बताना।

इन्द्रियभोग, विषयसामग्री आदि तभी मिलेगी जब दान-पुण्य आदि करोगे। महाराज, यह तो बहुत कठिन है। इसमें कठिनाई की क्या बात ? भैया, व्यापार करो तो सेठ बनोगे ऐसा कहते हैं। कोई तेल, नोन, लकड़ी का व्यापार करता है तो पेट भरने लायक ही मिलता है। विशेष कुछ बचता ही नहीं है। फिर क्या करें ? सेठ बनना है तो हीरा-पन्ना आदि का व्यापार करो। कहते हैं-इतना बड़ा व्यापार करने के योग्य धन ही नहीं है। धन ही धन को पैदा करता है, लेकिन व्यापार करने के लिए धन तो चाहिए। वह धन कहाँ से लायें ? तो उसी प्रकार की दुकान खोलनी होगी। व्रतादि को धारण करके उसी भूमिका के अनुसार करना होता है। हम घटिया दुकान खोल लेते हैं और बढ़िया माल की प्रतीक्षा करते हैं, जो कि संभव नहीं है।

निश्चय सम्यग्दर्शन का काल अन्तर्मुहूर्त और सराग सम्यग्दर्शन में क्षयोपशम सम्यग्दर्शन की अपेक्षा उत्कृष्ट से ६६ सागर तथा क्षायिक सम्यग्दर्शन की अपेक्षा ८ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्वकोटि तथा ३३ सागर होता है। इन सब अपेक्षाओं को नहीं समझने वाला दोनों सम्यग्दर्शन को एक मान लेता है। **तत्त्वार्थसूत्र** ग्रन्थ पर प्रथम टीकाग्रन्थ **सर्वार्थसिद्धि** है। उसमें कहा है–**आत्मविशुद्धि-मात्रमितरत्।** अर्थात् आत्मविशुद्धि मात्र होना यह वीतराग सम्यग्दर्शन का प्रतीक है और वह शुद्धोपयोग के साथ सम्बन्ध रखने वाला है। इसे नहीं मानोगे तो आगम और अध्यात्म में बहुत विपरीतता सिद्ध होगी। आगम में निश्चय-व्यवहार सम्यग्दर्शन का भेद या सराग-वीतराग का भेद घटित नहीं किया जाता। वहाँ तो औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक का कथन होता है। ये तीनों सम्यग्दर्शन इसी क्रम से होते हैं। कोई भी हो चाहे तीर्थंकर हों या सामान्य व्यक्ति हो इसी क्रम से सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा। चौथे से सातवें गुणस्थान तक के किसी भी गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार आगम में गुणस्थान परक कथन होता है। किन्तु अध्यात्मग्रन्थों में सराग-वीतराग, निश्चय-व्यवहार का कथन मिलता है। यद्यपि वीतराग सम्यग्दर्शन का कथन वहाँ भी मिलता है। वह कषाय के अभाव में यथाख्यातचारित्र व छद्मस्थ अवस्था में ११ वें, १२ वें गुणस्थान में घटित किया है। वहाँ आगम में भी निश्चय घटित किया है कि अन्तरंग से दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम आवश्यक है तथा बाह्य में सच्चे देव, गुरु, शास्त्र का निमित्त आवश्यक है। यह व्यवहार में कहा है और वह व्यवहार सम्यग्दर्शन भी दो प्रकार का है। क्योंकि देव, गुरु, शास्त्र के श्रद्धान से हुआ है। लेकिन यदि दर्शन मोहनीय का उपशम आदि नहीं हुआ है तो वह उपरिल-उपरिल माना जायेगा। यह निश्चय से कथन है कि सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीय के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से होता है।

अध्यात्मग्रन्थों में भी निश्चय-व्यवहार और सराग-वीतराग सम्यग्दर्शन का कथन है। सराग सम्यग्दर्शन परम्परा से निश्चय सम्यग्दर्शन या वीतराग सम्यग्दर्शन का कारण होता है। वस्तुतः भरतादि का सम्यग्दर्शन सरागसम्यग्दर्शन ही था, ऐसा कहा है।

जो व्यक्ति देव, गुरु, शास्त्र पर श्रद्धान रखने मात्र से सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा मानते हैं उनके लिए यह कहना आवश्यक है कि अन्तरंग में दर्शनमोहनीयकर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम भी अनिवार्य है, ऐसा आचार्य कहते हैं। परन्तु जो देव, गुरु, शास्त्र पर श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन होता है। इस बात को भी नहीं मानता हैं वह भी गाफिल हो रहा है। क्योंकि तिर्यंचों को या नारकियों को भी इससे सम्यग्दर्शन होता है, इसलिए उनका ऐसा मानना सही नहीं है।

क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिकज्ञान, क्षायिकचारित्र और क्षायिकदर्शन इस प्रकार चार प्रकार का समवाय बनाते हैं। जैसे-धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के बराबर असंख्यातप्रदेश होते हैं। इस अपेक्षा एक समान हैं, यह भी एक समवाय है। इसी प्रकार अविभागीप्रतिच्छेदों की अपेक्षा से भी

सम्यग्दर्शन में भेद किया है। यह **राजवार्तिक** में आया है। अन्यत्र नहीं मिलता है। उस प्रसंग को नहीं समझने के कारण निर्विकल्प समाधि में होने वाले वीतरागसम्यग्दर्शन के बराबर या उसका अंश चतुर्थगुणस्थान में मानते हैं। उन्हें विचार करना चाहिए कि सराग अवस्था में वीतराग का अंश कैसे बनेगा ? फिर भी उनका कहना है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन के अविभागप्रतिच्छेदों का उद्घाटन हुआ है, इसलिए मानते हैं। लेकिन प्रश्न तो ज्यों का त्यों खड़ा है कि सराग अवस्था में वीतराग का अंश कैसे?

वस्तु की परिणमन शक्ति स्व-गत है—

जिस वस्तु में जो शक्ति नहीं होती वह किसी दूसरे के द्वारा भी उत्पन्न नहीं की जा सकती। देखो, जैसे स्फटिक में जपा-पुष्पादिक के द्वारा विकार पैदा होता है। वैसे काष्ठ के खम्भे आदिक में नहीं हो सकता। वस्तुओं की शक्तियाँ दूसरे की अपेक्षा नहीं रखतीं, ऐसा भी अटल नियम है। ऐसा एकान्त से मानने पर कर्मोदय के बिना होने वाले भाव क्रोधादि विकार मुक्तात्मा में भी होने का प्रसंग आवेगा। जो ठीक नहीं, क्योंकि आगम ऐसा नहीं कहता। अगर ऐसा कहो कि द्रव्यकर्मोदय की अपेक्षा के बिना ही जीव अपने आप भावक्रोधादि रूप से परिणमन करता है तो द्रव्यक्रोध जीव को भावक्रोध रूप से परिणमाता है। ऐसा कहना मिथ्या ठहरेगा। इससे यह बात सिद्ध हुई कि घटाकार से परिणत मिट्टी के परमाणु ही जैसे घट हैं अथवा अग्नि रूप से परिणत लोहपिण्ड ही स्वयं अग्नि हो जाता है। वैसे ही क्रोध उपयोग से परिणत आत्मा स्वयं क्रोध होता है, मान उपयोग से परिणत आत्मा मान होता है, माया उपयोग से परिणत आत्मा माया होता है और लोभ उपयोग से परिणत आत्मा लोभ होता है। इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि जीव की परिणमन शक्ति स्वभावभूत है। इस परिणमन शक्ति के रहते हुए यह जीव अपने जिस परिणाम को करता है उस भाव का उपादानकर्त्ता वह स्वयं होता है। द्रव्यकर्म का उदय उसमें निमित्तमात्र ही है और जब यह जीव निर्विकार चिच्चमत्कार रूप शुद्धभाव से परिणत होता है उस समय यह सिद्ध बन जाता है।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि **जाव ण वेदि विसेसंतरं** इत्यादि रूप से अज्ञानी और ज्ञानी जीव का संक्षेप में व्याख्यान करते हुए पूर्व में जो छह गाथायें कहीं थीं वहाँ यह बताया था कि पुण्यपापादि जो सात पदार्थ हैं वे जीव और पुद्गल के परस्पर संयोग रूप परिणाम से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार का कहना तभी बन सकता है जब जीव और पुद्गल में कथंचित् परिणामीपना माना जावे। सो यहाँ उसी कथंचित् परिणामीपने का ही यह विशेष व्याख्यान है। अथवा **सामण्णपच्चया खलु चउरो** इत्यादि सात गाथाओं में जो पहले बताया था कि शुद्धनिश्चयनय से मिथ्यात्वादि सामान्य प्रत्यय ही नूतन कर्म उत्पन्न करते हैं, जीव नहीं करता, ऐसा जैन मत है। इसको लेकर जीव को सर्वथा एकान्त रूप से अकर्त्ता ही मान लिया जाये तो सांख्यों की भाँति संसार के अभाव होने का प्रसंग आवेगा। उसी संसार अभाव रूप दूषण का यह विशेष विवरण है। क्योंकि वहाँ एकान्त रूप से अकर्त्ता मानने पर संसार अभाव का प्रसंग आया था और यहाँ एकान्त रूप से अपरिणामीपना मानने पर भी संसार अभाव

रूप दूषण है क्योंकि भावकर्म रूप से परिणमन करना ही कर्त्तापन है और उसी का नाम भोक्तापन है। जब यह जीव उपर्युक्त निमित्त-नैमित्तिक भाव और कर्त्तापन-भोक्तापन को छोड़कर रागद्वेष रहित होता हुआ स्वस्थ हो जाता है। उपर्युक्त जन्म-मरण के चक्कर से रहित होकर सदा के लिए सिद्ध या शुद्ध हो जाता है।

इस प्रकार जीव का परिणामीपना सिद्ध करने के व्याख्यान की मुख्यता से ये पाँच गाथाएँ पूर्ण हुईं।

इस प्रकार पुण्य-पापादि रूप जो सात पदार्थ हैं उनकी पीठिका रूप इस महाधिकार में जीव और पुद्‌गल के परिणामीपने की मुख्यता से कथन करते हुए आठ गाथाओं से यह पाँचवाँ अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

अब **जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि अण्णाणी तावदु** इत्यादि दो गाथाओं से जो पहले अज्ञानी का स्वरूप बता चुके हैं, वही अज्ञानी जीव जब **विसयकसाओगाढं** इत्यादि विषय-कषायमय अशुभोपयोग में परिणत होता है तब पाप, आस्रव और बन्ध इन तीन पदार्थों का कर्त्ता होता है और जब वही अज्ञानी जीव मिथ्यात्व और कषायों का मन्द उदय होने पर भोगों की इच्छा रूप निदानबन्धादि रूप से दान-पूजादिमय परिणमन करता है। उस समय पुण्य-पदार्थ का भी कर्त्ता होता है। यह कथन संक्षेप में पहले सूचित किया है। इसके आगे **जइया इमेण जीवेण आदासवाण दोण्हंपि। णादं होदि विसेसंतरं तु** इत्यादि चार गाथाओं में ज्ञानी जीव का स्वरूप भी पहले बता चुके हैं। वही ज्ञानी जीव शुद्धोपयोग रूप से परिणत होने वाला अभेद रत्नत्रय है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान रूप में जब परिणत होता है तब निश्चयचारित्र के साथ अविनाभाव रखने वाला जो वीतरागसम्यग्दर्शन उस रूप होकर संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीनों पदार्थों का कर्त्ता होता है। ऐसा संक्षेप में पहले बता चुके हैं। किन्तु निश्चय सम्यक्त्व के अभाव में जब सराग सम्यक्त्व के रूप में परिणत रहता है उस समय शुद्धात्मा को उपादेय मानकर परम्परा से निर्वाण के लिए कारण ऐसे तीर्थंकर प्रकृति आदि पुण्यपदार्थ का कर्त्ता भी होता है, यह भी पहले बता चुके हैं। ये सब बातें जीव और पुद्‌गल इन दोनों में कथंचित् परिणामीपना होने पर ही हो सकती हैं। यह कथंचित् परिणामीपना भी पुण्यपापादि सात पदार्थों के वर्णन की सूचना के लिए पहले संक्षेप में कह चुके हैं। जिसका विशेष व्याख्यान फिर जीव और पुद्‌गल के परिणामीपने के व्याख्यान के काल में किया है। वहाँ इस प्रकार कथंचित् परिणामीपना सिद्ध होने पर ही ज्ञानी, अज्ञानी जीव जो कि गुण के धारक हैं, उनके पुण्यपापादि सात पदार्थों के होने की संक्षेप रूप से सूचना देने के लिए ही संक्षेप व्याख्यान किया है। अब यहाँ ज्ञानमय और अज्ञानमय गुणों की मुख्यता से व्याख्यान किया जाता है, किन्तु जीव और अजीव की मुख्यता से नहीं, क्योंकि यह कथन भी उन्हीं पुण्य-पापादि सात पदार्थों की संक्षेप सूचना करने के लिए प्रयास है।

यहाँ **जो संगं तु मुइत्ता** इत्यादि गाथा को लेकर पाठक्रम से नौ गाथा पर्यन्त वर्णन करते हैं। उसमें

सबसे पहले तीन गाथाओं में ज्ञानभाव की मुख्यता से वर्णन है। उसके पश्चात् छह गाथाओं में ज्ञानी जीव का ज्ञानमय भाव ही होता है और अज्ञानी जीव का अज्ञानमय भाव ही होता है, ऐसा वर्णन है। इस प्रकार छट्ठे अन्तराधिकार में समुदायपातनिका हुई।

उत्थानिका—कथंचित् परिणामीपना सिद्ध होने पर ही ज्ञानी जीव ज्ञानभाव का कर्त्ता होता है, ऐसा अभिप्राय मन में रखकर आगे तीन सूत्र कहते हैं–

जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥१३१॥

अन्वयार्थ– **(जो संगं)** जो परिग्रह को **(तु मुइत्ता)** त्यागकर **(अप्पगं सुद्धं)** अपने शुद्ध **(उवओगं)** उपयोग को **(जाणदि)** जानता है **(परमट्ठवियाणया)** परमार्थ के ज्ञाता **(तं साहुं)** उस साधु को **(णिस्संगं)** परिग्रह रहित **(विंति)** कहते हैं।

अर्थ—जो साधु बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़कर अपने आपकी आत्मा को दर्शन–ज्ञानोपयोग स्वरूप शुद्ध अनुभव करता है। उसको परमार्थ स्वरूप के जानने वाले गणधरादिक देव निर्ग्रन्थ साधु कहते हैं।

हो अन्तरंग बहिरंग निसंग नंगा,
जो लीन आत्मरति में बन के अनंगा।
साधू निसंग वह निश्चय से कहाता,
ऐसा कहें सब पदार्थ यथार्थ ज्ञाता ॥१३१॥

व्याख्या—**आचार्य कुन्दकुन्ददेव** यहाँ कह रहे हैं कि सर्वप्रथम यह शर्त है कि परिग्रह को छोड़िये। महाराज! यह तो बहुत कठिन है, हाथ खाली करके बैठ जायें लेकिन शुद्धात्मा का अनुभव होगा कि नहीं ? आचार्य कहते हैं कि–भरोसा तो करो। सारा बोझ उतारने के बाद ही अर्थात् परिग्रह से रहित होने पर ही ज्ञानी कहलाता है। तिनके के अग्रभाग बराबर भी परिग्रह नहीं चलेगा। **समयसार** में ऐसा ज्ञानी (परिग्रहरहित) ही स्वीकृत है। बाह्य में जो परिग्रह है वह भीतरी मान्यता पर यानि मूर्च्छा पर ही आधारित है। जमीन, जमीन में है, पर इंच भी इधर से उधर नहीं करने देता मालिक। **मन में हम जिससे जुड़ते जाते हैं वही परिग्रह होता जाता है। मम इति अभिप्रायः परिग्रहः।** मैं इसका स्वामी हूँ, इसका न्याय होना चाहिए। लोग ऐसा कहते हैं। न्याय चाहिए तो न्यायालय में जाइये। गणधरादि उसी को निर्ग्रन्थ का टाईटल देते हैं, जो संग को छोड़ देता है। आगे जाकर कहेंगे कि–**यह मेरा संघ है।** यह कहना भी परिग्रह है।

दृष्टान्त—एक दिन बताशे का उदाहरण दिया था। बताशे में रंग डाला जाता है। बताशे को पानी में डाला तो बताशा हो गया गायब, पर जो रंग बताशे में था वह पानी में उतर आया। उसके कारण पानी उसी रंग का हो गया। यद्यपि वह बताशे का रंग नहीं था। वह तो स्वयं रंगा गया था। जब तक

चावल नहीं रंगेंगे तब तक पूजन के भावविशेष नहीं होते हैं। उसी प्रकार रंग डालने से वह आँखों का विषय बन गया। पानी में रंग रह गया। बताशा घुल गया, पानीमय हो गया। उसी प्रकार हमारा उपयोग रागमय रहता है तो हम (जीवद्रव्य) गायब हो जाता है। एक श्लोक आता है कि–

पूजाकोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमं जपः।
जपकोटिसमं ध्यानं ध्यानकोटिसमं लयः॥

अर्थात् करोड़ पूजा के समान एक स्तोत्र होता है। करोड़ स्तोत्र के समान एक जप होता है। करोड़ जप के बराबर एक ध्यान होता है और करोड़ ध्यान के बराबर लय अर्थात् एक बार समाधि में लीन होना होता है। एक बार समाधि में लीन होने पर रागादि गायब हो जाते हैं। इस प्रकार परिग्रहरहित वीतराग चारित्र के साथ अविनाभाव रखने वाला साधु भेदविज्ञान से अपनी आत्मा को जानता है। कैसा अनुभव करता है ? भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म रहित विशुद्ध ज्ञान-दर्शन उपयोग स्वभावयुक्त आत्मतत्त्व को समाधि में स्थित होकर जानता है। उस साधु को परमार्थ के जानने वाले गणधर देवादिक निस्संग अर्थात् परिग्रह रहित साधु कहते हैं।

उत्थानिका—उसी को आगे कहते हैं–

जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥१३२॥

अन्वयार्थ—**(जो मोहं तु)** जो मोह को **(मुइत्ता)** त्याग कर **(णाणसहावाधियं)** ज्ञान स्वभाव से अधिक **(आदं)** आत्मा को **(मुणदि)** जानता/मनन करता है **(परमट्ठवियाणया)** परमार्थ के ज्ञाता **(तं साहुं)** उस साधु को **(जिदमोहं)** जितमोह **(विंति)** कहते हैं।

अर्थ—जो पर पदार्थों में होने वाले मोह को छोड़कर अपने आपको निर्विकल्प ज्ञानस्वभावमय अनुभव करता है। परमार्थ के जानने वाले तीर्थंकरादिक-परमेष्ठी उसी साधु को मोहरहित कहते हैं।

सम्मोह को शमित भी जिनने किया है,
आधार ज्ञानगुण का मुनि हो लिया है।
वे वीतराग जित मोह सुधी कहाते,
विज्ञान के रसिक यों हमको बताते ॥१३२॥

व्याख्या—ज्ञानस्वभाव जिसमें प्रधान है ऐसा आत्मा, अभेदरत्नत्रय लक्षण युक्त भेदज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव करता है। तीर्थंकर परम देवादिक उस साधु को ही मोह रहित परम साधु मानते हैं। परिग्रह का त्याग तो स्थूल है, लेकिन मोह का त्याग सूक्ष्म है। परम साधु समस्त चेतन-अचेतन, शुभ-अशुभ अन्य द्रव्यों से मोह का त्याग कर देते हैं। आप लोगों को विशेष कुछ परिश्रम नहीं करना है। जिस-जिसके प्रति स्वामित्व है, उसको कम करते जाओ, क्योंकि जिसका त्याग है वही चीज घर में आ जाती है। जो सेवन करते हैं, उसका सहयोग कर देते हैं, लेकिन स्वयं उसका सेवन नहीं करता

है। इससे उपयोग सीमित हो जाता है, नहीं तो घर छोड़कर ही बाहर जाना पड़ेगा। यह विशेषता है कि आप जितनी सीमा बना लेंगे उतने ही संकल्प-विकल्प कम होंगे।

दृष्टान्त—जैसे आपकी दुकान है, लेकिन दुकान में वह वस्तु नहीं है जिसका अखबार में भाव घट गया है। तो अखबार में पढ़ते हुए भी तत्सम्बन्धी रागद्वेष नहीं होता। इसलिए स्वामित्व घटाते जाईये। मुनिराजों का किसी भी वस्तु से स्वामित्व नहीं होने के कारण कोई संकल्प-विकल्प, रागद्वेषादि नहीं होते हैं। वे भले ही शुद्धोपयोग की प्रस्तुति करें या न करें लेकिन वह उनके पास है या उसकी योग्यता उन्हीं के पास ही रहती है, क्योंकि उनके पास कोई संकल्प-विकल्प द्वेषादि नहीं होते। वे बिना मतलब के संकल्प-विकल्प नहीं करते।

आपकी आँखों में पानी आ रहा है और कहें कि-हमारा उससे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, तो यह बात संभव नहीं है। अपना कोई व्यक्ति खतरे में या विपत्ति में पड़ जाता है या किसी की गमी हो जाती है या रोगग्रस्त हो जाता है तो उसी-उसी व्यक्ति के बारे में ही आप लोग क्यों सोचते हैं ? उसी के बारे में विपाकविचय धर्मध्यान क्यों? यदि ऐसा है तो वह धर्मध्यान नहीं किन्तु आर्त्तध्यान हो जायेगा। क्योंकि सामान्य रूप से सभी लोगों का कल्याण हो यह सोचने में आता है तो धर्मध्यान होता है, अन्यथा आर्त्तध्यान। परन्तु व्यक्तिगत उसी की ही याद आ रही है यह मोह के कारण होता है। परिवार सम्बन्धी भी किसी का कुछ विपरीत होने पर संकल्प-विकल्प, फीलिंग आदि सब मोह का सम्बन्ध होने से होते हैं। यह भावों के थर्मामीटर से नापा जा सकता है और सबसे सामान्य से सम्बन्ध है तो बताने की आवश्यकता ही क्यों ? संग अर्थात् स्थूल परिग्रह और मोह अर्थात् उसके प्रति अटैचमेंट यानि मोह को जो त्याग देते हैं वे जितमोह साधु हैं। ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती उपशान्तमोह वालों को भी कथंचित् जितमोह साधु कह सकते हैं। उससे आगे क्षीणमोह बारहवें गुणस्थानवर्ती साधु तो जितमोह हैं ही।

यहाँ जिस प्रकार मोह पर दिया है उसी प्रकार राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, बुद्धि, उदय, शुभपरिणाम, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन इस प्रकार २० पद क्रम से रखकर २० सूत्रों का व्याख्यान कर लेना चाहिए। इस प्रकार निर्मल परमज्योति की परिणति से विलक्षण अर्थात् विरुद्ध असंख्यातलोकमात्र विभाव भाव हैं, ऐसा समझ लेना चाहिए।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि-

जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति ॥१३३॥

अन्वयार्थ— (जो धम्मं तु) जो धर्म को **(मुइत्ता)** त्यागकर **(अप्पगं)** अपनी आत्मा को (अपने को) **(सुद्धं उव—ओगं)** शुद्ध उपयोग रूप **(जाणदि)** जानता है **(परमट्ठवियाणया)** परमार्थ के ज्ञाता **(तं)** उसको **(धम्मसंगमुक्कं)** धर्म के संग से मुक्त **(विंति)** कहते हैं।

अर्थ—जो कोई साधु व्यावहारिक धर्म को छोड़कर शुद्ध ज्ञान-दर्शनोपयोग रूप आत्मा को जानता है, उनको परमार्थ के ज्ञाता धर्म के परिग्रह से भी रहित कहते हैं।

शुद्धोपयोग भजते तज सर्व भोग,
धर्मानुराग तक त्याग शुभोपयोग।
वे हैं सुधी मुनि, पराश्रित धर्मत्यागी,
ऐसा कहें गणधरादिक वीतरागी ॥१३३॥

व्याख्या—ज्ञेयभूत धर्मादि द्रव्य हैं उनको जानने रूप विकल्प को भी शुद्धोपयोगी छोड़ देते हैं। शुभोपयोग रूप धर्म सम्बन्धी विकल्प अर्थात् शुभोपयोग रूप कोई अनुष्ठान, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, उपदेश देना, समिति का पालन आदि परिणाम को भी जीतकर अपने शुद्धात्मा के रूप में परिणत अभेदरत्नत्रय लक्षण वाले भेदज्ञान के द्वारा जो साधु अपने आपका अनुभव करते हैं कि "मैं विशुद्ध ज्ञान-दर्शन उपयोगमय हूँ तथा शुभ-अशुभ रूप जो संकल्प-विकल्प हैं उनसे रहित शुद्ध हूँ।" उन्हीं परम साधु को परमार्थ के जानने वाले प्रत्यक्ष ज्ञानी जन निर्विकार स्वकीय शुद्धात्मा की प्राप्ति रूप निश्चयधर्म से विलक्षण भोगाकांक्षा स्वरूप निदानबन्ध आदि पुण्यमय परिग्रह वाले व्यवहार धर्म से दूर होने वाला मानते हैं।

शुद्धोपयोग की भूमिका—

भेदरत्नत्रय के साथ शुद्धोपयोग संभव नहीं है। शुद्धोपयोग के साथ वीतराग सम्यग्दर्शन, वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान तथा वीतराग चारित्र होता है। यह बताईये कि स्वाध्याय करते समय आपको कौन सा संवेदन होता है ? क्योंकि स्वाध्याय की प्रवृत्ति में शुभोपयोग होता है। शुभोपयोग के साथ वीतराग सम्यग्दर्शन नहीं होता। शुद्धोपयोग की अवस्था प्राप्त होना बहुत दुर्लभ होता है। इसलिए उसकी प्राप्ति नहीं होने के कारण जो शुभोपयोग की प्रवृत्ति में रह जाते हैं तो उन्हें शुभोपयोगी श्रमण कहा जाता है। उससे कहते हैं कि-हे शुभोपयोगी श्रमण! तू शुद्धोपयोगी श्रमण के पास चला जा, वहाँ रस आयेगा, बात समझ में आ जायेगी। वहाँ कितनी बड़ी दुकान है, उसमें कितनी बड़ी राशि एक साथ प्राप्त हो जाती है। यह देखने में आ जायेगा। फालतू में क्यों फाबड़ा चला रहा है अर्थात् प्रवृत्ति कर रहा है। एक व्यक्ति साईन कर देता है या साईन करा देता है तो बड़े-बड़े काम हो जाते हैं। हओ कह दे या नजर बस पड़ जाये तो काम हो जाता है। आशीर्वाद देने से नहीं किन्तु आशीर्वाद लेने से काम होता है। इसलिए जो आशीर्वाद मिलता है वह सामने वाले की लेने की क्षमता पर भी डिपेण्ड करता है। यदि सामने वाले की आशीर्वाद लेने की क्षमता नहीं है तो देने से कुछ नहीं होता। शुद्धोपयोगी पुण्य रूप व्यवहार धर्म से रहित होते हैं। व्यवहार में रहते हैं तो २८ मूलगुणों का पालन करते हैं। पहले बुद्धिपूर्वक जिनलिंग ग्रहण करने को कहा है। बाद में कहते हैं कि तुम्हारे लिए शुद्धोपयोग ही ग्रहण करने योग्य है। शुभोपयोग के बाद शुद्धोपयोग होता है। शुद्धोपयोग होने पर धर्मादि ज्ञेयद्रव्य सम्बन्धी विकल्प को

छोड़ दिया जाता है अर्थात् शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के संकल्प-विकल्प से रहित होकर अपनी आत्मा को जानते हैं। कितना अच्छा कहा है यहाँ पर, क्योंकि हम अपने उपयोग के माध्यम से भिन्न पदार्थों के साथ कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि भाव होने पर संकल्प-विकल्प करते रहते हैं। कभी भी मन शान्त नहीं रहता।

धर्ममार्ग के माध्यम से बहुत कुछ अनर्थों से बच तो जाते हैं, परन्तु जब तक संग (परिग्रह) से मुक्ति नहीं होती तब तक कुछ काम का नहीं। यह अध्यात्मशास्त्र अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। मुनि श्रमण बार-बार विचलित हो जाते हैं तो ये शास्त्र बार-बार सम्बोधित करते हैं। २८ मूलगुणों को तो एक बार बुद्धिपूर्वक ग्रहण करके दीक्षित होते हैं। लेकिन अध्यात्मशास्त्र बार-बार दीक्षित करते हैं, क्योंकि मन में जो संकल्प-विकल्प हो रहे हैं उनसे छुड़वा कर, परद्रव्य के साथ स्वामित्व, कर्तृत्व आदि भाव मेरे स्वभाव नहीं हैं। फिर भी यदि उन्हें करने के भाव हो रहे हैं, तो यह अज्ञानता है। इस प्रकार का ज्ञान इन्हीं अध्यात्मशास्त्रों से प्राप्त होता है। आप परद्रव्य में कर्तृत्वभाव के साथ कितने भी अन्दर घुस जाओ, फिर भी रूप, रस, गन्धादि के स्वामी आप कभी नहीं हो सकते। हम उसके स्वामी नहीं हैं फिर भी वह छोड़ा नहीं जाता है। यह सब मोह में गाफिल होने की अवस्था है।

रावण को सबने बहुत समझाया, पर वह नहीं माना। उसे अधोलोक में जाना मंजूर था पर मानने को तैयार नहीं था। उसका स्वकाल नहीं आया था अर्थात् अपना जो उपादान रूप रत्नत्रय है वह प्रकट नहीं है, इसलिए स्वीकार नहीं करता। जब आराधना रूप परिणमन हो जाता है, तब क्या कहना।

काललब्धि तीन प्रकार की है, ऐसा कथन **सर्वार्थसिद्धि** में **आचार्य पूज्यपाद स्वामी** ने किया है। १. कर्मस्थितिसम्बन्धी, २. भवसम्बन्धी तथा ३. कालसम्बन्धी अर्थात् अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व के योग्य होता है। कर्मस्थिति अर्थात् कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति के रहने पर नहीं, किन्तु अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थिति शेष रहने पर सम्यक्त्व लाभ होने की योग्यता होती है। भवसम्बन्धी अर्थात् भव्य पंचेन्द्रिय संज्ञी, पर्याप्तक, सर्वविशुद्ध सम्यक्त्व के योग्य होता है।

मतलब उसकी योग्यता कितनी होती है ? इसका मापदण्ड उसमें बताया है। पर्याय कभी बंधी नहीं रहती है, पर्याय को बंधी हुई मानना अर्थात् एक बार में ही द्रव्य का परिणमन स्वीकारना है। यह स्वीकारना हो तो स्वीकारो।

जिज्ञासा—अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल क्या है ? निश्चयकाल है या व्यवहारकाल?

समाधान—निश्चयकाल तो कालाणु रूप है। उसमें घड़ी-घण्टा आदि का भेद नहीं होता। जबकि अर्द्धपुद्गल परावर्तन यह काल का एक भेद है। इसलिए यह व्यवहारकाल के अन्तर्गत माना जायेगा। यह जघन्य से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण तथा उत्कृष्ट से असंख्यात चौबीसी बीत जायें उतना प्रमाण है। ये दो प्रकार से क्यों बताया ? एक ही बताओ। अभी तक तो अनादि मिथ्यादृष्टि का अनन्तकाल था परन्तु सम्यग्दर्शन होते समय संसार का काल कम से कम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण भी रह सकता है।

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण में भी रत्नत्रय धारण करने पर हजारों बार छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान प्राप्त करता हुआ अल्प समय में अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में सिद्धत्व को प्राप्त हो गया। अभी तक तो उसका संसार का काल अनन्त था और अब रत्नत्रय के द्वारा **अणंतकालविच्छेदं कादूण अद्ध-पुग्गलपरायत्तण-कालं कदो।** ऐसा **धवला** में पचासों स्थलों में स्पष्ट किया है। **कालं ठिदो** काल स्थित होने पर ऐसा नहीं कहा। अगर कहीं इस प्रकार कथन किया भी हो तो उसे विधि और निषेध रूप पद्धतियाँ समझना चाहिए। अतः सम्यग्दर्शन और रत्नत्रय की महिमा गाओ, काल की महिमा क्यों गाते हो ?

स्थितिबन्ध का अर्थ काल नहीं, बल्कि अपनी प्रकृति को जब तक नहीं छोड़ता तब तक का समय लिया जाता है। अर्थ यह है यह प्रकृति ज्यादा से ज्यादा इतने समय तक इस स्वभाव में रह सकती है। इससे ज्यादा समय तक नहीं रहेगी। इसको आपने काल के रूप में स्वीकारा, यह बात अलग है। कुछ कर्म प्रकृतियाँ ऐसी होती हैं कि जो सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति लेकर बंधी थी। लेकिन अन्तर्मुहूर्त में करण परिणामों द्वारा उसे संक्रमण या अपकर्षण कराकर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया तो सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की सत्ता समाप्त हो जाती है। अब आप विचार कीजिए निश्चित क्या है ? काल निश्चित नहीं है। इतने समय में इतना ही कर सकते हैं, उससे आगे उसमें क्षमता नहीं है, यह कहने से काल के ऊपर आरोप आने से ऐसा होता है, वस्तुतः ऐसा नहीं है। यदि ऐसा होता तो अर्द्धपुद्‌गल परावर्तन काल की यह परिभाषा क्यों बताई। परिभाषायें अनेक प्रकार की हो सकती हैं। तात्पर्य यह है कि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण भी अर्द्धपुद्‌गल परावर्तन काल सिद्ध हो रहा है। अतः निश्चयकाल और व्यवहारकाल की योग्यताएँ अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इतना अवश्य है कि अन्तरंग कारण से हम नहीं जान पाते इसलिए कुछ नहीं कह सकते।

आचार्य अकलंक स्वामी ने इसी बात को लेकर एक वार्तिक लिखी है-**केचित् भव्याः संख्यातकालेन सिज्झन्ति, केचित् असंख्यातकालेन सिज्झन्ति, केचित् अनन्तकालेन सिज्झन्ति तथा केचित् अनन्तानन्तकालेनापि न सिज्झन्ति।** इसलिए **कालानियमाच्च निर्जरा।** अर्थात् निर्जरा के लिए काल कोई नियामक नहीं है, काल कोई कारण नहीं। क्योंकि जीवगत पर्यायों की उत्पत्ति के लिए उनका भाव है कि पुद्‌गल रूप कर्मों के ऊपर आधारित है। कर्मों के परिणाम काल के द्वारा नहीं, किन्तु काल में पड़ते हैं। जिसने काल को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया है, उसके लिए काललब्धि कहा है। यह काललब्धि खरीदी नहीं जाती है, यह काल तो हमेशा उपस्थित रहता है। कुम्भकार का योग-उपयोग कारण था। कील को (काल को) कारण क्यों नहीं माना ? वह तो उदासीन निमित्त है। जीव में जो क्रियावती शक्ति का उद्‌घाटन हुआ है वह कर्म के कारण हुआ है। **पंचास्तिकाय** ग्रन्थ में **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने इस विषय में लिखा है कि- **पुग्गलजीवा-करणा खंधा खलु कालकरणादो।**

तात्पर्य यह है कि अर्द्धपुद्‌गल परावर्तन काल भव्य को ही होगा। लेकिन वह जीव संज्ञी

पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, गर्भज होना चाहिए। यह तो **षट्खण्डागमसूत्र** में भी आया है। वहाँ पर ६०-१०० बार ये पंक्तियाँ **आचार्य वीरसेन स्वामी** ने लिखी हैं कि **अनन्तसंसार काल को सम्यग्दर्शन परिणाम के द्वारा भव्य जीव ने अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल प्रमाण स्थापित किया।** यह क्या है? तो कर्म के विपाक को लेकर कहा जाता है। अनन्तानुबन्धी के बारे में एक जगह परिभाषा लिखी है–**अनन्तसंसारकारणत्वात् मिथ्यादर्शनमनन्तं तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिनः।** जो अनन्त भवों तक जीव को संसार में स्थापित करती है वह अनन्तानुबन्धी है अर्थात् यह अनन्तानुबन्धी कषाय अनन्त-संसार का कारण है, किन्तु आत्मा में भी इतनी शक्ति है कि उस अनन्तसंसार की कारणभूत कषाय को अन्तर्मुहूर्त में पूरा समाप्त कर देती है। इसलिए यह ध्यान रखो कि हम काल से नहीं बंधे हैं किन्तु कर्मों से बंधे हैं, अतः ज्ञानी ज्ञानमय भावों का ही कर्त्ता होता है, ऐसा यहाँ पर कहा है।

इस प्रकार जीव के कथंचित् परिणामीपना सिद्ध होने पर ही उपर्युक्त प्रकार का शुद्धोपयोग में परिणमन सिद्ध हो सकता है। परिणामीपना न मानने पर जीव बँधा हुआ और बँधा रहना ही चाहिए। वहाँ पर फिर उसका शुद्धोपयोग रूप से परिणमन विशेष होता है, वह बन नहीं सकता। अतः ऐसी दशा में मोक्ष का अभाव हो जाता है। इस प्रकार शुद्धोपयोग रूप ज्ञानमय परिणाम के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जीव ज्ञानमयी तथा अज्ञानमयी दोनों प्रकार के भावों का कर्त्ता कैसे होता है ?-

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णाणिस्स दु णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१३४॥

अन्वयार्थ— **(आदा)** आत्मा **(जं भावं)** जिस भाव को **(कुणदि)** करता हैं **(सो तस्स)** वह उस **(भावस्स)** भाव का (भावरूप कर्म का) **(कत्ता होदि)** कर्ता होता है। उस जगह **(णाणिस्स दु)** ज्ञानी के तो **(णाणमओ)** ज्ञानमय (भाव) है और **(अणाणिस्स)** अज्ञानी के **(अण्णाणमओ)** अज्ञानमय (भाव) है।

अर्थ—यह आत्मा जिस समय जैसा भाव करता है, उस समय वह उसी भाव का कर्त्ता होता है। अतः ज्ञानी के ज्ञानमय और अज्ञानी (संसारी) के अज्ञानमय भाव होता है।

आत्मा स्वयं हृदय में कुछ भाव लाता,
कर्त्ता उसी समय वो उसका कहाता।
हो ज्ञान-भाव मुनि में अपरिग्रही में,
अज्ञानभाव जु गृहस्थ परिग्रही में ॥१३४॥

व्याख्या—यह आत्मा जिस समय जो भाव करता है उसका वह कर्त्ता होता है। ज्ञानी का ज्ञानमय तथा अज्ञानी का अज्ञानमय भाव होता है। निर्विकल्प-समाधि में ही कारणसमयसार प्राप्त

होता है। मात्र सम्यग्ज्ञान को कारण समयसार नहीं कहा है बल्कि निर्विकल्पसमाधि में ढला हुआ जो सम्यग्ज्ञान है, उसे कहा है। निर्विकल्पसमाधि से च्युत हुआ नहीं कि उसे अज्ञानी कहा जाता है। यह बार-बार कहने का मतलब क्या है? संभव है कि जिस समय **जयसेनाचार्य जी** टीका लिख रहे थे उस समय भी ऐसा तूफान चला होगा जो निर्विकल्पसमाधि में ढले हुए ज्ञान को कारणसमयसार नहीं मानते होंगे। इसीलिए एक-एक बात को खोलने का अर्थात् स्पष्ट करने का प्रयास किया है। हर स्थल पर तात्पर्य क्या है यह बताया है। शुभोपयोग के साथ तीर्थंकर प्रकृति, आहारकद्विक आदि प्रशस्त प्रकृति का बन्ध होता है। पर यहाँ तो शुद्धोपयोग में बन्ध का बाजार ही बन्द हो गया है।

दृष्टान्त—जौहरी का बाजार साल में दो-तीन दिन तक के लिए लगता है। वहाँ पर देश-विदेश से व्यापारी आते हैं। लेकिन पहले से ही जिन्होंने टिकट ले लिया है, पास बना लिया है वही प्रविष्ट हो सकता है। इसी प्रकार सर्व-संग (परिग्रह) का त्यागी ही निर्विकल्पसमाधि के बाजार में प्रवेश कर पाता है और वही निर्विकल्पज्ञानी कारण समयसारमय होता है।

सर्वप्रथम परिग्रह के त्याग को लेकर कथन, फिर मोह का त्याग, अन्त में धर्मास्तिकाय आदि के त्याग को लेकर कथन किया। शुभोपयोग के अनुष्ठान से मुक्त जीव को ज्ञानी, जितमोही तथा धम्मसंगमुक्कं बताया है और यह गणधरादि का कथन है, ऐसा कहा है।

जिज्ञासा—आचार्यश्री, कई लोगों की धारणा है कि शुद्धोपयोग को ही धर्मसंज्ञा प्राप्त है, शुभोपयोग को नहीं, कृपया इस विषय को स्पष्ट कीजिए ?

समाधान—शंकाकार को यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि एकान्त से शुद्धोपयोग को ही धर्मसंज्ञा प्राप्त नहीं है। बल्कि **समयसार, प्रवचनसार** आदि अध्यात्मग्रन्थों में यह स्पष्ट किया है कि शुभोपयोग को भी धर्म संज्ञा प्राप्त है। शुद्धोपयोगी ही धर्मनिष्ठ है, ऐसा एकान्त नहीं है। शुभोपयोग के द्वारा भी कर्मनिर्जरा होती है। जैसा कि **जयधवल** पुस्तक १ में **आचार्य वीरसेन स्वामी जी** ने लिखा है-

सुहसुद्धपरिणामेहिं विणा कम्मक्खयाभावादो।

अर्थात् शुभ और शुद्ध परिणामों के बिना कर्मों के क्षय का अभाव पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि शुभ परिणामों से (शुभोपयोग से) कर्म का क्षय पाया जाता है और जिसके द्वारा कर्मक्षय होता है वह धर्म संज्ञा को प्राप्त क्यों नहीं होगा ? अर्थात् होगा। यदि ऐसा कहेंगे कि जो शुभोपयोग रूप अनुष्ठान है वह संवर, निर्जरा का कारण नहीं है तो वे अधर्म कहलायेंगे और यदि धर्म नहीं है तो जो भी शुभोपयोग के साथ क्रिया-कलाप हैं, वे प्रयोजन सिद्ध नहीं करेंगे, ऐसा मानने पर बहुत बड़ा विप्लव हो जायेगा। **प्रवचनसार** ग्रन्थ में भी कहा है कि-**जब साधक अभेदरत्नत्रय से परिणत शुद्धोपयोग में चला जाता है तो वह निरास्त्रवी होता है और भेदरत्नत्रय से परिणत शुभोपयोग में रहता है तो सास्त्रवी होता है। इसका मतलब उन्हें आस्त्रव ही आस्त्रव होता है ऐसा है क्या ?**

नहीं। यदि शुद्धोपयोग से रहित क्षणों में आस्त्रव ही आस्त्रव होता है, ऐसा मानेंगे तो शुभोपयोग द्वारा एकान्त से आस्त्रवबन्ध ही होता है, संवर-निर्जरा नहीं, ऐसा मानना सिद्धान्त से विरोध को प्राप्त होता है।

शुभोपयोग के द्वारा बन्ध मात्र नहीं, किन्तु संवर-निर्जरा भी—

शुभोपयोग रूप धर्म करते हुए एकान्त से आस्त्रव ही होता है, ऐसा मानना अच्छा नहीं है। कोई कहे कि ऐसा धर्म करो जिससे केवल संवर-निर्जरा होती है, तो वह मात्र निर्विकल्पसमाधि में एक अन्तर्मुहूर्त को होगा। शेष समय में मात्र आस्त्रव-बन्ध होगा, संवर-निर्जरा नहीं। जबकि मुनि महाराज चाहे वे शुभोपयोगी हों या शुद्धोपयोगी हों सभी के प्रतिसमय असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती है। हाँ, इतना अवश्य है कि शुभोपयोग में रत्नत्रय के साथ आस्त्रव की भूमिका होने के कारण साक्षात् केवलज्ञान या मुक्ति नहीं हो सकती। फिर भी शुभोपयोग, अभेदरत्नत्रय रूप शुद्धोपयोग का कारण होने से परम्परा से मोक्ष का कारण माना गया है। किन्तु जो साक्षात् मोक्ष चाहते हैं, निर्विकल्प अवस्था चाहते हैं तो वह शुद्धोपयोग के द्वारा ही प्राप्त होगी। लेकिन संसार अवस्था में उलझे हुए व्यक्तियों की अपेक्षा से आर्त्त-रौद्रध्यान से बचने के लिए गृहस्थ या अनगार जो अनुष्ठान करते हैं वे भेदरत्नत्रय संयुक्त शुभोपयोग के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसलिए आचार्यों ने इस धर्म को जो भेदरत्नत्रय के साथ रहता है, उसको भी ग्रहण करने योग्य कहा है।

इस प्रकार इस कर्त्ता-कर्म अधिकार से यह ज्ञात होता है कि शुभोपयोग को भी धर्मसंज्ञा प्राप्त है। **प्रवचनसार** ग्रन्थ के प्रथम ज्ञानाधिकार में आया है कि जो सरागचारित्र का पालन करता है उसे साक्षात् मुक्ति तो नहीं मिलती, परन्तु इन्द्रादि पद को प्राप्त कर सकता है। विषय-कषाय, आरम्भ-परिग्रह का त्याग होने के बाद भी जो निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त नहीं हो पा रहे हैं, ऐसे रत्नत्रयधारी को बीच में कुछ स्टेशन और मिल जाते हैं। जिसे सरागदशा कहा है। यदि कोई इन्द्र, लौकान्तिकदेव हो जाता है तो निश्चित है कि वह सम्यग्दृष्टि ही होता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना ये पद प्राप्त नहीं होते और ये पद सराग-रत्नत्रय प्राप्त करने वालों को ही प्राप्त होते हैं। वह भी आयुबन्ध के साथ होने से ऐसी दशा प्राप्त करता है।

शुद्धोपयोग भी एकान्त से केवलज्ञान को प्राप्त कराता है, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थान से गिर जाने पर इन (इन्द्र, लौकान्तिक आदि) पदों को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रसंग के अनुसार अर्थ लगा लेना चाहिए। यदि हम शुभोपयोग से एकान्त से संवर-निर्जरा नहीं मानते हैं तो आगम से विरोध के अलावा कुछ हाथ में नहीं आयेगा और आगम में जो असंख्यातगुणी निर्जरा का प्रकरण है वह सामने आकर खड़ा हो जाता है, क्योंकि शुभोपयोगी मुनि को हमेशा-हमेशा असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, जबकि वहाँ शुद्धोपयोग तो हमेशा नहीं रहता है। इसलिए पहले जो कहकर आये हैं वह प्रश्न बार-बार उठ जाता है।

विशेषार्थ—जो आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रूप चतुष्टय को प्राप्त है वह कार्यसमयसार कहलाता है। जो अनन्तचतुष्टय को प्राप्त न होकर उसकी प्राप्ति के लिए निर्विकल्पसमाधि में लगता है वह उपर्युक्त कार्यसमयसार का सम्पादक होने से कारण-समयसार कहलाता है। जो सब प्रकार के आरम्भ-परिग्रह आदि से रहित होकर अपनी शुद्धात्मा की अनुभूति को लिए हुए रहता है। अतः उसके रागद्वेषादि रहित शुद्ध ज्ञानमयभाव ही होता है, किन्तु जो समाधि से च्युत होकर रागद्वेषादि में परिणत रहता है, उसका ज्ञान शुद्ध न होकर अशुद्ध होता है। अतः उसका भाव उस समय अज्ञानमय होता है, ऐसा आचार्य का कहना है। (आचार्य ज्ञानसागर जी)

उत्थानिका—आगे ज्ञानमय भाव से क्या फल होता है और अज्ञानमय भाव से क्या होता है, सो कहते हैं—

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि ॥१३५॥

अन्वयार्थ— **(अण्णाणिणो)** अज्ञानी का **(अणाणमओ)** अज्ञानमय अर्थात् आर्त-रौद्र रूप **(भावो)** भाव हैं **(तेण)** उससे **(कम्माणि)** कर्मों को **(कुणदि)** करता है **(णाणिस्स दु)** और ज्ञानी के **(णाणमओ)** ज्ञानमय अर्थात् वैराग्य रूप भाव होता है **(तह्मा दु)** उससे वह ज्ञानी **(कम्माणि)** कर्मों को **(ण कुणदि)** नहीं करता है।

अर्थ—अज्ञानी-रागी द्वेषी जीव के अज्ञानमय भाव ही होता है, जिससे वह कर्मों को करता रहता है। किन्तु ज्ञानी-विरागी या समाधिस्थ जीव के ज्ञानमय भाव ही होते हैं। (आर्त्त-रौद्र परिणाम से रहित शुद्ध ज्ञानरूप परिणमन ही होता है।) अतः वह ज्ञानी किसी भी प्रकार का कर्म नहीं करता है।

है ज्ञानभाव करता मुनि अप्रमादी,
तो कर्म से न बँधता लखता समाधि।
अज्ञान भाव कर नित्य गृही प्रमादी,
है कर्म जाल फँसता, मति को मिटा दी ॥१३५॥

व्याख्या—अज्ञानी के अज्ञानमय भाव से नूतन कर्म का बन्ध होता है और ज्ञानी के ज्ञानमय भाव से कर्मबन्ध नहीं होता। यहाँ ऐसा नहीं समझना कि आत्मा के एक कोने में ज्ञानभाव और दूसरे कोने में अज्ञानभाव होता है। आगम में यह कहा है कि चतुर्थगुणस्थान से सभी ज्ञानी होते हैं, क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान से सम्यग्ज्ञान होता है। जब सम्यग्ज्ञान है तो वहाँ ज्ञानमय भाव भी होते हैं, यह हमें भी स्वीकार्य है। किन्तु यहाँ **समयसार** में ज्ञानी किसे कहा ? यह ध्यान देने की बात है। यहाँ ज्ञानी से अभिप्राय यह है कि जिसके नूतन कर्मबन्ध नहीं होता वह ज्ञानी है और जिसके नूतन कर्मबन्ध होता है वह अज्ञानी है। **आचार्य कुन्दकुन्द देव** की दृष्टि में ज्ञानी वही है जो नूतन कर्मबन्ध नहीं करता तथा जो निर्विकल्पसमाधि में लीन रहता है। यदि रत्नत्रय के द्वारा अपनी आत्मा को ही विषय बनाने रूप

प्रकृति है तो ज्ञानी है, क्योंकि जिन भावों से कर्म बँधते हैं उन्हें अज्ञान भाव कहा है।

जिज्ञासा—आचार्य महाराज, क्या कुछ गुणस्थानों में ऐसे भी भाव होते हैं, जिनके द्वारा बन्ध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होती है ? ऐसा कोई मिश्र भाव होता है क्या ?

समाधान—हाँ, कुछ ऐसे भी गुणस्थान होते हैं, जहाँ भावों के द्वारा आस्रव-बन्ध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होती है। लेकिन कुछ लोग कहते हैं कि उसको मिश्र भाव मान लेना चाहिए। क्योंकि उसी भाव से बन्ध तथा उसी भाव से संवर, निर्जरा भी हो रही है। लेकिन आगम में मिश्र भाव का तात्पर्य पृथक् ही है। अपने यहाँ दो भावों के मिश्रण को मिश्र भाव नहीं कहा, किन्तु यहाँ मिश्रभाव का तात्पर्य क्षयोपशम भाव से है। वह क्षायोपशमिक भाव सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय, आगामी काल में उदय आने वाले उन्हीं स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती स्पर्धकों के उदय होने पर होता है। इस भाव में दो भावों का मिश्रण नहीं है किन्तु स्पर्धकों की दो दशाओं का उल्लेख है। जैसे—तृतीय गुणस्थान में सम्यग्मिथ्यात्व रूप एक भाव है। इसमें सम्यक्त्व को पूर्ण रूप से मिटाने की शक्ति नहीं है और सम्यक्त्व को पूर्ण रूप से बनाए रखने की क्षमता भी नहीं है। इसलिए इस सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति को सर्वघाती घोषित किया है। इसलिए इस प्रकृति को जात्यन्तर सर्वघाती कहा है। **गोम्मटसार जीवकाण्ड** में तृतीय गुणस्थान को परिभाषित करते हुए कहा है—

सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण।
ण य सम्मं मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥२१॥
दहिगुडमिव वामिस्सं पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं ।
एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छोत्ति णादव्वो ॥२२॥

अर्थात् जात्यन्तर सर्वघाती कार्य रूप सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से न केवल मिथ्यात्व रूप न केवल सम्यक्त्व रूप परिणाम होता है किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व रूप मिश्र भाव होता है। जैसे—दही और गुड दोनों की मिली हुई अवस्था में उनको पृथक्-पृथक् करना शक्य नहीं है उसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व जो मिला हुआ परिणाम है उसे पृथक् करना शक्य नहीं है।

दहिगुडमिव वा मिस्सं अर्थात् इसमें न गुड का स्वाद है न दही का, किन्तु अन्य रूप ही स्वाद होता है। दही-गुड दोनों के मिलने पर जो स्वाद आता है उसे मिश्र भाव कहा है। सम्यक्त्वप्रकृति देशघाती होते हुए भी सर्वघाती स्पर्धकों से रहित है। इसलिए इस प्रकृति के उदय के साथ सर्वघाती अनन्तानुबन्धी व मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदयाभावी क्षय और उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम होने पर, क्षय+उपशम इन दो शब्दों के मेल से क्षयोपशम भाव सिद्ध होता है। यह चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान तक रहता है। इस क्षायोपशमिक भाव से संवर-निर्जरा होती है, बन्ध नहीं होता, किन्तु उन्हीं गुणस्थानों में अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलनकषाय का उदय होता है। अतः तत्सम्बन्धी बन्ध होता है। इस विषय में यह ध्यान रखने की बात है कि एक ही गुणस्थान में बन्ध भी हो रहा है,

संवर-निर्जरा भी हो रही है, किन्तु दोनों के प्रत्यय पृथक्-पृथक् हैं। आगम में **ओदइया बंधयरा** अर्थात् औदयिक भाव को बन्ध का कारण कहा है और क्षायोपशमिक भाव तो संवर-निर्जरा के लिए कारण कहा है। कुछ अपवाद भी हैं। जैसे-किसी मुनि के क्षायोपशमिक रूप संयम प्रत्यय के द्वारा आहारकद्विक का बन्ध होता है और केवल सम्यक्त्व के साथ दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं के द्वारा तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध होता है। **तत्त्वार्थसूत्र** में भी एक सूत्र आया है **सम्यक्त्वं च** अर्थात् सम्यक्त्व के द्वारा देवायु का बन्ध होता है। अतः उक्त प्रसंग से यह भी स्पष्ट है कि क्षायोपशमिक रूप संयम और सम्यक्त्व परिणामों से बन्ध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि दो भावों के मिश्रण से मिश्र भाव है, क्योंकि वे दो भाव नहीं हैं, किन्तु एक क्षयोपशम भाव के निर्माण में दो कार्य हो रहे हैं। प्रत्याख्यान, अप्रख्यात्यान या संज्वलन के उदय में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होता, किन्तु सम्यग्दर्शन के साथ सोलह कारणभावनाओं के द्वारा बन्ध होता है, यह बात अलग है कि उस समय अनन्तानुबन्धी के अतिरिक्त अन्य तीन कषायों में से किसी भी कषाय का उदय रहता है। यदि कोई कहे कि चतुर्थादि गुणस्थान में जो कषाय उदय में है उसके द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है, यह कहना आगमविरुद्ध है। यदि कषाय के उदय में उसका बन्ध स्वीकार करेंगे तो सभी जीवों को उसका बन्ध होना चाहिए ? लेकिन ऐसा नहीं है, क्योंकि उसका बन्ध तो सोलहकरण भावनाओं के द्वारा सम्यग्दृष्टि जीव को होता है। चतुर्थ गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से दस प्रकृतियों का बन्ध होता है, सम्यग्दर्शन के द्वारा नहीं। अप्रत्याख्यान का अनुदय, प्रत्याख्यानावरण का तथा संज्वलन के देशघातिस्पर्धकों के उदय के कारण पंचम गुणस्थान में संयमासंयम की प्राप्ति होती है। संयमासंयम के कारण संवर की शक्ति बढ़ जाती है, इसलिए चतुर्थ गुणस्थान की अपेक्षा पंचम गुणस्थान में संवर-निर्जरा, दोनों ही अधिक होते हैं। यहाँ जितनी भी प्रकृतियों का बन्ध होता है वह प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से होता है न कि संयमासंयम से। संयमासंयम होने से प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा अधिक-अधिक होती है। यह सब क्षयोपशम भाव का प्रभाव है। इसलिए शुभोपयोग में भी कथंचित् धर्मभाव प्राप्त होता है। शुभोपयोग में बन्ध के साथ संवर, निर्जरा भी होती है, यह बात उक्त कथन से सिद्ध हो चुकी है। यही क्षायोपशमिक भाव परम्परा से केवलज्ञान का कारण हो सकता है, किन्तु साक्षात् केवलज्ञान का जो कारण है उसका यहाँ वर्णन किया जा रहा है।

विशेष चिन्तन—एक ही गुणस्थान में दो कार्य हो रहे हैं। संयम होने से और क्षायोपशमिकभाव होने से। संयम स्वयं क्षायोपशमिक है, इसे औदयिक भाव कहने का साहस करना आगम से बिल्कुल विपरीत कथन है। संयम के द्वारा आहारकद्विक का बन्ध होता है। वह भी किसी-किसी को ही होता है, क्योंकि तत्सम्बन्धी तद्योग्य परिणाम आवश्यक होते हैं। यदि कोई यह कहे कि संज्वलन के उदय से आहारकद्विक का बन्ध होता है तो जिनको भी संज्वलन का उदय है उन सभी को होना चाहिए।

लेकिन ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार सम्यक्त्व की विशुद्धि के साथ सोलहकारण भावनायें व्यस्त हों या समस्त हों, तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। अर्थात् सोलहकारण भावना की प्रथम दर्शनविशुद्धि भावना के साथ-साथ अन्य भावनायें हों भी या नहीं, तो भी बन्ध होता है। लेकिन अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान या संज्वलन के उदय से तीर्थंकर प्रकृति बँधती है, ऐसा कहना आगम विरुद्ध है। क्योंकि उनके द्वारा यह सम्भव ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि सोलहकारण भावनाओं से बंध भी होता है और विशुद्धि होने के कारण संवर, निर्जरा भी होती है। वैसे ही बारह भावनाएँ, अनगार भावनायें, व्रत सम्बन्धी पच्चीस भावनाओं से बन्ध ही होता है, ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि तत्सम्बन्धी विशुद्ध परिणाम होने से संवर, निर्जरा भी होती है।

आगम में औदयिक और क्षायोपशमिक इन दोनों भावों के मिश्रण से मिश्र-भाव स्वीकार नहीं किया, किन्तु कर्म की क्षय और उपशम दो अवस्थाओं के मिश्रण से क्षायोपशमिक भाव होता है। उसी को मिश्रभाव कहा है। आगम में संयम एवं संयमासंयम को क्षायोपशमिक भाव कहा है। जो कि संवर, निर्जरा का कारण है, लेकिन उसके साथ जो कषाय के उदय से औदयिकभाव होता है वह बन्ध का कारण होता है। यही सिद्धान्त का सही प्ररूपण है। जिन्होंने आगम का अध्ययन नहीं किया, वही संयम, संयमासंयम व सम्यक्त्व भाव को औदयिकभाव कहने का साहस कर सकता है। आगम को भुलाइये नहीं, किन्तु उसे समझने का प्रयास कीजिए। मिश्र देश में जाकर देख लो तो भी दो भावों के मिश्रण वाला मिश्रभाव नहीं मिलेगा। विशुद्धि और संक्लेश सारे के सारे भाव कषाय की मन्दता एवं तीव्रता पर आधारित हैं। विशुद्धि का अर्थ मात्र शुद्धोपयोग नहीं होता क्योंकि यदि ऐसा मानेंगे तो प्रथम गुणस्थान में भी विशुद्धि होती है, तो वहाँ पर भी शुद्धोपयोग मानना पड़ेगा। जबकि आगम में ऐसा कथन सम्मत नहीं है। विशुद्धि और संक्लेश के माध्यम से ही हीयमान और वर्द्धमान कषाय का ज्ञान होता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त भी विशुद्धि और संक्लेश होते रहते हैं। क्षायिक सम्यग्दर्शन होने पर तो मिथ्यात्व जड़मूल से समाप्त हो जाता है। अनन्तानुबन्धी भी चली गई, तो भी वहाँ संक्लेश और विशुद्धि का क्रम चलता रहता है। विशुद्धि-संक्लेश का क्रम तो हमेशा ही बना रहता है। कभी विशुद्ध परिणाम होते हैं तो कभी संक्लेश परिणाम होते हैं। यहाँ तक कि सप्तम पृथ्वी का नारकी जो सम्यग्दर्शन के सम्मुख है, उसके भी तत्सम्बन्धी विशुद्धि होती है।

धवला में तो यहाँ तक लिखा है कि **जात्यन्तर-अपूर्वकरणत्वात्।** अर्थात् सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने वाले, संयमासंयम और संयम को प्राप्त करने वाले अपूर्वकरण परिणाम एक से होते हैं क्या? नहीं, भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं।

दृष्टान्त—जैसे-एक व्यक्ति बैंक में गया और उसने कहा कि-हमारे दस हजार रुपये रख लीजिए। बैक वाला पूछता है-ये रुपये वापिस कब लेना है। वह कहता है-कभी भी ले सकता हूँ। दूसरा व्यक्ति आया उसने भी पैसे जमा किये और कहा-हम पाँच बार में थोड़ा-थोड़ा करके निकाल

लेंगे और तीसरा व्यक्ति आया वह कहता है–हम जमा किये हुए पैसों में पाँच साल तक हाथ नहीं लगायेंगे। अब आप बताइये कि इन तीनों को एक समान ब्याज मिलेगा क्या ? तीनों के विचार एक समान हैं क्या ? नहीं। पाँच साल तक फिक्स करने वाले को तो डबल मिलेगा। जो पाँच साल में तीन बार में कभी भी निकालेगा, उसे कुछ ही ब्याज मिलेगा। तथा जिसने बिल्कुल भी फिक्स नहीं किया, उसे तो ब्याज मिलता ही नहीं। उसी प्रकार सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयम प्राप्त करने वाले तीन व्यक्तियों के परिणामों की विशुद्धियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। संयम प्राप्त करने वाला प्रथम से सीधा सातवें गुणस्थान में जा रहा है। उसकी उन दोनों की अपेक्षा अनन्तगुणी विशुद्धि अधिक है। इससे पाँचवें गुणस्थान में जाने वाले की विशुद्धि कम होती है तथा चतुर्थ गुणस्थान में जाने वाले की विशुद्धि इससे भी कम है। इनकी निर्जरा भी विशुद्धि के अनुसार ही होगी। अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति की अपेक्षा, संयमासंयम प्राप्ति वाले की तथा इसकी अपेक्षा संयम प्राप्ति के समय अनन्तगुणी अधिक-अधिक विशुद्धि होती है। छठवें गुणस्थान से आगे बढ़ेंगे तो विशुद्धि वर्धमान होती जाती है। इसलिए विशुद्धि क्या है ? धर्म क्या है ? शुद्धोपयोग, क्षयोपशमभाव, विशुद्धि-संक्लेश आदि क्या हैं ? यदि यह ज्ञात नहीं है और प्रवचन करने बैठ जायेंगे तो सारे के सारे आगम का क्या होगा ?

छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलने वाले मुनि के पास संयम क्षयोपशम भाव रूप है, उसे औदयिक नहीं कह सकेंगे, भले ही वे छठवें गुणस्थान में आ जायें। हाँ, संज्वलन के उदय की अपेक्षा औदयिकभाव कह सकते हैं। जहाँ आप भावों का कथन करते हैं, वहाँ पर संयम के द्वारा बन्ध ही होता है, ऐसा तो कथन नहीं करना चाहिए। संयमासंयम या संयम औदयिक भाव है, वर्तमान में ऐसा जो कथन किया जा रहा है, वह कौन से आगम से सम्मत है ? अध्यात्म ग्रन्थ भी इसे बन्ध का कारण नहीं मानते हैं। आपको विचार करना चाहिए कि औदयिक भाव तो कर्म के उदय में होता है। लेकिन संयमभाव कौन से कर्म के उदय में होता है ? आप हमें बताइये। कोई कहता है कि देशसंयम औदयिकभाव है, लेकिन आगम में ऐसा कहीं नहीं कहा। हाँ, प्रत्याख्यान कषाय का उदय साथ में रहता है, यह अलग बात है। पर उसे औदयिक तो नहीं कहा। यदि ऐसा है तो फिर क्षयोपशम सम्यग्दर्शन को भी औदयिक मानो और संज्वलन के देशघाती स्पर्धकों के उदय रहते हुए भी क्षयोपशम के द्वारा संयम भाव प्रज्वलित रहता है। इससे आगे क्षपकश्रेणी चढ़ने के बाद भी उन-उन गुणस्थानों के योग्य बन्ध होता है। आचार्य कहते हैं–वहाँ पर बन्ध होना अलग है और उसके (संयम के) द्वारा बन्ध होना अलग है। यदि एकान्त से संयमासंयम या संयमादि को ही बन्ध का कारण माना जायेगा तो फिर संवर-निर्जरा किसके द्वारा मानोगे ? सम्यग्दर्शन से ऊपर उठने पर जो प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा हो रही है, वह किसके द्वारा हो रही है ? इन विषयों को गोष्ठी में रखो। यदि इन विषयों की सही धारणा प्रस्तुत नहीं करोगे तो स्वयं का भी तथा सुनने वालों का भी अहित हो जायेगा। आगम भी दूषित हो जायेगा। क्योंकि आज जैसा व्याख्यान किया जा रहा है वैसा आगम में है ही नहीं। यह सब गड़बड़ है। संयम

को औदयिक भाव कहने का कथन न दिगम्बरों में है, न श्वेताम्बरों में। न ही अध्यात्मग्रन्थों में और न ही सिद्धान्तग्रन्थों में है। फिर आज जो कथन किया जा रहा है वह सब गड़बड़ है। इसे जल्दी-जल्दी निकाल देना चाहिए। अन्यथा यह दोष भी कैंसर के रोग के समान खतरनाक है। कैंसर जैसा नहीं कहेंगे तो जल्दी-जल्दी इलाज नहीं करायेंगे, मात्र गोली खाकर ही रह जायेंगे। इसलिए सावधान, क्योंकि थोड़ी सी अग्नि की कणिका कचरे के बड़े से बड़े ढेर को समाप्त (राख) कर सकती है। उसी प्रकार साधक निर्विकल्प-समाधिरूप त्रिगुप्ति-गुप्त दशा है, त्रिभुक्ति नहीं। त्रिगुप्ति रूप परमसमाधि में भेदज्ञान से भवों-भवों की संचित जो कर्म राशि है उसे क्षणमात्र में नष्ट कर देता है। **छहढाला** में कहा भी है कि-

ज्ञानी के छिनमाँहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरै ते।

अर्थात् करोड़ों वर्षों तक क्या, जन्म-जन्मान्तरों तक तप करते हुए भी अज्ञानी के जो कर्म निर्जरा नहीं हो पाती, उतनी निर्जरा ज्ञानी के त्रिगुप्ति के द्वारा क्षण मात्र में सहजता से होती है। यह स्व के लिए भी आह्लादकारक है और पर के लिए भी आह्लाद देने वाली है। यह जानकर जिस प्रकार भी हो सके, मुमुक्षु साधु को उस परमसमाधि में भावना करनी चाहिए। क्योंकि ज्ञानी जीव तो विकार रहित चेतना की चमत्कार रूप भावनामय होकर रहता है अतः उसके ज्ञानमयी भाव होता है। उस ज्ञानमयी भाव से ज्ञानी जीव कर्मों को नहीं करता, किन्तु स्वस्थ रहता है।

उत्थानिका—जैसे ज्ञानी जीव के ज्ञानमयी भाव ही होता है, अज्ञानमयी भाव नहीं। वैसे ही अज्ञानी जीव के अज्ञानमयी भाव होता है, ज्ञानमयी नहीं। ऐसा आगे कहते हैं-

णाणमया भावादो णाणमओ चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया ॥१३६॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो।
तम्हा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥१३७॥

अन्वयार्थ— **(जम्हा)** चूँकि **(णाणमया भावाओ)** ज्ञानमय भावों से **(णाणमओ चेव भावो)** ज्ञानमय भाव ही **(जायदे)** उत्पन्न होते हैं **(तम्हा)** इस कारण **(णाणिस्स)** ज्ञानी के **(सव्वे भावा)** समस्त भाव **(दु णाणमया)** वास्तव में ज्ञानमय ही होते हैं।

(जम्हा) इसी प्रकार **(अण्णाणमया भावा च)** अज्ञानमय भावों से **(अण्णाणो चेव)** अज्ञानमय ही **(भावो)** भाव **(जायदे)** उत्पन्न होते हैं **(तम्हा)** इस कारण **(अणाणिस्स)** अज्ञानी के **(सव्वे भावा)** सभी भाव **(अण्णाणमया)** अज्ञानमय ही (उत्पन्न होते हैं।

अर्थ—ज्ञानी जीव के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं, क्योंकि ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है। उसी प्रकार अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है, अतः अज्ञानी जीव के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं।

लो! ज्ञान से उदित ज्ञान नितान्त होता,
हे साधु बीज सम ही फल चूँकि होता।
हो वीतराग मुनि जो कुछ ध्यान ध्याता,
वो सर्व ज्ञानमय ही विधि को मिटाता ॥१३६॥
उत्पन्न मात्र भ्रम से भ्रमभाव होता,
औचित्य कारण समा बस कार्य होता।
अज्ञानि-जीव मन में कुछ भी विचारे ?
अज्ञान से भरित-भाव नितान्त पाले ॥१३७॥

व्याख्या—स्वसंवेदन रूप भेदज्ञान वाले जीव के सभी भाव उस ज्ञान के द्वारा सम्पन्न हुए ज्ञानमय ही होते हैं। निश्चयरत्नत्रयात्मक जीव का जो परिणाम है वह ज्ञानमय ही होता है। अज्ञानी के अज्ञानमय भाव होते हैं। उसमें ज्ञान की कोई कला नहीं निकलेगी। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व या रागादि रूप अज्ञानमय परिणाम ही होते हैं। जहाँ-जहाँ सम्यग्दर्शन वहाँ-वहाँ निश्चय-रत्नत्रय होता है, यदि ऐसा कहेंगे तो सप्तम नरक में, विग्रहगति में, तिर्यंचगति में तथा देवगति में भी निश्चयरत्नत्रय मानना पड़ेगा और क्षायिक सम्यग्दर्शन के साथ दो पूर्वकोटि आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम तेतीस सागर काल प्रमाण तक निश्चयरत्नत्रय मानना पड़ेगा। जबकि निश्चयरत्नत्रय का काल तो अन्तर्मुहूर्त ही होता है।

निरास्रव भाव के द्वारा निरास्रवी होगा, क्योंकि **उपादानकारणसदृशं हि कार्यं भवतीति लोके** ऐसा कहा है। जैसे-जौ के बोने से चावल, बबूल के बोने से आम, गेहूँ के बोने पर चना आ जायें, यह संभव नहीं है। इसलिए अज्ञानमय भाव से अज्ञानी तथा ज्ञानमय भाव से ज्ञानी होता है। यदि रागादि की कणिकामात्र भी है तो आत्मा को नहीं जान सकता है। **अमृतचन्द्र स्वामी जी** ने भी विराग सम्यग्दृष्टि शब्द दिया है और इसको हाईलाइट करने का काम **जयसेनाचार्य** ने किया है। **मोहक्खोहविहीणो** की टीका करते हुए **अमृतचन्द्राचार्य** ने 'विरागसम्यग्दृष्टि' शब्द दिया है। बात एक ही है। **विशेषरूपेण अतीतः रागः विरागः** अर्थात् विशेष रूप से जिसके पास राग है उसे तो वे कह नहीं सकते, किन्तु विशेष रूप से जो राग से अतीत हो जाता है वह विरागी है। **आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी** ने **प्रवचनसार** की चारित्रचूलिका में लिखा है कि-**क्रमशः परम्परा-निर्वाण-कारणत्वात् गृहस्थानां शुभोपयोगः मुख्यः, श्रमणानां तु गौणः।** अर्थात् क्रमशः शुभोपयोग परम्परा से निर्वाण का कारण है, वह मात्र बन्ध का कारण कैसे हो सकता है ? हाँ, इतना अवश्य है कि वह शुभोपयोग साक्षात् मुक्ति का कारण नहीं है। शुभोपयोग शुद्धोपयोग को जन्म देने वाला होता है, वह साक्षात् केवलज्ञान का कारण नहीं है। **शुद्धोपयोग का जन्मदाता शुभोपयोग है और केवलज्ञान का जन्मदाता शुद्धोपयोग है।** यह मैं पचास नहीं सौ-सौ बार कह सकता हूँ। पर एक

बार यह भी कहूँगा कि शुद्धोपयोग का जन्मदाता कोई है तो वह शुभोपयोग है। क्योंकि अभावपरक कारण किसी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। यह न्याय है। यह महापुरुषों की मानी हुई बात है।

उत्थानिका—आगे उपर्युक्त कथन को ही दृष्टान्त और दार्ष्टान्त द्वारा समझाते हैं–

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा।
अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी॥१३८॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति॥१३९॥

अन्वयार्थ—**(जह)** जैसे **(कणयमया भावादो)** स्वर्णमय सिल्ली से **(कुंडलादयो)** सुवर्णमय कुंडलादि आभूषण **(जायंते)** उत्पन्न होते हैं **(दु)** और **(अयमयया भावादो)** लौहमय भाव से **(कडयादी)** लौहमय कड़े इत्यादि **(जायंते)** उत्पन्न होते हैं।

(तहा) इसी प्रकार **(अणाणिणो)** अज्ञानी के **(अण्णाणमया)** अज्ञानमय **(भावा)** भाव **(बहुविहा)** अनेक प्रकार के **(वि)** भी **(जायंते)** होते हैं **(दु)** और **(णाणिस्स)** ज्ञानी के **(सव्वे भावा)** सभी भाव **(णाणमया)** ज्ञानमय **(होंति)** होते हैं।

अर्थ—जैसे सोने की सिल्ली से कुण्डलादिक आभूषण बनते हैं और लोहे के टुकड़े से कड़ा आदि बनता है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव के अज्ञानमय भाव से अनेक प्रकार के अज्ञानभाव होते हैं। किन्तु ज्ञानी जीव के सब ही भाव ज्ञानमय होते हैं।

लो ! स्वर्ण के मुकुट कुण्डल ही बनेंगे,
अच्छे किसे नहिं लगे मन को हरेंगे।
विज्ञानि के विमल भाव रहे रहेंगे,
वे पूर्व के सकल कर्म हरे, हरेंगे ॥१३८॥
लो ! लोह लोहमय आयुध का विधाता,
देखो जिन्हें कि भय से मन काँप जाता।
अज्ञानि में तरल राग तरंग माला,
देती उसे दुःख पिलाकर पाप हाला ॥१३९॥

व्याख्या—उपादानकारण के समान ही कार्य होता है, इस सिद्धान्त को लेकर यह निश्चित है कि कनकमय धातु से कनकमय ही आभूषण बनते हैं और लोहमय धातु से लोहमय ही कड़े आदि ही बनते हैं। **कणयमया** इसमें 'मयट्' प्रत्यय लगा है। जो कि उपादान के रूप में दिया हुआ है। ऐसा कभी नहीं होता कि लोहमय धातु से स्वर्ण का आभरण बन जाये। हाँ, ऊपर-ऊपर से पॉलिश कर दो तो यह बात अलग है। लेकिन भीतर तो वही होगा। कुछ मिक्सिंग भी कर दो तो भी भिन्न-भिन्न लोहमय और स्वर्णमय ही माना जायेगा। अर्पित या विवक्षित से सम्यक् एकान्त सिद्ध होता है और प्रमाण से

अनेकान्त की सिद्धि होती है। अतः अज्ञानमय भाव से अज्ञान तथा ज्ञानमय भाव से ज्ञान होता है। यहाँ आचार्य के कथन का यह अभिप्राय है। प्रमाण के आश्रित अनेकान्त है और नय के आश्रित एकान्त है। हाँ, यह निश्चित है कि आत्मा के द्वारा दोनों कार्य देखने-जानने में आते हैं। जैसे-एकान्त से ज्ञान के द्वारा आत्मा जानता ही है तथा दर्शन के द्वारा देखता ही है, यह तो सम्यक् एकान्त हो गया। लेकिन आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है तथा दर्शन के द्वारा देखता भी है, यह कहना अनेकान्त है। इसके द्वारा वस्तु को समग्ररूप से जान सकते हैं। नय के द्वारा आत्मा के एक ही पहलू को जान सकते हैं। क्योंकि जिसके द्वारा एक ही धर्म जाना जाता है वह नय है और नय के द्वारा जो ज्ञान होता है वह सम्यक् एकान्त है तो मैं यह कह रहा था कि **उपादानकारण के सदृश ही कार्य होता है।** इसमें भी अनेकान्त है।

शुद्धोपयोग के द्वारा केवलज्ञान होता है तो शुद्धोपयोग कारण है और केवलज्ञान कार्य है। परन्तु शुद्धोपयोग क्षायोपशमिक भाव है जबकि केवलज्ञान क्षायिक भाव है। शुद्धोपयोग बारहवें गुणस्थान में उपादान रूप कारण है तो केवलज्ञान जो कि तेरहवें गुणस्थान में होता है तो वह भी शुद्धोपयोग रूप ही होना चाहिए। क्योंकि उपादानकारण के सदृश ही कार्य होता है। उसी प्रकार ध्यान रखो-ध्यान भी अशुद्ध है जो कि मुक्ति का कारण है, लेकिन मुक्ति शुद्ध अवस्था का नाम है। अतः अशुद्ध कारण भी शुद्ध कार्य का कारण है। चौदहवें गुणस्थान का जो ध्यान है वह मुक्ति का कारण तो है पर है तो संसार दशा में। फिर भी उपादान कारण के सदृश कार्य कहने का तात्पर्य जीव से तादात्म्य को लेकर होना चाहिए। अर्थात् चेतन भाव कारण रूप है तो कार्य भी चेतनात्मक ही होगा। पौद्गलिक भावों से चेतन भाव का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। यही यहाँ पर अभिप्राय है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कारण जो होता है वह कार्य के पूर्ववर्ती पर्याय रूप होता है, इसलिए चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समयवर्ती शुक्लध्यान तदनन्तर समयवर्ती मुक्ति का कारण होता है। निमित्त कारण को यदि कोई उपादान के अनुसार कार्यकारी मानता है तो उसको कहा जाता है कि-मिट्टी के घड़े का कर्त्ता कुम्भकार नहीं बल्कि मिट्टी का लौंदा ही है। जड़ रूप मिट्टी का लौंदा ही जड़रूप घट का कर्त्ता है। उसी प्रकार चैतन्य रूप ध्यान ही चैतन्य रूप मुक्ति का कर्त्ता है। भले ही ध्यान अशुद्धदशा (संसार) में हो और मुक्ति, मोक्ष स्वरूप हो। चैतन्य का प्रवाह दोनों में है। जैसे-लौंदा और घट दोनों मृण्मय हैं। जीव में शुद्धोपयोग रूप जो ज्ञान है, वही केवलज्ञान का साक्षात् कारण है, क्योंकि उसमें भी ज्ञानमय चेतना विद्यमान है। दोनों में चैतन्य रूप होने के कारण 'उपादानकारणसदृशं कार्यं' ऐसा कहा है।

जो व्यक्ति जड़ के द्वारा जीव का उत्पादन और जीव के द्वारा जड़ का उत्पादन मानते हैं वे ठीक नहीं हैं। ऐसा सम्बोधन दिया जा रहा है। मुक्ति में कारणभूत वह ध्यान संसार दशा में है, इसलिए अशुद्ध है। वह पारिणामिक भाव होते हुए भी शुद्ध पारिणामिक भाव नहीं है। वह ध्यान आत्मा में ही हो रहा है, संयम भी आत्मा में हो रहा है। क्षायिक सम्यक्त्व हो गया यहाँ तक कि केवलज्ञान भी हो गया पर अभी मुक्ति नहीं हुई। क्यों नहीं हुई ? पहले कहा था कि 'योगसद्भावात्' योग का सद्भाव होने से

मुक्ति नहीं हुई। फिर योग का अभाव होने पर भी नहीं हुई, क्यों ? तो कहते हैं–अभी परमयथाख्यात चारित्र नहीं है। इसलिए मुक्ति नहीं हुई। फिर क्या कारण है तो आचार्य कहते हैं कि परमयथाख्यातचारित्र के साथ चौदहवें गुणस्थान में व्युपरतक्रियानिवर्ती रूप ध्यान ही मुक्ति का कारण होता है। लेकिन यह ध्यान रखना कि यह ध्यान सिद्धों में नहीं होता। पर इसी के द्वारा सिद्धत्व प्राप्त होता है। कार्य होने पर कारण यहीं पर छूट जाता है। जीव मात्र रह जाता है।

जिज्ञासा–भव्यत्व भाव शुद्ध है कि अशुद्ध है ?

समाधान–भव्यत्व भाव पारिणामिक भाव है। यह पारिणामिक तो है, क्योंकि कर्मों के उदयादि के बिना ही होता है। लेकिन कर्म के उदयादि में नहीं होता। इसलिए शुद्ध ही है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। **तत्त्वार्थसूत्र** ग्रन्थ के दसवें अध्याय में एक सूत्र है–

औपशमिकादिभव्यत्वानां च।

अर्थात् मुक्ति होने पर औपशमिक आदि भाव तथा भव्यत्व आदि भाव भी छूट जाते हैं। यदि शुद्ध होता तो मुक्ति में भी रहता।

दृष्टान्त–जैसे–बताशा है, पानी में डाला तो वह घुल गया। पर उसमें जो विकार था वह पानी के रूप-रंग में ही है। वह विकारीपन घुलता नहीं है। शक्कर का स्वभाव घुलने का है, रंग का काम घुलने का नहीं। बल्कि अपनी पहचान कराता है। यह बात अलग है कि चूँकि बताशा घुलता है तो उसमें रहने वाला रंग भी उसी में फैल जाता है। किसी से पूछा जाए कि पानी कैसा है ? तो लाल है, पीला है, नीला है इत्यादि रूप कहा जाता है। लेकिन यह रंग के संयोग से कहा जाता है, परन्तु स्वभाव से तो शुद्ध, स्वच्छ, सफेद है। उसी प्रकार आत्मा कैसा है ? भव्य है क्योंकि भव्यत्व भाव से सहित है। यह कहाँ तक रहता है ? चौदहवें गुणस्थान तक रहता है। यदि इस पारिणामिक भाव को शुद्ध कहा जायेगा तो फिर वह सिद्धों में भी रहना चाहिए। इसलिए यहाँ सयुक्तिक, सकारण, सहेतुक कथन किया है। जिस सिद्धान्त में कोई हेतु बाधित नहीं होता है वही सही माना जाता है। यदि हेतु बाधित हो जाता है तो पक्षपात हो जायेगा। इसलिए एकान्त से 'उपादानकारणसदृशं कार्यं' ऐसा नियम नहीं है।

दृष्टान्त–जैसे, मूंग को बीज रूप में बोया, अंकुर आ गया, पौधा हो गया, बेल जैसी फैल गई, चार महीने उपरान्त फलियाँ आ गईं। कुछ समय उपरान्त फलियाँ सूखने लगीं तो सोचा–इसे काट देना चाहिए। नहीं तो सारे के सारे खराब हो जायेंगे। अतः उसे काट दिया और उसकी राशि बनाकर रख दी। एकाध बोरी हो गया। बाद में दुकान पहुँच गया। अब घर में नये-नये मूंग आये तो दाल बना दी या साबुत मूंग बना लिए और खाने को बैठा तो कट-कट की आवाज आयी। सोना-पत्थर तो नहीं है। देखा, तो वह तो मूंग ही था। लेकिन ठर्रा मूंग था। अब आप विचार कीजिए कि जैसा बीज बोया था, वैसा ही मूंग आना चाहिए। ये ठर्रा मूंग कहाँ से आ गया ? बीज फलने के उपरान्त मूंग रूप जाति तो है पर उसमें कुछ ऐसी नोकर्म वर्गणाएँ एकत्रित हो गई कि वे कभी भी सीज नहीं सकतीं। इसलिए सीजने

वाले मूंग से सीजने वाले मूंग ही उत्पन्न होना चाहिए। ठर्रा मूंग कैसे उत्पन्न हो सकता है ? इसलिए एकान्त से ''उपादानकारणसदृशं कार्यं'' यह एकान्त से नहीं कहना चाहिए। ठर्रा मूंग के लिए आप कितने भी पानी में सिजा लो पर सीज नहीं सकता। टनो टन भी अग्नि जला दो तो भी वह सीज नहीं सकता। हाँ, उसे पीसकर भजिया बना सकते हैं, इसका एक ही उपयोग है।

जिज्ञासा—अभव्य जीव कहाँ तक जा सकता है ?

समाधान—अभव्य जीव तप आदि करके नौवे ग्रैवेयक तक ही ऊपर जा सकता है। ठर्रा मूंग की तरह उसका इतना ही उपयोग हो सकता है। स्वाद तो मूंग के समान ही आयेगा, पर सीजेगा नहीं। बड़ा वैचित्र्य है स्वभावों का। कर्मों का भी बड़ा वैचित्र्य है। इसलिए इसको स्वीकारना चाहिए। ज्ञानी जो है वह यहाँ ग्यारहवें से गिरने पर संसार की स्थिति को कम करके वह विशेष पद, लौकान्तिकदेव, ऋद्धिधारी देव या इन्द्रपद आदि को धारण करता है।

तिलोयपण्णत्ती में लौकान्तिक देव का वर्णन करते हुए कहा है कि—लौकान्तिकदेव बारह भावनाओं का चिन्तन करते रहते हैं। उससे पूर्व भव में मुनि अवस्था में भी विशेष रूप से बारह भावनाओं का चिन्तन करते थे। बारह भावनाओं का चिन्तन इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि उससे अभीक्ष्णज्ञानोपयोग और अभीक्ष्ण संवेग की स्थिति बनी रहती है। जो तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण होती है। तात्पर्य यह है कि वे संवेगवान भावनाओं के साथ वहाँ समय बिताते हैं तो लौकान्तिकदेव बनते हैं। इन्हें देवर्षि भी कहते हैं। देवों में जाकर ये आठ सागर प्रमाण आयु को ब्रह्मचर्य सहित बारहभावनाओं के साथ व्यतीत करते हैं और जब तीर्थंकर बनने वाले भगवान् को गृहस्थावस्था में वैराग्य होता है उस समय उनकी बारह भावनाओं के चिन्तन का समर्थन करने के लिए वे यहाँ आते हैं और कहते हैं कि—हे भगवन्! आप धन्य हैं, आपने सही सोचा है। आप लोग तो अशुचि भावना भाते हैं और दो-चार बार नहाते हैं। पहनने को भी फनाफन चाहिए। सफेद रंग की भी कई क्वालिटी होती हैं। फनाफन चाहिए, आर्थिक युग है, विकासशील युग है, उसके बिना मन ही नहीं लगता है। जो कर्म के उदय में मिला है उसका प्रयोग करना चाहिए। वे शुक्ल लेश्याधारी लौकान्तिक देव सफेद वस्त्र पहनते हैं और मुकुट भी पहनते हैं। उनकी अलग तरह की सादगी दिखती है। **राजवार्तिक** में **आचार्य अकलंकस्वामी** ने कहा है कि वहाँ पंचम स्वर्ग में लौकान्तिक देवों की कॉलोनी के आगे-पीछे बहुत सा अगम्य स्थान है वहाँ पर कोई प्रवेश नहीं कर सकता है। वे चाहें तो वहाँ से बाहर आ सकते हैं। उनको सब कुछ दिखेगा, पर दूसरा वहाँ पर नहीं जा सकता। जैसे दिन में हम भीतर रहकर बाहर देखते हैं तो सब कुछ दिखता है। लेकिन बाहर वाले भीतर का स्पष्ट नहीं जान पाते। अगम्य अर्थात् न ज्ञातुं योग्यं अगम्यं दुर्गम्यं यानि जो आँखों से देखने योग्य स्थान नहीं है। बारह भावनाओं के चिन्तन की अधिकता के कारण लौकान्तिकदेव बनते हैं। वे पंचमस्वर्ग में होते हुए भी द्वादशांग के पाठी होते हैं। वे शुक्ललेश्या वाले एक भवावतारी होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि पूर्व जीवन में निर्दोष

रूप से मुनिव्रतों का पालन करते हैं, उन्हीं को यह अवसर मिलता है।

जिज्ञासा—कई लोग कहते हैं कि गृहस्थावस्था में रहकर बारहभावना भाने से भी लौकान्तिक देव बन सकते हैं क्या ?

समाधान—नहीं, इसका कोई प्रमाण मिला तो नहीं है, लेकिन कई लोग प्रमाण ढूँढ़ने में लगे हैं। यह पद इन्द्रपद से भी बढ़कर है। चार लाख सात हजार आठ सौ सात लौकान्तिक देवों की संख्या है। जो यहाँ रागद्वेष से रहित रहते हैं, जाकर देवों में भी रागपर्याय को प्राप्त नहीं करते हैं। वे वहाँ देवों में जाकर विषयकषायों को सड़ी-गली वस्तु के समान समझकर भोग भोगते हैं।

बार-बार परोक्षज्ञान द्वारा अभ्यास करने के उपरान्त जब प्रत्यक्ष से समवसरण में देखेंगे तो ऐसा लगता है कि स्वप्न में देख रहे हैं। देवगति में देवों का चतुर्थ गुणस्थान के योग्य ही आचरण होता है। ऐसा आचरण करते हुए जब वे साक्षात् भगवान् के समवसरण को देखते हैं, भगवान् की दिव्यवाणी सुनते हैं, तो वे वहाँ पर भी जिनधर्म, शुद्धात्मा की भावना को नहीं छोड़ते हुए देव पर्याय का समय व्यतीत करते हैं और वहाँ से आकर बलदेव, कामदेव आदि विशेष पद प्राप्त करते हैं। वे वहाँ पर **जल तैं भिन्न कमल है** जैसे रहते हैं। लेकिन वही कमल जल से भिन्न है, जो आमूलचूल तक पानी पीया हुआ रहता है। कमल की नाल, पाँखुरी जल में होती है। हाँ, इतना अवश्य है कि वह सड़ता नहीं है। जल में रहकर भी यदि जड़ से टूट गया तो सूख जायेगा, सड़-गल जायेगा।

राम-पाण्डवादि का जीवन संघर्षमय होते हुए भी अपने आप में निरीहवृत्ति को लिए होता था। मनुष्यों में स्थिर-अस्थिर, उपघात-परघात नामकर्म के कारण खाया हुआ अन्नादि बारहवें गुणस्थान तक रस, रुधिर आदि रूप परिणमन करता है तथा ज्यों ही १३ वें गुणस्थान में आ जाता है तो रस, रुधिरादि रूप परिणमन नहीं होता। उस समय सप्तधातु से रहित परमौदारिक शरीर हो जाता है। इसलिए उन्हें कवलाहार आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती है। सप्तधातु रूप परिणमन बारहवें गुणस्थान तक होता है। देवों में प्रक्रिया अलग है। वहाँ सप्तधातु नहीं होने पर भी मानसिक आहार तो करते हैं, उनकी मशीन अलग टाईप की है। मन में सोचा, अमृत झर गया। उससे ही काम होता रहता है। देवपर्याय से आकर यहाँ जिनदीक्षा ग्रहण करते ही तीर्थंकरों को केवलज्ञान के अतिरिक्त समस्त ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, क्योंकि ये संयम प्रत्यय कहलाता है। पश्चात् सभी अतिशयों से परिपूर्ण परम आराध्य अचिन्त्य विभूति समवसरणादि सहित केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। उनके बारे में हम सोच भी नहीं पाते हैं। हमारी बुद्धि ही कुण्ठित हो जाती है। इनकी महिमा अपरम्पार है। समवसरण में जाकर मिथ्यादृष्टि देव जब देखते हैं कि हमसे बड़े-बड़े इन्द्र हमारे स्वामी भी इनके चरणों में नमस्कार कर रहे हैं अर्थात् ये देवाधिदेव हैं, इस प्रकार जिनमहिमा से उन्हें सम्यग्दर्शन हो जाता है। वहाँ समवसरण में तिर्यंच भी आपसी वैरभाव भूलकर एक साथ बैठ जाते हैं। तीर्थंकर की सन्तान भरत-बाहुबली समवसरण में नहीं लड़े थे। दोनों क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, महापुरुष माने जाते थे। एक चक्रवर्ती थे दूसरे

कामदेव थे, दोनों उन्हीं की सन्तान थीं। सबको वृषभनाथ भगवान् ने उपदेश दिया। लेकिन अपने दो बेटों से कुछ नहीं कहा। ऐसे बड़े व्यक्ति को दोष लगाने की किसकी हिम्मत है ?

तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव अज्ञानमय भाव करके नर-नारकादि पर्याय को प्राप्त करते जाते हैं और ज्ञानमय भाव वाले क्रमशः मुक्त हो जाते हैं, यह यहाँ कहा गया है। आचार्य देव ने यहाँ यह बताया है कि अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त करके यदि क्षपक श्रेणी चढ़ता है तो मुक्त हो ही जाता है। परन्तु उपशमश्रेणी से गिरकर क्रमशः उन्नति करता हुआ मुक्त होता है। शुद्धात्मा की भावना करने वाले और शुद्धोपयोगी में विद्यार्थी और अध्यापक जैसा अन्तर है। इस प्रकार जीव कथंचित् परिणामी होने से ज्ञानी ज्ञानमय भाव को और अज्ञानी अज्ञानमय भाव को प्राप्त होता है, ऐसा कहा है। अज्ञानी को शुद्धात्मा ही उपादेय है, यह रुचि न होने से, स्वशुद्धात्म को नहीं जानने से तथा परमसमाधि की भावना नहीं करने से वह बन्ध को प्राप्त होता है।

इस प्रकार ज्ञानमय और अज्ञानमय भाव के कथन की मुख्यता से छह गाथायें पूर्ण हुईं। इसके साथ ही साथ उक्त प्रकार से पुण्यपापादि सप्त पदार्थों की पीठिका रूप जो महाधिकार शुरु किया था, उसमें यह बताते हुए कि कथंचित् परिणामित्व होने पर ही ज्ञानी जीव अपने ज्ञानभाव का और अज्ञानी जीव अपने अज्ञानभाव का कर्त्ता हो सकता है। इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से नौ गाथाओं के द्वारा छठा अन्तराधिकार भी समाप्त हो गया।

उत्थानिका—अब आगे यह बताते हैं कि वह पूर्वोक्त अज्ञानभाव ही द्रव्य और भावरूपात्मक मिथ्यात्वादि प्रत्ययों के द्वारा पाँच प्रकार का होता है। वह अज्ञानभाव 'शुद्ध आत्मा ही उपादेय है' इस प्रकार की रुचि को नहीं रखने वाले तथा उसी अपनी शुद्धात्मा को स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा नहीं जानने वाले एवं शुद्धात्मा को परम-समाधि रूप, निर्विकल्पसमाधि रूप भाव से नहीं अनुभव करने वाले अज्ञानी जीव के कर्मबन्ध का कारण होता है। यह सप्तम महाधिकार में बताया जायेगा, उसकी यह उत्थानिका है—

मिच्छत्तस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चसद्दहणं।
असंजमस्स दु उदओ जं जीवाणं अविरदत्तं ॥१४०॥
अण्णाणस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्च उवलद्धी।
जो दु कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ ॥१४१॥
तं जाण जोगउदयं जं जीवाणं तु चिट्ठउच्छाओ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१४२॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइवग्गणागयं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादि भावेहिं ॥१४३॥

तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया।
तइया दु होदि हेदु जीवो परिणामभावाणं ॥१४४॥

अन्वयार्थ– **(जीवाणं)** जीवों के **(जं)** जो **(अतच्चसद्दहणं)** अतत्त्वश्रद्धान है वह **(मिच्छत्तस्स दु)** मिथ्यात्व का **(उदओ)** उदय है। **(दु)** और **(जीवाणं)** जीवों के **(जं)** जो **(अविरदत्तं)** अविरत है वह **(असंजमस्स)** असंयम का **(उदओ)** उदय है।

(जीवाणं) जीवों के **(जं)** जो **(अतच्चउवलद्धी)** अतत्त्व की जानकारी है, वह **(अण्णाणस्स दु)** अज्ञान का **(उदओ)** उदय हैं। **(दु)** और **(जो)** जो **(जीवाणं)** जीवों के **(कसाउवओगो)** उपयोग का मैलापन है। **(सो)** वह **(कसाउदओ)** कषाय का उदय है।

(जीवाणं) जीवों के **(जं)** जो **(सोहणमासोहणं वा)** शुभ या अशुभ **(कायव्वो)** प्रवृत्ति **(विरदिभावो वा)** अथवा निवृत्ति रूप **(चिट्ठउच्छाओ)** चेष्टा (मन वचन काय) का उत्साह है **(तं)** उसको **(जोगउदयं)** योग का उदय **(जाण)** जानो।

(एदेसु) इन प्रत्ययों के **(हेदुभूदेसु)** हेतुभूत होने पर **(जं तु)** जो **(कम्मइयवग्गणागयं)** कार्मण वर्गणा रूप से आया हुआ जो द्रव्य है **(णाणावरणादिभावेहिं)** ज्ञानावरणादि भावों से **(अट्ठविहं)** अष्ट प्रकार कर्म रूप **(परिणमदे)** परिणमन करता है।

(तं खलु) उपर्युक्त पाँचों प्रत्ययों में से किसी के भी होने पर **(जइया)** जब **(कम्मइय-वग्गणागयं)** कार्मण वर्गणा रूप आया हुआ द्रव्य **(जीवणिबद्धं)** ज्ञानावरणादि के रूप में जीव में बँधता है **(तइया दु)** तब **(परिणामभावाणं)** उन अज्ञानादि परिणाम भावों का **(हेदू)** कारण **(जीवो)** जीव **(होदि)** होता है।

अर्थ–जीवों के जो अतत्त्व रूप श्रद्धान होता है वह मिथ्यात्व का उदय है। उन जीवों के जो त्याग भाव का अभाव है वह असंयम का उदय है। इसी प्रकार उनका जो स्वरूप का अन्यथा जानना है वह अज्ञान का उदय है तथा जो जीवों के उपयोग का मैलापन है वह कषाय का उदय है और जो जीवों के शुभ-अशुभ रूप मन, वचन, काय की उत्साहात्मक चेष्टा विशेष होती है वह योग का उदय है। उपर्युक्त पाँचों में से किसी के भी होने पर जो वर्गणाओं का समूह आता है वह ज्ञानावरणादि के रूप में आठ प्रकार का होकर अवश्य ही जीव के साथ सम्बद्ध होता है, उस समय उन मिथ्यात्वादि भावों का यह जीव कारण होता है।

अज्ञान का उदय आतम में जभी हो,
है आत्मज्ञान मिटता, उलटा सभी हो।
मिथ्यात्व के उदय में पर को निजात्मा,
है मान भूल करता, बनता दुरात्मा ॥१४०॥

आत्मा स्वयं जब असंयम से घिरेगा,
स्वच्छन्द हो विषय सेवन ही करेगा।
कालुष्य की सघन कालिख से लिपेगा,
आत्मा कषायमय दीपक ज्यों जलेगा ॥१४१॥
आत्मा स्वयं तब तरंगित हो हिलोरा,
लेता चले जब शुभाशुभ योग जोरा।
हो तीव्र या पवन मन्द जभी चलेगी,
भाई अवश्य सर में लहरें उठेंगी ॥१४२॥
पूर्वोक्त रूप घटना घटती जभी से,
तो वर्गणा विधिमयी विधि हो तभी से।
है अष्ट कर्म बँधते इस जीव से हैं,
देते अतीव दुख हैं कटु नीम से हैं ॥१४३॥
ये ही यदा उदय में वसु कर्म आते,
तो जीव की विकृति में पड़ हेतु जाते।
संसार की प्रगति और गति हो चलेगी,
मेटे इन्हें मुनि जिन्हें मुकती मिलेगी ॥१४४॥

व्याख्या—मिथ्यात्व के उदय से अतत्त्व श्रद्धान, असंयम के उदय से अविरति, अज्ञान के उदय से अतत्त्व की उपलब्धि, कषायों के उदय से कषाय रूप उपयोग, योग का उदय होने पर, चित्त का उछाल अर्थात् कुछ करने का उत्साह, यह योग के कारण आत्मा में उछाल आता है। तेरहवें गुणस्थान में कषाय नहीं होने पर भी उछाल आता है तभी तो दिव्यध्वनि आदि कार्य होते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव देवों में जाकर विषयों में जोंक के समान रम जाते हैं। जैसे–जोंक जो होती है, वह दुग्धपान न करके खराब खून को चूसती है। इसी प्रकार असंयमी भी विषय–कषायों में ही रमा रहता है। जब ज्ञान–दर्शन के सिवाय तेरा कुछ नहीं है तो फिर यह मेरा है–मेरा है, कहना, यही तो अतत्त्व उपलब्धि है। यह तत् भाव नहीं है अतत् भाव है।

इस अतत्भाव के कारण विषयों के लिए व्यक्ति जमीन आसमान एक करने के लिए तैयार हो जाता है। तूफान उठ जाता है। महाभारत ऐसे ही तो खड़ा हुआ था। यह (दुर्योधन) कहता है कि हम राजा बनेंगे, हम राजा बनेंगे और वह (युधिष्ठिर) कहता है कि हम राजा बनेंगे, हम राजा बनेंगे। इस कारण दोनों पक्षों में लड़ाई होती रही। जीवन यूँ ही समाप्त हो गया। एक को वैराग्य हो गया। **बारहभावना** में **मंगतराय जी** ने लिखा है–**गये राज तज पाण्डव वन को अग्नि लगी तन में।** स्थिति यही है। आत्मा की उपलब्धि रूप शुद्धोपयोग का अभाव हुआ और कषाय का सद्भाव हुआ

क्योंकि दोनों एक साथ नहीं रह सकते हैं। कषाय का उदय तीव्र रहेगा तो शुद्धोपयोग नहीं रहेगा और शुद्धोपयोग होगा तो कषायें शान्त रहेंगी। चेष्टा का जो उत्साह है उसे ही योग जानो। यही **चिट्ठउच्छाओ** का अर्थ है। जीवों के मन, वचन, काय की वर्गणा के आधार से वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम को लिए हुए प्रयत्न रूप आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द जो कि कर्मग्रहण करने का हेतु होता है। हे शिष्य! उस व्यापार रूप उत्साह को तुम योग का उदय समझो, ऐसा यहाँ पर **आचार्य जयसेन महाराज** कह रहे हैं। वह योग शुभ और अशुभ रूप से दो प्रकार का है। जो व्रतादिक को कर्त्तव्य मानकर उनके करने में उत्साह होता है उसे शुभयोग कहते हैं तथा जो नहीं करने योग्य अव्रतादिक रूप में जो उत्साह है उसे अशुभयोग कहते हैं। इन निमित्तभूत पाँचों प्रत्ययों के होने पर कर्मवर्गणा रूप नूतन पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म के रूप में आठ प्रकार का परिणमन करता है। यह नूतन पुद्गलद्रव्य योग के द्वारा आकर जीव के साथ सम्बद्ध होता है। पश्चात् उदय में आए हुए द्रव्य प्रत्ययों के रूप में निमित्त से जब यह जीव मिथ्यात्व या रागादिक रूप भाव प्रत्ययों के रूप में परिणमन करता है तब नूतन कर्मबन्ध का कारण होता है। ऐसा नहीं होता कि द्रव्यप्रत्यय का उदय हो और भावप्रत्यय न हो। फिर भी बन्ध हो जाये। जैसे–पाण्डवादि मुनि पर घोर उपसर्ग होने पर भी बन्ध नहीं हुआ, क्योंकि भावप्रत्यय नहीं था। यदि उदयमात्र से बन्ध हो जाये तो संसार का कभी अभाव ही नहीं होगा, क्योंकि संसारी जीव के कर्म का उदय तो सदा बना ही रहता है।

दसवें गुणस्थान तक बन्ध होता है। औदयिकभाव है तो पुनः बन्ध होगा। फिर उदय में आयेगा, पुनः बन्ध होगा। इस प्रकार यह बीज–वृक्ष रूप परम्परा चलती रहती है, कभी नष्ट नहीं होती, किन्तु इस रहस्य को समझकर गुरुकृपा आदि से उनके सान्निध्य से द्रव्य, क्षेत्र, कालादि के निमित्त से इन विषयकषायों में कमी लाता है। तो उछाल लेकर संसार से बाहर आ सकता है। कुछ लोग कहते हैं कि–अनादि काल से कर्मों का उदय चल रहा है, जब जो कुछ होना होगा, तब हो जायेगा। लेकिन ऐसा नहीं है। हाथ पर हाथ नहीं रखना है। हाँ, संसार के सब कार्यों को छोड़कर हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाओ तब तो ठीक है लेकिन मोक्षमार्ग में आगे बढ़ो ऐसा कहने पर जब बढ़ना होगा तब बढ़ जायेंगे, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। यह कर्म हमारे उपादान से ज्यादा बलवान नहीं है और पुरुषार्थ करने पर ये छूट सकते हैं। ऐसा भाव करना चाहिए, क्योंकि जो कर्म हमने किया है उसको हम दूर भी कर सकते हैं।

तं जाण जोगउदयं तं जीवाणं तु चिट्ठउच्छाओ अर्थात् चेष्टा करने रूप जो उत्साह है उसे योग जानो। समुद्र में जैसे उछाल आता रहता है। बिना हवा के भी उछाल आता है। नीचे अग्नि आदि के कारण भगोनी आदि में जो दूध है वह उबलता रहता है। ऊपर नीचे होता रहता है। उसी प्रकार योग के समय शुभ–अशुभ चेष्टायें होती रहती हैं। इसलिए आचार्यों ने उनसे बचने के लिए गुप्ति आदि का व्याख्यान किया है। जैसे–गिलहरी शान्त बैठ जाती है तो भी उसकी पूँछ हिलती रहती है। उसी प्रकार

योग के द्वारा बाहर से स्थिर आसन आदि से गुप्ति में जाने पर भी आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन होता रहता है। ये सभी हेतु मिल जाने पर जीव में ज्ञानावरणादि रूप वर्गणाएँ चिपक जाती हैं। फलतः भावों से नूतन बन्ध और नूतन बन्ध से भाव इस प्रकार यह कर्मबन्ध का चक्र चलता रहता है।

इस प्रकार पुण्यपापादि सप्त पदार्थों की पीठिका रूप इस महाधिकार में पाँच प्रत्ययों के द्वारा जो शुद्धात्मा के स्वरूप से च्युत होने वाले जीवों के अज्ञानभाव होता है वही बन्ध का कारण होता है। इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से पाँच गाथाओं द्वारा सातवाँ अन्तराधिकार समाप्त हुआ। इसके आगे आठवाँ अधिकार है उसमें जीव और पुद्गल ये दोनों परस्पर में उपादानकारण नहीं होते, इस प्रकार के कथन की मुख्यता से तीन गाथायें हैं।

उत्थानिका—आचार्यदेव प्रथम यह बताते हैं कि निश्चयनय से देखा जाये तो जीव का जो परिणाम है, वह कर्म पुद्गलों से पृथक् है–

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा दु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा ॥१४५॥
एक्कस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदय हेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ॥१४६॥
(युग्मम्)

अन्वयार्थ— **(दु)** यदि ऐसा माना जाये कि **(जीवस्स)** जीव के **(परिणामा दु)** परिणाम तो **(कम्मेण य सह)** कर्म के साथ **(रागादी होंति)** रागादिक रूप होते हैं, **(एवं)** इस प्रकार तो **(जीवो कम्मं च)** जीव और कर्म **(दोवि)** दोनों ही **(रागादिमावण्णा)** रागादि परिणाम को प्राप्त हो जायेंगे और ऐसा होने पर पुद्गल में भी चेतनपना प्राप्त हो जायेगा।

इस दोष से बचने के लिए यदि ऐसा माना जाये कि **(कम्मोदयहेदूहिं)** कर्म के उदय रूप निमित्त से होने वाले **(रागादीहिं)** रागादिक के **(विणा)** अभाव में **(एकस्स जीवस्स दु)** मात्र जीव के ही **(परिणामो)** रागादिक परिणाम **(जायदि)** उत्पन्न होता है **(ता)** तो **(जीवस्स)** सिद्ध जीव के भी **(परिणामो)** रागादिक परिणाम होने चाहिए जो असंभव हैं।

अर्थ—जीव के जो रागादि विकारभाव होते हैं वे वैसे ही यदि वास्तव में कर्म के भी होते हों तो जीव और कर्म ये दोनों ही रागादिमान् होने चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है। यदि अकेले जीव ही रागादि परिणाम मान लिए जावें तो कर्मोदय के बिना भी हो जाने चाहिए।

रागादि ये विकृत चेतन की दशायें,
मोहादि के उदय में दुख आपदायें।
पै जीव कर्म मिल के यदि राग होगा,
तो कर्म चेतन, अचेतन जीव होगा ॥१४५॥

मोहादि का उदय पाकर जीव रागी,
होता स्वयं नहि कभी कहते विरागी।
धूली बिना जल कलंकित क्या बनेगा,
क्या अग्नि योग बिन-नीर कभी जलेगा? ॥१४६॥

व्याख्या—जीव के जो रागादि भाव होते हैं उनका उपादान कारण जीव होता है, कर्म का उदय नहीं, किन्तु कर्मोदय तो निमित्त रूप से उसके साथ रहता है। यदि कर्मोदय को भी रागादि का उपादान कारण मान लिया जाये तब तो जीव और पुद्‌गल इन दोनों में ही रागादिक होते हुए प्रतीत होने चाहिए। जैसे कि चूना और हल्दी के मेल से पैदा हुई लालिमा दोनों की होती है। वैसे ही कर्म और जीव दोनों ही रागादि के उपादानकारण हों तो दोनों में रागभाव आना चाहिए। ऐसा होने पर फिर पुद्‌गल को भी चेतनपना प्राप्त हो जाता है, जो कि प्रत्यक्ष में विरुद्ध है।

आगम में जो औदयिक आदि पाँच भावों के उल्लेख मिलते हैं, उनमें एक को गौण करके चार भावों को देखते हैं तो ''उपशमं प्रयोजनं यस्य सः औपशमिकः, क्षयोपशमं प्रयोजनं यस्य सः क्षायोपशमिकः'' आदि। चारों की परिभाषा बनाते हुए आचार्यों ने कहा है कि कर्मों का तो उपशम होता है और औपशमिक भाव जीव में होता है। उसी प्रकार क्षय, क्षयोपशम और उदय कर्मों का होता है लेकिन तत् तत् सम्बन्धी भाव जीव में होते हैं। कर्म के क्षय होने से पुद्‌गल में क्षायिकभाव नहीं होता किन्तु जीव में होता है। आत्मा को अधिकरण बनाते हुए कर्म में जो तब्दीलियाँ या स्थितियाँ या दशायें हो रहीं हैं उसके कारण आत्मा के उपयोग में प्रदेशों में अपने ढंग से प्रभाव होता है, इसलिए उन्हें आत्मगत परिणाम कहते हैं।

यदि कोई ऐसा कहे कि रागादि परिणाम जैसे जीव में हैं, वैसे ही कर्म में भी हैं, तो उनको आचार्य कहते हैं कि—जीव और कर्म दोनों रागादि को प्राप्त नहीं होते हैं। यदि कोई कहे कि केवल जीव में ही रागादि परिणाम होते हैं तो कर्मोदय के बिना भी जीव में परिणाम होना चाहिए। अतः जीव में परिणाम होते हुए भी कर्म की विवक्षा हेतु के रूप में है। हेतु या कारण दो प्रकार के हुआ करते हैं—१. उपादानकारण और २. निमित्तकारण। उनमें उपादानकारण मुख्य माना जाता है। जो कार्य रूप में ढलता है वह उपादान है। तथा जो कार्य रूप में ढलने में सहयोग देता है वह निमित्त कारण है। जब योग हो तो सहयोग दे, करण हो तो उपकरण हो। कार्य करने वाला पहले हो, बाद में उसके लिए सहयोग दिया जाता है। यहाँ प्रसंग में कर्म का उदय निमित्त रूप में है, न कि उपादान रूप में। यदि उपादानरूप में होता तो कर्म को भी रागी-द्वेषी कहा जाता। लेकिन ऐसा कहीं भी नहीं कहा है। निष्कर्ष यही है कि जीव में रागादि परिणाम होते हैं। लेकिन कर्मोदय के बिना सम्भव नहीं हैं। एतावता इससे यह भाव फलित होता जा रहा है कि दो के मिलने से एक कार्य होता है। लेकिन इस कार्य में जीव और पुद्‌गल दोनों उपादान रूप नहीं हैं, किन्तु जीव उपादान रूप है तथा कर्म निमित्त रूप है। चैतन्यमय परिणति

के लिए जीव उपादान है और कर्म निमित्त है। रूप, रस, गन्धादि परिणाम में पुद्गल उपादान है और जीव निमित्त है। एकान्त से जीव या पुद्गल को उपादान मान लेते हैं, तो क्या-क्या दोष आते हैं वह यहाँ बताया जा रहा है। यदि दोनों उपादान रूप हैं तो दोनों में रागादि भाव होना चाहिए। इसे एक सरल दृष्टान्त से समझा जा सकता है।

दृष्टान्त—जैसे-चूना और हल्दी के मिलने से लालरंग बन जाता है। लाल रंग बनने में चूना भी उपादान है और हल्दी भी उपादान है, क्योंकि दोनों के कारण से एक उपादान रूप लालरंग बनता है। इसमें एक के कारण दूसरा लाल नहीं हुआ है, किन्तु दोनों ही लाल रंग में परिवर्तित होते हैं। इसी प्रकार यदि रागादि रूप परिणाम की उत्पत्ति में जीव और कर्म दोनों ही उपादानकारण माने जायेंगे तो दोनों को राग रूप होना चाहिए और यदि पुद्गल रागी हो गया तो वह भी चेतनता को प्राप्त हो जायेगा। इस दोष से बचने के लिए यदि डर से यह कहो कि जीव ही रागादि रूप, बिना निमित्त के उपादान रूप से परिणमन करता है तो कर्मोदय से रहित जो शुद्धजीव सिद्ध भगवान् हैं, उनमें भी रागादि रूप परिणाम मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष व आगम से विरोध आयेगा। क्योंकि फिर कर्मोदय से रहित जो सिद्धावस्था में सिद्ध हैं उनको भी कर्मबन्ध होना चाहिए और किसी को कम और किसी को ज्यादा बन्ध भी होना चाहिए, या सबको समान बन्ध होना चाहिए ?

द्रव्यकर्म बन्ध की दृष्टि से देखें तो द्रव्यकर्मों का कर्त्ता तो यह जीव अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से होता है और रागादि भावकर्मों का कर्त्ता अशुद्धनिश्चयनय से होता है। अशुद्धनिश्चयनय जीव को द्रव्यकर्मों को कर्त्ता बताने वाले अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की दृष्टि से यद्यपि निश्चय नाम पाता है, फिर भी शुद्धात्मद्रव्य को विषय करने वाले शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से वह वास्तव में व्यवहारनय ही माना गया है, क्योंकि **परसापेक्षो व्यवहारः, स्वसापेक्षो निश्चयः** अथवा **परायत्तं परोक्षं स्वायत्तं प्रत्यक्षं** अर्थात् इन्द्रिय, मन तथा आलोक आदि की अपेक्षा रखने वाला ज्ञान परोक्ष माना जाता है और इनकी अपेक्षा से रहित स्वयं आत्माधीन ज्ञान प्रत्यक्ष माना जाता है। केवली भगवान् आपको कुछ कहते हुए जानते तो हैं लेकिन आप जो कह रहे हैं उसको कानों से सुनकर नहीं जानते। विशद रूप प्रत्यक्ष ज्ञान में किसी का सपोर्ट लेने की आवश्यकता नहीं होती है। जिस ज्ञान को कान से सुनकर जानने में आता है या चक्षु से देखने से जानने में आता है, वह व्यवधान के साथ जानने वाला ज्ञान परोक्ष ज्ञान होता है, किन्तु जिस विशद प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय आदि का व्यवधान नहीं होता वह व्यवधान रहित ज्ञान होता है। इसीलिए **विशदं प्रत्यक्षं** कहा है। **अक्षं अक्षं प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षं** अर्थात् अपनी आत्मा से ही, बिना किसी सहारे के जानता है वह प्रत्यक्ष है।

दृष्टान्त—जैसे आप चलते हैं तो कोई-कोई लकड़ी आदि का सहारा लेकर चलते हैं, कोई बिना सहारे के चलते हैं। चौपाया दोनों हाथों को टेककर चलते हैं। गिरनार जी पर्वत पर हमने देखा है कि चौथी टोंक पर बिना आधार लिए अनबेलेंस्ड हो जाते हैं। वहाँ पर किसी किसी को नहीं, किन्तु प्रायः

सभी को कोई न कोई सहारे की आवश्यकता होती ही है। अन्यथा बेलेन्स बिगड़ने का डर रहता ही है। इसलिए लोग वहाँ लगभग सहारा लेकर ही चलते हैं। इसी तरह ज्ञान की स्थिति है, सहारा वाला ज्ञान परोक्ष और सहारा रहित ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। बारहवें गुणस्थान तक ज्ञान में परोक्षपना रहता है अर्थात् वहाँ तक इन्द्रिय, मन तथा विषयों का सहारा चलता है।

शास्त्र सो ज्ञान नहीं और ज्ञान सो शास्त्र नहीं—

सत्थं णाणं ण हवदि अर्थात् शास्त्र ज्ञान नहीं है, क्योंकि शास्त्र कुछ नहीं जानता है। अतः शास्त्र भिन्न है और ज्ञान भिन्न है। इसी प्रकार रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदि सभी ज्ञान रूप नहीं हैं, अतः ज्ञान भिन्न है और स्पर्श आदि भिन्न हैं। ऐसा कथन अनेक गाथाओं द्वारा इसी **समयसार** ग्रन्थ के सर्वविशुद्ध अधिकार में किया गया है। हम लिख रहे हैं तो मन लगाने के लिए लिख रहे हैं। हम यह लिख रहे हैं कि शास्त्र जानता नहीं, अतः शास्त्र सो ज्ञान नहीं। यदि तुम शास्त्र पढ़कर उल्टा अर्थ निकालो तो शास्त्र यह नहीं कहेगा कि इसका ऐसा अर्थ नहीं है। **आगम मित्रवत् और आदेश शत्रुवत् होता है।** ऐसा **कातन्त्ररूपमाला** में कहा गया है। इसलिए निश्चयनय से जीव से पृथग्भूत ही पुद्‌गल कर्म का परिणमन है, ऐसा कथन किया गया है। जब कभी भी आपको किसी पौद्‌गलिक वस्तु के निमित्त से संवेदन होता है तो आगम बार-बार कहता है कि आपको जिसका संवेदन हो रहा है वह पुद्‌गल का परिणाम है। कैसे? तो जो आप उसे ज्ञेय बना रहे हैं, उष्णता का भान-ज्ञान तो है लेकिन आपने जो उष्णता का अनुभव किया। उसमें उष्णता का अनुभव करने वाला या जानने वाला ज्ञान है और उष्ण पदार्थ ज्ञेय है। ज्ञान से ज्ञेय भिन्न है। केवल ज्ञान का संवेदन कर रहे हैं, ऐसा नहीं। किन्तु उष्णता का संवेदन आपने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष से किया। एक प्रकार से उष्णता का जानने वाला ज्ञान आत्मा का परिणाम है। आप सोच लो कि किस प्रकार उष्णता के साथ सम्बन्ध हो चुका है। आत्मतत्त्व का सम्बन्ध हो चुका है। इसे अन्य किसी पदार्थ द्वारा साफ नहीं किया जाता है, ऐसा बन्ध हो चुका है। उष्णता चूँकि परद्रव्य का स्वभाव है। उसका ज्ञान अशुद्धनिश्चय का विषय नहीं है किन्तु वह अच्छा है या बुरा है यह अशुद्धनिश्चयनय का विषय है। यह उष्णता न अच्छी है न बुरी है। उसको विषय बनाना अनुपचरित असद्‌भूत व्यवहारनय का विषय है। इसलिए उष्णता से पृथक्‌भूत मात्र ज्ञान को समझने का प्रयास करिये। ज्यों ही उष्णता का अनुभव किया उसी समय यदि उसमें रागादि करता है वह अशुद्ध निश्चयनय का विषय होता है लेकिन मात्र उष्णता का ज्ञान अशुद्ध निश्चयनय से नहीं माना जाता है, क्योंकि अशुद्धनिश्चय नय जहाँ कहीं भी विषय बनायेगा तो उसके साथ राग, द्वेष, मोह आदि विकारी भाव आ जाता है। जहाँ भी उष्णता का ज्ञान बिना रागद्वेष के हो रहा है वहाँ पर केवल कर्मफल का अनुभव कर रहा है। इसी कर्मफल चेतना के साथ जब रागद्वेषादि भाव जुड़ जाते हैं तो रागद्वेष मोहनीयकर्म के उदय से प्रभावित होकर होते हैं और वह कर्म का फल कर्मोदय में मिलता है। इसलिए कर्म का उदय और उसमें रागद्वेष करना ये दो भिन्न-भिन्न बातें हैं।

कर्मोदय में ज्ञान का ज्ञेय के साथ सम्बन्ध होने पर शीत, उष्ण आदि का अनुभव मात्र किया यह तो हो गया ज्ञान, क्योंकि कर्मफल को जान रहा है वह ज्ञान के द्वारा ही जान रहा है। दूसरे के कर्म आपके पास नहीं आते। आपके पास स्वयं स्पर्शादि कर्म का उदय होगा तो ज्ञान होगा, यह सिद्धान्त है। यह भी निश्चित है कि नोकर्म के बिना कर्म फलता नहीं है।

समझने के लिए कर्म करण्ट है और वायर, माइक आदि नोकर्म हैं। इसके गठबन्धन को आप समझो। वायर और माईक के बिना आवाज का प्रसार नहीं हो पायेगा। लेकिन वायर भी है और माइक भी है किन्तु करण्ट नहीं है तो भी आवाज का प्रसार नहीं होगा। तो स्पर्शादि को अपनी इन्द्रिय के द्वारा विषय बनाकर अपने-अपने इन्द्रियज्ञान के माध्यम से जानना यह अनुपचरित असद्‌भूतव्यवहार नय का विषय होता है। किन्तु उन विषयों में हर्ष-विषाद होना अशुद्धनिश्चयनय का विषय बनता है। क्योंकि मोह जुड़ गया। इसलिए आचार्य कहते हैं कि जैसे-सिद्ध परमेष्ठी को विषय बनाते हैं वैसे ही अपने को विषय बनाओ। स्वाध्याय नहीं करो तो ठीक है, लेकिन स्वाध्याय करके रागद्वेष करना ठीक नहीं है। स्वाध्याय का अर्थ भी तो देखो ! स्वाध्याय शब्द क्या कहता है ? **स्वस्य अध्यायः इति स्वाध्यायः** स्व का अध्ययन करना स्वाध्याय है। स्व का अध्ययन क्या है ? स्व का कार्य क्या है? जानना, देखना। जानने देखने के अलावा कुछ किया हो तो बताओ। लेकिन जानने-देखने के साथ हर्ष-विषाद कर लेते हैं यह गलत है।

जगत् का स्वरूप-

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् यह बहुत बड़ी खुली किताब है। यह ऐसी किताब है कि जो कभी जलती नहीं, गलती नहीं, फटती नहीं, गुमती नहीं, उसकी चोरी नहीं होती। जिसको गैया खाती नहीं। गाय नहीं खाती तो प्रायश्चित्त भी नहीं लेना पड़ता। इसे रखने को बस्ता नहीं बाँधना पड़ता। यह किताब लेना है तो ले लो। जगत् का स्वभाव और काय का स्वभाव, रूप, रसादि से, मन से, वचन से, काय से भी देखा जा सकता है। मात्र आँखों से ही थोड़ा देखा जाता है। यह परिणमन है। यह न किसी फेक्ट्री में बना। इसका न कोई स्वामी है। यह जितना भी विचार है, वह जगत का स्वरूप है।

ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध में ज्यादा माथा दर्द नहीं होता। ऐसा विचार करने वाले महाराज कहते भी नहीं हैं कि हम स्वाध्यायशील हैं। जो कुछ भी फल मिल रहा है वह सब कर्म के उदय में मिल रहा है। इसमें अटको नहीं, रागद्वेष करो नहीं। लेकिन बार-बार कहने के बाद भी फिर-फिर अटक जाते हैं, रागद्वेष भी करते जाते हैं। जबकि आचार्य कहते हैं कि-रागद्वेष नहीं करना है। इतना ही आ जाये कि मेरा ज्ञान का जितना क्षयोपशम है उतना ही समझ में आयेगा। तो भी बहुत है। कई लोग कहते हैं-महाराज ! हमें कुछ नहीं आता। तो मैं कहता हूँ, कि इतना तो आता है कि मुझे कुछ नहीं आता। कुछ लोग कहते हैं-महाराज, स्मरणशक्ति नहीं रही, तो भी मैं कह देता हूँ कि इतना तो स्मरण है कि मेरी

स्मरण शक्ति नहीं रही। मैं तो यही कहता हूँ कि जब तक का जीवन है तब तक अरहन्त-सिद्ध करते जाओ। स्वभाव है, कर्म का आवरण है, उघड़ भी सकता है और आवरण भी आ सकता है। यह तो बादल के समान है। सूर्य तो ज्यों का त्यों है, लेकिन बादल के कारण ढँक जाता है और बादल हटने पर उघड़ जाता है, ऐसे उदयगत कर्मविपाक को जानता है और उदयगत कर्मविपाक को छोड़ देता है।

उत्थानिका—आगे बताते हैं कि पुद्‌गल कर्म का जो परिणाम है वह वास्तव में जीव से पृथक् ही है—

एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥१४७॥

अन्वयार्थ— (एकस्स) एक (अकेले) **(पुग्गलदव्वस्स दु)** पुद्‌गलद्रव्य का **(कम्मभावेण)** कर्मभाव (ज्ञानावरणादिरूप) से **(परिणामो)** परिणमन हो तो **(ता)** वह **(कम्मस्स परिणामो)** कर्म का परिणमन **(जीवभावहेदूहिं)** जीव के रागादिभावरूप निमित्त के **(विणा)** बिना (कैसे संभव है ?)

अर्थ—पुद्‌गल द्रव्य का ही परिणाम कर्म रूप में हो तो जीव के रागादि भावों के बिना ही हो जाना चाहिए, सो भी नहीं होता है।

रागादि भाव करता जड़ जीव ज्यों ही,
हैं कर्म रूप ढलते जड़ द्रव्य त्यों ही।
रागादि से पृथक् पुद्‌गल है इसी से,
ऐसा समाधिरत साधु लखे रुची से ॥१४७॥

व्याख्या—उपादानभूत कर्मवर्गणायोग्य अकेले पुद्‌गल द्रव्य का ही परिणमन कर्म रूप में होता हो तो फिर जीव में होने वाले मिथ्यात्व और रागादि रूप परिणामों के उपादान-हेतुभूत जीव के जो विकारीभाव हैं, उनके बिना भी पुद्‌गलों का द्रव्यकर्म रूप परिणमन हो जाना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः निमित्त रूप से जीव के विकारीभावों को मानना ही पड़ता है। फिर भी कर्मरूप परिणमन तो कार्मण द्रव्य रूप पुद्‌गलों का ही होता है जो कि वास्तव में जीव के रागादि भावों से भिन्न होता है। तात्पर्य यह है कि यदि कोई कहे कि कर्मभाव रूप परिणमन मात्र पुद्‌गल द्रव्य का ही है तो आचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो जीव के भाव की कोई आवश्यकता ही नहीं होगी। लेकिन जीव के रागद्वेषादि परिणाम या हर्ष-विषादादि रूप परिणाम होने पर ही नूतनबन्ध रूप परिणाम होगा। इसके बिना नूतनबन्ध संभव नहीं है।

दृष्टान्त—जैसे-किसी भी ऑफिस का सारा कार्य मालिक के आर्डर पर चलता है। लेकिन जिस किसी दिन मालिक का आर्डर आ जाये कि आज ऑफिस नहीं खुलेगा तो कर्मचारी भी खोल नहीं सकता।

अकाट्य सिद्धान्त–

इसी प्रकार यदि जीव के परिणाम नहीं होंगे तो असंख्यातलोक प्रमाण कर्मों में से एक भी कर्म नहीं बंधेगा। जब तक नोट पर सील नहीं लगायेंगे तब तक वह काम का नहीं होता। नासिक-देवास आदि में इस महिने इतने नोट निकलना है यह जब तक आर्डर नहीं आयेगा तक तक नये नोट नहीं बन सकते हैं। हाँ, कूटलेख क्रिया द्वारा कोई कर ले, यह बात अलग है। वह भी उसके मालिक के आर्डर बिना नहीं होता है। उसी प्रकार जब तक आत्मा के परिणाम रूपी सील नहीं लगेगी तब तक कर्मवर्गणायें कर्मरूप परिणमन नहीं करेंगी। आत्मा के परिणाम जब तक योग-कषाय रूप नहीं होंगे तब तक कर्मवर्गणायें कर्म रूप परिणमन नहीं करतीं। कर्मवर्गणाएँ जो आत्मा के प्रदेशों पर ही स्थित हैं, वे ही कर्मरूप परिणत होती हैं। यह अकाट्य नियम है, सिद्धान्त है।

यह कर्म बन्ध की दुकान आज तक बन्द नहीं हुई है। संसारी प्राणी की यह गलती है कि दूसरों पर थोप देता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से तो कर्मफल भोग रहा है। लेकिन कर्म कभी नहीं चाहता कि तुम रागद्वेष करो। वर्तमान में ज्ञान, कर्म और कर्मफल चेतना द्वारा जान रहा है। तब तक कोई बात नहीं, आत्मा का ज्ञान इसमें नहीं हो रहा है। लेकिन कर्म एवं कर्मफल का तो ज्ञान हो रहा है कि यह कर्म के उदय में ऐसा हो रहा है। यह मेरा नहीं है, इतना संवेदन कर लेना। इसमें पेपर बिगड़ता नहीं है लेकिन जैसे ही, ''यह अच्छा नहीं है'' यह कहा तो पेपर बिगड़ गया, ऐसा समझो।

दृष्टान्त–जैसे किसी के चेहरे में अधिक शाईनिंग (चमक) आती रहती है। चेहरे पर चमक आना उसकी भीतर की प्रसन्नता का सूचक है। भीतर प्रसन्नता होने से बाहर चेहरे पर संकेत आ जाता है, चेहरे पर चमक आ जाती है, मान्यता प्राप्त हो जाती है। फोटो देख लो, तो कभी-कभी किसी के चेहरे पर झुर्रियाँ दिखाई देती हैं। इसी प्रकार जब आत्मा में योग और कषाय होती हैं तो कर्मवर्गणायें कर्म के रूप में परिणत होती हैं। यह मन की कषाय या अप्रसन्नता का परिणाम है। किन्तु जब परिणाम निर्मल या विशुद्ध होते हैं तो चेहरे की चमक की भाँति कार्य होता है।

साधक का लक्ष्य–

कैसा-कैसा आर्डर चलता रहता है। सब दुकानें चलती रहती हैं। सब यात्राएँ चलती रहती हैं। लेकिन योगी की साधना है कि-''हर्ष-विषाद नहीं करेंगे'' यह दृढ़ता है, साधना है तो कर्मबन्ध नहीं होगा। कर्मोदय में जो होता है वह औदयिकभाव है। इनके ऊपर टूटने से साधना भंग हो जायेगी, इस बात को वे अच्छी तरह समझ लेते हैं। आप लोग इतना कर लो-पर्याप्त है। लोग कायर कहेंगे तो कहने दो। वे पागल कहकर हमें चिढ़ाना चाहते हैं पर कितना भी कुछ हो जाये, रागद्वेष नहीं करना। यह साधक का लक्ष्य होना चाहिए। इसलिए **उदयं कम्मविवागं** यह मेरे कर्म का उदय है, यह मेरा स्वभाव नहीं है, ऐसा चिन्तन करते हुए दृढ़ता रखते हैं। मूल में कर्म आठ हैं उत्तर भेद १४८ हैं। इनमें कुछ ही उदय में आने वाली हैं, सारी की सारी प्रकृतियाँ एक साथ उदय में नहीं आती। जो कुछ है सब औदयिक

भाव है। यह आत्मा का स्वभाव नहीं है, ऐसा विचार कर आत्मा में स्वतन्त्र रमण करो। बस, देखो, कि कर्म उदय में आ रहा है, जा रहा है। १४८ कर्मों में से कुछ प्रकृतियाँ ही उदय में आती हैं। जैसे– पंचेन्द्रिय जीव है तो एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय जाति तक का उदय नहीं रहता। इत्यादि। अतः कर्म उदय को मात्र देखो, जानो, बिगड़ो मत। बिगड़ोगे तो सब बिगड़ जायेगा।

दृष्टान्त—जैसे मार्ग में चलते–चलते जब ढलान में गाड़ी आती है तो गाड़ी चलानी नहीं पड़ती। मात्र स्टेरिंग पर हाथ रख दो क्लिच पर पैर रख दो, पेट्रोल की सप्लाई बन्द कर दो, तो भी ठीक है, गाड़ी उतरती चली जाती है। इतना जरूर ध्यान रखें कि अन्यथा गाड़ी गुलाटी खा जाती है। जो होशियार होते हैं वे दोनों हाथ भी छोड़ देते हैं। ब्रेक लगाने की भी उन्हें आवश्यकता नहीं होती। लेकिन जिनकी गाड़ी अनबेलेन्स्ड या अनकन्ट्रोल हो जाती है उन्हें ब्रेक लगाना आवश्यक हो जाता है। अन्यथा गाड़ी गुलाटें खा जाती है। तात्पर्य यह है कि योगी कर्म के किसी भी प्रकार के अनुभाग उदय में, राग–द्वेष, हर्ष–विषाद आदि नहीं करते हैं। अतः उनकी उपयोगरूपी गाड़ी गुलाटें नहीं खाती, उनका हमेशा सही बेलेन्स बना रहता है।

इस प्रकार पुण्य–पापादि सप्त पदार्थों की पीठिका रूप इस महाधिकार में जीव और पुद्‍गल का परस्पर में उपादान–उपादेय भाव नहीं है। इस प्रकार का कथन करने वाली तीन गाथाओं के द्वारा आठवाँ अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

अब इसके आगे नवम अधिकार में आचार्यदेव चार गाथाओं से शुद्ध समयसार का कथन करते हैं कि यह जीव शुद्धपारिणामिक रूप परमभाव ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक नय से पुण्य–पापादि पदार्थों से भिन्न ही है, जो कि व्यवहारनय से कर्मों से बंधा हुआ है, किन्तु निश्चयनय से बंधा हुआ नहीं है। इत्यादि विकल्प रूप नय पक्षपात से भी रहित है।

उत्थानिका—आगे जब शिष्य ने प्रश्न किया कि आत्मा कर्मों से बद्ध है या नहीं है, और बद्ध है तो कौन से नय से है तथा अबद्ध है तो कौन से नय से है, उसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं–

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणय भणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं ॥१४८॥

अन्वयार्थ– (जीवे) जीव में **(कम्मं)** कर्म **(बद्धं)** बँधा है **(च पुट्ठं)** और स्पर्शित है **(इदि)** ऐसा **(ववहारणय भणिदं)** व्यवहारनय का कथन है **(दु जीवे)** और जीव में **(कम्मं)** कर्म **(अबद्धपुट्ठं)** अबद्ध और अस्पृष्ट **(हवदि)** होता है ऐसा **(सुद्धणयस्स)** शुद्धनय का कथन है।

अर्थ—कर्म जीव से सम्बद्ध हैं, आत्मप्रदेशों में मिले हुए हैं, यह व्यवहारनय का पक्ष है और कर्म जीव में अबद्धस्पृष्ट हैं अर्थात् बँधे हुए नहीं हैं, ऐसा शुद्धनय का कथन है।

गाता विशुद्ध नय जीव सदा जुदा है,
दुष्टाष्ट कर्म दल से न कभी बँधा है।

संसारि जीव विधि से बँधता, बँधा था,
यों भाव भीनि स्वर में व्यवहार गाता ॥१४८॥

व्याख्या—जीव में कर्म बँधा है, छुआ है, ऐसा जो कथन करता है वह व्यवहार नय है, शुद्धनय से तो आत्मा बँधा हुआ भी नहीं है, छुआ हुआ भी नहीं है। इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों नयों से उत्पन्न होने वाला विकल्प वास्तव में शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है।

दृष्टान्त—जैसे कोई खेल खेलने वाले ''आँख मिचौनी'' का खेल खेलते हैं, तो उस समय आँख होते हुए भी आँख पर पट्टी बाँध लेते हैं। यानि आँख तो है परन्तु पट्टी बाँधकर यूँ-यूँ हाथ करके टटोलता है, छूने की कोशिश करता है। यदि आँखें नहीं होतीं तो वह खेल ही नहीं खेल सकता। क्योंकि वस्तुतः तो यह बात है कि यदि किसी की आँखें नहीं हों तो वह खेलेगा ही नहीं। उसी प्रकार आचार्य कहते हैं कि-व्यवहारनय से हम कहते हैं कि हम संसारी जीव कर्म से बंधे हैं, किन्तु निश्चयनय से हमारे में कर्म नहीं बँधे हैं। इसी निश्चयनय के आधार पर वीतरागी मुनि अपने को अन्धे, अपने आपको रागी या आँख वाले से रहित ही अनुभव करते हैं। बार-बार पूछने पर भी वे अन्दर ही रहते हैं। आँख मिचौनी के उस खेल के बीच में यदि कोई खेल के नियमों का उल्लंघन कर दे, या उतने समय में कोई लड़ाई हो जाये तो खेल का जो समय होता है वह समाप्त हो जाता है और कह दिया जाता है कि खेल यहीं तक है। उसी प्रकार वे योगी भी भीतर ही रहते हैं। जब भीतर से बाहर आ जाते हैं तो रास्ता पूछने की आवश्यकता होती है और कोई पूछता है तो बताने की भी आवश्यकता होती है। ये सारे के सारे व्यवहार, व्यवहार पर डिपेण्ड होते हैं। अपने घर में रहते हैं तो न दुकान का, न ग्राहक का, न बताने का, न पूछने का, कोई विकल्प ही नहीं होता। इसी प्रकार निश्चयनय में कोई विकल्प नहीं होता। क्योंकि वह निर्विकल्पसमाधि के विषय को स्वीकार करता है।

भीतर गये तो समयसार, बाहर आये तो मूलाचार।

भीतर में यदि मूलाचार आये तो भी चेतन मूलाचार अर्थात् आत्मा के भावों को तौलता है, लेकिन प्रवृत्ति की बात नहीं आती। गुप्ति को ही अपने माइण्ड में लाता है। जैसे कि प्लेन जब उड़ जाता है तो उसकी नीचे की जो तीन पट्टियाँ रहती हैं वे अपने आप ही फोल्ड हो जाती हैं, क्योंकि अब उनकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। प्लेन वालों के लिए यहाँ जैसी सड़क वाला रास्ता नहीं है, वह तो दिशा के माध्यम से चलता है। उसी प्रकार जो साधु निर्विकल्पसमाधि रूप गुप्ति में लीन रहते हैं उन्हें पंचसमिति रूप प्रवृत्ति की आवश्यकता नहीं होती।

सुनो महाराज! मानलो, किसी ने गाली दी। आपने सुन ली। उस समय कैसे विचार आना चाहिए ? मन में शब्द बँधता नहीं है। शब्द तो कर्ण को छूकर निकल गया। अब यदि मन में रह गया तो विकल्प होता है। मन ऐसा ही है वे साधु अपने मन को, अपनी गाड़ी को कभी बेलाइन नहीं ले जाते हैं। समिति में आते हैं तो उन्हीं पंखों को खोल देते हैं, नीचे आ जाते हैं और चलना प्रारम्भ कर

देते हैं। हाँ, चलती गाड़ी में से उतरने में भी बेलेन्स चाहिए। इसको आचार्यों ने व्याघात कहा। जैसे– कोई अध्यात्मग्रन्थ पढ़ रहे हैं और न्याय का प्रश्न कर दे तो व्याघात हो जाता है। **जो व्यक्ति अतीत, अनागत की बातों को, इधर-उधर की बातों को मन में रखता है, तो वह समयसार को हॉसिल नहीं कर सकता है।** व्यवहारनय का पालन भी कोमलता से होता है।

दृष्टान्त—जैसे, जब किसी की शादी होती है तो दोनों पार्टी वाले एक-दूसरों को हँसी-मजाक में गा-गाकर गाली देते हैं। लेकिन बुरा नहीं लगता है। यदि सम्बन्ध नहीं हुआ और गाली दें तो सहन नहीं कर सकता। इसी प्रकार ज्ञानी भी व्यवहार में आते हैं, तो समझते हैं कि यह तो सुनना पड़ता है। कोई पागल कह दे, गदहा कह दे तो भी सुन लेते हैं। सुनना सबकी, करना मन की। इतने दिन से स्वाध्याय करते आ रहे हैं। आत्मा तो शुद्ध-बुद्ध है और किसी ने गदहा कह दिया तो उस पर विश्वास कर लिए तथा जिनवाणी में जो कहा है वह ठप्प कर दिया। हमारा पूरा-पूरा चातुर्मास हो गया समझाते-समझाते, फिर भी कहते हैं महाराज, जुल्म हो गया। उन्होंने ऐसा-ऐसा कहा है। तो आपने मान लिया क्या ? दुनिया तो कुछ भी कह दे पर मानना नहीं। आप कह तो देते हैं कि मान तो नहीं रहा हूँ, तो फिर गुस्सा क्यों करते हो ? होता है...जो आरम्भ-परिग्रह का त्याग करके दुनिया की सारी बातों को छोड़ देता है। जो आत्मा में लीन रहता है उसके लिए यह सरल है।

अभी कहा था कि किसी ने गाली दी, आपने सुन ली, गाली रूप शब्द कर्णेन्द्रिय को छूकर निकल गये, मन में रह गया तो मन तो ऐसा ही है। जो रखने लायक नहीं है उसको भी रख लेता है। लेकिन जो रखना चाहिए वह नहीं रखता है, क्या कर सकते हैं ? क्रोधादि कषायों के कारण ही मन विकल्प में रहता है और जब-जब याद करता है तो पुनः क्रोधादि हो जाते हैं। बाहर रहने वाला यात्री हमेशा-हमेशा बासा ही खाकर रह जाता है। लेकिन घर में तो ताजा-ताजा चाहिए। इसलिए **समयसार** पढ़ने वालों को मन में कुछ बासी बात नहीं रखना चाहिए। कुछ छूना नहीं, बाँधना नहीं चाहिए। जानने में खतरा नहीं है। यह क्या है ? कैसा है ? ऐसा क्यों है ? आदि किसी बात को सुनकर सोचता है तो व्याघात हो जाता है। टेंशन का कारण है। मन को घुमा-घुमाकर सोचना पड़ता है। अतीत या अनागत उस समय दिखता है और इन दोनों के कारण जीवन पर गलत प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो जाता है।

हमारा ज्ञान कभी त्रैकालिक को तो जान नहीं सकता। वर्तमान को जान सकता है, क्योंकि अतीत, अनागत का सोचता है तो वर्तमान छूट जाता है, वर्तमान का आनन्द छूट जाता है। वर्तमान में ही अतीत को विषय बनाया जाता है। हम अतीत में तो जा नहीं सकते, उसे वर्तमान में बुला नहीं सकते हैं। मात्र केवलज्ञान के माध्यम से उससे संपर्क स्थापित करते हैं, तो दो लाइन एक साथ नहीं मिलती हैं।

अन्त में यह स्पष्ट हुआ कि व्यवहारनय की अपेक्षा आठ कर्मों से जीव बँधा हुआ है किन्तु निश्चयनय से बँधा हुआ नहीं है। परम पारिणामिक शुद्धभाव को ग्रहण करने वाला जो द्रव्यार्थिकनय

से शुद्ध निश्चयनय से देखने पर बद्ध-अबद्ध विकल्प से दूर है उसमें ये विकल्प होते ही नहीं हैं। आत्मा का वास्तविक स्वरूप तो इन दोनों बद्धाबद्ध से भिन्न प्रकार का केवल चेतनत्व को लिए अमूर्त स्वरूप है।

उत्थानिका—जबकि बद्धादि विकल्प रूप व्यवहारनय का पक्ष है और अबद्धादि विकल्प रूप निश्चयनय का पक्ष है, किन्तु पारिणामिक परमभाव का ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के द्वारा देखने पर जीव बद्धाबद्धादि रूप विकल्प से सर्वथा दूर है, ऐसा कथन करते हैं—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
णयपक्खातिक्कं तो भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४९॥

अन्वयार्थ—**(जीवे)** जीव में **(कम्मं)** कर्म **(बद्धमबद्धं)** बद्ध अथवा अबद्ध है **(एवं तु)** इस प्रकार तो **(णयपक्खं)** नय पक्ष **(जाण)** जानो [किन्तु] **(जो)** जो **(णयपक्खातिक्कंतो)** नय पक्षातिक्रांत है **(जो)** जो **(भण्णदि)** कहा जाता है **(सो)** वह **(समयसारो)** समयसार है।

अर्थ—जीव में कर्म बद्ध हैं, लगे हुए हैं, यह भी और जीव में कर्म चिपके हुए नहीं हैं, ऐसा भी एक नय का पक्ष है, किन्तु समयसार रूप जो आत्मा है वह इन दोनों पक्षों से दूरवर्ती है।

है पक्षपात यह तो नय नीति सारी,
है निर्विकार यह आतम या विकारी।
वे वस्तुतः समयसार बने लसे हैं,
जो साधु ऊपर उठे नयपक्ष से हैं ॥१४९॥

व्याख्या—जीव से कर्म बंधा हुआ है या नहीं बंधा है, यह जो कुछ प्ररूपण, विवक्षा या वर्णन है वह केवल नयपक्षपात की भूमिका में है। जो इनसे ऊपर उठ जाता है अर्थात् इस परिधि से ऊपर उठ जाता है तो वह समयसार का अनुभव करता है।

समयसार अमृतपान की पात्रता—

विहीनसंकल्पविकल्पजालं त एव साक्षात् अमृतं पिबन्ति। जो नय पक्षपात से रहित हो जाते हैं, संकल्प-विकल्प से मुक्त हो गये हैं, वे ही समयसार का आनन्द लेते हैं, वे ही समयसार का अनुभव कर सकते हैं। **स्वरूपमुक्त निवसन्ति नित्यं** अर्थात् जो अपने आपमें स्वस्थ रहते हैं, अपने स्वरूप में नित्य ही निवास करते हैं वे ही समयसार के अमृत को पीने वाले होते हैं, जो नयपक्षपात से ऊपर उठ जाते हैं वे ही समयसारमय कहलाते हैं। देखो, संसार में क्या है ? यह संसार कैसा है ? संसार में विकल्प-जाल के अलावा कुछ है ही नहीं। प्रत्येक संसारी प्राणी संकल्प-विकल्प जाल में फँसा हुआ है। संसार इसी का नाम है। एक लहर उठती है दूसरी विलीन होती है, उसके पीछे फिर चार उठतीं हैं। प्रतीक्षा करता रहता है, वह सोचता है कि एक समय ऐसा आयेगा कि ये सरोवर तरंगों से बिल्कुल विहीन हो जायेगा। लेकिन अनन्तकाल से आज तक एक भी समय ऐसा नहीं आया कि

व्यक्ति संकल्प-विकल्पों की तरंगों से मुक्त हुआ हो। संकल्प-विकल्प रूप कल्पवृक्ष का इसे वरदान प्राप्त है। जो रात-दिन फलता-फूलता रहता है। चाहे सर्दी हो, गर्मी हो या वर्षा। किसी को पुण्य सम्बन्धी विकल्प होता है तो किसी को पाप सम्बन्धी विकल्प रहता है। फलतः इन पाप-पुण्य के कारण संसार में इस प्रकार के कार्य होते रहते हैं। **बारहभावना** में आप लोग पढ़ते ही हैं कि-

दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णावश धनवान।
कबहूँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान॥

संसार भावना है यह। संसार क्या है ? केवल संकल्प-विकल्प का नाम है संसार। संसार में क्या है ? जहाँ दृष्टि डालो वहीं दुःख है। अनन्तकाल से संसार का प्रवाह चल रहा है। जो तीर्थंकर आदि थे वे भी भव्य होते हुए पूर्व में हम लोगों के साथ इसी संसार के चक्कर में थे। वृषभनाथ भगवान् भी किसी समय हमारे जैसे ही संसार की उलझन में थे, विचार करो तो बड़ा वैचित्र्य लगता है। किस ढंग की ये उलझनें हैं। जो कर्म हैं और भाव हैं, इनकी आदि नहीं, परन्तु अन्त तो सम्भव है। मान लो, कोई निगोद में रहा, सीधा वहाँ से निकलकर मनुष्य बना, रत्नत्रय धारण किया, उत्थान किया और कल्याण कर गया। इस प्रकार कर्मों का सम्बन्ध अनादि से है तो अनन्तकाल तक रहेगा क्या ? यह कोई नियम नहीं है किन्तु अन्तर्मुहूर्त में भी समस्त कर्मों से सम्बन्ध विच्छेद को प्राप्त हो सकता है।

निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों ही नय पक्षपात हैं। यह पक्षपात कैसा है ? जैसे, दो हाथ और दो पैर होते हैं पर पक्षाघात का जो मरीज होता है उसका एक हाथ कार्य करता है, दूसरा नहीं। वह टूटा नहीं है, पर काम नहीं करता। इसी प्रकार निश्चय के बिना व्यवहार और व्यवहार के बिना निश्चय है। निरपेक्षनय पक्षपात से सहित होते हैं। उनकी पक्षाघात जैसी स्थिति होती है। तात्पर्य यह है कि अकेला एक नय वस्तुतत्त्व को पूर्ण रूप से नहीं जान सकता।

जीवाधिकार की एक गाथा में आया था कि-

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१६॥

अर्थात् जो आत्मा को बन्धरहित, पर के स्पर्श रहित, अन्यत्व रहित, चलाचल रहित और अन्य के संयोग रहित, अवलोकन करता है वह शुद्धनय है। शुद्धनय को भी शुद्धोपयोग कहा है। जहाँ पर किसी प्रकार का विकल्प उत्पन्न नहीं होता है उसे ही शुद्धनय कहा है, क्योंकि श्रुत का आधार लेने से ही विकल्प होते हैं। **राजवार्तिक** ग्रन्थ में कहा है कि दो इन्द्रिय जीव से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों के वचनयोग होता है, परन्तु अक्षरश्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम असंज्ञी जीवों तक नहीं रहता है। संज्ञियों में भी कुछ तिर्यंचों को छोड़कर बाकी में नहीं रहता। कुछ तोता-मैना आदि भी आप जैसे पाठ कर सकते हैं। श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम अलग है और अक्षरश्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम अलग है।

इस प्रकार तीन बातें हो गईं–१. वचनयोग, २. श्रुतज्ञान और ३. अक्षरश्रुतज्ञान। श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम तो एकेन्द्रियों के भी रहता है। प्रायः करके हम इस बात को नहीं समझ पाते हैं कि जिस समय श्रुतज्ञान उपयोग में रहता है उस समय मतिज्ञान नहीं रहता। जबकि क्षयोपशम दोनों का रहता है। जब उपयोग मतिज्ञान से अतिक्रान्त हो जाता है तब श्रुतज्ञान की भूमिका बनती है। जिनवाणी सम्बन्धी अक्षरश्रुतज्ञानावरण का जो क्षयोपशम होगा वह सभी सम्यग्दृष्टि जीव को हो यह नियम नहीं है। मिथ्यादृष्टि को नहीं होता, ऐसा नहीं कहा है, लेकिन यह सभी सम्यग्दृष्टियों को भी हो यह नियम नहीं है, ऐसा कहा है।

श्रुतविकल्पा नयाः श्रुत का अर्थ शब्द लेना। शब्द के जितने भी विकल्प हैं, अर्थात् भेद हैं, वे नय के अन्तर्गत आ जाते हैं, इसीलिए जिनागम में कहा है कि–

जावदिया वयणवहा तावदिया होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया होंति परसमया॥

अर्थात् जितने शब्द हैं उतने ही नय के भेद होते हैं। मतिज्ञान में ढला हुआ और श्रुतज्ञान में ढला हुआ ज्ञान व्यवहार से जीव का स्वरूप कहा जाता है लेकिन केवलज्ञान की विवक्षा में यह सारा का सारा ज्ञान किसी काम में नहीं आता है।

दृष्टान्त–जैसे–शुद्ध पेट्रोलियम जो है, जिससे विमान आदि की यात्रा होती है, वह शुद्ध पेट्रोल होता है। उसमें किसी भी प्रकार के तेल की मिक्सिंग नहीं होती। उसका इतना प्रभाव होता है कि यहाँ दियासलाई है और पेट्रोल वहाँ दूर रखा है तो भी अग्नि उसे पकड़ लेती है, इतना ज्वलनशील होता है। तेल मात्र को पेट्रोलियम कहना यह सामान्य है। उसी प्रकार हमारा मति–श्रुतज्ञान भी सामान्य ज्ञान की कोटि में आता है। पर वह केवलज्ञान का अंश नहीं है क्योंकि वह क्षायिक और प्रत्यक्ष होता है। जबकि मति–श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक होते हैं और परोक्ष होते हैं।

वैसे सम्यग्दृष्टि को ज्ञान का अभिमान नहीं होता, यदि कदाचित् हो भी जाये तो अत्यन्त क्षणिक होता है, क्योंकि वह विचार करता है कि मैं किस पर अभिमान कर रहा हूँ ? तत्त्वज्ञान की दृष्टि से देखने पर वह ज्ञानी वस्तुतत्त्व को जानता है। फलतः अभिमान से बचता रहता है। ज्ञानी, अज्ञानी सभी एक ही परिधि में बंध जायें यह अच्छा नहीं लगता है। जैसे–वृद्ध जो हैं वे कभी बच्चों के बीच में रहते हैं तो वे बच्चों के समान खेल आदि में नहीं रमते। बच्चे खेल में रम जाते हैं पर वृद्ध शान्ति से बैठे रहते हैं। उसी प्रकार ज्ञानी की स्थिति है।

वस्तु का परिणमन ही ऐसा है–

दुनिया अज्ञान के कारण दुनिया में रम रही है। पर ज्ञानी नहीं रमता। स्थान तो छोड़ा नहीं जा सकता। कहाँ भागेंगे अब ? आप ही बताओ ? बाँध लिया है कि बँध गया है? यह एक ऐसा बन्धन है कि उसे वह सहर्ष स्वीकार करता है। जितने भव हैं उतने भव तो पूर्ण करने हैं। अज्ञान के कारण

बहुत संकल्प-विकल्प होते हैं। सब कुछ जल्दी-जल्दी करना चाहते हैं। लेकिन घड़ी का काँटा तो जल्दी-जल्दी नहीं चल सकता। वह तो अपने समय पर ही घूमेगा। वस्तु का परिणमन ही ऐसा है। कर्मों को गौण करके वस्तु के स्वभाव के बारे में सोचते हैं तो ऐसा लगता है कि यह अनाहत रूप से चल रहा है। कर्म सापेक्ष को गौण करके अगुरुलघु गुण पर आधारित द्रव्य की जो पर्यायें हैं उसे देखते हैं तो भी लगता है कि अनाहत रूप से वर्तना परिणाम आदि हो रहे हैं। काल की अपेक्षा से यह परिणमन और परिणाम का सम्बन्ध भी अनाहत रूप से चल रहा है। एक व्यक्ति का जेल में समय निकल रहा है और एक व्यक्ति का साहूकारी के साथ निकल रहा है। दोनों का काल अपने ढंग से निकल रहा है। एक का अच्छे से निकल रहा है, दूसरे का नहीं। ये तो हम लोगों के विकल्प हैं लेकिन वस्तु परिणमन की दृष्टि से देखें तो दोनों का ही समय अखण्ड रूप से निकल रहा है। भले ही एक का रोग अवस्था के साथ समय निकल रहा है और दूसरे का निरोगी अवस्था के साथ। इसलिए वस्तुतत्त्व को जानने वाला वैरागी जो है वह कहता है कि यह तो वस्तु का परिणमन है। वैरागी तो रागी में भी विराग दृष्टि से शुद्धत्व की कल्पना कर लेता है। उसे रागी में भी वैराग्य दिखता है। यह विरागी की विशेषता है। वह सोचता है रागी भी एक वस्तु है, उसका राग के साथ परिणमन चल रहा है और विरागी का विरागता के साथ परिणमन चल रहा है। परिणमन मात्र की अपेक्षा दोनों में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए परमभावग्राहक शुद्धनिश्चयनय का जो विषय होता है उसमें बद्धाबद्ध का विकल्प नहीं होता। इसलिए शान्ति है, यह कहना भी विकल्प है। सुख है तो यह भी साता के उदय के कारण है। इसलिए उस ओर भी उसकी दृष्टि नहीं जाती। वह इतना अधिक अभ्यस्त हो जाता है कि विकल्पों की ओर ध्यान ही नहीं जाता। उसे अच्छे-बुरे का कोई विकल्प नहीं रहता। जो स्वसंवेदन ज्ञानी नयपक्षपात से रहित होता है उसके अभिप्राय से शुद्ध जीव का स्वरूप बद्धाबद्ध या मूढामूढ नय के विकल्पों से रहित चिदानन्द स्वरूप होता है।

आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने **आप्तमीमांसा** में कहा है कि–

घटमौलीसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥

अर्थात् घट, मौलि और स्वर्ण के इच्छुक जो हैं उनमें जो घट का इच्छुक है वह घट के नाश होने पर शोक करता है, और जो मुकुट चाहता है वह मुकुट के निर्माण में हर्षित होता है। किन्तु जो मात्र स्वर्ण को चाहता है वह घट के विनष्ट होने पर तथा मुकुट के निर्मित होने पर शोक और प्रमोद भाव नहीं करता। वह तो उन दोनों अवस्थाओं में माध्यस्थ भाव से युक्त होता है। इस प्रकार व्यक्ति सहेतुक, शोक आदि भाव को प्राप्त होता है।

दृष्टान्त—एक परिवार में स्वर्ण का कलश था उसे तोड़कर मुकुट बना दिया तो बहिन रोने लगी, किन्तु भैया प्रसन्न हो गया। जबकि पिता दोनों को देखकर शान्त है, क्योंकि उनकी दृष्टि न कलश पर

है न मुकुट पर है, किन्तु स्वर्ण पर है। अतः कलश के टूटने का और मुकुट के बनने का शोक और प्रमोद भाव नहीं है, किन्तु स्वर्ण पहले कलश में भी था और अब मुकुट में भी है, अतः दोनों स्थितियों में माध्यस्थ भाव है। पिताजी जानते हैं कि **उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्** अर्थात् द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप है। यहाँ भी मुकुट का उत्पाद, कलश का व्यय तथा स्वर्ण में ध्रौव्यपना है, यह तो द्रव्य का स्वरूप ही है। अतः शोक-प्रमोद भाव न करके माध्यस्थ भाव युक्त रहते हैं। हँसना, रोना यह ज्ञानी की दृष्टि में ठीक नहीं माना जाता है, क्योंकि इसी ग्रन्थ में आगे जाकर कहेंगे कि-सम्यग्दृष्टि जो होता है वह सभी धर्मों में समान भाव लिए होता है। चाहे दुर्गन्ध हो या सुगन्ध, इसमें अच्छे-बुरे का विकल्प नहीं होता है। अतः शान्त बैठा रहता है।

समयसार ग्रन्थ में ही निर्जराधिकार के अन्त में सम्यग्दृष्टि के अष्ट अंगों का वर्णन करते हुए उपगूहन अंग को स्पष्ट करते हुए कहा है-

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणगारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२४८॥

अर्थात् जिसने सिद्ध भगवान् की भक्ति में ही अपना उपयोग लगा रखा है अतएव सर्व विभाव धर्मों का ढँकने वाला है, वह उपगूहन अंग का धारी सम्यग्दृष्टि मानना योग्य है।

कहा है कि-

खण्डन-मण्डन में लगा
फूल नीम का महकता
किन्तु कटुक ही स्वाद।

इसलिए नयपक्षपात से रहित जो स्वसंवेदन ज्ञानी हैं, उन्हें कोई विकल्प नहीं रहता है किन्तु चेतना की धारा बहती है। **छहढाला** में भी कहा है-**चिद्भाव कर्म चिदेश कर्त्ता चेतना किरिया तहाँ।** वे एक मात्र चेतना की अनुभूति करते हैं, यह एक विशेषता है। सबमें एकमात्र चेतना के ही दर्शन व उसी की अनुभूति होती है। आप लोग यदि उनके सामने बैठ जायेंगे तो भी उनकी चेतना की धारा टूटती नजर नहीं आयेगी। भले ही भिन्न-भिन्न पर्यायें होती नजर आती हों, पर अखण्डधारा टूटती नहीं है। उस अखण्डधारा का अनुभव करना है जो अनन्तकाल से अभी तक टूटी नहीं है। भले ही सो जाये पर अभी तक वह धारा टूटी नहीं। जैसे श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धि पूर्वक चलती रहती है। उसी प्रकार चेतना की धारा ज्ञानी के चलती रहती है। जैनेतरों में भी इसकी कल्पना इस तरह से की गई है कि-वे योगी योगनिद्रा में सोते हैं क्योंकि उन्हें इतना अभ्यास हो जाता है कि सोते में भी उस चेतनधारा का अनुभव करते रहते हैं और आगे जाकर इतनी गहराई को लेकर अनुभव करता है कि अन्य कोई अनुभव ही नहीं होता है क्योंकि वह चेतनधारा अखण्ड है। बाकी जितनी भी पर्यायें हैं वे टूटती हैं, पर चेतनात्मक जो धारा है वह अखण्ड है, टूटती नहीं है। अनाहत चलती रहती है। जैसे-किसी ने झालर बजा दी तो झालर बजाना बन्द करने पर भी उसकी झनकार की आवाज आती रहती है।

दृष्टान्त—एक बार की बात है, किसी को कान में दर्द हो गया था। उससे डॉक्टर ने पूछा–आवाज आ रही है या नहीं। वे डॉक्टर कान के स्पेशलिस्ट थे। उनके पास झालर टाइप की रिंग थी उसे उनके कान के पास बजाकर पूछा था कि आवाज आ रही है कि नहीं ? यदि आवाज आ जाये तो बता देना और ये भी बताना कि आवाज आते-आते कब बन्द हो गई। लेकिन उसे पता नहीं पड़ा कि आवाज कब आयी और कब बन्द हो गई। क्योंकि उसके कान के अन्दर जोर से आवाज चल ही रही थी। तात्पर्य यह है कि जब भीतर की झंकार आती रहती है, उसकी धारा टूटती नहीं है तो बाहर की झंकार का पता नहीं चलता। उसी प्रकार साधक के भीतर जब चेतना की झंकार चलती रहती है, या यूँ कहो कि भीतर चेतना की धार का अभ्यास हो जाता है तो वह टूटती नहीं है। हमेशा-हमेशा भीतर चेतना की झंकार बजती रहती है। बाहर की आवाज उसे नहीं आती। भिन्न-भिन्न पर्याय सम्बन्धी धारा भले ही टूट जाती है पर अनुभूति की धारा तो अनाहत चलती रहती है।

दृष्टान्त—जैसे-एक फिल्म पूरे तीन घण्टे तक चलती रहती है। उसमें क्रम से एक के बाद एक चित्र जुड़ते चले जाते हैं। उसी प्रकार एक के बाद एक भिन्न-भिन्न स्वरूप को लेकर पर्यायें आती रहती हैं और एक के गायब होने पर दूसरी आ जाती है। वह चली जाती है तो तीसरी आ जाती है। इस आने-जाने के क्रम में यदि कोई प्रतिकूल पर्याय आती है तो दुःखी क्यों होते हो ? क्योंकि वह भी तो जाने को ही आयी है। तात्पर्य यह है कि पर्यायों की भी धारा तो चल ही रही है, टूटी तो है नहीं। लोग दुनिया का सिनेमा देखने जाते हैं, पर स्वयं का सिनेमा तो देखो। वहाँ चार शो होते हैं, जबकि यहाँ हमेशा-हमेशा शो चलता रहता है। उसे देखो, देखते रहो, तो भी यह धारा टूटती नहीं है। भले ही आप सो जायें तो भी सपने में भी रील चलती रहती है। लोग दूसरों का इतिहास तो पढ़ते हैं, पर अपना नहीं पढ़ते। दूसरों का सिनेमा देखते हैं, अपना सिनेमा नहीं देखते। घर में जो वृद्ध होते हैं, वे बच्चों की तरह बार-बार घर से बाहर नहीं जाते। बच्चे तो खेलने के लिए बार-बार घर से बाहर जाते हैं। आप पूछेंगे कि वृद्धजन बार-बार बाहर क्यों नहीं जाते ? तो वे जीवन में बहुत बड़े-बड़े खेल खेल चुके हैं, इसलिए उन्हें बच्चों के खेल में रस नहीं आता। उन्हें तो अब शान्ति में रस आता है। उन्हें लगता है कि बच्चे शान्त हो जायें, हल्ला बन्द कर दें, वातावरण शान्त हो जाये। बस, इसी की प्रतीक्षा में रहते हैं। उसी प्रकार स्वसंवेदन ज्ञानी भी विकल्पजाल से ऊपर उठ जाते हैं। वे कभी किसी प्रकार से विचलित नहीं होते। वे सारे के सारे बाह्य विकल्पों से रहित होते हैं, उनके मन में संकल्प-विकल्पों की कोई तरंग नहीं उठती। फलतः उन्हें चैतन्यतत्त्व की अनुभूति का शान्त सरोवर की भाँति आनन्द प्राप्त होता है। जैसे-एक कटोरे में पानी ले लो और बाहर से कटोरी को यूँ हिलायेंगे तो उसमें तरंगें उठ जाती हैं, तो उसमें चेहरा नहीं दिखता। किन्तु जब पानी शान्त हो जाता है तो उसमें चेहरा दिख जाता है।

खलु चिद्‌चिदेव—

खलु चिद्‌चिदेव भीतर देखे तब मालूम पड़े क्या है ? केवल चिद्‌चिदेव। साधक जब पक्षपात

से रहित होकर देखें तब मालूम पड़ेगा कि चित्त भी आपके पास है, सत् भी आपके पास है किन्तु आनन्द आपके पास नहीं है, क्योंकि सत् और चिद् को छोड़कर आपका चित्त अन्यत्र दत्तचित्त है। उसी में दत्तचित्त होने से चेतना की अनुभूति कर लेते हैं। चेतना रूप, रस, गन्ध को विषय करती है। चेतना रूप, रस, गन्धादि को तो पकड़ लेती है, लेकिन जो पकड़ने वाला है उसकी पकड़ नहीं हो पा रही है। उसका (आत्मा का) अनुभव नहीं हो पा रहा है। क्योंकि बाहर की ओर ही दृष्टि है इसलिए स्वयं को नहीं पकड़ पा रहा है। जो तत्त्वज्ञानी तत्त्ववेत्ता होता है वह बाहर से दृष्टि हट जाने से भीतर शान्त हो जाता है। हेय-उपादेय का ज्ञान होने के उपरान्त हेय को छोड़ देता है। भैया, पूछ लो, रास्ता कहाँ जाता है ? एक से पूछा, दूसरे से पूछा, तो ठीक है। फिर भी निश्चित करने के लिए तीसरे से पूछा- तो उसने तीसरा रास्ता बताया तो वह कहता है-देखो, अगर फिर से नहीं पूछते तो आज भटक जाते, इसलिए बार-बार पूछना चाहिए। नहीं तो फिर, वहीं बैठे रहो, और जिससे पूछा था वह जाकर आ रहा है, उसी से फिर पूछ लेता है तो वह कहता है अभी तक तुम यही हो ? हाँ, कन्फर्म कर रहा हूँ। इसलिए हेय-उपादेय का नय के द्वारा निश्चय करके हेय को त्यागकर उपादेय में स्वस्थ रहना यह साधु सम्मत है।

ज्ञानी कहते हैं-बाहर में क्या रस है ? हम उड़ीसा की तरफ उदयगिरि-खण्डगिरि गये थे। बहुत से लोग वहाँ देखने को जाते हैं। वहाँ यह बताते हैं कि यहाँ ऐसा होता था, यहाँ मुनिराज तत्त्वचर्चा, प्रतिक्रमण आदि गुफाओं में बैठकर करते थे, गुफाओं में ध्यान लगाते थे आदि। परन्तु अभी बैठकर कोई सामायिक नहीं करता है। खारवेल ने उसका निर्माण किया था। वहाँ अब बैठ नहीं सकते। यह काल का परिवर्तन है, कि रागियों को गुफाएँ दिखाई जा रही हैं, लेकिन वीतरागी वहाँ पर बैठकर सामायिक-साधना आदि नहीं कर सकते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, कालादि को लेकर ऐसे परिवर्तन होते रहते हैं। जैसे-पहले जो शास्त्र था, वह आज भी है उसमें ग्राहक मूल्य देखता है तो पहले पचास रुपये लिखा था, उसको काटकर सौ रुपये लिख दिया। तो वह ग्राहक कहता है कि यह ग्रन्थ पहले पचास रुपये में मिलता था अब सौ रुपये हो गये हैं क्या ? दुकानदार उसके कहने पर उसे पचास रुपये में ही दे देता है। लेकिन उसी ग्रन्थ को वह किसी महाराज को प्रदान करता है तो महाराज उसमें ऐसा कुछ नहीं देखते कि इसका मूल्य पहले कितना था और अब कितना है ? लेकिन वही व्यक्ति महाराज को देते समय कहता है कि-महाराज, यह पाँच सौ रुपये का ग्रन्थ है, आप अपने पास ही रखना। यह जल्दी-जल्दी नहीं मिलता। अतः आप किसी को मत देना। यह सब क्या है ? विचार करो, कैसे-कैसे विचार करते हैं लोग ? इसीलिए तो मैं कहता हूँ, कि **समयसार** ग्रन्थ कितने भी बार पढ़ लो, कितने भी बार महाराजों को प्रदान करो, तो भी जब तक समयसार का रहस्य समझ में नहीं आता और साधक अपनी साधना के बल पर जब तक स्वरूपनिष्ठ नहीं हो जाता है तब तक साक्षात् समयसार का अनुभव नहीं कर सकता है।

आत्मख्यातिकार ने कहा है कि–जो लोग नय के पक्षपात को छोड़कर सदा अपने आप में लीन रहते हैं एवं सभी प्रकार के विकल्पजाल से रहित शान्तचित्त वाले होते हैं वे लोग ही साक्षात् अमृत का, समयसार का पान करते हैं।

जीव व्यवहारनय की अपेक्षा से बद्ध होता है और निश्चयनय की अपेक्षा से वह बद्ध नहीं होता। अतः यह इन दोनों नयों के विचार में अपना-अपना पक्षपात है। इसलिए पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी पुरुष के ज्ञान में तो चेतन, चेतन ही है। **आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी** ने दो कलश लिखे हैं–

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति॥
एकस्य बद्धो न तथा परस्य, चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥

बात यहाँ ऐसी है कि आगम के व्याख्यान के समय मनुष्य की बुद्धि निश्चय और व्यवहारनय इन दोनों नय को लेकर चलती है, किन्तु तत्त्व को जान लेने के बाद स्वस्थ होने पर ऊहापोहात्मक बुद्धि दूर हो जाती है। निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के द्वारा हेय और उपादेय तत्त्व का निर्णय कर लेने पर हेय का त्याग करके उपादेय तत्त्व में लगे रहना, साधु सन्तों को अभीष्ट है।

उत्थानिका–अब आचार्यदेव नयपक्ष से दूरवर्ती शुद्ध जीव के स्वरूप को कहते हैं–

दोण्हवि णयाण भणियं जाणदि णवरिं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥१५०॥

अन्वयार्थ– (णयपक्खपरिहीणो) नयपक्ष से रहित जीव **(समयपडिबद्धो)** आत्मा का अनुभव करने वाला होने से **(दोण्हवि)** दोनों ही **(णयाण)** नयों के **(भणिदं)** कथन को **(णवरिं तु)** मात्र **(जाणदि)** जानता ही है **(दु णयपक्खं)** परन्तु नयपक्ष को **(किंचिवि)** किञ्चित् मात्र भी **(ण गिण्हदि)** ग्रहण नहीं करता।

अर्थ–जो पुरुष सहज परमानन्द स्वरूप समयसार का अनुभव करने वाला है वह दोनों नयों के कथन को जानता अवश्य है किन्तु वह किसी भी एक नय के पक्ष को स्वीकार नहीं करता, दोनों नयों के पक्षपात से दूर होकर रहता है।

सर्वज्ञ ज्यों समयसारमयी बने हैं,
साक्षी बने सहज दो नय के तने हैं।
त्यों साधु भी न बनता नय पक्षपाती,
हो आत्मलीन तजता पर-रीति-जाती ॥१५०॥

व्याख्या–जो नयों के पक्षों को जानकर समय अर्थात् अपने शुद्ध स्वरूप से प्रतिबुद्ध हो जाता है वह किञ्चित् भी नयपक्षों को ग्रहण नहीं करता है। वही नयपक्षपात से रहित स्वसंवेदनज्ञानी होता

है वह बद्ध-अबद्ध मूढ़-अमूढ़ आदि नय के विकल्पों से रहित चिदानन्दमयी एक स्वभाव को उसी प्रकार जानता है जैसा भगवान् केवली जानते हैं। विशेषता यह है कि केवली भगवान् श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले विकल्पजाल रूप निश्चय और व्यवहार दोनों नयों के पक्ष रूप विकल्पों को स्वीकार नहीं करते। वैसे ही गणधरदेव आदि महर्षिजन भी दोनों नयों के द्वारा बताये हुए वस्तु स्वरूप को जानते अवश्य है, फिर भी चिदानन्द स्वभाव रूप शुद्धात्मा के अधीन होते हुए श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न दोनों नयों के पक्षपात रूप विकल्प को निर्विकल्प समाधि में अपने आत्मस्वरूप से ग्रहण नहीं करते। केवली भगवान् और निर्विकल्पसमाधिस्थ साधक इन दोनों के जानने में यदि कोई अन्तर है तो इतना ही है कि केवली भगवान् का ज्ञान क्षायिक एवं शाश्वत है जबकि समाधिस्थ साधु का ज्ञान तात्कालिक एवं क्षायोपशमिक होता है। आचार्य महाराज इसके लिए उदाहरण देते थे कि–

दृष्टान्त–जैसे किसी वस्तु को निर्दोष तेज आँख वाला आदमी आँखों की ही दृढ़ता के साथ देखता रहता है, उसे ही दुर्बल आँखों वाला ऐनक लगाकर कुछ देर तक देख सकता है। उसी प्रकार केवली भगवान् तो सहज रूप में अपने आपका निरीक्षण करते रहते हैं, परन्तु छद्मस्थ समाधि-निरत जीव वहाँ पर मन को लगाकर, जब तक मन लगा रहता है, तब तक आत्मनिरीक्षण करते हैं।

दृष्टान्त–जैसे आप लोगों ने दर्पण देखकर पूरा शृंगार कर लिया, तिलक आदि लगा लिया। इसके बाद फिर दर्पण देखने की जरूरत नहीं होती। भले ही कोई कितना कुछ भी कह दे कि आपका शृंगार बिगड़ गया या ठीक नहीं है। चूँकि आपने दर्पण अभी-अभी देखकर ही शृंगार किया था इसलिए पुनः दर्पण नहीं देखते और देखना भी नहीं चाहिए। क्योंकि देखना फालतू है। पुनः देखने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होने वाला है। उसी प्रकार जिसने नयों के द्वारा स्वरूप का बोध कर लिया, हेय को छोड़ दिया और उपादेय को ग्रहण कर लिया। अब आचार्य कहते हैं कि शान्त बैठ जाओ। उसे बार-बार अन्य प्रवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं होती या उसमें सन्देह नहीं होता। किन्तु अपने स्वभाव में दृढ़ता से तल्लीन रहता है।

दृष्टान्त–जैसे-शोध छात्र जब अच्छी तरह से पूर्ण अध्ययन कर लेता है और शोध कार्य प्रारम्भ कर देता है तो उसे कोर्स की किताब को भी देखना अनिवार्य नहीं होता, क्योंकि किताब का सब कुछ विषय उसके दिमाग में आ चुका है। वह रिफ्रेन्स अर्थात् प्रमाण देने के लिए लाइब्रेरी में चला जाता है या निर्देशक कोई विशेष महत्त्वपूर्ण बात बताता है तो वहीं पर नोट्स बना लेता है। अब वह घण्टों तक कक्षा में नहीं बैठता। उसे अब हर समय निर्देशक की आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार यहाँ कह रहे हैं कि दोनों नयों द्वारा वस्तु का प्ररूपण जैसा केवली भगवान् ने बताया है वैसा जानकर जो महर्षि स्वरूप में निष्ठ हो जाते हैं तो वे भी केवली भगवान् के समान किसी नय आदि का आलम्बन नहीं लेते। हालाँकि श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ही नयों का विकल्प होता है, लेकिन

निर्विकल्पसमाधि में नयातीत होने के उपरान्त आत्मा के साथ नयों का सम्बन्ध नहीं लगाते, क्योंकि निर्विकल्प या नयातीत होने के उपरान्त नयों का आधार लेना आत्मा के लिए श्रेयस्कर नहीं है।

दृष्टान्त—जैसे-किसी किसान ने खेत में बीज बोया तो उसे यह ज्ञात है और विश्वास भी है कि आठ दिन बाद ही यह बीज अंकुरित होगा। इसलिए वह उसे बार-बार निकालकर नहीं देखता कि बीज अंकुरित हो रहा है कि नहीं, क्योंकि उसे भी ज्ञात है कि बीज को बार-बार निकालकर देखने से आठ दिन में तो क्या, वह कभी भी अंकुरित नहीं होगा ? लेकिन जिसे यह प्रक्रिया ज्ञात नहीं है वह बार-बार वहाँ उसे उखाड़ कर देखता है तो बीज कभी अंकुरित नहीं हो पाता। आप लोगों को यह उदाहरण तो समझ में आ गया ? हाँ, आ गया। अब मन को समझाओ जो कि बार-बार उखड़ता ही रहता है। उदाहरण सुनकर तो हँसी आ गई। मन तो बार-बार वही काम करता है उस समय उस पर क्यों नहीं हँसते ? जिनवाणी की बात तो उदाहरण के द्वारा समझ में आ जाती है, लेकिन मन की बात समझ में नहीं आती। बार-बार उसको जाकर देखना, सबके यही हाल हैं। उदाहरण देने वालों के भी यही हाल हैं, पर फिर भी इससे हटकर कार्य करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। जो प्रतिभासम्पन्न छात्र है उसे ज्ञात है कि कितने नम्बर आयेंगे। यह विश्वास भी है फिर भी अखबार में जब रिजल्ट आता है तो भीतर जानने की जिज्ञासा अवश्य होती है। इसलिए अभ्यासी व्यक्ति भी उसी तरफ चला जाता है। क्या करें ? पूर्व का संस्कार है।

दृष्टान्त—जिस व्यक्ति की दृष्टि हमेशा कोणात्मक होती है उस व्यक्ति को वैसी ही वस्तु दिखती है। पर जिसकी दृष्टि इससे ऊपर उठ जाती है उसकी दृष्टि कोणात्मक नहीं होती। उसका कोई विशेष एक एंगल नहीं होता। किन्तु वस्तु को प्रमाण से पूर्ण रूप से जानता है। भिन्न-भिन्न एंगल से फोटो लेने पर भिन्न-भिन्न फोटो आती है। ऊपर का, नीचे का या एक साईड का, जैसे एंगल बनाते हैं, वैसा पोज आता है। साईड पोज में भी कभी एक कान, आधी नाक, आधा मुख, एक हाथ आदि आ जाता है। वह कैसा लगता है ? देखने पर साईड इफेक्ट पड़ जाता है। आधा शरीर दिख रहा है, फिर भी अच्छा लग रहा है। यह किसका चित्र है, पहचान जाते हैं। इसी का नाम तो नय है। इस नय के द्वारा जैसे आप लोग व्यवहार चलाते हैं उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में करना प्रारम्भ कर दो फिर तो कोई संघर्ष ही नहीं रहेगा। नयों के द्वारा वस्तुतत्त्व को ग्रहण करके उसके ऊपर जैसा श्रद्धान करना आवश्यक है, वैसा एक बार कर लो तो सार्थकता है। शब्दों की जिस प्रकार सीमा होती है उसी प्रकार आपके दृष्टिकोणों की भी सीमा होती है। आप जिस भी दृष्टिकोण से देखना चाहते हैं उसी दृष्टिकोण से देख सकते हैं। इस प्रकार इस भावनात्मक ग्रन्थ में यही बात बदल-बदलकर कही है।

आगम में पुनरावृत्ति इसलिए हो जाती है कि वह भावनापरक ग्रन्थ है। भावनापरक ग्रन्थ में वही बात बार-बार कही जाती है। अतः उसमें पुनरावृत्ति का दोष नहीं आता। भावना के माध्यम से बहुमुखी चिकित्सा होती है और एकौषधि चिकित्सा भी होती है।

दृष्टान्त—जैसे–मलेरिया बुखार दूर करने के लिए चिरायते का काढ़ा दिया जाता है। कितना देना? कितनी बार देना ? कब देना ? किसके साथ देना ? इसका उपयोग भिन्न–भिन्न अनुपात के आधार पर भिन्न–भिन्न रोगों की औषधि में काम करता है। थोड़ी औषधि में भी वही तत्त्व रहता है पर किसी को बहु औषधि पर ही श्रद्धान होता है, किन्तु कोई रोगी ऐसा होता है कि जिसको कुछ भी दे दो तो लेने तैयार हो जाता है। उसके लिए कुछ भी दो, कितना भी दो, सबमें तैयार रहता है। जैसे–आपकी ५–६ तरीके से फोटो खींची गई हो तो किसी में एक कान ही आया, किसी में एक हाथ आया, किसी में आधा चेहरा आया तो भी ''यह मैं हूँ'' यह स्वीकारते हैं कि नहीं ? यह एकान्त हुआ कि नहीं ? लेकिन ध्यान रखना एकान्त होते हुए भी चित्र में एक कान होते हुए भी वह दूसरे कान का निषेध नहीं करता। फोटो बनने में भी सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो उसमें भी कमियाँ आ जाती हैं। एक बार किसी ने प्राचीन पार्श्वनाथ भगवान् का फोटो लिया, उसका पॉजिटिव पोज आया तो उसमें बायाँ हाथ ऊपर और दायाँ हाथ नीचे आ गया। तो दिमाग में आया कि पॉजिटिव बनाते समय यह इस ढंग से बन गया है वास्तव में ऐसा नहीं है। इस बात को दूसरों को कैसे समझायें, इसलिए इसको उसी रूप में स्वीकार कर लिया जाये क्या ? अतः प्रमाण के विषय रूप वस्तु को समझने के लिए किसी न किसी नय से उसे विषय बनाते हैं, तो वस्तु का एक पहलू का बोध हो जाता है। लेकिन जिसे समग्र का बोध हो जाता है वह वस्तु के पूर्ण स्वरूप को ग्रहण कर लेता है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने **अरनाथ भगवान्** की स्तुति करते हुए **बृहत्स्वयंभूस्तोत्र** में लिखा है कि–

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥१०३॥

अर्थात् हे भगवन्! आपके मत में अनेकान्त भी प्रमाण और नय रूप साधनों से युक्त होने के कारण अनेकान्त स्वरूप है। प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त स्वरूप और विवक्षित नय से अनेकान्त में भी एकान्त स्वरूप है। सम्यक् नय भी हमेशा एकान्तरूप होता है। पर दूसरे नयों का निषेध नहीं करता, इसलिए वह सम्यक् होता है। समीचीन नय परस्पर अपेक्षा से युक्त यानि सापेक्ष नय होते हैं। वे ही स्वपरोपकारी होते हैं। अनेकान्त प्रमाण का विषय है और एकान्त नय का विषय है। इस विवक्षा का फल यह है कि सात अन्धे मिलकर भी हाथी को स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं। क्योंकि एकान्त से उन्होंने पैर, नाक, कान को ही हाथी मान लिया था। अतः अनेकान्तात्मक वस्तु को अनेकान्त की दृष्टि से ही स्वीकारना चाहिए।

उत्थानिका—यदि शुद्धपारिणामिक परमभाव के ग्रहण करने वाले शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से विचार किया जाये तो नय के विकल्प स्वरूप जो समस्त प्रकार के पक्षपात हैं, उनसे रहित ही समयसार होता है, ऐसा नीचे की गाथा में उपसंहार रूप से कहते हैं–

सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥१५१॥

अन्वयार्थ—(इति जो) इस प्रकार जो **(सव्वणयपक्खरहिदो)** सब नय पक्षों से रहित है **(सो समयसारो)** वह समयसार **(भणिदो)** कहा गया है **(एदं)** यह **(ववदेसं)** समयसार दूसरे शब्दों में **(णवरि)** मात्र **(सम्मद्दंसणणाणं)** सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को **(लहदि)** ग्रहण करता है।

अर्थ—जो समयसार है वह तो सभी प्रकार के नयों के पक्षपात से रहित होता है, उस समयसार को यदि किसी दूसरे शब्द से कहा जा सकता है तो वास्तव में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान शब्द द्वारा कहा जा सकता है।

संसार में समयसार सुधा सुधारा,
लेता प्रमाण नय का न कभी सहारा।
होता वही दृगमयी व्रत बोध धाम,
मेरे उसे विनय से शतशः प्रणाम ॥१५१॥

व्याख्या—जो समयसार है, वह सभी नयों के पक्षपात से ऊपर उठा हुआ है। जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का प्रवाह है अतः उपयोगात्मक चिच्चेतना है वही समयसार है और कुछ नहीं। अतः नय पक्षपात की उलझनों से ऊपर उठ जाना ही श्रेयस्कर है।

नियमसार ग्रन्थ में **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने कहा है कि–

णाणाजीवा णाणाकम्मा णाणाविहं हवे लद्धी।
तह्मा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥१५६॥

अर्थात् नाना जीव हैं, नाना कर्म हैं, नाना उपलब्धियाँ हैं, इसलिए स्व और पर समयों के साथ वचन विवाद नहीं करना चाहिए।

जैनी-जैनी भाईयों की भी लड़ाई नहीं होनी चाहिए और जैनी-अजैनी में भी विवाद नहीं होना चाहिए।

जिज्ञासा—गृहीत मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

समाधान—जिसे पहले से अश्रद्धान था ही, उपदेश के द्वारा और अतत्त्व को ग्रहण कर लिया कि यह तत्त्व वैसा नहीं, किन्तु ऐसा ही है। यह गृहीत मिथ्यात्व है।

आचार्य ज्ञानसागर जी ने **समयसार** ग्रन्थ की हिन्दी टीका करते हुए इस गाथा के विशेषार्थ में कहा है कि आत्मा को पहले आगमज्ञान से ज्ञानस्वरूप निश्चयकर पीछे इन्द्रिय रूप मतिज्ञान को भी ज्ञानमात्र में ही मिलाकर श्रुतज्ञानस्वरूप नयों के विकल्पों को दूर कर एवं श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प बनाकर एक ज्ञान मात्र अखण्ड प्रतिभास का अनुभव करना ही समयसार है, वही योगियों के द्वारा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। यहाँ पर सामान्य रूप से समीचीन श्रद्धान मात्र को ही

सम्यग्दर्शन न बताकर सत्य श्रद्धानी जीव की आत्मानुभव रूप अवस्था विशेष, जो परम समाधिकाल में होती है उसी को सम्यग्दर्शन स्वीकार किया गया है। उसी को सम्यग्ज्ञान नाम दिया गया है।

अपने आत्मतत्त्व को छोड़कर इन्द्रिय मन से रहित बद्धाबद्ध से रहित समयसार का अनुभव निर्विकल्पसमाधि वालों को ही होता है किन्तु **णवरि** अर्थात् विशेषता यह है कि केवलज्ञानी और केवलदर्शी, जैसे कुछ विकल्प नहीं करते हैं उसी प्रकार समयसार में जो स्थित हो जाते हैं उन्हें मन में अन्य कोई विकल्प नहीं आते किन्तु जब समयसार से बाहर आ जाते हैं तो भी किसी के वचन-विवाद आदि में पड़ना नहीं चाहते क्योंकि भीतर जो स्वरूप का दृश्य देखा है वह बाहर दिखता ही नहीं है। इनको तत्त्वचर्चा में भी रस नहीं आता। जैसे-वैज्ञानिकों को पढ़ने-पढ़ाने में आनन्द नहीं आता। क्योंकि वे तो कोई न कोई खोजबीन में ही लगे रहते हैं। उसी में उन्हें आनन्द आता है। ऐसा आनन्द पढ़ने-पढ़ाने वालों को नहीं आता, किन्तु जो खोजबीन में ही लगे रहते हैं उनको ही आनन्द आता है। इसी प्रकार जो निर्विकल्पसमाधि में तल्लीन होकर आत्मतत्त्व की अथवा समयसार की अनुभूति में आनन्द प्राप्त करते हैं वह आनन्द उन्हें **समयसार** ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापन में प्राप्त नहीं हो सकता।

इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय के पक्षपात से रहित शुद्ध समयसार के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथाओं द्वारा यह नवम अन्तराधिकार समाप्त हुआ। इस प्रकरण के द्वारा **जाव ण वेदि विसेसंतरं** इत्यादि गाथा से शुरू करके पाठ के क्रम से अज्ञानी और सम्यग्ज्ञानी जीव की संक्षेप सूचना देते हुए छह गाथाएँ कही हैं। फिर चेतन और अचेतन सब कार्यों का एक ही उपादान कर्त्ता होता है, ऐसे अभिप्राय वाले द्विक्रियावादी के निराकरण की मुख्यता से २५ गाथाएँ कही हैं। इसके अनन्तर मिथ्यात्वादि पाँच प्रत्यय ही कर्म करते हैं, आत्मा नहीं, इस प्रकार का समर्थन करते हुए सात गाथाएँ कही हैं। इसके आगे जीव और पुद्‌गल का कथंचित् परिणामित्व स्थापन करने की मुख्यता को लेकर आठ गाथाएँ कही हैं। इसके अनन्तर ज्ञानमय और अज्ञानमय परिणाम के कथन की मुख्यता से ९ गाथाएँ हैं। इसके आगे अज्ञानमय भाव को मिथ्यात्वादि पाँच प्रत्यय के भेदरूप से प्रतिपादन करने वाली ५ गाथाएँ हैं। तदनन्तर जीव और पुद्‌गल ये दोनों परस्पर एक दूसरे के उपादान कर्त्ता नहीं हैं, इस प्रकार के कथन की मुख्यता से तीन गाथाएँ कही हैं। इसके पीछे यह बतलाते हुए कि शुद्धसमयसार तो नय के पक्षपात से सर्वथा रहित है, ऐसा कथन करने में ४ गाथाएँ आयी हैं। इस प्रकार समस्त ७८ गाथाओं के द्वारा और ९ अन्तराधिकारों के द्वारा यह कर्त्ताकर्म नाम का महाधिकार समाप्त हुआ।

इस प्रकार जीव-अजीव अधिकार रूप इस ग्रन्थ को रंगमंच पर भेषधारी दो पात्रों ने जो कुछ खेल दिखाना था दिखा दिया, नृत्य कर लिया, शृंगार आदि जो करना था वह किया और शुद्ध निश्चयनय से अजीव, जो कर्म के वेष को धारण करने वाला तथा जीव जो कर्त्ता के वेष को धारण करने वाला है, इन दोनों का ये नाटक समाप्त हुआ। दोनों अपने-अपने कर्त्ता और कर्म के वेष को छोड़कर निकल गये।

उपसंहार—अब देखो, वस्तुस्वरूप को प्ररूपित-उल्लेखित करने में कितना परिश्रम होता है। कितने दिन लग गये, लेकिन वस्तु स्वरूप को समझने में और उसे प्राप्त करने में कोई समय नहीं लगता। अर्थात् इतनी देरी नहीं लगती। वह कितने दिनों का भी क्यों न हो, एक पल में ही परिभाषित और अनुवादित हो जाता है। व्यवहार की दृष्टि से आचार्यों का हमारे ऊपर कितना उपकार है कि इस प्रकार मूल गाथाओं का भाव एक-एक शब्द की व्याख्या करते हुए **जयसेन स्वामी** ने पाठक को आत्मतत्त्व का अनुभव कराया। ग्रन्थ की संस्कृत भाषा टीका में उन्होंने सन्धि आदि में भाषा, समास, मात्रा आदि की गलती हो तो उसे गौणकर उसका भाव समझने का प्रयास करो, ऐसा कहा है। इस प्रकार **जयसेन महाराज** द्वारा की गई कर्त्ताकर्माधिकार की टीका समाप्त होती है।

इति **श्रीजयसेनाचार्यकृत** समयसार की तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका-व्याख्या के प्रसंग में शुद्धात्मानुभूति लक्षण रूप व्याख्यान का यह पुण्य-पापादि सप्त पदार्थों सम्बन्धी पीठिका रूप तीसरा कर्त्ताकर्ममहाधिकार समाप्त हुआ।

गाथानुक्रमणिका